

राष्ट्रीय गान

चन्दे मातरम्,
सुजलाम् सुफलाम् मलयजगीतलाम्
शस्यश्यामलाम् मातरम्,
शुभ्रज्योत्स्नाम् पुलकितयामिनीम्
फुल्लकुसुमित द्रुमदलशोभिनीम्,
सुहासिनीम् सुमधुर - भाषिणीम्,
मुखदां, वरदा, मातरम् ।

राष्ट्रीय गीत

जन-गण-मन अधिनायक जय हे,
भारत-भाग्य - विधाता ।
पञ्जाब - सिन्धु - गुजरात - मराठा,
द्राविड - उत्कल - बंग ।
विन्ध्य-हिमालय-यमुना-गंगा
उल्लल जलधि-तरंग ।
तव शुभ नामे जागे,
तव शुभ आशिष माँगे ।

गाहे तव जयगाथा
जन-गण-मंगलदायक जय हे,
भारत - भाग्य - विधाता ।
जय हे, जय हे, जय हे,
जय जय जय जय हे ।

ज्ञानमण्डल-ग्रन्थमालाका ८०वाँ ग्रन्थ

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मामम्बुद्धरस

पालि व्याकरण

भिक्षु धर्मरक्षित

चाराणसी

ज्ञानमण्डल लिमिटेड

मूल्य : दो रुपया पचास नया पैसा

द्वितीय संस्करण सन् २२

प्रकाशक—आनन्दप्रसाद सिमिटेड वाराणसी (बंगाल)

मुद्रण—सी.ए.एम.के. कल्ल आनन्दप्रसाद सिमिटेड वाराणसी १९२०-२१

विषय-सूची

पाठ	विषय	पृष्ठ
१	पहला पाठ—वर्ण-परिचय, स्वर, व्यञ्जन, विशेष	१
२	दूसरा पाठ—शब्द-परिचय, विभक्ति, लिङ्ग, वचन, शब्द, रूप, सजा, अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द 'बुद्ध'	४
३	तीसरा पाठ—क्रिया, काल, पुरुष, वर्तमानकाल 'पठ' धातु, भ्वादिगण के धातु	८
४	चौथा पाठ—अकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्द 'फल', भ्वादिगण के धातु	१२
५	पाँचवाँ पाठ—आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द 'लता', भ्वादिगण के धातु	१६
६	छठा पाठ—इकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द 'मुनि', रुधादिगण के धातु	२०
७	सातवाँ पाठ—इकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्द 'अट्टि', दिवादिगण के धातु	२४
८	आठवाँ पाठ—इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द 'रत्ति', तुदादिगण के धातु	२७
९	नवाँ पाठ—ईकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द 'दण्डी', तनादिगण के धातु	३१
१०	दसवाँ पाठ—ईकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्द 'सुखकारी', चुरादिगण के धातु	३४

वह ग्रन्थ हम दृष्टि से लिखा गया है कि शास्त्रों से लेकर हम
 ५ व्यापक तर्क के द्वारा इससे काम उठा सकें और उन्हें पाकि-
 स्तान का पूर्व शाल हो जाय । इसे 'सोवियत-व्याकरण' तथा उसके
 परिवार-ग्रन्थ 'पदमाधन' के आधार पर तैयार किया गया है । हिन्दी
 में लिखे गये अन्य ग्रन्थों से भी सहायता ली गई है । हम इन सभी
 क्षेत्रों के आभारी हैं ।

इसे लिखने के लिए पाकि-प्रतिष्ठान शास्त्रों के रजिस्ट्रार श्री
 अमिताभ मिश्र उपासक हम ५ तथा राजकीय संस्कृत महाविद्यालय
 पाराणमी के प्राध्यापक श्री जगन्नाथ उपाध्याय ने विशेष आग्रह किया
 था । हम इन दोनों कर्मचारियों के कृतज्ञ हैं ।

ज्ञानमण्डल कमिटी के प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष ज्ञानदत्त मुख-
 ६ ६ श्री देवतारावण द्विवेदी जी की प्रकाशन-व्यवस्था के कारण इस
 ग्रन्थ को हमने उन्नाहपूर्वक शीघ्र तैयार किया है । अपने प्रति हमारे
 स्नेह को हम बिना शर्तों में व्यक्त करें ?

—मिश्र धर्मरसित

विषय-सूची

पाठ	विषय	पृष्ठ
१	पहला पाठ—वर्ण-परिचय, स्वर, व्यञ्जन, विशेष	१
२	दूसरा पाठ—शब्द-परिचय, विभक्ति, लिङ्ग, वचन, शब्द, रूप, सजा, अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द 'बुद्ध'	४
३	तीसरा पाठ—क्रिया, काल, पुरुष, वर्तमानकाल 'पठ' धातु, भ्वादिगण के धातु	८
४	चौथा पाठ—अकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्द 'फल', भ्वादिगण के धातु	१२
५.	पाँचवाँ पाठ—आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द 'लता', भ्वादिगण के धातु	१६
६	छठाँ पाठ—इकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द 'मुनि', रुधादिगण के धातु	२०
७	सातवाँ पाठ—इकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्द 'अट्टि', दिवादिगण के धातु	२४
८	आठवाँ पाठ—इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द 'रत्ति', तुदादिगण के धातु	२७
९.	नवाँ पाठ—ईकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द 'दण्डी', तनादिगण के धातु	३१
१०.	दसवाँ पाठ—ईकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्द 'सुखकारी', चुरादिगण के धातु	३४

- ११ म्पारह्वर्षो पाठ—ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द 'इषी', नदी,
स्वादिगण के भातु निपात १६
- १२ म्पारह्वर्षो पाठ—उकारान्त पुलिङ्ग शब्द 'मिष्म', आदि
गण के भातु ४१
- १३ सेरह्वर्षो पाठ—उकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्द 'आयु' ४५
- १४ औदह्वर्षो पाठ—क्रिया अनागतनाक 'पठ' भातु पूर्व-
काश्चि निपा ४८
- १५ पम्पारह्वर्षो पाठ—उकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द 'भन्तु' भातु ५४
- १६ सोसह्वर्षो पाठ—उकारान्त पुलिङ्ग शब्द 'पितु' 'ऊधु'
निपा अतीतकाळ परितमाप्ययत्न भूत 'पठ' भातु ५७
- १७ सत्रह्वर्षो पाठ—सर्वनाम शब्द अन्त, 'गुरु', निपा
अनुया ६१
- १८ मटारह्वर्षो पाठ—उकारान्त पुलिङ्ग शब्द सम्पत्त्यू
हृदन्त ६४
- १९ उधीसर्षो पाठ—उकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्द 'स्यम्',
निपा-निषिन्धि हृदन्त ६७
- २ बीसर्षो पाठ—उकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द 'बधू' निपात शब्द ७०
- २१ इफकीसर्षो पाठ—'त' शब्द सर्वनाम, निमित्तार्थक अभ्यय
'तु' शब्द 'तव' ७४
- २२ बाइसर्षो पाठ—भोनायान्त पुलिङ्ग शब्द 'गो' भोनायान्त
नपुंसकलिङ्ग शब्द 'चित्तगो' प्रेरणाशक-निपा ७७
- २३ तेइसर्षो पाठ—बुद्ध अनियमित पुलिङ्ग शब्द—'राज'
अथ 'राम' 'सुम' 'सुव' 'सा' ८०
- २४ चौबीसर्षो पाठ—सर्वनाम शब्द 'सम्' 'हि' 'य' ८५

- २५ पच्चीसवाँ पाठ—सर्वनाम शब्द 'एत', 'इम' 'अमु' ८९
- २६ छब्बीसवाँ पाठ—'वन्तु' और 'मन्तु' प्रत्ययान्त शब्द—
'गुणवन्तु', 'न्त' तथा 'मान' प्रत्ययान्त शब्द—'गच्छन्त' ९३
- २७ त्रत्ताइसवाँ पाठ—'तु' प्रत्ययान्त शब्द—'दातु', अकारान्त
नपुसकलिङ्ग शब्द 'मन', परिवारवाची शब्द, गरीरावयव-
वाची शब्द ९८
- २८ अट्ठाइसवाँ पाठ—सख्यावाचक शब्द—'एक' 'द्वि', 'उभ',
'ति', 'चतु', 'पञ्च', 'एकूनवीसति', 'एकूनसत' सौ से
असंख्येय तक की गणना, 'कति' पूरणार्थक शब्द, विशेष शब्द १०२
- २९ उन्तीसवाँ पाठ—क्रिया—अनद्यतनभूत, परोक्षभूत, हेतुहेतु-
मद्भूत, अत्तनोपद धातु-रूप—[वर्त्तमानकाल, अनागतकाल,
परिसमाप्त्यर्थक भूत, विधिलिङ्ग, अनुज्ञा, अनद्यतनभूत, परोक्ष-
भूत, हेतुहेतुमद्भूत] ११२
- ३० तीसवाँ पाठ—उपसर्ग ११७
- ३१ एकतीसवाँ पाठ—तद्धित १२२
- ३२ वच्चीसवाँ पाठ—तद्धितान्त अव्यय १३१
- ३३ तैंतीसवाँ पाठ—कृदन्त १३६
- ३४ चौतीसवाँ पाठ—सन्धि—स्वर सन्धि, व्यञ्जन सन्धि, निग-
हीत सन्धि १४३
- ३५ पैतीसवाँ पाठ—समास—अव्ययीभाव, तत्पुरुष, कर्मधारय,
बहुव्रीहि, क्रियार्थ, द्वन्द्व १५४
- ३६ छत्तीसवाँ पाठ—गण—ग्वादि, रुधादि, दिवादि, तुदादि,
तनादि, चुरादि, स्वादि, ज्यादि, क्यादि १६७
- ३७ सैंतीसवाँ पाठ—स्त्री-प्रत्यय १७३

- ३८ मङ्गलीसर्षो पाठ—विमर्शि-मेघ—पद्मा बुद्धिपा तस्मिन्,
पद्मि पद्मी छद्मी उत्तमी १७६
- ३९ उन्तालीसर्षो पाठ—वाय्व—कर्तृवाय्व माववाय्व कम-
वाय्व १८२
- ४ बालीसर्षो पाठ—विद्येय—गुणवाचक सस्मावाचक,
इदम् तद्विद्वत् १८३

नमो तस्मै भगवतो अगतो नमस्साम्भुद्धस्मै

पालि व्याकरण

पहला पाठ

वर्ण-परिचय

पालि-भाषा में ४३ वर्ण होते हैं,^१ किन्तु कच्चायन व्याकरण के लेखक ने ४१ वर्ण ही माना है। उन्होंने एँ और ओँ को वर्ण नहीं माना है। मोग्गल्लान-व्याकरण के लेखक तथा पीछे के आचार्यों ने इन्हें भी वर्ण माना है, क्योंकि सयुक्ताक्षर के पूर्व आनेवाले ए और ओ ह्रस्व होते हैं।^२ इन वर्णों में १० स्वर^३ और ३३ व्यञ्जन^४ हैं।

स्वर

अ आ, इ ई, उ ऊ, एँ ए, ओँ ओ।

इनमें दो-दो स्वर सवर्ण कहे जाते हैं।^१ जैसे—अ, आ—एक सवर्ण है। इ, ई—एक सवर्ण है। उ, ऊ—एक सवर्ण है। एँ, ए—एक

१. अथादयो तितालीसवण्णा १,१।

२. इन्हें पत्थ, सेय्यो, ओट्टो, सोत्थि आदि शब्दों से जाना जा सकता है।

३. दसादो सरा १,२ (आदि के १० स्वर हैं)।

४. कादयो व्यञ्जना १,६ (क आदि ३३ वर्ण व्यञ्जन हैं)।

५. द्वे द्वे सवण्णा १,३।

सबभ है। ओँ, ओ—एक सवण है। सवणों में पूरा बण हस्त है।^१ जैसे—अ, इ उ एँ ओँ। उनके दूधरे बण दीर्घ हैं।^२ जैसे—आ ई ऊ, ए, ओ।

व्यञ्जन

क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ल	व	
स	ह	ळ	शं	

पाँच-पाँच बणों के पाँच वर्ग हैं।^३ जैसे—कवर्ग खपग टवर्ग, चवर्ग, पवर्ग।

अं को निम्माहीत कहते हैं। निम्माहीत का शास्त्र है अनुस्वार।

विशेष

वेदिक माया में १४ अक्षर होते हैं और संस्कृत में ५। पाणि में क नहीं होता, उसके स्थान में कहीं अ, इ या उ हो आते हैं। जैसे—
 गृह = गृह शुल् = नक्ष (यहाँ 'अ' हो गया है)। अज = इज क्षयि = इसि (यहाँ 'इ' हो गया है)। अनु = उनु, क्षयभ = उचम (यहाँ उ हो गया है)।

१ पुष्पा रस्तो १७।

२ परा वीघो १५।

३ पञ्च पञ्चकार वगार १७।

४ विष्णु निम्माहीत १८।

लृ, ऐ, औ पालि में नहीं होते ।

ऐ के स्थानमें ए हो जाता है । जैसे—ऐरावण = एरावण, वैमानिक = वेमानिक, वैयाकरण = वेय्याकरण । कहीं-कहीं ऐ का इ तथा ई भी हो जाते हैं । जैसे—ग्रैवेय = गीवेय्य, सैन्धव = सिन्धव ।

औ के स्थान में ओ हो जाता है । जैसे—औदरिक = ओदरिक, दौवारिक = दोवारिक । कहीं-कहीं उ भी हो जाता है । जैसे—मौक्तिक = मुक्तिक, औद्धत्य = उद्धत्त्व ।

पालि भाषा में 'श' और 'प' नहीं होते, केवल 'स' ही होता है । सम्प्रति 'ळ' हिन्दी तथा संस्कृत में व्यवहृत नहीं है, किन्तु मराठी में इसका अब भी प्रचलन है ।

पालि में व्यञ्जन हलान्त नहीं होते और न तो पद के अन्त में स्थित निगगहीत म् होता है । पालि में विसर्ग और रेफ भी नहीं होते । रेफ का कहीं-कहीं लोप हो जाता है और कहीं कहीं वह 'र' हो जात है । जैसे—कर्म = कम्म, सर्व = सब्ब, तर्हि = तरहि, महार्ह = महारहो, आर्य = अरिय, सूर्य = सुरिय, क्रीत = कीत, भार्या = भरिया, पर्यादान = परियादान, प्रेत = पेत, समग्र = समग्ग, इन्द्र = इन्दो ।

दूसरा पाठ

शब्द-परिचय

विभक्ति

हिन्दी भाषा में आठ कारक होते हैं, किन्तु पाणि में कारक सात ही माने जाते हैं। कारकों को ही पाणि में 'विभक्ति' (= विभक्ति) कहते हैं। सम्बोधन कारक को कारक न कहकर उसे आह्वान कहते हैं। कारकों को विभक्ति के क्रम से इस प्रकार जानना चाहिए —

कारक	विभक्ति
१ कर्त्ता	पठ्मा
२ क्रम	तुतिषा
३ करण	ततिषा
४ सम्प्रदान	चतुर्थी
५ अपादान	पञ्चमी
६ सम्बन्ध	छठी
७ अधिकरण	सप्तमी
८ सम्बोधन	आह्वान

जित प्रकार हिन्दी में कारकों के चिह्न होते हैं उसी प्रकार पाणि में भी विभक्तियों के चिह्न होते हैं जो कदा कदायें लोप हो जाते हैं।

लिङ्ग

हिन्दी में केवल दो ही लिङ्ग होते हैं—पुस्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग किन्तु पाणि में तीन लिङ्ग होते हैं :—

- (१) पुस्लिङ्ग
- (२) स्त्रीलिङ्ग
- (३) नपुंसकलिङ्ग

पुरुषवाची शब्दों को पुल्लिङ्ग कहते हैं और स्त्रीवाची शब्दों को स्त्रीलिङ्ग, किन्तु जो शब्द पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों नहीं होते हैं, वे नपुंसकलिङ्ग माने जाते हैं। जैसे—कुल, गेह, चित्त, मन, धन आदि। पालि भाषा पढ़ने पर इनका ज्ञान स्वतः धीरे-धीरे हो जाता है।

वचन

पालि में भी हिन्दी की भाँति दो ही वचन होते हैं—एकवचन, बहुवचन। संस्कृत में 'द्विवचन' भी होता है, किन्तु पालि में द्विवचन नहीं होता।

शब्द

हिन्दी की भाँति पालि में भी सार्थक शब्द के पाँच भेद होते हैं—संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, अव्यय। संज्ञा को पालि में 'नाम' कहते हैं।

रूप

विभक्तियों के लगाने से शब्दों के जो रूप बनते हैं, उन्हीं का प्रयोग सर्वत्र होता है। यहाँ अकारान्त, पुल्लिङ्ग, संज्ञा शब्द 'बुद्ध' का रूप दिया जा रहा है —

संज्ञा

अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द

बुद्ध

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	बुद्धो ^१	बुद्धा

१. कहीं-कहीं 'ओ' का 'ए' भी हो जाता है। जैसे—'वनप्पगुम्वे यथा फुस्मितगो'। अतः 'बुद्धो' का 'बुद्धे' भी रूप हो सकता है, किन्तु इसका प्रयोग कम देखा जाता है।

तुलिया	तुल	तुल्ये
तुलिया	तुल्ये	तुल्ये
चतुर्थी	तुल्ये तुल्ये	तुल्ये तुल्ये
पञ्चमी	तुल्ये तुल्ये तुल्ये	तुल्ये तुल्ये
छठी	तुल्ये तुल्ये तुल्ये	तुल्ये तुल्ये
सप्तमी	तुल्ये तुल्ये तुल्ये	तुल्ये तुल्ये
आखण	तुल्ये तुल्ये	तुल्ये तुल्ये

इन पदों का अर्थ हिन्दी में इस प्रकार होगा—

एकवचन

पञ्चमी	तुल्ये	तुल्ये
तुलिया	तुल्ये	तुल्ये
तुलिया	तुल्ये	तुल्ये
चतुर्थी	तुल्ये के लिए	तुल्ये से
पञ्चमी	तुल्ये से	तुल्ये के लिए
छठी	तुल्ये का की के	तुल्ये से
सप्तमी	तुल्ये पर, में	तुल्ये का की के
आखण	हे तुल्ये ।	तुल्ये पर, में
		हे तुल्ये ॥

इन अकारान्त पुलिङ्ग शब्दों के रूप भी 'तुल्य' शब्द के समान ही होंगे—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
तुल	मनुष्य	तुल्य	सौंप
तुल्ये		तुल्ये	यद्य
तुल्ये		तुल्ये	देवता
तुल्ये		तुल्ये	सिंह
तुल्ये		तुल्ये	गन्धर्व
तुल्ये		तुल्ये	तुल्ये

सुनख	कुत्ता	लोक	ममार
आलोक	प्रभाश	संसार	”
सघ	मघ	गाम	गाँव
ओघ	वाढ	धम्म	धर्म
पुत्त	पुत्र	पमाट	देग
याचक	भित्तारी	रुक्क	वृक्ष
दारक	लडका	दास	दाम
वाणिज	बनिया	भूपाल	राजा
कुमार	कुमार	नरपति	”
सुरिय	सूरज	अच्छ	भाल

इनके अतिरिक्त जितने भी अकारान्त पुलिङ्ग शब्द होंगे, मग के रूप ‘बुद्ध’ शब्द के सामान ही होंगे ।

अभ्यास

हिन्दी में अनुवाद कीजिए:—

१. बुद्धस्स गामो । २. बुद्धान पुत्ता । ३. बुद्धेसु आलोको । ४. बुद्धम्हा लोको । ५. बुद्धेदि याचको । ६. मुनग्गम्म धम्मो । ७. मनुस्सान दारका । ८. भूपालम्म मनुजा । ९. मघस्स पुरिसा । १०. सुरेहि असुरा ।

पालि में अनुवाद कीजिए —

१. बुद्ध के लिए । २. बुद्ध का पुत्र । ३. बुद्ध का वर्म । ४. बुद्ध से असुर । ५. बुद्ध में देवता । ६. भित्तारियों का राजा । ७. कुमारों में लडका । ८. सूरज का आलोक । ९. बनियोंके लडके । १०. गाँव में वाढ ।

तीसरा पाठ

क्रिया

क्रिया के अर्थ को प्रकट करने वाले शब्द को धातु कहते हैं।
 जैसे—मू, पठ, रम्, भज इत्यादि।

रूप बनाने की क्रिया के छिष्ट सभी धातु ९ श्रेणियों में विभक्त हैं।
 प्रत्येक भाग को शण कहते हैं।

काल

पालि में भी तीन काल होते हैं—वर्तमान काल, अनागत काल,
 अतीत काल। वर्तमान (=वर्तमान) का 'परिपुष्प' भी कहते हैं
 और अतीत (=मृत) को अज्जनी।

पुरुष

पालि में पुरुष भी तीन ही होते हैं, किन्तु उनका क्रम इस प्रकार
 होता है :—

१ अम्य पुरुष	=	पञ्चम पुरिस
२ मध्यम पुरुष	=	मज्झिम पुरिस
३ उत्तम पुरुष	=	उत्तम पुरिस

तीनों पुरुषों के सर्वनाम

व्यो	=	वह	तुम्हे	=	तुम लोग
त	=	वे	आई	=	मैं
एव	=	तू	मय्य	=	हम लोग

सभी काल में धातु के रूप परस्सपद और अत्तनोपद दो प्रकार के होते हैं, किन्तु व्यवहार में अत्तनोपद के रूप बहुत कम देखे जाते हैं । परस्सपद का ही प्रयोग बहुधा होता है ।

वत्तमान काल

‘पठ’ धातु

परस्सपद

	एकवचन	बहुवचन
पठम पुरिस	पठति	पठन्ति
मज्झिम पुरिस	पठसि	पठथ
उत्तम पुरिस	पठामि	पठाम

अर्थ

पठति	=	पढता है ।	पठन्ति	=	पढते हैं ।
पठसि	=	पढते हो ।	पठथ	=	पढते हो ।
पठामि	=	पढता हूँ ।	पठाम	=	पढते हैं ।

नीचे दिए हुए धातुओं के रूप भी ‘पठ’ धातु के समान ही होंगे ।
ये धातु भ्वादि गण के हैं —

धातु	अर्थ	पठम पुरिस में प्रयोग
भू	होना	भवति, भवन्ति
हस	हँसना	हसति, हसन्ति
रक्ख	रक्षा करना	रक्खति, रक्खन्ति
वद	बोलना	वदति, वदन्ति
पच	पकाना	पचति, पचन्ति
नम	नमस्कार करना	नमति, नमन्ति
गम	जाना	गच्छति, गच्छन्ति

द्विष	द्वेषना	पस्सति पस्सन्ति
द्विष	द्विषार्थं द्वेना	द्विस्सति, द्विस्सन्ति
ठा	पढा हांना	ठिठ्ठति ठिठ्ठन्ति
सर	स्मरण करना	सरति, सरन्ति
याच	यौगना	याचति, याचन्ति
कम्प	रोना	कम्पति कम्पन्ति
कम्प	कौपना	कम्पति कम्पन्ति
पञ्ज	त्वागना	पञ्जति पञ्जन्ति

अम्भास

हिन्दी में अनुवाद कीजिए :—

(क)

१ सो पठति । २ ते पठन्ति । ३ अहं पठामि । ४ मय पठाम ।
 ५ त्व पठसि । ६ तुम्हे पठथ । ७ बुद्धो हसति । ८ बारका पचन्ति ।
 ९ अह पस्सामि । १० सो गच्छति । ११ मय गच्छाम । १२ याचको
 कम्पति । १३ बाणिज्य पम्पन्ति । १४ ककरो मज्जति ।

(ख)

१ नरो धम्म पठति । २ मनुस्सो भूयाञ्चे मज्जति । ३ पुरिसा ग्राम
 गच्छन्ति । ४ मनुजो बुद्ध नमति । ५ सुय ग्रामे दिस्सन्ति । ६ माय
 देव नमति । ७ उरगा गाममा गच्छन्ति । ८ पक्खो ककरो तिठ्ठति ।
 ९ बंवा धम्म पम्पन्ति । १० सौहो सयं सरति । ११ गन्धर्वो बारक
 याचति । १२ सोणो लोह पचन्ति । १३ सुनरो बाध कम्पति । १४
 आणोरे भूयानो तिठ्ठति । १५ सपो बुद्ध सरति ।

(ग)

१ अह ग्राम गच्छामि । २ सो ग्रामे धम्म पस्सति । ३ ते ककरो
 आणोरे पस्सन्ति । ४ भूयासो सत्तारं मनुस्से पस्सति । ५ बारकेषु बाणिज्ये
 धम्म वदति । ६ याचको ओरं सुरिष पस्सति । ७ त्वं ग्रामे बाणिज्ये

रक्खसि । ८ मय देवेसु याचका भवाम । ९. तुम्हे पुत्तान पमाद पस्सथ ।
 १०. सुरियो आलोक नरान चजति । ११ बुद्धा मनुजान धम्म वदन्ति ।
 १२ भूपाला वाणिजान गामरक्खन्ति । १३ दासो भग्गे याचके पस्सति ।
 १४ कुमारो लोके भूपाला भवन्ति ।

(घ)

१ अह भूपालस्स पुत्तो गामे भवामि । २ त्व याचकेसु दासो धम्म
 रक्खसि । ३ मय नरान धम्मे गामेसु पस्साम । ४ सो नरो आलोके बुद्ध
 पस्सति । ५ मय ओघे रक्खेसु सुरिय पस्साम । ६ सो मनुस्सो गामम्हा
 गाम गच्छति । ७. सो याचको बुद्धस्स धम्म सरति । ८ अह गामे
 वाणिजस्स पुत्त पस्सामि । ९ सो भूपालान सघ आलोके सरति । १०.
 सुरियो लोके नरान आलोक चजति । ११ सो रक्खो गामे ओघेन कम्पति ।
 १२ वाणिजो गामेसु मनुस्सेहि धम्म सरति । १३. दारका आलोके बुद्धान
 धम्म पस्सन्ति । १४ भूपालो मनुस्सान गाम ओघेन रक्खति । १५ सो
 दारको सुरियस्स आलोके तिष्ठति ।

पालि में अनुवाद कीजिए.—

१ मैं धर्म को पढता हूँ । २ वह बुद्ध के धर्म को पढता है । ३
 राजा भिखारियों की रक्षा करता है । ४ सिंह गाँव की रक्षा करता है ।
 ५ मैं बाढ़ में सूरज को देखता हूँ । ६ राजा कुमार को देखता है । ७.
 वह बुद्ध को नमस्कार करता है । ८ तू धर्म को देखते हो । ९ पेड़
 काँपता है । १० लड़का गाँव में रोता है । ११ भिखारी गाँव को जाता
 है । १२ लड़के बाढ़ में खड़े होते हैं । १३ मैं राजा से पुत्र माँगता हूँ ।
 १४ बनिया गाँव में पकाता है । १५ दास राजा से गाँव माँगता है ।
 १६. पुत्र हँसता है । १७ वह दास रोता है । १८ देर होती है । १९
 सिंह गाँव को जाता है । २० बनिया आलोक में सूरज को देखता है ।
 २१ सघ से कुत्ते को माँगता है । २२ लोक में आदमी होते हैं । २३.
 गन्धर्व गाँव में रोते हैं । २४ राजा लोग दिखाई देते हैं ।

चौथा पाठ

अकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्द

फल

	एकवचन	बहुवचन
फलमा	फलं	फला फलानि
दुतिवा	फलं	फले फलानि
आरूपन	फल फला	फला फलानि

द्वेष रूप 'दुद' शब्द के समान होंगे ।

इन अकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों के रूप भी 'फल' शब्द के समान ही होंगे —

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
चित्त	चित्त	दान	दान
पुष्प	पुष्प	सीस	सीस
पाप	पाप	धन	धन
रूप	रूप	ज्ञान	ज्ञान
सात	कान	खोजन	भौल
धात	माक	मूस	जड़
सुप	मुख	कुल	कुल
दुष्प	दुःख	बल	बल
कारण	कारण	जाल	जाल
मुल	सुग	धम्म	धम्म
जल	बल	हिरम्म	सीमा

सुसान	श्मशान	वन	जगल
हृदय	हृदय	वत्थ	वस्त्र
नयन	आँख	यान	रथ
ओदन	भात	सोपान	सीढ़ी
मरण	मृत्यु	आण	ज्ञान
नगर	नगर	छत्त	छाता
भक्त	भात	उदक	पानी
गोह	घर	पोत्यक	पुस्तक
उद्यान	बाग	सरीर	शरीर

‘भ्वादि गण’ के इन धातुओं के रूप भी ‘पठ’ धातु के समान ही होंगे —

धातु	अर्थ	पठम पुरिस में प्रयोग
सुच	शोक करना	सोचति, सोचन्ति
जुत	प्रकाश करना	जोतति, जोतन्ति
मुद	प्रसन्न होना	मोदति, मोदन्ति
सुभ	शोभित होना	सोभित, सोभन्ति
रुच	पसन्द करना	रोचति, रोचन्ति
पा	पीना	पिबति, पिबन्ति
दह	जलाना	डहति, डहन्ति
”	”	दत्तति, दहन्ति
जर	पुराना होना	जीरति, जीरन्ति
मर	मरना	मरति, मरन्ति
”	”	मीयति, मीयन्ति
रुद	रोना	रोदति, रोदन्ति

अभ्यास

हिन्दी में अनुवाद कीजिए :—

(क)

१. फल रक्षति । २. फलानि सोभन्ति । ३. फलेषु जल दिस्सति ।

४ मूपाकृत्य विभं रोदति । ५ मुनयो ओदन रोचति । ६ नगरे वाणिज्ये
मयति । ७ मुखाने सीहो जलं पिबति । ८ गेहे नरो हसति । ९ दारक्य
उष्मानेसु रोदति । १० उष्मानं वस्त्रा कम्पन्ति । ११ माचको गम्भी
मय माचति । १२ पुरिसस्य हृदये बुभुक्षु विस्ति । १३ अहं मुन
रोचामि । १४ उरगो वन गच्छति । १५ यक्षगो पोषकं पठति ।

(ख)

१ पुच्छस्य नयनानि रूपेसु ब्रूयन्ति । २ नगरेसु नरा मय पयन्ति ।
३ त्व गेहे मुनयस्त मय पयन्ति । ४ अहं प्रभोसु मोदामि । ५ वस्त्रा
मूक जीरति । ६ मुखेन सो नरो जलं पिबति । ७ व्यसनं त्व कर्षं रवति
८ वासा नगरे गेहानि रवति । ९ तुभ्ये वस्त्रं उदय । १० ते जन
गेहे मयन्ति । ११ यानिह कुमार उष्मानं गच्छति । १२ अत्रुप
हिर्यन् रवति । १३ सोपानेन वस्त्रेसु वस्त्रानि पयन्ति । १४ पुच्छ
कृतेन जलं पिबति । १५ पुन्न मुनस्त कारण मयति ।

(ग)

१ अहं कुमारस्त उच नगरं पयामि । २ सो माचको गेहेसु दारकेसु
मय माचति । ३ वस्त्रस्त विच्छ उष्मानस्त वस्त्रेसु मयति । ४ तुभ्ये
बुभुक्षु वस्त्र हृदये पयति । ५ यक्षगो ओकं नयनं पायेहि रवति ।
६ वसारे मनुष्या दाने पुन्न पयन्ति । ७ दास ! त्व बुभुक्षु ओके
रोचति । ८ देव ! अहं नगरेसु वन पयामि । ९ ते सोपा गेहे मय
रोचति । १० सो नरो गेहे कृतेन सोयति । ११ दारकस्त व्यस्य मूपाकृत्य
गेहे पोषकं उदति । १२ लंके नयनं सरस्वि मुनं मयति । १३
विच्छेन ते बुभुक्षु वयति । १४ मुनयस्त व्याजोके सो पुरिसो वय उदति ।
१५ मुनयस्त सीकं लोका बुभुक्षुस्त कारण मयति ।

पाणि में अनुपाद कीजिए—

१ लंके की ओग हूँती है । २ मैं नगर में मित्राणी को देखता
हूँ । ३ बनिवा उद्यान के पेड़ों में वन देखती है । ४ बुभुक्षु में अहं

धर्मको पसन्द करता है । ५. राजा पुत्र को भिखारी से माँगता है । ६. तू
 नगर से बाहर देखते हो । ७. मैं पुस्तक में प्रसन्न होता हूँ । ८. देवता का
 शरीर वन में शोभता है । ९. तुझे की आँख दिखाई देती है । १०. मनुष्य
 लोक में गूरज का आलोक पसन्द करने । ११. पुण्य को राजा लोग
 छोड़ते हैं । १२. नगर में गन्धर्व रोता है । १३. वह घर जा रहा है ।
 १४. यक्ष वाग में सूरज के प्रसाद में फल को देवता है । १५. बनिगा
 घर से भात को माँगता है । १६. पेट की जड़ पुरानी होती है । १७. राजा
 का घर नगर में जलता है । १८. कुमार की आँख में राजा देखता है ।
 १९. दास वाग के पेड़ों में फलों को देवता है । २०. बुद्ध के धर्म से ससार
 में सुख होता है । २१. मनुष्यों के लिए पाप दुःख का कारण होता है ।
 २२. मनुष्य नगर में शीला में प्रसन्न होते हैं । २३. बुद्ध का धर्म लोक में
 प्रकाशित होता है । २४. पाप से ससार में मनुष्य को दुःख होता है ।
 २५. मैं बुद्ध को नमस्कार करता हूँ । २६. राजा लोग ससार में सुख को
 देखते हैं । २७. भिखारी नगर में लड़कों से पानी माँगता है । २८. यक्ष
 श्मशान में भात पकाता है । २९. घर में पुरुष दुःख से शोक करता है ।
 ३०. मैं धर्म को नमस्कार करता हूँ । ३१. वह सध को नमस्कार करता
 है । ३२. तुम लोग बुद्ध को नमस्कार करते हो ।

पाँचवाँ पाठ

आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द

छता

	एकवचन	बहुवचन
कम्मा	छता	छता छतायो
मुतिपा	छठ	छता छतायो
ठठिपा	छताय	छताहि छतामि
चतुत्थी	छताय	छतान
पद्ममी	छताय	छताहि छतामि
छद्दी	छताय	छतान
सचमी	छतार्थ छताय	छताछु
आरूपन	छते	छता छतायो

इन आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप भी 'छता' शब्द के समान ही होंगे :—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
अच्छरा	अच्छरा	अटा	अटा
अम्मा	मता	तण्डा	तण्डा
गाथा	सोच	माषा	नौका

१ 'अम्मा' शब्द के रूप में आरूपन पुरुषवचन में 'छते' की भाँति अम्मे व होकर अम्मा ही जाता है। जैसे—मोति अम्मा ! किन्तु अम्मे वरा का विवरण न देना ही जाता है। जैसे—मोति अम्मे अम्मा !

चन्दिमा	चन्द्रमा	पटिपदा	मार्ग
छाया	छाया	मेत्ता	मैत्री
सुणिसा	पतोहू	सभा ^१	सभा
परिसा	परिषद्	साला	घर
भरिया	स्त्री	गीवा	गला
जिह्वा	जीम	साखा	डाली
माला	माला	तारका	तारा
देवता	देवता	वालुका	बालू
विज्जा	विद्या	कञ्जा	कन्या
वीणा	वीणा	सद्धा	श्रद्धा
पञ्जा	प्रज्ञा	कह्वा	सन्देह
माया	माया	सुरा	शराब
सेना	सेना	दिसा	दिशा
भिक्षा	भिक्षा	वनिता	स्त्री

‘भ्वादि गण’ के इन धातुओं के रूप भी ‘पठ’ धातु के समान ही होंगे,—

धातु	अर्थ	पठम पुरिसमें प्रयोग
नि + सद	बैठना	निसीदति, निसीदन्ति
ठा	खड़ा होना	उट्टहति, उट्टहन्ति
नि + कम	निकलना	निक्खमति, निक्खमन्ति
सं + आ + दा	ग्रहण करना	समादियति, समादियन्ति

१. ‘सभा’ और ‘परिसा’ शब्दों का सत्तमी एक वचन में ‘सभर्ति’ और ‘परिसर्ति’ रूप भी होता है । यथा—सभर्ति, सभायं, सभाय । परिसर्ति, परिसायं, परिसाय ।

अम्मास

हिन्दी में अनुवाद कीजिए :—

(क)

१ कृता रक्ते कम्पति । २ कृतासु पक्ष्यानि दिव्यन्ति । ३ कृताहि रक्ता सोमन्ति । ४ अम्मासो हसन्ति । ५ अम्मा पुच्छन्त मुग्ध पस्तति । ६ सो दारको गामायो पठति । ७ अम्बिमा माकं ज्योति । ८ अम्मायो गेहे भवन्ति । ९ मुक्ता सद्गति । १० नाभा जले गच्छति । ११ अह सील समाप्तिमामि । १२ अनितायो सीतानि समादियन्ति । १३ सो भूपाको कने निसीदति । १४ अरिया नगसम्हा निक्षतमति । १५ सेनायो गामेसु निसीदन्ति ।

(ख)

१ अम्मा कुमारस्स मत्तं पचति । २ गाथायो पोत्तकेसु अहं पस्सामि । ३ अमुस्तान अयायो कज्जायो रोचन्ति । ४ लोके नरान तत्ताव दुक्कमं भवति । ५ दुद्धस्स परिपुर्णं मय रोचाम । ६ मेत्ताय संतारे अना मोदन्ति । ७ परिषत्तिं दुद्धो निसीदति । ८ समासु अरियायो दिव्यन्ति । ९ कृतान माहा रक्ते कम्पति । १० बीजा दारकस्स गेहे दिव्यन्ति । ११ पत्ताय सो नरो ज्योति । १२ साशानु दारका भवन्ति । १३ दुद्धा मिक्काय गाम गच्छति । १४ सो वाक्को वाक्काव निसीदति । १५ लोके पत्ताय अना दुक्कमं पस्सति ।

पाठि में अनुवाद कीजिए :—

१ कृताओं से घर रक्ता है । २ अम्मास नगर में बिज्याई देती है । ३ मैं जल में अम्मास को देखता हूँ । ४ पैर की छामा में अम्मास बैठता है । ५ अह अम्मा में मात की रक्षा करता है । ६ अम्मा की रक्षा दिग्गद देती है । ७ बीजा जल में जाती है । ८ मागों में अम्मास रोते हैं । ९ मीठी स मुग्ध होता है । १० फतोह घर में बैठती है । ११ परिम्प

में स्त्री रोती है । १२. जीभ तृष्णा पसन्द करती है । १३ पुत्र के गले में माला गोभती है । १४ देवता नगर से निकलते हैं । १५. तू विद्या पढते हो । १६ वह वीणा के लिए शोक करता है । १७. मनुष्यों की प्रज्ञा पुण्य देखती है । १८ सेनाये घरों में जल पीती है । १९. भिखारी भिक्षा के लिए नगर में रोता है । २० सभाओं में बुद्ध लोग धर्म देखते हैं । २१ लडके की गर्दन उठती है । २२. पेड़ों से डालियाँ निकलती हैं । २३ चन्द्रमा के आलोक में तारे गोभा देते हैं । २४ बालू में राजा की नौका जाती है । २५, कन्याये घर में बैठती हैं । २६. श्रद्धासे धर्म होता है । २७ कन्या को सन्देह होता है । २८ सेना नगर में शराब पीती है । २९ बाग में स्त्री खड़ी होती है । ३० दिखाएँ शोभा देती हैं ।

छठौँ पाठ

इकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द

मुनि

एकवचन

बहुवचन

पटमा	मुनि	मुनी मुनयो
द्वितीया	मुनि	मुनी, मुनयो
तृतीया	मुनिना	मुनीहि, मुनीमि
चतुर्थी	मुनिनो मुनिस्त	मुनीनं
पञ्चमी	मुनिना मुनिम्हा मुनिस्मा	मुनीहि मुनीमि
छट्ठी	मुनिनो मुनिस्त	मुनीनं
सप्तमी	मुनिभिः मुनिरिम	मुनिस्त मुनीस्त
आठवचन	मुनि मुनी	मुनि मुनयो

न इकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के रूप भी 'मुनि' शब्द के समान

हाने—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
पाणि	हाथ	शण्डि	गोंठ
मुष्टि	मुट्ठी	कुष्ठि	पेट
साहि	बान	धीहि	धान
व्याधि	रोग	सन्धि	जोड़
रसि	देर	धीषि	पीठा
रसि'	कपि	मणि	मणि

१ 'इमि' शब्द का रूप पठमा बहुवचन में विरल से 'इस' होता है भार द्वितीया बहुवचन में भी। जैसे—समस्त ब्राह्मण शब्द सम्प्रदायक 'इस'।

गिरि	पहाड	रवि	सूरज
कवि	कवि	कपि	बन्दर
असि	तलवार	मसि	स्याही
निधि	खजाना	विधि	विधि
अहि	सॉप	किमि	कीडा
पति	पति	अरि	शत्रु
जलनिधि	समुद्र	गहपति	गृहपति
अधिपति	राजा	नरपति	राजा
सारथि	सारथी	जलधि	समुद्र
जाति	रिस्तेदार	अग्नि ^१	आग

‘रूधादि गण’ के इन धातुओं के रूप नीचे लिखे प्रकार से होंगे.—

धातु	अर्थ	पठम पुरिस में प्रयोग
रुध	रोकना	रुन्धति, रुन्धन्ति
भुज	खाना	भुञ्जति, भुञ्जन्ति
कत	काटना	कन्तति, कन्तन्ति
गह	पकड़ना	गण्धति, गण्धन्ति
छिद	काटना	छिन्दति, छिन्दन्ति
वध	बोधना	वन्धति, वन्धन्ति
भिद	फोड़ना	भिन्दति, भिन्दन्ति
मुच	छोड़ना	मुञ्चति, मुञ्चन्ति
युज	जोड़ना	युञ्जति, युञ्जन्ति
लिप	लेपना	लिम्पति, लिम्पन्ति
सिच	सॉचना	सिञ्चति, सिञ्चन्ति
हिस	हिसा करना	हिंसति, हिंसन्ति

१ ‘अग्नि’ शब्द का रूप पठमा एकवचन में विकृत्य से ‘अग्निनि’ भी होता है ।

अम्मास

हिन्दी में अनुवाद कीजिए—

(क)

१. मुनि निधि गच्छति २ मुनिनो मुञ्चिस्मि मणि सोमति । ३ सो मुनीनं वक्त्वं छिन्दति । ४ अयनिभिर्मि नावा गच्छति । ५ चारुणि बाने निसीयति । ६ दारको बीहि छिन्दति । ७ अहं साभि गच्छामि । ८ म्माधि मनुस्से हिंसति । ९ सो पापिना दारक गच्छति । १० कधि गच्छि मुञ्चति । ११ मरिषाय कुञ्चिस्मि म्माधि म्मति । १२ बाणिजस्स बीहयो नय कन्थन्ति । १३ नावाय सन्धि पस्सन्ति । १४ बीहीनं एत्ति आधिपति कप्पति । १५ अहि गामे जलं पिबति ।

(ख)

१ इतिनो पुत्तो चम्मं पयति । २ गिरिमिह इत्थो वक्त्वं सिञ्चन्ति । ३ कम्पिनो अम्मा गेहं छिन्दति । ४ दालो अहिना गीषं छिन्दति । ५ नरपति निधि वक्त्तति । ६ पति मरिय गच्छति । ७ अक्षिप्तयो एत्ते हिंसन्ति । ८ चारुपीहि नय वनं गच्छन्ति । ९ अयत्थो मायातु सिम्पन्ति । १० दीप्प्यो बनेसु सुनये मुञ्चन्ति । ११ म्मयो गेहसु अत्थन्ति । १२ एत्थि मनुस्सान् आलोक्कन्ति सिञ्चति । १३ कप्प्यो बने पत्तानि मुञ्चन्ति । १४ मसि कर्षं छिन्दति । १५ नरो विभिना चम्म सम्पन्ति । १६ सिम्प्यो पत्तेसु दिम्पन्ति । १७ भरवो सन्धि छिन्दन्ति । १८ गहपतिना मरिया गच्छि मुञ्चति । १९ नरपति चम्मे मुञ्चति । २० अग्नि गेह गच्छति ।

पाठि में अनुवाद कीजिए—

१ मुनि गौड़ का रोक्ता है । २ मुनि का दास माठ ग्याता है । ३ मैं मुनि से वन भौंछता हूँ । ४ हाथ में रोग दिखाना देता है । ५ मुझी में जल का दौगते हैं । ६ धान की खेती कोग काटते हैं । ७ रोग लोगों की हिता करता है । ८ गौड़ म वन भौंछता है । ९ की के पेड़

पर वस्त्र दिखाई देता है । १०. तम लोग धान बाँध रहे हैं । ११ जोड़ों को तुम लोग काटते हो । १२ धन के ढेर में भिग्यारी माँगता है । १३. अग्नि लोग फलों को खाते हैं । १४ वह पट्टाड पर पानी रोकता है । १५. कवि की स्त्री वस्त्र को काटती है । १६. तलवार से सेनाएँ मनुष्यों की हिसा करती हैं । १७ साँप सजाने की रक्षा करता है । १८. पति स्त्री को छोड़ता है । १९. समुद्र में नौका जाती है । २०. राजा लोग दुःख में रोते हैं । २१ सारथी पेट को काटता है । २२. रिस्तेदार कन्या को देखते हैं । २३. चीता कुत्तों को पकड़ता है । २४ मणि से आलोक निकलता है । २५. सूरज सप्तर में प्रकाश छोड़ता है । २६ बन्दर पेड़ों पर फलों को खाते हैं । २७. वह स्याही को वस्त्र में लेपता है । २८ राजा विधि में घर छोड़ता है । २९ कीड़े फलों में होते हैं । ३० शत्रु राजा को बाँधते हैं । ३१. गृहपति की स्त्री मणि को फोड़ती है । ३२ आग नगर को घेरती है ।

सातवाँ पाठ

इकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्द

अट्टि (= इष्टी)

	पञ्चमन	बहुवचन
पठमा	अट्टि	अट्टीनि अट्टी
दुष्टिया	अट्टि	अट्टीनि अट्टी
आत्पन्	अट्टि	अट्टीनि अट्टी

शेष रूप 'भुनि' शब्द के समान होंगे ।

इन शब्दों के रूप भी अट्टि शब्द के ही समान होंगे —

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
वधि	इष्टी	सधि	धौ
पारि	पानी	सधि	जोंप
अस्ति	भाल	अधि	जपट

द्विधादि गण के इन धातुओं के रूप नीचे मिलने प्रकार से होंगे —

धातु	अर्थ	पठम पुरिस में प्रयो ।
दिय	लेटना	दिशति दिशन्ति
नम	नष्ट होना	नस्थति नस्थन्ति
पुष	जड़ाई करना	पुष्कति पुष्कन्ति
रुध	अच्छा लगना	रुधति रुधन्ति
कुध	गुस्ता होना	कुशति कुशन्ति
कुप	कोप करना	कुपति कुपन्ति
गा	गाना	गायति गायन्ति

घा	सूचना	घायति, घायन्ति
छिद्	दृटना	छिज्जति, छिज्जन्ति
ज्ञा	व्यान करना	ज्ञायति, ज्ञायन्ति
नहा	नहाना	नहायति, नहायन्ति
बुध	समझना	बुज्झति, बुज्झन्ति
लुभ	लोभ करना	लुब्भति, लुब्भन्ति
सम	शान्त होना	सम्मति, सम्मन्ति
सिच	सीना	सिच्यति, सिच्यन्ति
सुध	शुद्ध होना	सुज्झति, सुज्झन्ति
सुस	सूचना	सुत्सति, सुत्सन्ति
हन	मारना	हज्जति, हज्जन्ति

कुछ आवश्यक शब्द

शब्द	अर्थ
अत्थि	है
नत्थि	नहीं है
सन्ति	हैं
न	नहीं

अभ्यास

हिन्दी में अनुवाद कीजिए :—

(क)

१ कुमारस्स सत्थिनो अट्ठीनि छिज्जन्ति । २ ते सुनखस्स अट्ठिना दिव्वन्ति । ३ जलनिधिम्हि वारि नत्सति । ४ अट्ठीसु व्याधि अत्थि । ५ अग्गिनो अच्चि गेहं ढहति । ६ अक्खीहि सुरिय पत्तति । ७ सुनखो दधि रोचति । ८ सप्पिस्सि जल अत्थि । ९ सेना नगरे युज्झति । १० भूपालस्स भत्त रुच्चति । ११ याचको दारकेन कुप्पति । १२ अहं न कुज्झामि । १३ त्वं धम्मं गायसि । १४ सो उदकं घायति । १५ रुक्खो ओधेन छिज्जति ।

१ मुनयो बनेसु शायन्ति । २ वनितायो उदके नहायन्ति । ३ तुम्हे बम्म पुम्सय । ४ यक्स्तस्स जिर्त्त उम्पाने तुम्मति । ५ मुनिनो ब्वाचयो सम्मति । ६ मरिषा पुत्तस्स कर्त्तं सिम्भति । ७ मुनयो पुज्जेन मुज्जन्ति । ८ सा वनिता पुज्जेन सुत्थति । ९ ब्वाधि मनुस्से हज्जति । १० बौक्क सुग्ग नत्थि । ११ गामे बाजिक्कस्स बम्म बत्थि । १२ भूपालस्स मरिषायो रोहे सन्ति । १३ सो नरो भासको न भवति । १४ मव बम्म बढाम । १५ तुम्हे दधीनि भुज्जथ । १६ अहं पुज्जं सरणं गच्छामि । १७ त्वं बम्म सरणं गच्छति । १८ सा संघं सरणं गच्छति । १९ लोके संघस्स सरणे भुग्ग बत्थि । २० ते मुनयो बम्मेन न मुज्जन्ति ।

पाठि में अनुवाद कीजिए—

१ लहर की हड्डी टूटती है । २ बास हड्डी से खरता है । ३ हड्डी में रोग फैलाई देता है । ४ हड्डियों से मैं नहीं खरता हूँ । ५ हड्डी में पानी है । ६ कलम से मैं नहीं हड्डी हटाता हूँ । ७ बौद्ध से खरता नहीं बिर्याद होता है । ८ रूपद पर मैं उठती हूँ । ९ पी पर मैं हूँ । १० बाँप की हड्डी टूटती है । ११ रोग नष्ट होता है । १२ लहरों पर मैं खड़ा करता हूँ । १३ वे मात फसल करती हैं । १४ वनिता प्रीतिव होता है । १५ राज्य लहरों पर कोप करता है । १६ मित्रों धन गाती हैं । १७ मैं भाग में भी खेपता हूँ । १८ वेद से एक टूटता है । १९ पानी में बिना नहाती हैं । २० कवि लोग पुनः को समझते हैं । २१ लौप भवि में लोभ करते हैं । २२ पति समुद्र में नहाते हैं । २३ रिम्नेदार कोप नहीं करते हैं ।

४ वे धान्य होते हैं । २५ गृहस्थि बल सीता है । २६ धिनों का मायाप भण्डी लगी है । २७ बम्बर कीर्ति का मारते हैं । २८ खरत पानी में खुद हाता है । २९ एक में वेद बाट से खरता है । ३० मैं धर्म की धरत माता हूँ । ३१ वह बुद्ध की धरत पाता है । ३२ लुप्त की धरत जाने हो ।

आठवाँ पाठ

इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द

रत्ति (=रात)

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	रत्ति	रत्ती, रत्तियो, रत्यो
द्वितीया	रत्ति	रत्ती, रत्तियो, रत्यो
तृतीया	रत्तिया, रत्या	रत्तीहि, रत्तीभि
चतुर्थी	रत्तिया, रत्या	रत्तीनं
पञ्चमी	रत्तिया, रत्या	रत्तीहि, रत्तीभि
छट्ठी	रत्तिया, रत्या	रत्तीनं
सप्तमी	रत्तिय, रत्यं, रत्या, रत्ति, रत्तो, रत्तिया	रत्तीसु, रत्तिसु
आलपन	रत्ति	रत्ती, रत्तियो, रत्यो

इन शब्दों के रूप भी 'रत्ति' शब्द के समान ही होंगे '—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
युत्ति	युक्ति	तित्ति	तृप्ति
वुत्ति	जीवन वृत्ति	खन्ति	सहनशीलता
कित्ति	कीर्ति	सन्ति	शान्ति
मुत्ति	मुक्ति	सिद्धि	सिद्धि
सुद्धि	शुद्धि	बोधि	ज्ञान
इद्धि	ऋद्धि	भूमि	भूमि
बुद्धि	वृद्धि	जाति	जन्म

बुद्धि	बुद्धि	पीति	प्रीति
नस्ति	तुष्या	सन्धि	मेक
कोटि	करोट	दिष्टि	दधि
बुद्धि	बुद्धि	बुद्धि	सन्तोष
यद्धि	गङ्गा	पालि	पंक्ति
पस्ति	पक्षि	सति	स्मृति
धूक्ति	धूल	मंगुलि	अगुम्भी
अद्यपि	अगत	असनि	विजम्भी
आसि	रागी	बुद्धि	गुत्तु
तुष्टुभि	बाग्य	पक्षि	पेदक सेना
कम्भि	शामा	दोषि	बोगी
नामि	नाम्नी	रसि	रिम
केलि	कीर्ण	गति	गमन
धिति	भीरव	पुयति	तद्वशी
रधि	रधि	सुगति	अप्यही गति

'तुष्टादि गण' क इन बाहुभ्यो क रूप नीचे लिखे प्रकार से होंगे—

भातु	अर्थ	पठम पुरिम में प्रयोग
तुष्ट	प्रीति करना	तुष्टि, तुष्टानि
पुष्ट	पुष्टा	पुष्टि, पुष्टयि
मुष्ट	मुष्टना	मुष्टि, मुष्टयि
निष्ठ	निष्कृता	निष्ठति, निष्ठयि
तुष्ट	तुष्टना	तुष्टि, तुष्टयि
प + बिभ	पुष्टना	पुष्टयति, पुष्टयन्ति
पिष्ट	भीषना	पिष्टयति, पिष्टयन्ति
गुष्ट	रुष्टना	गुष्टयति, गुष्टयन्ति

नुद	दूर करना	नुदति, नुदन्ति
खिप	फेंकना	खिपति, खिपन्ति
गिल	निगलना	गिलति, गिलन्ति
वि + किर	छीटना	विकिरति, विकिरन्ति
नि + गिर	निगलना	निगिरति, निगिरन्ति

अभ्यास

हिन्दी में अनुवाद कीजिए :—

(क)

१ रत्तिय कवि पोत्थक लिखति । २ अटविय दीपयो भवन्ति । ३. रत्तिय चन्दिमाय आलोको गेहे भवति । ४. युत्तिया सा वनिता भक्त गिलति । ५ कुमारस्स युत्तिय कङ्का अत्थि । ६, मुनिनो कित्ति लोके अत्थि । ७ अह व्याधिना दुक्ख फुसामि । ८ नरा ससारे मुत्ति चजन्ति । ९ गेहेसु तित्ति नत्थि । १० दारको खन्तिया सुख विन्दति । ११. अह सन्ति विन्दामि । १२. मुनिनो सिद्धिया कङ्का नत्थि । १३ सुद्धीहि जना सुज्जन्ति । १४ इद्धिया इसयो नगर गच्छन्ति । १५ धनेन लोके बुद्धि भवति ।

(ख)

१ कुमारो यट्ठीहि सुनख नुदति । २ युवतिया पतिनो अम्मा भक्त खिपति । ३ दोणि जलधिम्हि विकिरति । ४ सो दारको दधि निगिरति । ५ भूपालो गेह पविसति । ६ युवति बने सुपति । ७ केलिय वाणिजो दुन्दुभिं मुसति । ८. यक्खो दुक्ख फुसति । ९ सारथिनो कुच्छिस्मि नुदति । १० अगुलीसु व्याधि नत्थि । ११. मय बोधिं फुसाम । १२ सो बुद्ध न सरति । १३ वनिता धम्म वदति । १४ इसयो अटवीसु सन्ति । १५ गेहेसु दारका भक्त भुज्जन्ति । १६ अम्मा दधिं गण्हति । वाणिजो पोत्थक लिपति ।

पाछि में मनुवाइ कीजिय :—

१ रात में माता पुत्र का सूयी है । २ ऋषि लोग बगल में मुली
 ३ । ३ जीवन वृत्ति के स्थिति में माता राता हैं । ४ मल मुक्ति बान्ध
 है । ५ कीर्ति से सुख मिलता है । ६ रात पर म सुख भोगता है । ७
 कदका घन छींटता है । ८ स्त्री पर म छाती है । ९ स्त्रियां वेद से निकलती
 है । १० सुख पुस्तक मही लिखते हैं । ११ सुखियों छाठियों को रगल
 है । १२ सेना की पक्ति नगर में जाती है । १३ खगल से पीता नगर
 में प्रवेश करता है । १४ मडके पछि में गडे हैं । १५ मुनि लोग ध्यान
 करते हैं । १६ सुरज की रश्मि रात को स्थिर कर रही है । १७ गी
 का पानी घर को सींचता है । १८ धूल पर में बिछर रही है । १९ स्त्री
 की सतिनर्षी गाती हैं । २० खगल में मिह दुःख भोगता है । २१ सार्व
 का राजा मरता है । २२ आदमी का मुटि नहीं होती है । २३ वह शरी
 से बन्दर को पकड़ता है । २४ बिहारी के आलोक से आदमी दिला
 होता है । २५ योगी समुद्र में प्रवेश कर रही है । २६ सुगति में दुःख
 नहीं है । २७ मडके की नामी में रोग है । २८ म पर आ रहा है ।

नवाँ पाठ

ईकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द

दण्डी (=सन्यासी)

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	दण्डी	दण्डी, दण्डिनो
दुतिया	दण्डिनं, दण्डि	दण्डि, दण्डिनो, दण्डिने
ततिया	दण्डिना	दण्डीहि, दण्डीभि
चतुर्थी	दण्डिनो, दण्डिस्स	दण्डीनं
पञ्चमी	दण्डिना,, दण्डिस्मा, दण्डिम्हा	दण्डीहि, दण्डीभि
छट्ठी	दण्डिनो, दण्डिस्स	दण्डीनं
सत्तमी	दण्डिनि, दण्डिम्हि, दण्डिस्मिं	दण्डिसु, दण्डीसु
आल्पन	दण्डि, दण्डी	दण्डी, दण्डिनो

इन शब्दों के रूप भी 'दण्डी' शब्द के ही समान होंगे —

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
करी	हाथी	चक्की	चक्रवाला
कामी	कामी	चागी	त्यागी
कुट्टी	कोढ़ी	जटी	जटाधारी
कुसली	कुशली	जाणी	जानी
गणी	गणवाला	दन्ती	हाथी
दाठी	बाघ	दीघजीवी	दीर्घजीवी
धम्मवादी	धर्मवादी	धम्मी	धर्मी

पक्षी	पक्षी	पापकारी	पापी
बखी	बखान्	भागी	भाग्यात्म
भोगी	भोग करनेवाला	माछी	माछी
मूखसी	मूख भाषण करनेवाला	बोगी	बोगी
बस्मी	बस्तरवाला छिपाही	खंभी	खम्बाका
सामी	स्वामी	सिखी	भोर
सौमपायी	शीघ्र जानेवाला	मुछी	मुली
मन्ती	मन्त्री	बखी	बखानात्म
छत्ती	छत्र धारण करनेवाला		

‘तनादि गण’ के इन धातुओं के रूप नीचे दिये प्रकार से होंगे—

धातु	अर्थ	पठ्य पुरिस में प्रयोग
ठन	देखाना	ठनोति, ठनोन्ति
ठक	ठकना	ठक्कोति, ठक्कोन्ति
बन	बोझना	बनोति बनोन्ति
मन	मानना	मनोति मनोन्ति
आप	पाना	अप्योति अप्योन्ति
कर	करना	करोति, करोन्ति

अभ्यास

हिन्दी में अनुवाद कीजिए—

१. बखी समी गच्छति । २. करिनी करिन्मो भुङ्गन्ति । ३. कामी पुरिसा बटे (= बटाइवों) ठनोन्ति । ४. कुट्टी भासने निशीलित्वा मल बाधति । ५. कुट्टी पुनर्म कृत्वा समा अप्योति । ६. गच्छिन्मो जनान् विज्ञानि जानन्ति । ७. बखी रोषानि कुनाति । ८. भागी बनानि न गच्छन्ति । ९. बट्टो सरा गेदे न बनन्ति । १०. भापी पुरिसा रक्त लक्षु नमन्ति । ११. बस्मी पन्थानि न भुङ्गन्ति । १२. बाछी मिमो बणिजा

खादन्ति । १३ पक्खिनो आकासे उड्डन्ति । १४. बलिनो दुब्बले जने न पहरन्ति । १५. भोगी भोगे इच्छति । १६ मूसली दण्डीहि न भायति । १७ वम्मी भूपाल रक्खति । १८. सामी भरिय अप्पोति । १९ सीघयायी खिप्प नगर गच्छति । २० सिखी पक्खे पसारेत्वा भित्तिर्य नच्चति । २१ योगी ज्ञान करोति । २२ सुखी सुख मनोति । २३ धजी युद्धभूमिं गन्त्वा विराजति । २४. माली पुण्फ गण्हति । २५ पापकारी निरय उपपजति ।

पाली में अनुवाद कीजिए :—

१ दण्डी गाँव में जाता है । २ सिपाही युद्ध करता है । ३. राजा बलवान् मनुष्यों को चाहता है । ४ हाथी गन्दगी (=मलानि) नहीं फैलाते हैं । ५ कामी धन चाहता है । ६ कोढ़ी भीख माँगता है । ७. कुशली पुण्य करता है । ८ गणवाला गण को बढ़ाता है । ९ चक्रवाला पानी पीता है । १० त्यागी पुरुष ग्राम को छोड़ता है । ११ जटाधारी लोग वन में घूमते हैं । १२ शानी कभी (=कदापि) रोते नहीं हैं । १३ हाथी जंगलों में विचरण करते हैं । १४. बाघ हाथी को मारते हैं । १५ पक्षी आकाश में शब्द करते हैं । १६. सिपाही नगर में टहलता है (=चङ्क्रमति) १७ मंत्री राजा से धन माँगता है । १८ मोर दीवार पर बैठा है । १९. ध्वजाधारी आगे-आगे (=पुरतो) जाता है । २० योगी आसन पर ध्यान करता है । २१ माली माला बनाता है । २२ पापी लोग पाप फैलाते हैं । २३. धर्मी धर्म बढ़ाते हैं । २४ सुखी सुख पाते हैं । २५ स्वामी उद्यान में घर बनाते हैं ।

द्वितीय परिच्छेद

पुद्गलधन (अतिष्ठक)

१७५

अपराध दण्ड में कमसावरण की विधि बोली में आपरा अपराध दिया, वह इस समय कोराह तथा मगन में बोली जाती थी और इसी लिए इसका नाम 'मापणी' (मापणी) रखा था । इसे ही आजकल 'पाठी' के नाम से व्यवहृत करते हैं । पुद्गल के लक्षण तथा अपराधों के प्रतिपादन ग्रन्थों को 'पिठक' (पेयरी) कहते हैं । पिठक तीन हैं—१ विनय २ धृत (धृज वा धृज) ३ अभिषेक (अभिषेक) । इनके सीरर अनेक ग्रन्थों का समावेश किया जाता है ।

क विनयपिठक—'विनय' का अर्थ है निमग्न । मित्रियों मित्रियों तथा इन सब के पालन के निमित्त विन विषयों का उपदेश पुद्गल ने दिया था, उनका संक्षेप इस पिठक में है । वह आचारप्रवाल ग्रन्थ है और पुद्गलजीन भारतीय समाज की रक्षा के विचारों करने में वह पिठक विशेषतः उपयुक्त है । इसके तीन भाग हैं—(१) धृतनिर्णय (२) कान्यक, (३) परिवार । निर्णय के अन्तर्गत वह विषयों का वर्णन है जिन्हें मित्र अपराध के विन (प्रत्येक भाग की कान्यक बतुर्हरी और पूर्वमा) व्यवस्थित किया करता है । इन्हें ही पाठियोक्त (प्रतिपोक्त वा प्रतिमीक्षन) कहते हैं । इसके दो भाग हैं—(१) मित्रपाठियोक्त तथा (२) मित्रजीपाठियोक्त । कान्यक के दो प्रधान कान्य हैं—(१) महाभय और (२) पुनर्भय । परिवार का परिवारपाठ में इन्हीं विषयों का संक्षिप्त विवरण है ।

घ धृत-पिठक—जिस प्रकार विनपिठक का प्रधान लक्षण 'विन' का शासन है, उसी प्रकार धृतपिठक का प्रधान लक्षण धर्म का प्रतिपादन है । पुद्गल ने मित्र-मित्र अपराधों पर अपने धर्म की विन शिक्षाओं का विवरण दिया था उन्हीं का समावेश इस पिठक में है । पुद्गल के जीवनचरित तथा उपदेशों की व्याख्या के लिए वही हमारा एकमात्र आधार है । इसके पाँच बड़े विभाग हैं—जिन्हें 'मिषय' (संग्रह) कहते हैं—

(१) दीपनिकाय—इन्में उपदेशों का संग्रह—१४ सूत्र । जिनमें प्रथम 'महाभयसूत्र' में पुद्गल के जीवनचरित वास्तव दार्शनिक मतों का संक्षेप भारतीय दर्शन के इतिहास के लिए विशेष महत्त्व है । सामान्य-कृत धृत में पुद्गल के

सामयिक सुप्रसिद्ध तीर्थकरों के मतों का वर्णन है जिनके नाम हैं—१ पूर्ण कश्यप, २ मक्खलि गोसाल, ३ अजित केशकम्बल, ४ प्रकुष कात्यायन, तथा ५. निगण्ठ नाथपुत्त । तेविज्ज-सुत्त (१।१३) बुद्ध की वेदस्वयिता ऋषियों के प्रति विशिष्ट भावना का पर्याप्त परिचायक है ।

(२) मज्झिम निकाय—मध्यमकाय १५२ सुत्तों का संग्रह । चार आर्यसत्य, कर्म, ध्यान, समाधि, आत्मवाद के दोष, निर्वाण—आदि उपादेय विषयों का कथन । कथनोपकथन के रूप में होने से नितान्त रोचक तथा मनोरञ्जक है ।

(३) संजुत्त निकाय—लघुकाय ५६ सुत्तों का संग्रह ।

(४) अंगुत्तर-निकाय—११ निपात या विभाग में विभक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन ।

(५) खुद्दक-निकाय—इस निकाय में १५ ग्रन्थ सम्मिलित हैं —

(१) खुद्दकपाठ—यह बहुत ही छोटा ग्रन्थ है । इसमें नव अश हैं । आरम्भ में शरण त्रय, दश शिक्षापद, कुमार प्रश्न के अनन्तर मंगल सुत्त, रतन सुत्त, तिरोकुट्ट सुत्त, निधिकण्ड सुत्त और मेत्त सुत्त हैं । मंगल सुत्त में उत्तम मंगलों का वर्णन किया गया है । मेत्त सुत्त (मैत्री सूत्र) में मैत्री की उदात्त भावना का बड़ा ही प्रासादिक वर्णन है ।

(२) धम्मपद—बौद्ध साहित्य का सबसे प्रसिद्ध तथा जनप्रिय ग्रन्थ धम्मपद है । ससार की समग्र सभ्य भाषाओं में इसके अनुवाद किए गए हैं । इसमें केवल ४२३ गाथाएँ हैं जिन्हें भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन काल में विभिन्न शिष्यों को उपदेश दिया था । ये गाथाएँ नीति तथा आचार की शिक्षा से ओतप्रोत हैं । ग्रन्थ २६ वर्गों में विभक्त है जिनका नामकरण वर्णनीय विषय तथा दृष्टान्तों के ऊपर रक्खा गया है । यथा पुष्प के दृष्टान्त वाली समग्र गाथाओं को एकत्र कर 'पुष्प वर्ग' पृथक् निर्दिष्ट किया गया है । इन गाथाओं में बुद्धधर्म का सार्वजनिक रूप अत्यन्त मनोहर रूप से वर्णित है । कुछ गाथाएँ सुत्तपिटक आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं और कुछ मनु तथा महाभारत आदि से ली गई प्रतीत होती हैं । उदाहरण के लिये गोथा नीचे दी जाती है—

अह नागोव सङ्गामे चापतो पतित सरम् ।

अतिवाक्य तितिक्खिस्स दुस्सीलो हि बहुज्जनो ॥

। अनुवाद—बैसे पुत्र में हमी अनुप से गिरे शर को सहन करता है बैसे ही अनुवातनों को सहन करना । संसार में हुन्यस्त काहमी ही अधिक हैं ।

(३) उद्यान—भाषातिरेक से (जो प्रीतिवचन छन्दों के कुछ ही कर्मों कमी सिद्धता करते हैं उन्हें उद्घात करते हैं । इस छोटे ग्रन्थ में भगवान् पुत्र के ऐसे ही उद्घातों का संहर है । उदात्तवचनों के पहले सब कथाओं तथा उद्घातों का उद्घात है जिस व्यवहार पर ये शक्य कहे गये थे । वाक्य बड़े ही मार्मिक तथा पुत्र की सुन्दर मिथ्याओं से सम्बन्ध हैं । इसमें आठ वर्ग हैं । बड़े अत्यन्त वर्ष में अन्वो के द्वारा हमी के स्वस्व के परिपालने के रोकक कथालोक का उद्घात है । इस पर पुत्र की मिथ्या है कि जो लोग पूरे अर्थ को न जानकर केवल उसके अंश रूप को जानते हैं वे इसी प्रकार की परस्परविरोधी बातें किया करते हैं ।

(४) इतिवृत्तक—इस ग्रन्थ में पुत्र के द्वारा प्रतीयन अर्थ में कहे गए उपदेशों का वर्णन है । इसमें ११२ छोटे-छोटे अंश हैं । वे अक्षय्य विभित हैं । इस नाम का अर्थ है 'इति वृत्तकम्' अर्थात् इस प्रकार कहा गया । और अत्यन्त कथालोक के आगे इस शब्द का प्रयोग किया गया है । उद्घातों के द्वारा मिथ्या को उद्घातन करने का सफल प्रयोग बीर पकता है ।

(५) सुष्ठु निपात—बीर उद्योग का वह बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है । इसमें ५ वर्ग तथा ७२ सुष्ठु हैं । इन सुष्ठु में बीरवर्न के विद्यार्थियों का वर्णन कभी मार्मिकता के साथ किया गया है । भाव समग्र ग्रन्थ वाचा रूप में है । अर्थात्-अर्थात् कथालोक की सुमीय के लिए पद्य का ही प्रयोग है । 'प्रत्ययवा सुष्ठु' और 'प्रत्यय सुष्ठु' में पुत्र के बीर्य की प्रमाण वृत्तियों का वचनानु विवरण है ।

{ ६ } विमान वस्तु } इन दोनों पुस्तकों का निम्न समान है । वस्तु के { ७ } पैत वस्तु } अन्तरात् दुम कर्म करने वाले, श्रेष्ठ (पृथक्) की स्वर्गप्राप्ति तथा पाप कर्म करने करने वालों श्रेष्ठों का पापयोधि की प्राप्ति । इन अन्वी

१—संस्कृत में भी अन्वयवचनान्तर बहुत ही प्रसिद्ध है । ईश्वर के निम्न में अन्वयवचनों के द्वारा अन्वयवचनान्तरों के लिए इस न्याय का प्रयोग किया जाता है । अन्वयवचनान्तर (२।१२) में शूरेश्वर ने इसका प्रयोग इस प्रकार किया है—

उपदेशवचनं अथ निमित्तवर्तुः अनुमितिः ।

आत्मवचनान्तरात् अन्वयवचनान्तरात् ।

के अनुशीलन से बौद्धों के प्रेत-विषयक कल्पनाओं तथा भावनाओं को विशेष परिचय हमें प्राप्त होता है ।

(८) थेर गाथा । बुद्धधर्म को ग्रहण करने वाले भिक्षुओं और भिक्षुणियों (९) थेरी गाथा ने अपने जीवन के सिद्धान्त तथा उद्देश को चित्रित करनेवाली जिन गाथाओं को लिखा था उन्हीं का संग्रह इन ग्रन्थों में है । थेरगाथा में १०७ कविताएँ हैं जिनमें १२७९ गाथाएँ संगृहीत हैं । थेरीगाथा इससे छोटा है । उसमें ७३ कविताएँ ५२२ गाथाएँ हैं । ये गाथाएँ साहित्यिक दृष्टि से अनुपम हैं । इनके पढ़ने से गीति-काव्य के समान आनन्द आता है । उदाहरण के लिए दन्तिका नामक थेरी की यह गाथा कितनी मर्मस्पर्शिनी है —

दिस्वा अदन्त दमित मनुस्सानं वसं गतम् ।

ततो चित्तं समाधेमि खलुताय वन गता ॥

(१०) जातक—जातक से अभिप्राय बुद्ध के पूर्व जन्म से सम्बन्ध रखने वाली कथाओं से है । ये कथाएँ सख्या में ५५० हैं । साहित्य तथा इतिहास की दृष्टि से इनका बहुत ही अधिक महत्त्व है । बौद्ध कला के ऊपर भी इन जातकों का प्रचुर प्रभाव है क्योंकि ये कथाएँ अनेक प्राचीन स्थानों पर पत्थरों पर खोदी गई हैं । कथाओं का मुख्य उद्देश्य तो बुद्ध की शिक्षा देना है परन्तु साथ ही साथ विक्रमपूर्व षष्ठ शतक में भारत की सामाजिक तथा आर्थिक दशा का जो चित्रण हमें उपलब्ध होता है वह सचमुच बड़ा ही उपादेय, बहुमूल्य तथा प्रामाणिक है ।^१

(११) निहेस—इस शब्द का अर्थ है व्याख्या । इसके दो भाग हैं—महानिहेस और चुक्षनिहेस जिनमें अष्टक वर्ग और खगविशान सुत्त (सुत्त निपात का तीसरा सुत्त) के ऊपर क्रमशः व्याख्याएँ लिखी गई हैं ।^२ इससे पता चलता है कि प्राचीन काल में पाली सुत्तों की व्याख्या का क्रम किस प्रकार था ।

(१२) पटिसंभिदामग—(विश्लेषण का मार्ग) इस ग्रन्थ में तीन बड़े खण्ड हैं जिनमें बौद्ध सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण विषयों का विश्लेषण तथा व्याख्यान है ।

^१ थेरीगाथा का वगला कविता में अनुवाद विजयचन्द्र मजुमदार ने किया है ।

^२ जातक का अनुवाद भदन्त आनन्द कौशल्यायन ने हिन्दी में और ईशानचन्द्र घोष ने वगला में किया है । वगला अनुवाद के सब भाग छप चुके हैं । हिन्दी के तीनों खण्डों को हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने प्रकाशित किया है ।

(१३) अपदान—(अवदान-परिज) इस ग्रन्थ में बौद्ध धर्मों के जीवन हितान्त का बड़ा ऐवक वर्णन है। कथा-साहित्य बौद्धधर्म की विशेषता है। परन्तु इस कथाएँ वास्तव के अन्तर्गत ही बड़ी हो जाती। बौद्ध चर्यावहम्बी वेदों की शिक्षाप्रद जीवन परिज यहाँ संश्लेषित हैं। संस्कृत-निबन्ध भाष्यनाम ग्रन्थों में अवदान नाम के ग्रन्थ इसी श्रेणी के हैं। दोनों ग्रन्थों की तुलना एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

(१४) पुत्र पंथा—इसमें चौथम पुत्र से पूर्व अष्ट में उत्पन्न होने वाले २४ पुत्रों के कथानक पाषाणों में बिष्ट्रु गए हैं। आरम्भ में एक प्रस्तावना है। तदनन्तर २४ पुत्र तथा अन्त में चौथमपुत्र के जीवन की प्रथम घटनाओं का कथित-मय वर्णन है। बौद्धों की यह धारणा है कि चौथम पुत्र पञ्चमों पुत्र हैं। इनसे पहले वे चौबीस पुत्रों के रूप में अन्तर्गत हो चुके थे। इसी धारणा के ऊपर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है।

(१५) धरियापिठक—इस ग्रन्थ में १५ अष्टक पाषाणक रचित हैं। अष्टकक प्रारम्भ है परन्तु अष्टक पाषाणमय सुन्दर रूप नहीं है। इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है उन पाठमित्राचार्यों का वर्णन करना जिन्हें पूर्व जन्म में बोधिसत्त्वों से धारण किया था। धरियापिठक का अर्थ है पूर्वज, धारणमय। पाषाणों में इसका रूप पाषाणों होता है। इसमें १ पाठमित्राचार्यों का वर्णन है। ज्ञान, शीघ्र, अभिज्ञान, सत्य, मैत्री, उपेक्षा—इन्हीं पाठमित्राचार्यों को विशेष रूप से अष्टक करने के लिए इन कथाओं की रचना की गई है। इस प्रकार अष्टक मित्राचार्यों के इन पुत्रों ग्रन्थों में शिक्षा तथा आत्मज्ञान का समोपम विविधन अस्तुत किया गया है।

१६ अमिचम्म (अमिचर्म)—बौद्ध साहित्य का तीसरा पिठक है। अमिचर्म शब्द का अर्थ अर्थात् अमिचर्म ने महाजलसूत्रार्थपर(११११) में इस प्रकार किया है :-

अमिमुत्ततोऽध्यामीस्ययादमिभयगतितोऽमिभर्मम ।

‘अमिचर्म’ नामकरण के कारण कारण इस धरिया में बताया गया है। सत्य, बोधि, विमोक्ष, पुत्र आदि के उपरेश देने के कारण निर्माण के अमिमुत्त धर्म

१ ऊपर वर्णित निबन्ध के ११ ग्रन्थ बागरी शिपि में धारणा से प्रकाशित हुए हैं। सन्धन की-पाणी डेक्क लोकार्थीने समग्र पाणी त्रिपिटकों का तथा इनकी श्रेष्ठियों का रोमन शिपि में निरूपित संस्करण निबन्धता है।

प्रतिपादन करने से। इनका नाम अभिधर्म है (अभिमुखेत)। एक ही धर्म के दिग्दर्शन आदि बहुत प्रभेद दिखलाने के कारण यह नामकरण है (आभीक्ष्ण्यात्)। दूसरे मतों के खण्डन करने के कारण तथा सुत्तपिटक में बतलाये गए सिद्धान्तों की [उचित] व्याख्या करने के कारण इस पिटक का नाम अभिधर्म है। (अभिभवात् तथा अभिगतितः)। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्वरूप से सुत्तपिटक में किया गया है उन्हीं का विशदीकरण तथा विस्तृत विवेचन अभिधर्म का प्रधान उद्देश्य है। जो विषय सुत्तपिटक में भगवान् बुद्ध के अवचन रूप में कहे गए हैं, उन्हीं का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन इस पिटक में किया गया है।

अभिधर्म पिटक के सात विभाग हैं —

(१) धम्मसङ्गणि . .

(२) विभाङ्ग

(३) धातुकथा .

(४) पुग्गल पञ्जति (पुद्गलप्रज्ञप्ति)

(५) कथावत्थु (कथावस्तु)

(६) यमक

(७) पट्ठान (प्रस्थानम्)

(१) धर्मसङ्गणि—अभिधर्म पिटक का यह सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। धर्मसङ्गणि का अर्थ है धर्मों की अर्थात् मानसिक वृत्तियों की गणना या वर्णना। पालीटीका में इसका अर्थ इसी प्रकार किया गया है—कामवचररूपावचरादिधम्मो सङ्गह्य सखिपित्वा वा गणपत्ति सख्यात्ति एत्थात्ति, धम्मसङ्गणि। अर्थात् कामावचर, रूपावचर धर्मों का संक्षेप तथा व्याख्या करने वाला ग्रन्थ।

प्राचीन बौद्धधर्म में कर्तव्यशास्त्र और मनोविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन दोनों विषयों का वर्णन इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। ग्रन्थ दुरुह है तथा विद्वान् मिश्रुओं के पठन-पाठन के लिए ही लिखा गया है। यह सिंहल द्वीप में बड़े आदर तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। इस ग्रन्थ में चित्त की विभिन्न वृत्तियों का विस्तृत विवेचन है। प्रज्ञान, सम, प्रगाह्य (वस्तु का ग्रहण) तथा अविक्षेप (चित्त की एकाग्रता) इन चारों धर्मों के उदय होने का वर्णन है।

प्रथम प्रकार के चूहों के समान हैं। वे लोग जो ग्रन्थ का अभ्यास नहीं करते, परन्तु आर्यसत्य का अनुभव करते हैं दूसरे प्रकार के मनुष्य हैं। जो लोग शास्त्र का अभ्यास भी करते हैं, साथ ही साथ आर्यसत्य के सिद्धान्तों का भी अनुभव करते हैं वे तीसरे प्रकार के मनुष्य हैं। जो न तो शास्त्र का अभ्यास करते हैं और न आर्यसत्य का अनुभव करते हैं वे चौथे प्रकार के चूहों के समान हैं जो न तो अपना बिल बनाता है न तो उसमें रहता ही है^१।

(५) कथावत्थु—अभिघम्म का यह ग्रन्थ बुद्धधर्म के इतिहास जानने में नितान्त महत्त्वपूर्ण है। कथा का अर्थ है विवाद तथा वस्तु का अर्थ है विषय। अर्थात् बुद्धधर्म के १८ संप्रदायों (निकाय) में जिन विषयों को लेकर विवाद खड़ा हुआ था, उनका विवेचन इस ग्रन्थ में बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है। अशोक के समय होनेवाली तृतीय सत्तीति के प्रधान मोग्गलिपुत्तत्तिस्स इसके रचयिता माने जाते हैं। अधिकांश विद्वान् इस परम्परा को विश्वसनीय और ऐतिहासिक मानते हैं। बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष के भीतर ही बुद्धसङ्घ में आचार तथा सिद्धान्त, विनय तथा सुत्त के विषय में नाना प्रकार के मतभेद खड़े हो गए। अशोक के समय तक विरोधी सम्प्रदायों की संख्या १८ तक पहुँच गई। इन्हीं अष्टादश निकायों के परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों का उल्लेख इस ग्रन्थ को महती विशेषता है।

(६) यमक—इसमें प्रश्न दो प्रकार से किये गये हैं और दो प्रकार से उनका उत्तर दिया गया है। इसी कारण इन्हें यमक कहते हैं। ग्रन्थ कठिन है और अभिघम्म के पूर्व पाँच ग्रन्थों के विषय में उत्पन्न होने वाले सदेहों के निराकरण के लिए लिखा गया है।

(७) पट्ठान—यह ग्रन्थ तथा सर्वास्तिवादियों का ज्ञानप्रस्थान अभिघम्म का अन्तिम ग्रन्थ है। प्रस्थान प्रकरण का अर्थ है कारण सम्बन्ध का प्रतिपादक ग्रन्थ। ग्रन्थ में तीन भाग हैं—एक, दुक, और तीक। जगत् के वस्तुओं में परस्पर २४ प्रकार का कार्य-कारण सम्बन्ध हो सकता है। इन्हीं सम्बन्धों का प्रतिपादन इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है। इन २४ प्रत्ययों (कारण) के नाम

इस प्रकार है—(१) हेतुप्रत्यय (२) कर्तृप्रत्यय (३) अविवक्षित प्रत्यय (४) अन्तर प्रत्यय (५) समन्तर प्रत्यय (६) सदृशता प्रत्यय (७) अन्तर्मम प्रत्यय (८) विजम्ब प्रत्यय (९) उपनिमित्त प्रत्यय (१०) पूरणात् प्रत्यय, (११) वखातकात् प्रत्यय, (१२) कालेन प्रत्यय (१३) कर्म प्रत्यय (१४) विधाक प्रत्यय (१५) आहार, (१६) इन्द्रिय (१७) ध्येय (१८) मार्ग (१९), समुच्च, (२०) विप्रमुक्त, (२१) अस्ति (२२) नास्ति, (२३) विमत तथा (२४) अविपत्ता प्रत्यय । अतः मैं एक ही परमार्थ है और वह है निर्वाण । उसे छोड़कर कपल में समस्त पक्षों की स्थिति सापेक्षिकी है क्योंकि वे आपस में इसी २४ सम्बन्धों से सम्बन्ध हैं । कार्य-कारण के सम्बन्ध की इतनी, सूक्ष्म विवेचना स्वविरादिसौ की दूसरी प्रण-बीज का परिचायक है । यह ग्रन्थ द्वैत होने पर भी दार्शनिक दृष्टि से मिथुनत महत्त्वपूर्ण तथा उपयोग्य है ।

बीज वर्णन के मूल रूप को जानने के लिए अमिषम्म का अध्ययन विद्यन्त आवश्यक है । स्वविरादी इसे अम्म पिठों के समान ही प्रामाणिक मुख्यवर्ण मानते हैं । परन्तु अम्म सत्ताके इसे अहार की दृष्टि से नहीं देखते । पिठ की प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं है क्योंकि इसी की रचना ईसा-पूर्व छठीय शताब्दी में अशोक के राज्यावधि में हुई । उसके पहले अम्म १ अम्मों की रचना हो चुकी थी ।

अमिषम्म पिठ की समस्त हिमात्मक से की जा सकती है । जिस प्रकार हिमात्मक विस्तार में आत्मिक सम्बन्धों की धार्मिक वर्णनों के कारण हुआ है,

उसी प्रकार इस पिठ की रचना है । नगरों और नदियों के द्वारा

अमिषम्म- उसमें सहक में ही अर्थित किया जा सकता है, उसी प्रकार अमिषम्म- अम्मत्पत्राह को स्थापना कर लेने पर अमिषम्म में प्रवेश करना सुभव है । इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम मिश्र अमिषम्म है जो

१२ वीं शताब्दी में बर्मा में उत्पन्न हुए थे । बर्मा प्राचीन ज्ञात से ही आज तक अमिषम्म के अध्ययन और व्यापन का मुख्य केन्द्र रहा है । इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ भी अन्तर्गत में सिद्धी गई जिनमें 'सिद्धिकिनी' और 'परमत्त दीपनी' टीकाएँ विद्वत्ता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माजी जाती हैं । अभी बर्मा-अम्म बीजात्मकी ने

१ अमिषम्म के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—विद्यसागर का-दिल्ली व्यास पाठ्य विवरण ग्रन्थ—१ पृ. २ ३-२२ ।

‘नवनीत’ टीका लिखकर इसके गम्भीर तात्पर्य को सुबोध बनाने में स्पृहणीय कार्य किया है। इस प्रसंग में ‘मिलिन्द प्रश्न’ का भी महत्त्व कम नहीं है। बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का उपमा और दृष्टान्तों के द्वारा रोचक विवेचन इस ग्रन्थ की महती विशेषता है। इस ग्रन्थ में स्थविर नागसेन और यवन नरेश मिलिन्द (मिनेण्डर) के परस्पर प्रश्नोत्तर के रूप में बौद्ध-तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इन्हीं ग्रन्थों की सहायता से स्थविरवाद के दार्शनिक रूप का दर्शन किया जा सकता है^१।



१ भिक्षु जगदीश काश्यप ने ‘अभिधम्मत्थसङ्ग्रह’ का अंग्रेजी अनुवाद और व्याख्या ‘अभिधम्म फिलासफी’ (प्रथम भाग) में किया है तथा ‘मिलिन्दप्रश्न’ का भी भाषानुवाद किया है।

तृतीय परिच्छेद बुद्धकालीन समाज और धर्म (क) सामाजिक दशा

बुद्ध के उपदेशों के प्रबल प्रभाव के रहस्य को समझने के लिए अत्यन्त ही समाज तथा धर्म की अवस्था अच्छी तरह परखनी चाहिये। पिछले के अनुशासन से सामाजिक तथा धार्मिक दशा का रोचक चित्र हमें उपलब्ध होता है। बुद्ध के समय समाज की दशा बहुत कुछ अस्तम्बस्त ही हो गई थी। उसमें नाना व्यक्तियों तथा वर्गों की विपत्तियाँ थी। जनसमाज आत्म के ही समान अनेक व्यक्तियों में बँटा हुआ था—ये लोग भी ये विषयों दशा की, कब्र ये लोग भी वर्तमान में जो दशा तथा धर्म के भूखे थे। पैर की जवाला शान्त करने के लिए हाथ फैलाने वाले लोग भी ये और इस हाथ को काटो न लौटाने वाले भी थे। समाज की विपत्तियाँ विपत्तियों की दृष्टि में एक विषय समझनी थी।

भूख की जवाला को शान्त करने के लिए कुछ लोग बड़े आधर्मियों के पंथ से ही उत्पन्न करते थे पर कुछ कम-स्वभाववाले व्यक्तिों ने लूट और चोरी को अपनी जीविका के धर्म का प्रभाव साधक बनाया था। 'बनर्त्तरी छोड़मार घुस' में चोरी से जीविका कमाने वाले लोगों का अच्छा वर्णन है। भक्तियों के ऊपर ही प्योर अपना हाथ चाक किया करते थे यह बात वही। बुद्ध के धर्ममार्ग मिथुनों को इस आततायियों के उग्र स्वभाव को परिचय बहुत बार मिला करता था। 'उदान' में वर्णित आसुप्पाम् नायसपात्त की सुन्दर कथा इस राज्य की वर्तमान परिस्थिति है। बुद्ध के समय में संसार के भोगविवासों में आकृष्ट-भग्न मिथुनों बना का भी एक बड़ा समुदाय का किन्हीं देशों में उन्होंने यह 'उदान' कहा था—

कामग्घा जाल-संक्रान्ता लपहाप्पादनमादिता ।

पमत्त-व-पुना बग्घा मग्घा व पुमिना सुरे ॥

[आपत्त लोग जो दशा मग्नित्व का वही है। जिस प्रकार मग्नित्वों अपनी जिज्ञा की तुलना से आकर्षित होकर जात में पड़ती हैं और अन्तिम में विष काटी

हैं, उसी प्रकार कामान्ध, नर जाल में फँसे हैं, तृष्णा के आच्छादन से आच्छादित हैं और प्रमत्त बन्धु द्वारा बंधे हैं]

भोगविलास में लिप्त होने का दुष्परिणाम होता ही है। ये लोग वेश्या-वृत्ति को प्रोत्साहन देने में नहीं चूकते थे। पिटक में एक रोचक वृत्तान्त से इसकी पुष्टि होती है। राजगृह का नैगम (श्रेष्ठी से भी उन्नत पद का अधिकारी व्यक्ति) श्रावस्ती में गया और वहाँ अम्बपाली गणिका ने नृत्य-वाद्य से बड़ा प्रभावित हुआ। लौटने पर उसने मगध नरेश राजा बिम्बसार से राजगृह में ऐसी गणिका के न होने की शिकायत की। राजा के आदेशानुसार उसने 'सालवती' नामक सुन्दरी कन्या को गणिका बनाया।

देश की दशा बड़ी समृद्ध थी। खेती तथा व्यापार—दोनों से जनता की आर्थिक स्थिति सुधर गयी थी। खेती सब वर्ण के लोग करते थे। कुछ ब्राह्मण लोगों का भी व्यवसाय खेती था। उनकी क्षेत्र-सम्पत्ति बहुत ही अधिक खेती थी। कसि भारद्वाज नामक ब्राह्मण के घर पाँच सौ हल चलने का वर्णन मिलता है। पिप्पलीमाणवक की अतुल सम्पत्ति की बात पढ़कर हमें आश्चर्य चकित होना पड़ता है। प्रव्रज्या लेने पर पति-पत्नी दासों के गाँव में गये और उनसे कहा यदि तुम लोगों में से एक एक को पृथक् दासता से मुक्त करें, तो सौ वर्षों में भी न हो सकेगा। तुम्हीं अपने आप सिरों को धोकर दासता से मुक्त हो जावो (बुद्धचर्या पृ० ४४)। इसकी सम्पत्ति का भी वर्णन मिलता है—'उनके शरीर को उबटन कर फेंक देने का चूर्ण ही मगध की नाली से बाहर नाली भर होता था। ताले के भीतर साठ बड़े चहवच्चे थे। बारह योजन तक खेत फैले थे। उसके पास १४ दासों के गाँव, १४ हाथियों के, १४ घोड़ों के तथा १४ रथों के सुण्ड थे' (बुद्धचर्या पृ० ४२)।

व्यापार के चल पर अपार सम्पत्ति बटोरने वाले सेठ (श्रेष्ठी) राजधानियों में फैले हुए थे। मगध में अमित भोग वाले पाँच व्यक्तियों के नाम मिलते हैं—

जोतिय, जटिल, मेंडक, पुष्पक तथा काकवलय। इन व्यक्तियों को व्यापार अपनी राजधानी में रखने के लिए राजा लोग लालायित रहते थे।

कोसलराज प्रसेनजित के आग्रह पर मगधराज बिम्बसार ने मेंडक को उनकी राजधानी में भेजा था। शाम को उसने जहाँ डेरा डाला वहीं 'साकेत'।

मर बस गया। ('सर्व केत' राज्य से सकेत की व्युत्पत्ति पितृओं में दिव्यता गई है)। पनबज्य सेठ की कन्या 'विद्यावती' का विवाह धानसी के सेठ सुन्दर के पुत्र पुष्करवर्मन के साथ हुआ था। इस विवाह की विद्यावती का परिवार बहेज के इन्नों से भली भाँति मिलता है। पनबज्य ने बहेज में इतनी चीजें दी थीं—१ कटोड़ मूख के आभूषण ५४ सौ गज्जो, ५ सौ दासियाँ और ५ सौ रम। सेठी और व्यापार के विवाह के लिए दासों की आवश्यकता भी बर कहना व्यर्थ सा है। इस प्रकार कुसुम में प्रदुस्त व्युत्पत्ति के साथ ही सप्त विद्यावती बहिष्ता का भी राज्य विद्यावती का वह कनक आलुकिपूर्ण नहीं समझा जा सकता।

समाज में सेठों का विरोध बाहर का परन्तु इससे भी बड़कर सम्मान की पात्र की सत्रिय व्यति। राज्यविकार इसी व्यति के पास था, अथवा इसे पौरवशास्त्रि होना न्यायसङ्गत है। लोकमान्य होने के कारण ही कुसु ने सत्रिय सत्रिय बंश में जन्म ग्रहण किया था। सत्रिय लोगों को अपनी वर्णवृत्ति पर बड़ा गर्व था। वे जन्मगत उत्कृष्टता के विरोध पक्षपाती थे। फिर भी उनके घर दासियाँ पत्नी के रूप में रहती थीं जिनसे उत्पन्न कन्याओं के विवाह की समस्या कभी-कभी बड़ी क्लेश हो चली थी। दासी कन्याओं की शादी बलपूर्वक बड़े बज्जों में भी कभी-कभी कर दी जाती थी जिससे बुरा परिणाम लोगों को सुगमता पड़ता था। प्रेममजिद शास्त्रों की कन्या से शादी करना चाहते थे। शास्त्रों को अपनी वर्ण वृत्ति पर बड़ा अभिमान था। वे प्रेममजिद को कन्या देना नहीं चाहते थे परन्तु उनके घर कर 'महामान' नामक शास्त्र ने अपनी दासी पुत्री का विवाह राज्य से कर दिया। इसीसे 'विद्यावती' पुत्र उत्पन्न हुआ। वहीं आये जनकर कोराव का राज्य हुआ। वनिहास में उसे दासी के पुत्र होने का पता चला। शास्त्रों का आधार ऊपरी तथा बनावटी था। हदय में वे उससे घृणा करते थे। जिस पीढ़ी पर वह पैदा था वह बूढ़ ही होता जाता था। इस पौरव्यमान से उसे इतना रोम हुआ कि उसने शास्त्रों का संहार ही कर डाला। इस प्रकार विद्यावती बंश को वृद्धि करने का पक्ष शास्त्रों की श्रेयता पड़ा।

उना प्रहृष्टिर्भनाद' का आदर्श पूरा हो रहा था। प्रकृति के रचक होने के

वदले अपने व्यक्तिगत लाभ की स्पृहा ही उनमें अधिक जागरूक रहती थी। बुद्ध के समय में चार राजा विशेष महत्त्व रखते थे—(१) मगध के राजा-
राजा विम्बसार, (२) कोशल के राजा प्रसेनजित, (३) कौशाम्बी के राजा उदयन तथा (४) उज्जैनी के राजा चण्डप्रद्योत। इन चारों में चख-चख थी। प्रद्योत उदयन को अपने वश में लाना चाहता था। उसने उसे कैद कर लिया, पर अन्त में अपनी कन्या वासवदत्ता का विवाह उनके साथ कर उसे अपना जामाता बनाया। इन राजाओं के रनिवास में बहुत-सी रानियों रहती थीं। उदयन के अन्त पुर में पाँच सौ रानियों का वर्णन मिलता है। बुद्ध के प्रति इन राजाओं की आस्था थी। राजाओं तथा सेठों की आर्थिक तथा नैतिक सहायता ही बुद्धधर्म का प्रभाव जनता में फैला। रानियों का प्रेम भी बौद्धधर्म से था। पर छोटी छोटी घातों पर लड़ना भी इन अधिपतियों का सामान्य काम था। रोहिणी नदी के पानी के लिए एक बार शाक्यों तथा कोलियों में झगड़ा खड़ा हो गया था जिसे बुद्ध ने समझा बुझा कर निपटारा करा दिया। यह दशा उस युग के शासक शत्रियों की थी।

ब्राह्मण-वर्ग समाज का आध्यात्मिक नेता था। वे लोग शील, सदाचार तथा तपस्या को ही अपना सर्वस्व मानते थे। पर धीरे धीरे ब्राह्मण लोगों के पास भी सम्पत्ति का अधिवास होने लगा। बड़ी-बड़ी जमीन रखने वाले, ब्राह्मण बड़े बड़े मकान वाले (महाशाल), भोग-विलासी ब्राह्मणों के परिवार भी थे। इन्हें देखकर बुद्ध को उन तपस्वी ब्राह्मणों के प्राचीन गौरव की स्मृति आई थी। इन प्राचीन शीलव्रती ब्राह्मणों के प्रति बुद्ध के ये उद्गार कितने महत्त्वपूर्ण हैं —

न पसू ब्राह्मणानासु न हिरव्यं न धानिय ।

सञ्जाय धनधञ्जासु ब्रह्मं निधिमपालयु ॥^१

ब्राह्मणों के पास न पशु था, न धन और न धान्य। स्वाध्याय पठन, पाठन ही उनका धन था। वे लोग ब्रह्मनिधि वेद के खजानों की रक्षा में लीन रहते थे। इस सदाचार का फल भी उन्हें प्राप्त होता था। वे अवध्य थे, अजेय थे, धर्म से

संश्लेषितं मे^१। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' । बड़े धर्मियों के हरेणों में प्रवेश करने से उन्हें कोई नहीं रोक्ता था—

अवसन्नं ब्राह्मणं आसु अभेय्या धम्मरक्षिता ।
न ते कोपि निवारेसि, कुलाद्येसु सम्बसो ॥

सुत्तनिपाट के 'ब्रह्मण्य धम्मिक सुत्त' में पूर्वजन्तुम ब्राह्मणों के सहाचार, शांति तथा तपस्वा का वर्णन सम्पादक बुद्ध ने अपने जीसुद्ध से अत्यन्त रूप से किया है। शत्रुओं के भोग ऐश्वर्य को देखकर उनके सहाचर से ब्राह्मणों में भी भोगविषय आसक्त हुई परन्तु त्यागी ब्राह्मणों की कमी बुद्ध-युग में नहीं थी। जीवन के वरम हास्य की प्राप्ति के लिए तथा समाज के कल्याण के लिए वे सदा ब्रह्मपरिष्कार थे। पर धर्म की पुराणों उन्हें भी हूटी बूटी थी। इनका भी वित्त निश्चित से इकट्ठा प्रगति की ओर बलवत्मान था। त्याग्यता की ओर उनकी विशेषता होने लगी। आध्यात्मिक वेदों की पुराई से समाज उत्थित होने लगा।

जिसों की बड़ा बहिक बुद्ध के समय उदात्त न थी। वैश्वरूप में जिसी स्वतन्त्रता तथा आध्यात्मिकता इन जिसों में भी सचका नम्रता काय हो गया था।

धर्म में अधिकार से वे बन्धित नहीं जाती थीं। बुद्ध स्वयं उन्हें हीना स्थिराई देने के पक्ष में न थे परन्तु अपनी माता के स्नेह से शिष्यों के आसक्त से उन्हें ऐसा करना पड़ा था। जीवन को यौन स्त्रोम हीनत्व का सुन्दर मानते थे। तभी तो शिक्षा समुच्चय में जिसों की पुरुष बनने के लिए शुभाचार है। पुरुष बन कर ही वे शूद्र, वीर तथा परिश्रम बन सकती थीं। बोधि के लिए आभरण कर सकती थीं तथा वे पारमिताओं का अध्ययन कर सकती थीं।

इस प्रकार बुद्ध के समय का समाज आदर्श नहीं कहा जा सकता। उस समय नहीं बनी माली स्त्रोम ने बड़ा गरीब भी बहुत थे। सभी स्त्रोम भोग विहाय का जीवन बिताते थे। राज्यों में पारस्परिक कलह का और समय समय पर युद्धों के कारण बर्बाद बमसहारा होता था। दास बाण्डियों के रहने की प्रथा बहुत थी, मेदी वीर व्यापार में इनकी विशेष महत्ता रहती थी पर इनकी स्थिति अच्छी

१ धर्मा क्रिया निष्ठा ब्रह्म जन्तु शूद्राद्य वीर्य विदुः परिश्रमः ।

ये धर्म बोधन्य चरन्तु निर्व्य चरन्तु ते पारमितासु वर्तन्तु ॥

न थी। स्त्रियों का दर्जा भी समाज में घट कर था। स्त्रीजाति में जन्म लेना ही इसका प्रधान कारण था। बुद्ध ने समाज की इस विषमता को बड़े नजदीकी से देखा था तथा समझा था। इसे दूर करने के लिए उन्होंने अपना नया रास्ता निकाला जिसके ऊपर उन्हें पूर्ण भरोसा था कि वह जनता का दुःख दूर कर सकेगा।^१

(ख) धार्मिक अवस्था

बुद्ध के उदय का समय दार्शनिक इतिहास में नितान्त उथल-पुथल का समय है। उस समय नये-नये विचारों की बाढ़ सी आ गई थी। बुद्धिवाद का इतना बोलवाला था कि विद्वान् लोग शुद्ध बुद्धिवाद के बल पर नवीन मार्ग की व्यवस्था में लगे थे। एक ओर सशयवाद की प्रभुता थी, तो दूसरी ओर अन्धविश्वास का बाजार गर्म था। कतिपय लोग आध्यात्मिकता की बाढ़ आध्यात्मिक विषयों को बड़े सन्देह की दृष्टि से देखते थे, तो दूसरे लोग इन्हीं विषयों पर निर्मूल विश्वास कर नये नये सिद्धान्तों के उधेड़-धुन में लगे थे। दर्शन के मूल तथ्यों की अत्यधिक मीमांसा इस युग की विशेषता थी। उपनिषदों की रचना हो चुकी थी, परन्तु उनके सिद्धान्तों के प्रति जनता के नेताओं का आदर कम हो चला था। नियामक के बिना जिस प्रकार देश में अराजकता फैलती है, उसी प्रकार शास्त्रीय नियमन के बिना दार्शनिक जगत् में अराजकता का विस्तार था। प्रत्येक व्यक्ति अपने को नवीन विचारों के सोचने का अधिकारी समझता था। कार्य-अकार्य की व्यवस्था के लिए शास्त्र ही एकमात्र साधन है, इस तथ्य को इस युग ने तिलाञ्जलि दे दी थी^२। फलतः नवीन वादों के उदय का अन्त न था। जैन ग्रन्थों में क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानिकवाद तथा वैयर्थिकवाद के अन्तर्गत ३६४ जैनतर मतों का उल्लेख मिलता है^३। इतने विभिन्न

१ विशेष के लिये द्रष्टव्य-शान्ति भिक्षु के लेख—(विश्वभारती पत्रिका-भाग ४, खण्ड २ तथा ३)

२ तस्माच्छास्त्रप्रमाणेन कार्यकार्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ (गीता-१६।२४)

३ द्रष्टव्य उत्तराध्ययन सूत्र १८।२३ तथा सूत्रकृतांग २।२।७९।

इन सिद्धान्तों के स्वरूप के विषय में टीकाकारों में कहीं-कहीं वैमत्य दीख पड़ता है, परन्तु फिर भी इनका रूप प्रायः निश्चित सा है।

और विविध मतों का एक समय में ही प्रचार था, इसे हम सम्बेद की दृष्टि से देखी है, परन्तु फिर भी अनेक मतों का प्रचलित होना आवश्यकतया निरुपेक्ष है।

बौद्धमिथ्य में कुछ के आदिमार्ग के समय १२ मतवादों के प्रचलित होने का वर्णन मिलता ही है^१। इनमें कुछ साय आत्मा और लोक दोनों को निरव मानते

थ (साम्यवाद) कुछ लोग आत्मा और लोक को अश्रुत मानते थ (विस्मय-अविस्मय सुच के बाद)। अतिथय विज्ञान अन्तःसन्तवादी थे—लोक को सम्य भी

१२ मत तथा अनन्त भी मानते थ। कुछ लोग कर्म-अकार्म के विषय में निश्चित मत नहीं रखते थे (अन्यविशेष बाद)। कितने साय सभी

जीवों का विना किसी हेतु के ही उत्पन्न होने कभी मानते थे (अकारण-वाद)। इस प्रकार आदि के विषय में १८ आचार्यों की। अन्त के विषय में इसके अतिरिक्त गुनी आदि आचार्यों (४४) मानी जाती थी। कुछ आचार्य-यमक लोग सोचते आचार्यों से मरने के बाद आत्मा को छोड़ी ('मैं हूँ'—ऐसा ज्ञान रखने वाला)

(१) विस्मयावाद—१२ मतवाद आत्मा की उत्पत्ति मानते थे। टीकाकारों के अनुसार विस्मयादी लोग आत्मा का प्रमाण बिना अस्तित्व मानते हैं। जैन साय इसे अनेक सिद्धान्त मानते हैं परन्तु महाभारत (१।१२।१३) तथा सूत्रसंग्रह (१।१२।१३) के अनुसार महावीर स्वयं विस्मयादी थे।

(२) अविस्मयावाद—जीवों का 'अविच्छिन्न' है विच्छेद अनुसार अन्त के प्रत्येक पदार्थ अनन्तर उत्पन्न हो करते हैं और उनके स्वभाव पर उनकी के समान पदार्थ की स्थिति हो जाती है। आचार्यों की भी धारणा इसी के अन्तर्गत है।

(३) अज्ञानवाद—सुख के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती अन्तु तपस्वा की। वह कर्ममार्ग के अनुसृत ही है।

(४) विनयवाद—सुख के लिए 'विनय' को उपयुक्त साधन मानने का सिद्धान्त।

इस सिद्धान्तों के लिए विरोध ब्रह्म-सूत्रसंग्रह (१।१२)। टीकाकारों के अनुसार विस्मयादिओं के १८ सम्प्रदाय थे अविस्मयादिओं के ४४ अविच्छिन्न-विच्छिन्न के १० तथा वैश्विकवादिओं के १२।

मानते थे। कतिपय लोगों की धारणा ठीक इससे विरुद्ध थी। वे समझते थे कि मरने के बाद आत्मा नितान्त 'सज्ञा-शून्य' रहता है। दूसरे लोग दोनों प्रकार के प्रमाण होने के कारण मरणान्तर आत्मा को सज्ञी तथा असज्ञी दोनों मानते थे। उधर आत्मा के उच्छेद को मानने वाले चार्वाक के मतानुयायी थे। इसी ससार में देखते-देखते निर्वाण हो जाता है, इस मत (दृष्टधर्म निर्वाण वाद) के अनुयायियों की भी सख्या कम न थी। इस प्रकार केवल ब्रह्मजाल के अध्ययन से विचित्र, परस्पर विरुद्ध मतों का अस्तित्व हमें उस समय उपलब्ध होता है।

वैदिक ग्रन्थों से भी इस मतवैचित्र्य के अस्तित्व की पर्याप्त पुष्टि मिलती है। श्वेताश्वतर^१ तथा मैत्रायणी उपनिषदों में मूल कारण की मीमांसा करते समय नाना मतों का उल्लेख किया गया है, जिनके अनुसार काल^२, स्वभाव, वैदिक नियति (भाग्य) यदृच्छा, भूत आदि जगत् के मूल कारण माने ग्रन्थों में जाते थे। इतना ही नहीं, अहिर्बुध्न्य संहिता (अ० १२।२०-२३) निर्दिष्टमत ने साख्यों के प्राचीन ग्रन्थ 'पष्ठितन्त्र' व विषयों का विवरण दिया है। उनमें ब्रह्मतन्त्र, पुरुषतन्त्र, शक्तितन्त्र, नियतितन्त्र, कालतन्त्र, गुणतन्त्र, अक्षरतन्त्र आदि ३२ तन्त्रा (सिद्धान्तों) का उल्लेख है। नामसाम्य से जान पड़ता है कि इनमें से कतिपय मत श्वेताश्वतर में निर्दिष्ट मतों के समान ही हैं। इन प्रमाणों के आधार पर यह कथन अत्युक्तिपूर्ण नहीं है कि बुद्ध के समय भारतवर्ष में परस्परविरोधी मत-मतान्तरों का विचित्र वखेड़ा खड़ा था। इन मतों का समझना ही जानता के लिए दुरुद्ध था। सार ग्रहण करने की तो बात ही न्यायी थी।

१ काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा

भूतानि योनिं पुरुष इति चिन्त्यम्।

सयोग एषां न त्वात्मभावात्

आत्माप्यनीश सुखदुःखहेतो ॥ (श्वेता० उप० १।२)

२ कालवाद—नितान्त प्राचीन मत है। काल को सृष्टि का मूल कारण मानना वैदिक मतों में अन्यतम है। अथर्व वेद (१८ काण्ड, ५३ सूक्त) में काल की महिमा का विशद विवेचन है। महाभारत, (आदिपर्व अध्याय २४७-२५१) ने भी कालतत्त्व की वही अच्छी मीमांसा की है।

सहाचार का ह्रास इस युग की चूड़री कियौकता की। 'हरमिक' मतों की जन्म-
 बन्धा आचार को व्यवस्थाहीन बनाती जाती थी। विचार की हद मिलि पर ही
 आचार का असाद जबा होता है, परन्तु विचार ही जब जंभाजोस है,
 हीछ का तब आचार को सुव्यवस्था हुआमात्र है। धर्म के बाध अनुष्ठान
 हास में लोपा की उत्पत्ता ने धर्म के हृदय को मुचा दिया था। धर्म के
 मीतरी रहस्य को ब्यक्त कर लोका पतात करना ब्ययना से बाहर
 था। मूली बातों बाहरी आकर्म्यों ने धार्मिक जगत के हृदय को आहूत कर लिया
 था। अनेक वैद्यनाथ ने इस विषय को जाला प्रकार के भुरे-भले वैद्यनाथों से
 भर दिया था। इसकी प्रसन्नता पाने के लिए ही मनुष्य लक्ष ब्यस्त होकर था।
 एकेतरनाथ में एक ईश्वर की ब्ययना मान्य थी परन्तु उसके साथ स्वामी-सैवक
 के भाव ने मनुष्य के उत्पन्न पद को विद्यन्त होने जमा दिया था। कर्मकाण्ड के
 अनुष्ठान में ही जगता की धार्मिक स्थिती थी। कर्मों के अनुष्ठान का भी मूल्य है,
 महत्त्व है परन्तु जब आकरजगता से अधिक ध्यान लक्ष्य और दिया जाता है,
 तब जगता मूल्य कम हो जाता है। कर्मकाण्ड के विपुल विस्तार तथा पशुहिंसा की
 बहुलता ने लोगों के हृदय में इन कर्मों के प्रति विरोध की भावना उत्पन्न कर दी।
 वे इन कर्मकाण्डों से उत्पन्न होने की लक्ष उत्पन्न से बचते थे। इन परस्पर
 विरोधी छिन्नों के कारण साधारण जब धर्म के मार्ग पुनर्मी में आकुल हो रहा था।
 उसका पुनर्ना मार्ग यह था उपसमा का था जिससे यह हृदय लोक में ब्ययना
 बाह्य या भीर परलोक में भी मगज की जायदा करता था परन्तु सहाचार के
 ह्रास के कारण लक्ष्य धार्मिक स्थिती ब्ययनी हो गई थी।

ऐसे ही अन्तर्गत में पीछम युग का जन्म हुआ। सबसे पहले उन्होंने जगता
 की छिन् सहाचार की और फेरी। धर्म के विनागी कसरतों की क्या ब्ययना।
 मान्य और ईश्वर के ही ऊपर विश्वास रखते रखते आग्निनी ने आत्म-
 बुद्ध की विश्वास को जाला था। बुद्ध ने उस विस्तृत विश्वास को फिर
 ब्ययनका से ब्ययना। उन्होंने भय की हृदय बुद्धि और तर्क की अपने जमीन
 धर्म का आगम ब्ययना। तर्क से जो सिद्धान्त सिद्ध होते हैं, उन्हें ही
 मानना बुद्ध ने सिद्धान्तका तथा ऐसे धर्म को प्रतिष्ठित किया जिसमें अनेक धर्मों
 पुगेहित को लक्ष्य तथा वैद्यनाथों के मीतों के बिना ही अपना लेख स्वयं प्राप्त

रखने में समर्थ होता है। मानवता के प्रति लोगों के हृदय में आदर का भाव बढ़ाया। मानव होना देवता की अपेक्षा घट कर नहीं है, क्योंकि निर्वाण की प्राप्ति हमारे ही यत्नों तथा प्रयासों से साध्य है। देवता लोग भी निर्वाण से रहित होने के कारण ही इतना कष्ट पाते रहते हैं। बुद्ध बुद्धिवादी थे। अन्धविश्वास के अन्धकार ने वैराग्य तथा निश्चिन्ता की सुन्दरता को ढक रखा था। बुद्ध ने वैराग्य की पवित्रता तथा सुन्दरता को पुनः प्रदर्शित किया। आचार बुद्धधर्म की पीठ है। शील, समाधि तथा प्रज्ञा—बुद्धधर्म के तीन तत्त्व हैं। शील से कायशुद्धि, समाधि से चित्तशुद्धि तथा प्रज्ञा से अविद्या का नाश—सन्तोष में बुद्ध की यही धार्मिक व्यवस्था है।

(ग) समकालीन दार्शनिक

बुद्ध अपने युग की एक महान् आध्यात्मिक विभूति थे, परन्तु उनके समय में लोकमान्य तथा विश्रुत अनेक चिन्ताशील दार्शनिक विद्यमान थे, इसमें शका की जगह नहीं है। उनके समकालीन ६ तीर्थकारों के नाम बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं^१। इनके नाम थे—(१) पूर्णकाश्यप, (२) अजित केशकम्बल, (३) प्रमुध कात्यायन, (४) मञ्जुश्री गोसाल, (५) सजय वेल्लिपुत्त, (६) निगण्ठ नाथपुत्त। ये छहो धर्माचार्य बुद्ध की अपेक्षा अवस्था में अधिक थे। एक बार नवयुवक बुद्ध को धर्मोपदेश करते देख कर प्रसेनजित् ने कहा था^२ कि भ्रमण-व्राज्य के अधिपति, गणाधिपति, गण के आचार्य, प्रसिद्ध यशस्वी पूर्णकाश्यप आदि छह तीर्थकर पूछने पर इस बात का दावा नहीं करते कि उन्होंने परमज्ञान (सम्यक् सबोधि) प्राप्त कर लिया है, फिर जन्म से अल्पवयस्क और प्रव्रज्या में नये दीक्षित होने वाले आपके लिए कहना ही क्या है? इस कथन से स्पष्ट है कि ये उपदेशक लोग बुद्ध से उम्र में ज्यादा थे। निगण्ठ नाथपुत्त (महावीर वर्धमान) की मृत्यु बुद्ध के समय में ही हो गई थी। जैन ग्रन्थों में गोसाल की मृत्यु महावीर के कैवल्य से सोलह वर्ष पहले बतलाई जाती है। अतः गोसाल का उम्र में बुद्ध से अधिक होना अनुमान सिद्ध है। अन्य तीर्थकारों के विषय में भी यह बात ठीक जँचती है।

१ दीघनिकाय पृ० ६-१०, सूत्रकृत्तांग २।६

२ सयुक्त निकाय ३।१।३

(१) पूर्णकारण-अक्रियावाद

इसके जीवन चरित के विषय में कुछ पता नहीं चलता । मरु का वर्णन अनेक स्थलों पर है । मगधनरेश अशोकस्य के द्वारा पूछे जाने पर कारकप ने अपना सिद्धान्त इन शब्दों में प्रतिपादित किया—

करते करते सेइस करते सेइस करते एकाते पकवाते शोक करते परेशान होते, परेशान कराने बलने बहाते माग भारते बिना बिना लेते, सेंप भारते यौन लूटते चरी करते सदमारी करने परकीयमन करते झूठ बोधते मी पाप नहीं किया जाता । छुरे के तेज चक्र छुट जो पृथ्वी के मनुष्यों का मांस का छसि-हान बना दे, मांस का पुंज बना दे तो इसके कारण उछे पाप नहीं पाप का आयम नहीं । यदि बात करते कराने काटते कसाते पकभे पकवाते, गया के बसिप तीर पर मी आव ला मी इस कारण उछे पाप नहीं पाप का आयमन नहीं होय । शव बैठे दान बिनाते, यज्ञ करते यज्ञ करते यदि यंपा के उत्तर तीर मी आव तो इसके कारण उछे पुण्य नहीं, पुण्य का आयमन नहीं होय । दान-यम-तंजम से सन्व बलन से न पुण्य है न पुण्य का आयम है ।

पूर्णकारण का यह मत त्रिशास्त्र का सर्वथा विरोध करता है । भले कर्मों से न तो पुण्य होता है और न पुरे कर्मों से पाप । इस मत का अक्रियावाद कह सकते हैं । प्रत्यक्ष कम कर्मों का होता है इसे तो प्रत्येक प्राणी को जानना ही पड़ेगा । यद्यपि इस भाव के कर्षों का फल परल कर्म कमी नहीं प्राप्त होता । यही बात प्रमत्त लुप्त होती है ।

(२) अजित कश्चकम्बल—भौतिकवाद, उच्छेदवाद

इस उपदेशक का स्वस्मिय नाम अजित था । 'केशकम्बल' अपाधि प्रणीत होती है या केशों के बने कम्बल के कारण करन के कारण दो गई होती । इसकी जीवनी का पता नहीं चलता । यह—यथा निरुद्ध भौतिकवाद है । सोप निघन के शब्दों में इसका मत इस प्रकार है ।^१

१. दीर्घनिघन (दि. धनु) इ. १९-२

२. दीर्घनिघन इ. १-२१

न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पुण्य-पापका अच्छा बुरा फल होता है, न माता है, न पिता है, न अयोनिज सत्त्व (देवता) हैं और न इस लोक में ज्ञानी और समर्थ ब्राह्मण-श्रमण हैं जो इस लोक और परलोक को जानकर तथा साक्षात्कार कर कुछ कहेंगे। मनुष्य चार महाभूतों से मिलकर बना है। मनुष्य जब मरता है, तब पृथ्वी महापृथ्वी में लीन हो जाती है, जल तेज वायु और इन्द्रियों आकाश में लीन हो जाती हैं। मनुष्य लोग मरे हुए को खाट पर रख कर ले जाते हैं, उसकी निन्दा प्रशंसा करते हैं। हड्डियों कबूतर की तरह उजली होकर बिखर जाती हैं और सब कुछ भस्म हो जाता है। मूर्ख लोग जो दान देते हैं उसका कुछ भी फल नहीं होता। आस्तिकवाद (आत्मा की सत्ता मानना) झूठा है। मूर्ख और पण्डित सभी शरीर के नष्ट होते ही उच्छेद को प्राप्त हो जाते हैं। मरने के बाद कोई नहीं रहता।

अजित का सिद्धान्त एकान्त भौतिकवाद है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन्हीं चार महाभूतों से यह शरीर बना हुआ है^१। अतः मरने के बाद चारों भूत अपने अपने मूलतत्त्व में लीन हो जाते हैं। तब वचता ही कुछ नहीं है। अतः मृत्यु के पश्चात् वह आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं करता। परलोक भी असत्य है। स्वर्ग नरक की कल्पना नितान्त निराधार है। वह पाप-पुण्य के फल मानने के लिए उद्यत नहीं है। चार्वाकमत बुद्ध से भी प्राचीन है। बुद्ध के समय में अजित इस मत के उपदेशक प्रतीत होते हैं। जन-सम्मानित होने से स्पष्ट है कि उस समय जनता में उनकी शिक्षा का प्रभाव कम न था।

(३) प्रक्रुध कात्यायन—अकृततावाद

प्रक्रुध कात्यायन का जीवनचरित हम नहीं जानते। लोकमान्य उपदेष्टा, तीर्थंकर ही उनका एकमात्र परिचय है। उसका मत इस प्रकार है^२—यह सात काय (समूह), अकृत, अकृत के समान, अनिर्मित के समान, अवध्य, कृतस्य स्तम्भवत् अचल हैं। यह चल नहीं होते, विकार को प्राप्त नहीं होते, न एक दूसरे का हानि पहुँचाते हैं।

^१ दीघनिकाय पृ० २०-२१

^२ दीघनिकाय (अनु०) पृ० २१

एक-दूसरे के कुछ-कुछ वा कुछ-कुछ के-लिए पर्याप्त हैं। जीवन से छटा। शृण्वीधर (शृण्वी तत्त्व) आपत्तय लेखकन, वसुधन कुछ कुछ और जीवन यह बात। यह छटा कम बहुत कुछ कुछ के योग्य नहीं हैं। वहाँ न इच्छा है, न भावमिच्छा (भार अङ्कने वाला) न सुनने वाला, न सुनाने वाला न बोलने वाला, न बतलाने वाला। जो तीव्र राज से शीघ्र भी बड़े ता, जो किसी को कोई प्राण से नहीं मारता। छटा क्यों से अस्तम निवार में (आती बगल में) राज मिरता है।

इस मत में जगत् में छटा पक्षों की छटा है किन्तु जोर तो, वे ही महाभूत हैं जिन्हें बाबांक-पन्नी अक्षित केन्द्रकमल ने भी माना है। अन्य तीव्र आहरण तरण हैं—कुछ, कुछ तथा जीवन। जीवन (नेतृत्व) को कुछ पक्षों मानना आत्मानन्द को अस्मत्त्ववाद की ओर ले जा रहा है। इनकी स्थिति परमायु कम में सम्मिलित माली गई है जो जगत् के प्रत्येक स्थान को व्याप्त नहीं करते, प्रत्युत इस छटा पक्षों से कुछ-कुछ की जगह भी है। राज धारण से किसी की हिंसा नहीं होती, क्योंकि राज इन छटाओं में न पड़ कर इनसे अलग निवार में ही मिरता है और किसी भी पक्षों को उपेक्षित नहीं करता। यह विद्यान्त भी अक्षिज्वाला ही है और सामाजिक व्यवस्था का उत्पन्न करने वाला है। ऐसे ही मतधारों को सम्मन कर बुद्ध में अपने किनाकर का प्रचार किता तथा सहाकार पर और देकर समाज की अस्त-व्यस्त होने से बचाया।

(४) मरुत्तलि गोसाल—दैववाद

वे बुद्ध के समकालीन संभ्रातृ जर्मनियों में से अन्वतम थे। इनके जीवन चरित का विशेष निरूपण जैन ग्रंथों और पाली ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। जब तक बर्जित तीर्थंकरों के सम्प्रदाय का कता नहीं बताया कि वे किसी प्राचीन सम्प्रदाय में अन्तर्भूत थे अथवा स्वयं ही किसी सम्प्रदाय के जन्मदाता थे। वरन् प्राचीन भारतीय प्राचीन 'आजीवक' सम्प्रदाय के सामनीय उपदेश थे। 'मरुत्तलि' शब्द इसकी सम्भाव्य सूचना देता है।

'मरुत्तलि' संस्कृत 'मस्करि' का बाली रूप है। पश्चिमीय व्यवहार के ग्रन्थों में इस सम्प्रदाय के लोग हैं अनन्त बालीय मित्रों हैं। पश्चिमी ने 'मस्करावस्व

रणौ वेणुपरिव्राजकयो ? (६।१।१५४) सूत्र के द्वारा 'मस्करी' शब्द

मस्करी को व्युत्पन्न किया है। 'वेणु' अर्थ में मस्कर और परिव्राजक अर्थ 'आजीवक' में, मस्करिन् निपातन से सिद्ध होते हैं। महाभाष्यकार इस सूत्र की व्याख्या करते लिखते हैं—'मस्कर (वेणु) जिसके पास होगा'

इस अर्थ के चोत्क इति प्रत्यय के करने पर 'मस्करिन्' शब्द सिद्ध हो ही जाता है फिर पूर्वोक्त सूत्र में इस शब्द के रखने का प्रयोजन क्या है ? 'वेणुधारी' के अर्थ में यह पद सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत उस परिव्राजक के अर्थ में व्युत्पन्न होगा जो उपदेश देता हो 'काम मत करो, शान्ति तुम्हारे लिए भली है'। कैयट के प्रदीप से पता चलता है कि मस्करी लोग काम्य कर्मों के परित्याग की शिक्षा देते थे^१। काशिका वृत्ति में इसी अर्थ को पुष्ट किया है तथा इस पद की व्युत्पत्ति का प्रकार यह है—मा + कृ + इनि (ताच्छील्ये)। 'मा' के आकार के ह्रस्व तथा सुट् के आगम से यह पद तैयार हुआ है। इस प्रकार 'मस्करी' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'काम न करने वाला' (माकरणशील) अकर्मण्यतावादी, दैववादी^२। बौद्ध निकायों से इस अर्थ की पर्याप्त पुष्टि मिलती है। मक्खलि लोगों का यही उपदेश था—'नत्थि कम्म, नत्थि किरिय नत्थि विरिय—कर्म नहीं है, क्रिया नहीं है, वीर्य नहीं है। पाणिनि तथा बुद्ध के बहुत समय पीछे भी इस सम्प्रदाय का अस्तित्व भारतवर्ष में अवश्य था, तभी तो महाकवि कुमारदास (६ शतक) ने जानकी को हरण करते समय रावण को मस्करी रूप में वर्णित किया है^३। जैन ग्रन्थों से पता चलता है कि

१ न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजक । किं तर्हि मा कृत कर्माणि, मा कृत कर्माणि, शान्तिर्व श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजक । (महाभाष्य)

२ अय मा कृत अय मा कृतेत्युपक्रम्य शान्तित काम्यकर्मप्रहाणिर्युष्माक श्रेय-सीत्युपदेशा मस्करीत्युच्यते ।—प्रदीप

३ परिव्राजकेऽपि माद्युपपदे करोतेस्ताच्छील्य इनिर्निपात्यते माहो ह्रस्वत्व सुट् च तथैव । माकरणशीलो मस्करी कर्मापवादित्वात् परिव्राजक उच्यते । काशिका (६।१।१५४)

४ अशुत्तर निकाय जि० १, पृ० २८६

५ दम्भाजीवकमुत्तुगजटामण्डितमस्तकम्

कश्चिन्मस्करिण सीता ददर्शाश्रममागतम् ॥ (जानकीहरण, १०।७६)

मस्करी लोग बड़े भारी तापसे ये हठयोग की कठिन साधना में अपनी देह से मुक्त होते थे। पञ्चमि तापसे ये और अपने शरीर पर मस्य रमाता करते थे। 'अल्लो हरण' के पूर्वोक्त निर्देश से उनके सिर पर लम्बी कटायों के होने का ये पता चलता है। इस प्रकार इस धार्मिक सम्प्रदाय के स्थापक प्रभुत्व का अनुमान हम सहज में कर सकते हैं।

संस्कृत में 'मस्कर' का अर्थ बोंस होता है। अतः कुछ आधुनिक विद्वानों की यह कल्पना है कि बोंस के दण्ड धारण करने से ही ये लोग 'मस्करिन्' नाम से सम्बोधित किये जाते थे। परन्तु यह कल्पना एकदम मिथ्या है। पतञ्जलि से स्पष्ट हो सकता है कि इनको मस्करों की भाँति बोंस का दण्ड धारण के कारण नहीं। बौद्धों के 'मयक्खी सूत्र' से इसकी पूर्वाप्त पुष्टि होती है। मेधासूत्र ने जब महावीर का शिष्यत्व स्वीकार किया तब अपने शरीर की चौड़े छदार कर ब्राह्मणों को दे जाती। उन चौड़ों में साष्टिक (अन्तर का बन्ध), पाष्टिक (ऊपर के बन्ध), कुट्टिकाष्टिक (कटो) तथा निष्कण्डक (चित्रपट) का वस्तुस्थिति मिलता है। दण्ड का वस्तुस्थिति नहीं है। अतः मयक्खीसूत्र के इस महात्त्वपूर्ण वस्तुस्थिति से यह स्पष्ट है कि मस्करों परिलक्षक दण्ड धारण नहीं रहता था प्रत्युत चित्रपट दिखता कर अपने शिष्याओं का उपदेश दिया करता था। भारतीय समाज से मयक्खी परिलक्षक एकदम दूर नहीं हो गया। बनिङ्ग मंज' के नाम से उनकी स्मृति बहुत दिका तक व्यपन्न रही।

जैन ग्रन्थों में विशेषतः 'अक्षयग वसुधो' और 'मयक्खी सूत्र' में तथा वीथ त्रिपिटकों में मयक्खी गोसास का विवरण मिलता है। इसका पितृ स्वर्ग मस्करों का माता का नाम मया का दोनों स्त्री पुरुष आधनों बीच नामों हर तरह धारित थे। योबहुत धामक मातामही गोसास में जन्म होने से इसका नाम गोसास पद मया का। मयक का ही यह निवासी का। यह जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी का पहला शिष्य का— बड़ा भक्त शिष्य। महावीर की इस पर बड़ी कृपा की। एक बार 'विरमामय' नामक

१ साष्टिकाष्टिक म पाष्टिकाष्टिक व कुट्टिकाष्टिक म।

आक्षयगो म चित्रकर्म म माहो नामासति ॥ (मयक्खी सूत्र)

किसी बाल तपस्वी ने इसके अपमान से दुःखित होकर गोशाल पर 'तेजोलेश्या' नामक शक्ति छोड़ी थी। तब महावीर ने शीतलेश्या का प्रयोग कर इसके प्राणों की रक्षा की। परन्तु महावीर के साथ इसका सिद्धान्त भेद खड़ा हो गया जिससे बाध्य होकर गोशाल ने जैन मार्ग को छोड़ कर आजीवक मार्ग को पकड़ा। महावीर के साथ इसके शास्त्रार्थ करने तथा पराजित होने का भी उल्लेख मिलता है।

गोशाल का मत उस समय व्यापक तथा प्रभावशाली हो गया था। उसके ६ दिशाचर शिष्य थे—(१) ज्ञान, (२) कलन्द, (३) कर्णिकार, (४) अच्छिद्र, (५) अग्नि वैश्यायन, (६) गोमायुपुत्र अर्जुन। कर्णिकार का कहना है कि ये भगवान् महावीर के ही शिष्य थे, परन्तु पतित हो गये थे। अतः अपने मत के प्रचार के लिए गोशाल ने इन जैनविरोधी विद्वानों को अपनी जमात में मिला लिया और अपने को 'जिन' नाम से विख्यात किया। आजीवक सम्प्रदाय के इतिहास में भ्रावस्ती में रहने वाली 'हालाहला' नामक कुंमारिन प्रधान स्थान रखती है। वह बड़ी घनाढ्य, सौन्दर्यवती तथा बुद्धिमती थी। इसने आजीवक मत के प्रचार में खूब रुपया खर्च किया। गोशाल इसीके घर प्राय रहता था। भ्रावस्ती ही गोशाल का 'अड्डा जान पड़ती है। अपने गुरु के चरित के अनुशीलन से इनके भक्तों ने 'अष्टचरम वाद' नामक सिद्धान्त का प्रचार किया। भगवती सूत्र के अनुसार ये आठों चरम (अन्तिम चार्ते) इस प्रकार हैं—(१) चरम पान, (२) चरम गान, (३) चरम नाट्य, (४) चरम अजलिकर्म (५) चरम पुष्कर सबर्तक महामेघ, (६) चरम सेचनक गन्धहस्ती, (७) चरम महाशिला कटक सभ्राम (८) चरम तीर्थकर (गोशाल अपने को अन्तिम तीर्थकर उद्धोषित करता था)। महावीर की मृत्यु से १६ वर्ष पहले गोशाल की मृत्यु होने का उल्लेख मिलता है। बुद्ध के ये समकालीन अवश्य थे, परन्तु उनके निर्वाण से बहुत पहिले ही गोशाल की ऐहिक लीला समाप्त हो गई थी^२। इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मक्खलि गोशाल उस समय के सुप्रसिद्ध धर्माचार्यों में थे।

१ इसीलिए आज भी जैनसमाज में यदि कोई साधु अपने गुरु से विरुद्ध हो कर निकल जाता है, तो अक्सर लोग कहते हैं—वह तो 'गोशाल' निकला। इस कहावत का मूल इस विरोध में है।

२ कल्याणविजय गणी—भ्रमण भगवान् महावीर (पृ० १२३-१३८) तथा लेखक रचित 'धर्म और दर्शन' (पृ० ७१-८१)

मीमांसा के सिद्धान्तों का उल्लेख अथिष्ठक तथा अगों में अनेक स्थानों में आया है। शब्द भी प्रायः समान ही है। दीपनि काय के अनुसार सिद्धान्त उनका मतभेद यह है— सत्त्वों के प्रवेश का हेतु नहीं है प्रत्यक्ष नहीं है। बिना हेतु के और बिना प्राप्ति के सत्त्व प्रवेश पाते हैं। सत्त्वों की शुद्धि का कोई हेतु नहीं है बिना हेतु के और बिना प्राप्ति के सत्त्व शुद्ध होते हैं। अपने भी कुछ नहीं कर सकती हैं परन्तु भी कुछ नहीं कर सकती। कोई पुरुष भी कुछ नहीं कर सकता। बल नहीं है, वीर्य नहीं है। पुरुष का कोई पराक्रम नहीं है। सभी सत्त्व सभी प्राणी सभी भूत और सभी जीव अपने में नहीं हैं। निर्बल निर्बीज आत्म और संयोग के फेर से वे जातियों में उत्पन्न होकर पुनः और पुनः व्यपते हैं। पुनः और पुनः जीव (बाप) से तुल्य हुए हैं। संसार में बटना बटना उत्कर्ष व्यपकर्ष नहीं होता। जैसे सृष्टि की योही केंद्रों पर उदरगती हुई विरती है वैसे ही पश्चित और मूर्ध हीनकर, आकाशमय में पतन, पुनः का अन्त करे।

स्पष्ट ही यह निश्चिन्ता का समर्थन है। मन्त्र के ही प्रमाण से जब सब प्राणी पुनः-पुनः के बल में पडे रहते हैं तब उनका अनुष्ठित कर्म अकिञ्चित्क है ही। कर्म व्यर्थ है। उसमें किसी भी प्रकार की रुचि नहीं है। निश्चित पर हा अपने को छोड़कर पुनः की भी सोचा नहीं का कर्त्तव्य है। पोशाक का वह सिद्धान्त समाज तथा व्यक्ति दोनों के अनुष्ठान के लिए विद्यमान अनुपात है। इसके पालन से समाज का महान् अहित सम्पन्न होगा, यह निश्चय है।

(५) संसृष्ट विहतिष्ठपुनः—अनिश्चितताभाव

संसार का मत क्या निश्चय प्रतीत होता है। वे किसी भी सत्त्व का परलोक देखना पुष्पापुष्प के विषय में किसी निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं करते। इसका मत है —

‘यदि आप पूर्ण—क्या परलोक है। और यदि मैं जानू कि परलोक है तो आपको बतलाऊ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहूँ और मैं ऐसा भी नहीं कहूँ, मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहूँ। मैं यह भी नहीं कहूँ कि ‘यह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहूँ कि ‘यह नहीं नहीं है’। परलोक नहीं है। परलोक है भी और

नहीं भी । परलोक न है और न नहीं है । देवता (अयोनिज प्राणी) हैं, नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी । न है और न नहीं है । अच्छे वृत्त काम के फल हैं, नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न है और न नहीं है । तथागत (मुक्तपुरुष) मरने के बाद होते हैं, नहीं होते हैं । यदि मुझे ऐसा पूछें और मैं ऐसा समझू कि मरने के बाद तथागत रहते हैं और न नहीं रहते हैं, तो मैं ऐसा आपको कहूँ । मैं ऐसा भी नहीं कहता और मैं वैसा भी नहीं कहता ।'

यहाँ परलोक, देवता, कर्म तथा मुक्तपुरुष इन माननीय विषयों की समीक्षा की गई है । इन चार विषयों में सजय अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, न अस्ति न नास्ति—इन चार प्रकार की कोटियों का निषेध करते हैं । ऊपर का उद्धरण सजय के किसी निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं करता । यह 'अनेकान्तवाद' प्रतीत होता है । सम्भवतः ऐसे ही आधार पर महावीर का स्याद्वाद प्रतिष्ठित किया गया था ।

(६) निगण्ट नातपुत्त—चतुर्यामसम्बर

निगण्ट नातपुत्त (निग्रन्थ शातृपुत्र) से अभिप्राय जैन धर्म के अन्तिम तीर्थ-हर वर्धमान महावीर से है । बौद्ध ग्रन्थों में ये मदा इस अभिधान से सकेतित हैं ।

ये वैशाली (वसाव, जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) में ५९९ ई० जीवनी पू०, पैदा हुए थे । वैशाली गणतन्त्र राज्य था, वहीं के शातृवशी क्षत्रिय सरदार के ये पुत्र थे । पिता का नाम था सिद्धार्थ, माता का त्रिशला । यशोदा देवी के साथ इनका विवाह होना श्वेताम्बर लोग बतलाते हैं । तीस वर्ष की अवस्था में (लगभग ५७० ई० पू०) इन्होंने यतिधर्म ग्रहण किया । १३ वर्ष की अनवरत तपस्या के बल पर इन्होंने कैवल्य ज्ञान (सर्वज्ञता) प्राप्त किया । इन्होंने मध्यदेश (कोशल—मगध) में अपने धर्म का उपदेश दिया । इनका केन्द्रस्थान मगध की तत्कालीन राजधानी 'राजगृह' था । 'अर्ध मागधी' लोक भाषा के द्वारा अपने धर्म का प्रचुर प्रचार जनसाधारण में कर इन्होंने ७२ वर्ष की आयु में बुद्धनिर्वाण से पहले ही कैवल्य प्राप्त किया ।

जैन अगों में तो आपके उपदेश हैं ही । बौद्ध निकायों में भी इनकी शिक्षा

१ जैन अगों के आधार पर महावीर के जीवन वृत्तान्त के लिए द्रष्टव्य—
कल्याणवज्रय गणी रचित 'श्रमण भगवान् महावीर ।'

का अनेक बार उल्लेख मिलता है। ये बहुरात्र संस्कार अर्थात् बार-बार के संस्कार को मानते थे। (१) जोष द्विष्ट के अर्थ से निम्न अर्थ से सिद्धांत व्यवहार का अर्थ करता है। (२) सभी पापों का नश्वर करना तथा (३) सभी पापों के नश्वर करने में लगा रहना है तथा (४) पापों के नश्वर करने के कारण वह सदा मृतपाप (पापरहित) होता है। निम्न का अधिक कर्मों के ऊपर बड़ा आग्रह था। ये स्वयं तपस्या-साधन में निष्ठ थे तथा सदा इसका उपदेश देते थे^१। तप-साधन से इन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त कर ली। यह उनका दावा भी था। बीन्ड वर्गों में निष्ठा की सर्वज्ञता की कुछ हद उदाई गई है। आत्मज्ञ में एक बार कहा था कि एक रास्ता सर्वज्ञ होने का दावा करते हैं, परन्तु किसी भी स्त्री परों में नहीं हैं, मित्रा तो पाते ही नहीं उसे छत्रुओं से शरीर छुचसते हैं और अनात्म दावी, पापे और बन्ध का त्याग करते हैं। अन्त यह सर्वज्ञता किस प्रकार की? कि वह जी-पुरुषा के नाम गोत्र पूछते हैं मणि-नमर का नाम पूछते हैं और अपना पत्नी पूछते हैं^२। स्पष्टता इसका लक्षण निष्ठा की सचञ्चल के हाथ पर है।

इन छे लक्षणों में केवल निष्ठा धर्मपुत्र के उपदेश बच रहे। जे सम्प्रदाय के ये ही मान्य उपदेश हैं^३ परन्तु अन्य पाँचों लक्षणों के मूल प्रमाण के उद्भव होते ही अतर्कित हो गये। इन बातों में व्यक्ति तथा समाज की व्यवस्था न थी; इसलिए जनता में वे तो उन्हें अपनाना, न किशानों में उन्हें प्राप्य उद्धारण। फलतः ये कई शताब्दियों में ही आपसी ऐहिक लीन का स्वरण कर मान्य के ही विषय बन गये।



१ शौच-निर्वाह पृ. २१।

महिम्न निघम १।२।४ (अनु. ५९)

२ महिम्न निघम १।२।४

३ महावीर के शिष्यों के लिए ब्रह्म सेनक का भारतीय दर्शन (पृ. १५४-१५८)

चतुर्थ-परिच्छेद

बौद्ध दर्शन की ऐतिहासिक रूपरेखा

भगवान् बुद्ध का कार्य नितान्त व्यवस्थित तथा श्लाघनीय था। उन्होंने स्वयं प्रचार कर अपने नये धर्म का शङ्खनाद देश भर में फूक दिया, परन्तु उनके प्रचार का देश बहुत ही सीमित था। कोशल तथा मगध के प्रान्तों में ही भगवान् अपने धर्म का उपदेश किया करते थे। धनी-मानी पुरुषों से उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। मगधनरेश बिम्बसार तथा अजातशत्रु उनके उपदेशों के अनुयायी थे। कोशलराज प्रसेनजित् को भी बौद्धधर्म में गहरी आस्था थी। वह बुद्ध का पक्का शिष्य था और उसकी भक्ति का परिचय त्रिपिटक के इस वाक्य से लग सकता है कि प्रसेनजित् बिहार में प्रविष्ट होकर सिर से लेकर भगवान् के पैरों को मुख से चूमता था तथा हाथ से संवाहन करता था (बु० च० ४४०)। कौशाम्बी के राजा उदयन भी बौद्धसंघ का विशेष आदर करता था। उदयन तथा उनकी रानियाँ बौद्धसंघ को प्रचुर दान दिया करती थीं। एक बार का वर्णन है कि उदयन की रानियाँ ने आनन्द को ५०० चीवर दान में दिये। राजा को आश्चर्य हुआ कि इतने चीवरों को लेकर आनन्द क्या करेंगे। परन्तु जब आनन्द ने उनका उपयोग बतला दिया, तब राजा ने उतने और भी चीवर उन्हें दान में दिये। सुनते हैं कि उदयन के निवास में एक बार आग लग गई थी जिसमें पाँच सौ स्त्रियों जल मरी थीं। उदान (७९) से पता चलता है कि उसमें से बहुत ही भगवान् बुद्ध की उपासिकायें थीं। मगध तथा कोशल के सेठों ने भी बौद्धधर्म के प्रचार में विशेष योगदान दिया। श्रावस्ती के सेठ 'अनाथ पिण्डक' का नाम बौद्धधर्म के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। बुद्ध के प्रति उसकी कितनी श्रद्धा थी, इस बात का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि उसने बुद्ध के निमित्त जेतवन को बिहार बनाने के लिए पूरी जमीन पर सोने की मुहरें बिछा दी थीं। सबी बात यही है कि अर्थ के साहाय्य बिना धर्म का प्रचार हो नहीं सकता। बौद्धधर्म का इतिहास इसका प्रधान निदर्शन है।

बुद्ध ने अपने कार्य को स्थायी बनाने के लिए 'संघ' की स्थापना की थी। इसकी रचना राजनीतिक 'संघ' (लोकतन्त्र की सभा) के अनुसार की गई थी।

शास्त्र लोग राजतन्त्र का उपासक है। बुद्ध भी प्रजातन्त्र के पक्षपाती थे। फलतः उन्होंने अपने संघ को भी प्रजातन्त्र की शैली पर ही निर्मित किया। भिक्षुओं के पास करने के निमित्त अनेक नियम थे और इन्हीं का संक्षेप 'विनयपिटक' में किया गया है। बुद्धधर्म के तीन रत्न हैं—बुद्ध धर्म और संघ। इन्हीं तीनों का शरणागति व्यक्ति बौद्ध माना जाता है। संघ का परिपालन बड़े नियम के साथ किया जाता था। अपराधी भिक्षु को दण्ड देने का काम उस ही करता था। संघ की इन सुव्यवस्था के कारण ही बौद्धधर्म की स्वायत्तता बहुत दिनों तक बनी रही।

बौद्धधर्म की शाखाएँ

बौद्धधर्म की दो प्रधान शाखाएँ हैं—(१) हीनयान तथा (२) महायान। इन नामों का निर्देश महायानियों ने किया। अपने आपको ही उन्होंने भेद कर अपने धर्म को 'महत्' मान लिया और प्रथम भिक्षुसंघियों को हीनयान के नाम से अभिहित किया। हीनयान से अभिप्राय पाँची विपिटकों के आधार पर व्यवहित वर्म से है जिसका प्रकार आनन्द तथा त्याग धरमा आदि भारत से इतिहासी देशों में है। ये लोग अपने को 'चिरवासी' (स्थविरवासी) कहते हैं और वही नाम प्रथम भी है। महायानियों का प्रमुख धर्म अपना भगोस्त्रिया धरिया आदि भारत से उत्तर के देशों में है। इन दोनों मतों के ऐतिहासिक विवेक का विस्तार ब्रह्म आये किया जायगा। 'महायान' का उद्भव कहा हुआ? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। कतिपय विद्वान् धर्मशास्त्रों की महायान के सिद्धान्तों के अन्तर्गत का क्षेत्र प्रदान करते हैं। चीनी धर्म में धर्मशास्त्रों की महायान अन्तर्गत शास्त्र नामक रचना आज भी विद्यमान है। पूर्वोक्त कथन का आधार यही ग्रन्थ है। परन्तु यह कथन ठीक नहीं। महायान-अन्तर्गत के सिद्धान्त इतने विवक्षित तथा ग्रीक महायानी हैं कि उसी समय ईसा के प्रथम शतक में मानना उचित नहीं। सिध्दार्थ परम्परा में धर्मशास्त्रों का उपग्र 'सर्वार्थितगरी' माने गये हैं 'अर्थात्' वे स्वयं हीनयानी हैं। हीनयान समय के अनुसार अपने का वर्णन नहीं करा। इतिहास 'महायान' अपने की समवाप्ति पकारर भाग कह गया। महायान के ऊपर प्राग्जन्म धर्म के सिद्धान्तों का बड़ा प्रभाव पड़ा है विशेषतः अवधारणा के कथन का। यह धर्मा विषय के दूसरे शतक में ऐतिहासिक स्थिति से मानी जा सकती है। पाण्डुन को हम

महायानी दार्शनिकों में आदिम मान सकते हैं, परन्तु उनसे भी पहिले महायान के समर्थक सूत्रग्रन्थ उपलब्ध थे ।

महायान की ही विकसित शास्त्राये मन्त्रयान तथा वज्रयान हैं । इनमें मन्त्र तथा तन्त्र का साम्राज्य है । इसका विशेष प्रचार वगाल, उड़ीसा तथा आसाम के प्रान्तों में हुआ । इन्हीं का प्रचार तिब्बत में हुआ । इस प्रकार बौद्धधर्म के इन यानों का समय—निर्देश इस प्रकार मोटे तौर से किया जा सकता है ।

(१) होनयान—विक्रमपूर्व ५००—२०० विक्रमी

(२) महायान—२०० वि०—८०० वि०

(३) वज्रयान—८०० वि०—१२०० वि०

बौद्ध संगीति

विकाश इस विश्व का प्रधान नियम है । उत्पत्ति के अनन्तर कोई भी वस्तु विकसित हुए बिना नहीं रहती । अकुर विकसित होकर वृक्ष का रूप धारण करता है । कलियों फूल के रूप में विकसित होकर दर्शकों का मनोरञ्जन करती हैं । धर्म इस नियम का अपवाद नहीं है । नवीन परिस्थितियों में, आवश्यक सहायक सामग्री के सहारे, धर्म को विकसित होते विलम्ब नहीं लगता, धर्म का बीज अकुरित होकर पल्लवित हो उठता है । बुद्धधर्म का विकाश हुआ और बड़े मनोरञ्जक ढंग का विकाश हुआ ।

विक्रमपूर्व ४३६ में भगवान् गौतम बुद्ध का निर्वाण सम्पन्न हुआ, तब धर्म के मूल सिद्धान्तों के निर्णय के लिए उनके प्रधान शिष्यों की सहायता से मगध राज्य की राजधानी राजगृह में बौद्धों की प्रथम संगीति (सम्मेलन)

निष्पन्न की गई । इसमें सुत्त तथा विनयपिटक का रूप निर्धारण

संगीति प्रथम कर उन्हें लिपिबद्ध कर दिया गया । परन्तु इसके एक सौ

द्वितीय वर्ष के भीतर ही विनय के कठोर नियमों को लेकर एक

प्रबल विरोधी मतवाद खड़ा हो गया । इस विरोध का झंडा

कैचा करनेवाले वज्जिदेश के भिक्षु थे जो वज्जिपुत्तक, वज्जिपुत्तिक तथा वात्सी-पुत्रीय के नाम से पुकारे जाते हैं । इन्हीं के विरोध को शान्ति के लिए वैशाली

की द्वितीय संगीति ३२६ वि पू० में की गई । परन्तु प्राचीन विनयों के कट्टर पक्षपाती भिक्षुओं के सामने इनकी दाल तनिक भी नहीं गली । इस दुर्दशा में

मिथुनों ने बैरागी से बुरा हटकर बौध्दाम्बी (प्रवाण के पास कोसम) में इस हथार मिथुनों के साथ महागज के साथ अपनी संघीति प्रस्थाप की। उसी दिन बौध्दधर्म में दो प्रवाल भेद खड़े हो गए—(१) स्वविरवाही और (२) महासाधक। विनय में किसी प्रकार के परिवर्तन न मानने वाले अपरिवर्तनवादी पद्धतवादी मिथु स्वविरवाही (पल्ली पेरवाही) कहलाये। विनयों में समय के परिवर्तन के साथ साथ परिवर्तनवादी संशोधक मिथुनों की प्रचलती सम्रा में अधिक होने से महासंघ के कारण महासाधक कहलायी। इतने ही पर यदि मामला एक जाड़ा तो कोई विरोध बात न होती। एक बार जब विरोधी को आमंत्र दे बिना गया तब तो छोटी सी छोटी बात के लिए आमन्त्री मिथुनों ने अपनी जनता अलग बनाने की। फलतः सम्प्रदायों की संख्या बढ़ने लगी।

अशोक के समय (तृतीय शताब्दी पू. वि.) से पहले ही १८ भिन्न भिन्न सम्प्रदाय खड़े हो गये। लोकप्रियता का यही सूचक होता है। जब बुद्धधर्म निर्यात

लोकप्रिय बन गया। फलतः उसमें भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोग

तृतीय शताब्दी ई. में लगे विनयों बुद्ध के मूल नियमों का पालन निर्यात

संघीति कठोरपद्धत प्रतीत होने लगी। ये उधार से उठा सिद्धान्तों में परि

वर्तन के पड़पाती थे। महासंघ अयोग्यधर्म को बुद्धधर्म का यह

अमेला धर्मधर्म के स्वरूप जानने के लिए कहा बनेबा जान पड़ा। अतः इन मतधर्मों

के पारस्परिक कलह को बुरा हटाने के लिए समझ अशोक ने महासंघ के माध्यम

पुनः सिद्ध की अन्धकार में पड़सिद्ध में तृतीय संघीति का आश्रय किया। यह

संघीति बुद्धधर्म के इतिहास में निर्यात महासंघासिनी मानी जाती है क्योंकि

इसी संघीति के नियमानुसार समझ ने बुद्धधर्म के प्रकार के लिए भारत के बाहर

भी मिथुनों का भेजा। इसी समय से बुद्धधर्म विरवधर्म की पद्धती पाने के लिए

अपसर हुआ।

चतुर्थ संघ त कृष्णवर्मा महासंघ धर्मिक के समय (प्रथम शताब्दी) में सम्पन्न हुई। इसके निम्न में सिद्धदेवीय धर्मों में मीमांसकधर्म ही कर रहा

है वरन्तु संघीति हुई अन्धकार और इसके प्रमाणमूल सिद्धदेवी, नीम

चतुर्थ तथा संघीतिन लेखक हैं। धर्मिक को भी बौद्धधर्म के निम्न

संघीति में विरोधी अर्थों के अस्तित्व में कलह में अलग दिया। उसने अपने

गुण पार्ष्व की सम्पत्ति से मिथुनों की एक महती सम्रा हुआ

बाई। उसमें पाँच सौ भिक्षु सम्मिलित हुए थे और यह सगीति काश्मीर की राजधानी के पास कुण्डलवन विहार में हुई थी^१। इसके अध्यक्ष थे वसुमित्र और अध्यक्ष थे महाकवि अश्वघोष जिसे कनिष्क पाटलिपुत्र से अपने साथ लाये थे।
 ३. भिक्षु प्रायः एक ही सम्प्रदाय के थे और वह सम्प्रदाय था सर्वास्तिवाद।
 ४. परिश्रम से इन लोगों ने बौद्धधर्म के विशिष्ट सिद्धान्तों पर अपने मत निश्चित किये, विरोधों का परिहार किया तथा त्रिपिटकों पर बड़ी भारी व्याख्या लिखी जो 'महाविभाषा' के नाम से प्रसिद्ध है। चीनी भाषा में यह ग्रन्थ आज भी अपनी द्वितीयता का परिचय दे रहा है। सुना जाता है कि सगीति की समाप्ति पर कनिष्क ने सब भाष्यों को ताम्रपट पर लिखवाया और उन्हें इस कार्य के लिए निर्मित विशिष्ट स्तूप के नीचे गड़वा दिया। सम्भव है कि ये ग्रन्थरत्न आज भी काश्मीर में कहीं जमीन के नीचे गड़े हों और कभी खुदाई में निकल आवें, परन्तु अभी तक इस स्तूप का पता नहीं चलता। अनन्तर कनिष्क ने काश्मीर के राज्य को सब के जिम्मे सुपुर्द कर दिया और स्वयं पेशावर लौट गया। १०० ई० के आसपास इस सगीति का समय माना जा सकता है। इन्हीं सगीतियों के कारण बुद्धधर्म में सुव्यवस्था दीख पड़ती है। इनके अभाव में तो न जाने उसकी क्या दशा हुई रहती।

दार्शनिक विकास

बौद्धधर्म तथा दर्शन के इतिहास पर यदि हम एक विहङ्गम दृष्टि डालें, तो हमें अनेक ज्ञातव्य तथ्यों का परिचय प्राप्त होता है। विक्रमपूर्व षष्ठ शतक से लेकर वि० पू० तृतीय शतक तक **स्थविरवाद** की प्रधानता उपलब्ध होती है। महाराज अशोकवर्धन के समय बौद्धधर्म को पूर्ण रूप से राजाश्रय प्राप्त हुआ। राजा ने इसे अपना व्यक्तिगत धर्म ही नहीं बनाया, प्रत्युत इसे विश्वव्यापी धर्म बनाने के लिए उस ने अश्रान्त परिश्रम किया। इस कार्य में अशोक को पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई। अशोक ने थेरवाद को ही अपनाया और उसे ही बुद्ध का माननीय सिद्धान्त मानकर प्रचारित भी किया। विक्रम के आरम्भकाल तक यही स्थिति रही।

१. मगोलदेशीय ग्रन्थकारों के अनुसार यह सभा काश्मीर के ही अन्तर्गत जालन्धर में हुई थी। (स्मिथ—अर्ली इण्डिया पृ० २६७-६९)

विष्णु के द्वितीय शतक में कृष्ण भरोश कमिक के समय रिकति मरहती है। स्वमिरवाह क समय पर 'सर्वास्तिवाह' हो माननीय सिद्धान्त क रूप में पहुँचत तथा प्रचारित होने लगता है। बगुब शमीति क समय म सर्वास्तिवाह (वा वैमायिक) मत का प्रमुख देगम्यारी हो जाता है। कमिक में इसे धन्यवा तथा उत्तरी देशों में इसी क प्रकार क भेजकर इसरा बिस्तार किया। चीन देश में यह सर्वास्तिवाह इसी समय गया। स्मरण रहने की बात है कि आज देश की माया में हो वैमायिकों का निराग साहित्य आज भी सुरक्षित है। मूलतः यह साहित्य संस्कृत में हो बा, परन्तु अवश्य होने से संस्कृतमूल जवना बिस्तृत हो गया। पंचम शतक में श्री जगद्गुरु विष्णुसिंह तथा कुमारसुत क जन्मकाल में सर्वास्तिवाह ने दाब मार पड़ा। बगुबन्धु तथा स्वतन्त्र होते आचार्यों ने अपने बरीन पम्बित्वपूर्ण मन्त्रों से इसमें जीवनी शक्ति फूट दी। इन्हें दिनों तक यह मत अवश्य नमकदा रहा, परन्तु यह नमक हुम्ते हुए बीपक क अन्तिम प्रकाश क समान ही प्रतीत हुई।

विष्णु के तृतीय शतक से बीरदार्शनिक काल में हमें नई रूढ़ि के बिन्दु बिज्जवाई पड़ते हैं। सर्वास्तिवाह क एक छोर से इतरकर हम सर्वगुण्यत्ववाद के दूसरे छोर पर आ पहुँचते हैं और यह प्रबलमार्ग सौत्रान्तिकों के द्वारा अविच्छिन्न किया जाता है। इस शतक में हमें दो ज्ञानिकारी आचार्यों के दर्शन होते हैं— (१) आचार्य 'कुमारसुत' का जिन्होंने बाह्य धर्म की सत्ता को प्रत्यक्षमय न मानकर अनुमानमय सिद्ध किया और दूसरे (२) आचार्य नागार्जुन का जिन्होंने गुण्य क सिद्धान्त को लौकिक शक्ति से प्रतिष्ठित किया। 'कुमारसुत' सौत्रान्तिक मत के अन्तर्गत है तो 'नागार्जुन' माध्यमिक मत (गुण्यवाद) क सर्वप्रकार है। अमली शताब्दियों में इन्हीं के मत की प्रचुरता रहिगोचर होती है। कुमारसुत का सिद्धान्त भारतीय बीरों का ध्यान विशेष रूप से आह्वान कर सका, परन्तु इसके एक शिष्य ने चीन देश में एक नवीन सम्प्रदाय की उद्घाटन की। इस शिष्य का नाम वा हरिदमाँ और इस सम्प्रदाय का नाम वा 'सत्यसिद्धि-सम्प्रदाय'। हरिदमाँ के 'सत्यसिद्धिशास्त्र' नामक मन्त्र का बीमो अनुवाद (कुमारजीवित्त ४ ई) ही इस सम्प्रदाय का मूल मन्त्र है। अतः कुमारसुत के ज्ञानिकारी होने में तनिक भी सन्देह नहीं। नागार्जुन की शक्ति को

दार्शनिक जगत में एक प्रकार से अतुलनीय है। ये दार्शनिक तो ये ही, सिद्ध पुरुष भी थे। इनकी 'भाव्यमिक कारिका' ने शून्यवाद को सदा के लिए दृढ़ तार्किक भित्ति पर खड़ा कर दिया। चतुर्थ—षष्ठ शतका में इनके अनुयायियों में बड़े बड़े विद्वान् आचार्य हमें मिलते हैं।

विक्रम के पञ्चम शतक में बौद्ध सिद्धान्त सर्वशून्यत्व के एकान्तवाद से हट कर फिर पीछे की ओर जाता है, परन्तु वह बीच में टिक कर 'विज्ञान' को एकमात्र सत्ता स्वीकार कर लेता है। विज्ञानवाद के उदय का यही युग है। इस सिद्धान्त की उद्भावना तो की आचार्य मैत्रेयनाथ ने, पर उसे तर्क की दृढ़ नींव पर रखा आचार्य असग और चमुवन्धु ने। चमुवन्धु के ही शिष्य आचार्य दिङ्नाग थे जिन्होंने 'प्रमाण समुच्चय' जैसा प्रौढ़ ग्रन्थ लिखकर बौद्ध न्याय का शिलान्यास रखा जिसे धर्मकीर्ति ने अपने 'प्रमाणवार्तिक' से मण्डित कर न्यायमन्दिर के ऊपर कलश रख दिया। गुप्तों का काल ब्राह्मण-साहित्य के ही उत्कर्ष का युग नहीं है, प्रत्युत बौद्ध-दर्शन की महती तथा चतुरस्र उन्नति का भी सुवर्ण युग है। पञ्चम शतक से लेकर अष्टम शतक तक शून्यवाद तथा विज्ञानवाद की उन्नति समान रूप से होती रही, पर शून्यवाद के सिद्धान्त को जनप्रिय तथा साधारणतया बोधगम्य न होने के कारण विज्ञानवाद ने अपना विशेष उत्कर्ष सम्पादन कर लिया। हर्षवर्धन के समय हमें नालन्दा विश्वविद्यालय में विज्ञानवाद का प्रकर्ष उपलब्ध होता है। धर्मकीर्ति हर्षकाल की ही विभूति थे। धर्मपाल नालन्दा विहार के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित होकर शून्यवाद तथा विज्ञानवाद दोनों मतों के प्रचार साधन में सलग्न थे।

विक्रम के अष्टम शतक में हम नालन्दा को ही बौद्ध दर्शन के केन्द्र रूप में पाते हैं। यहीं के आचार्यों के पास धर्म की शिक्षा लेने के लिए हम चीनी परिव्राजकों को आते हुए पाते हैं। ८००—१००० ई० तक अर्थात् चार सौ वर्षों के इतिहास के लिए हमें नालन्दा तथा विक्रमशिला के इतिहास पर दृष्टिपात करना होगा। महायान का तान्त्रिक वज्रयान के रूप में परिवर्तन तथा विकास श्रीपर्वत (दक्षिण भारत) के पास ही सम्पन्न हुआ, पर उसका प्रचार पूर्वी भारत के विहारों के ही आचार्यों के द्वारा किया गया। तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रवेश इसी काल में हुआ। नालन्दा के ही वृद्ध आचार्य पद्मसंभव तथा शान्त रक्षित ने तिब्बत

के राजा पि-शाङ्गे स्तान (७४६ ई — ७८९ ई) के निमन्त्रण पर वहाँ बना स्तूपार किया, अन्तःपरिषद कर उन्होंने तिब्बत में बौद्धधर्म को प्रतिष्ठित किया । बज्रवाम के प्रसिद्ध ८८ सिद्धों का आविर्भाव इन्हीं कार सौ कर्तों के मीतर हुआ । इस प्रकार कुछ जादूयों के उत्पीडन से और कुछ अपनी उदार नीति, निम्न उपदेश तथा विरक्तानीति सन्देश के कारण बौद्धधर्म भारत के बाहर फैला, पूर्वी देशों पर इसने अपना प्रमुख काम किया और आज यह सत्तार भरमें सघटे अधिकसम्पन्न मामलों का धर्म है । जगत के इतिहास में इसका सांस्कृतिक मूल्य अनुपम है । इसने अल्पविरासियों को अद्वैत बनाया, ज्ञान तथा धर्म का प्रकाश देकर करोड़ों व्यक्तियों का इसने उदार का मार्ग बतलाया । स्वतन्त्र के अन्तर्गमन से मानव अपनी ही शक्ति से निर्माण पा सकता है, यही बौद्धधर्म का मेरीमता है ।



पञ्चम-परिच्छेद

बुद्ध की धार्मिक शिक्षा

बुद्ध के व्यक्तित्व की परीक्षा करने पर यह बात स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है कि वे पूर्णतः बुद्धिवादी थे । इसका प्रधान कारण उस समय का कल्पना-प्रधान वातावरण था । वे किसी भी तथ्य को विश्वास की कच्ची नींव **बुद्धिवाद** पर रखना नहीं चाहते थे, प्रत्युत तर्कबुद्धि की कसौटी पर सब तत्त्वों को कसना उनकी शिक्षा का प्रधान उद्देश्य था । उन्होंने कालामों से उपदेश देते समय स्फुट शब्दों में कहा था कि किसी तथ्य को इस-लिए मत मानो कि यह परम्परा से चला आता है, अथवा यह प्राचीनकाल में कहा गया था, अथवा यह धर्मग्रन्थ में कहा गया है, अथवा इसका उपदेशा गुरु तापस है, अथवा किसी वाद के लिए उसका ग्रहण करना समुचित है । इन कारणों से किसी भी तथ्य को ग्रहण मत करो, प्रत्युत इस कारण से ग्रहण करो कि वे धर्म कुशल (शुभप्रद) हैं तथा वे धर्म अनवद्य-अनिन्दनीय हैं, तथा ग्रहण करने पर उनका फल सुखद तथा हितप्रद होगा (अगुत्तर निकाय) । भगवान् बुद्ध ने अपने अनुयायियों से कहा था कि जिस प्रकार चतुर पुरुष सोने को आग में गर्म करते हैं, उसे काटते हैं तथा कसौटी पर कसते हैं, इतनी परीक्षाओं से यदि वह खरा उतरता है, तभी उसे विशुद्ध मानते हैं । ठीक इसी तरह 'ये मेरे वचन हैं, अतः मान्य हैं' इस दृष्टि से इन्हें कभी न ग्रहण करो । उनकी स्वयं परीक्षा करो और खरी परीक्षा के बाद उसे मानो तथा उसके अनुसार आचरण करो—

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव परिहृत ।

परीक्ष्य भिन्नो ग्राह्य मद्बचो न तु गौरवात्^१ ॥

१ ज्ञानसार-समुच्चय (३१ वाँ श्लोक) । ज्ञानसार-समुच्चय आर्यदेव की रचना माना जाता है, परन्तु अभी तक इसका मूल सस्कृत उपलब्ध नहीं है । तिब्बती भाषा में अनुवाद है जिसे भारत के उपाध्याय कृष्णरव तथा तिब्बत के भिक्षु धर्मप्रज्ञ ने मिलकर, सस्कृत से भाषान्तरित किया था । इस ग्रन्थ में केवल

बुद्ध ने तत्त्वज्ञान के प्रति अपने मार्ग को स्पष्टतः अभिव्यक्त किया है—‘सोविद्यत्त्वो ‘मुच्छिन्नारम’ होना चाहिए (अर्थात् बुद्धि की सहजता से तत्त्व का भिन्न करमा चाहिए), ‘पुद्गल शरण न होना चाहिए—किसी भी पुरुष का आश्रय लेकर तत्त्व को न ग्रहण करमा चाहिए । चाहे वह तत्त्व स्वयं के द्वारा, तबालत के द्वारा या मंत्र के द्वारा निर्णीत किया गया हो । मुच्छिन्नारम होने से वह तत्त्वार्थ से विचलित नहीं होता और न वह दूसरों के विचित्र पर चलता है ।

मुच्छिन्नाधी होने के अतिरिक्त बुद्ध निरालस व्यावहारिक थे । कबल शुष्क तर्क के द्वारा बुद्ध तत्त्वों की व्याख्या करना समझा चरम नहीं था । व्यापारिकता की बात उनके युग में बहुत ही अधिक थी । हम मर्तों के अनु-व्यावहारिक बाकी तत्त्वों के विषय में आना प्रचार की छलपट्टीय मुच्छिन्नों का कता प्रदर्शन कर अपने कर्तव्यों की इतिमी समझ बैठे थे परन्तु बुद्ध के लिए वह व्याकरण निरालस अनुचित था । जिस प्रकार बैल रोपी को व्याकरणज्ञता के अनुसार निदान और औपच्य बतला देता है उसी प्रकार भवरोग के रोगी आश्रितों के लिए बुद्ध ने व्याकरण बतलाने बतला ही थी । अनात्मत्वक वस्तु के विषय में बारम्बार प्रश्न किये जाने पर भी वे सर्वथा मौन हो जाने थे । स्वर्ग की बातों की मीमांसा करने की अपेक्षा मौलतत्त्वमन प्रेरकक ह । जब उनके उपदेशों में कभी कोई इन ‘अतिप्रश्नों’ के विषय में प्रश्न कर बैठता था, तब बुद्ध मौन हो जाना करते थे । यह कदाचित् नित्य है या अमित ? यह लोक धान्त है या समस्त ? जीव तथा शरीर एक है या भिन्न ? आदि प्रश्न इसी केन्द्र के थे । इन प्रश्नों को वे अम्प्राकृत (अनिर्बचनीय) कहा करते थे । आशय है कि इन प्रश्नों की मीमांसा नहीं हो सकती ।

आवृत्ती के अंतर्धान में विहार के अन्तर्गत पर मातृक्यपुत्र ने बुद्ध से लोक के शान्त-अशांत, अन्तर्गत-अन्तर्गत होने तथा जीव-देह की भिन्नता-अभि-

१८ अतिशय है जिनमें कुछ सुगमिन्ति—संस्कृत में प्रचलित है । उपपुत्र अतिशय तत्त्वधर्माधपमिन्ति (५ १२ में) प्रचलित की गई है । हरिश्चंद्र के उपदेश के प्रति ऐसा ही मात्र अभिव्यक्त किया है :—

पञ्चपातो न वो वीरि न द्वय-अपिस्तद्विपु ।

मुच्छिन्नार्थ कर्मवत्तस्य तत्त्व कार्यो परिग्रहः ॥

अव्याकृत प्रश्न नन्ता के विषय में दस मेण्डक प्रश्नों को पूछा था । परन्तु बुद्ध ने 'अव्याकृत' बतला कर उसकी जिज्ञासा शान्त की^१ । इसी प्रकार पोट्टपाद परिव्राजक ने जब ऐसे ही प्रश्न किए, तब बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में अपना अभिप्राय व्यक्त किया—'न यह अर्थयुक्त है, न धर्मयुक्त, न आदि ब्रह्मचर्य के लिए उपयुक्त, न निर्वेद के लिए, न विराग के लिए, न निरोध (क्लेश-नाश) के लिए, न उपशम के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न सवोधि (परमार्थ ज्ञान) के लिए और न निर्वाण के लिए है । इसीलिए मैंने इसे अव्याकृत कहा है तथा मैंने व्याकृत किया है दुःख के हेतु को, दुःख के निरोध को तथा दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपत् (मार्ग) को^२ । इस विषय को स्पष्ट रखने के लिए उन्होंने बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त उपस्थित किये हैं । उनका कहना था—भिक्षुओं, जैसे किसी आदमी को विषसे बुझा हुआ तीर लगा हो । उसके बन्धु बान्धव उसे तीर निकालने वाले वैद्य के पास ले जायें । लेकिन वह कहे कि मैं तब तक तीर न निकलवाऊँगा, जब तक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे तीर मारा है, वह क्षत्रिय है, ब्राह्मण हैं, वैश्य है, या शूद्र है, जब तक यह न जान लूँ कि तीर मारनेवाले का अमुक नाम है, अमुक गोत्र है, अथवा वह लम्बा है, बड़ा है, छोटा है या ममले कद का है, तो हे भिक्षुओं, उस आदमी को इसका पता लगेगा ही नहीं और वह योंही मर जायेगा^३ । आशय है कि विषदिग्ध बाण से विद्ध व्यक्ति के लिए तीर मारने वाले पुरुष के रंग-रूप, नाम-गोत्र, आदि की जानकारी के लिए आप्रह करना तथा दिना इन्हें जाने अपनी दवा कराने में विमुख होना जिस तरह परले दर्जे की मूर्खता है, उसी तरह भव-रोग के रोगियों की दशा है । रोग के कारण वे बेचैन हैं, उन्हें उसकी चिकित्सा करनी चाहिए, भव-रोग के विषय में अनर्थक बातों का उधेद्वुन करना उनके लिए नितान्त अनावश्यक है ।

आध्यात्मिक विषयों में बुद्ध के मौनावलम्बन का क्या रहस्य है ? इसका कारण ऊपर बतलाया गया है कि ये विषय अव्याकृत हैं—शब्दतः इनका विवरण

१ द्रष्टव्य चूलमालुक्कसुत्त (६३), मज्झिम निकाय (अनु०) पृ० २५१-५३

२ द्रष्टव्य पोट्टपादसुत्त (११९), दीघनिकाय पृ० ७१ ।

३ दीघनिकाय पृ० २८ ।

मही हो सकता। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसारहिंसन से इसके अन्त्य कारण भी पताचाने जा सकते हैं। बुद्धमम मध्यम प्रतिपदा—मध्यम मार्ग—का प्रतिनिधि है वह दो अन्तों की ओरकर मध्य मार्ग पर चलना धैर्यकर मानता है। उन प्रश्नों का उत्तर यदि सत्प्रयत्न बिना ज्ञान, तो यह होगा शारवस्तवाद (आत्मा को स्निग्ध मानने वाले व्यक्तिों का मत) और यदि निवेद्यात्मक दिया जाय तो यह होगा लघ्वेष्टवाद (आत्मा को मरकर मानने वालों का मत)। बुद्ध को दोनों ही मत अमान्य हैं^१। ऐसी दशा में उत्तर देने से असम्भव का ही प्रतिपादन होता। बौद्ध समझकर बुद्ध ने प्रतिप्रश्नों के उत्तर के अन्तर पर सीमा प्रहण किया होगा या चलना अनुचित नहीं प्रतीत होती।

आध्यात्मिक तत्त्वों की ओर प्राचीन विद्वानों ने कभी मीमांसा की है। उन्हीं के विषय में बुद्ध का मीन होना कम आश्चर्य की घटना नहीं है। धार्मिक अर्थ में यह एक अवरजमरी बात है। इसमें मीमांसा आधुनिक तथा बुद्ध के मीमांसा प्राचीन विद्वानों ने अपने अपने अर्थ से भिन्न रूप से की है। वास्तविकता का प्रश्न यह है कि क्या बुद्ध ने इन तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त ही न किया कारण का? क्या वे इन विषयों में निश्चिन्त अमिच्छा थे? याबना यदि वे अमिच्छा थे तो उन्होंने इसके स्पष्ट उत्तर देने में मौनमात्र का आग्रह क्यों किया? बोधिसूत्र के बीच तीन प्रश्नोत्तर सगले पर बुद्ध को सम्पूर्ण राजोक्ति प्राप्त हुई थी। अतः उनके हृदय में इन आवश्यक विषयों का अज्ञान क्या हुआ था वह मानना विरवाग्म्याग्य प्रतीत नहीं होता। बुद्ध निःस्पृह पुरुष थे। उन्होंने ज्ञान-भूयस्वर शिष्यों की आराध्य करने के लिए अनश्वर तत्त्वों का उपदेश दिया ईश्वर भी विचाररहित पुरुष मानने के लिए तबारा नहीं हो सकता। धर्म के गमन उन्होंने अपने प्रिय शिष्य अजगह से सज्जतः स्वीकार किया था कि उन्होंने आत्मा तत्त्व तथा बाह्य तत्त्वों में बिना अन्तर बिने (अन्तर अबाहिर कथा) ही राज्य का उपदेश दिया है। अपने शिष्यों में उन्होंने सत्य के विषय -

१ अर्थात् शारवस्तवादो मास्त्यिपुण्येदवरामम् ।

तस्यावस्तिग्वनास्तानि बाधयेत् विवक्षता ॥

(माध्यमिक अर्थ १५१)

२ शारवस्त्येष्टेद्विमुक्तं तत्त्वं सौगतम्यतम् ॥ (अर्थ वक्तव्य ४ १२)

में कोई बात छिपा नहीं रखी है। अतः उनके ऊपर अज्ञान या जान-चूककर किसी बात को छिपा रखने का दोष लगाना सरासर मिथ्या है।

प्रश्न के चार प्रकार

बुद्ध के मौनावलम्बन की मीमांसा मिलिन्द प्रश्न में बड़े सुन्दर ढंग से की गई है। मिलिन्द को भी ऐसा ही सन्देह था जैसा हमने ऊपर निर्देश किया है। इसके उत्तर में नागसेन का कहना था—भगवान् ने यथार्थ में आनन्द से कहा था कि बुद्ध बिना कुछ छिपाये घमोंपदेश करते हैं और यह भी सच है कि मालुक्यपुत्र के प्रश्न पर उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया था। किन्तु न तो यह अज्ञान के वश था और न छिपाने की इच्छा के कारण था। प्रश्न चार प्रकार के होते हैं —

(१) एकांशव्याकरणीय—(जिनका उत्तर सीधे तौर से दिया जा सकता है) जैसे 'क्या प्राणी जो उत्पन्न हुआ है मरेगा ?' उत्तर हों ।

(२) विभज्य-व्याकरणीय—(जिनका उत्तर विभक्त करके दिया जाता है) जैसे—'क्या मृत्यु के अनन्तर प्रत्येक प्राणी जन्म लेता है' ? उत्तर—क्लेश से विमुक्त प्राणी जन्म नहीं लेता और क्लेशयुक्त प्राणी जन्म लेता है ।

(३) प्रतिपृच्छाव्याकरणीय—(जिनका उत्तर एक दूसरा प्रश्न पूछकर दिया जाता है) । जैसे—'क्या मनुष्य उत्तम है या अधम है ?' इस पर पूछना पड़ेगा कि किसके सम्बन्ध में ? यदि पशुओं के सम्बन्ध में यह प्रश्न है तो मनुष्य उनसे उत्तम है । यदि देवताओं के सम्बन्ध में यह प्रश्न है तो वह उनसे अधम है ।

(४) स्थापनीय—वे प्रश्न जिनका उत्तर उन्हें विल्कुल छोड़ देने से ही दिया जाता है । जैसे—क्या पञ्च-स्कन्ध तथा जीवित प्राणी (सत्त्व) एक ही हैं । इस प्रश्न को छोड़ देने में ही इसका उत्तर दिया जा सकता है, क्योंकि बुद्ध धर्म के अनुसार कोई सत्त्व नहीं है । मालुक्यपुत्र के प्रश्न इसी चतुर्थ कोटि के थे । इसीलिए भगवान् बुद्ध ने उनका उत्तर शब्दतः नहीं दिया, प्रत्युत मौन का आग्रह करके ही दिया^१ ।

१ मिलिन्द प्रश्न (हिन्दी अनु० पृ० १७८—१८०) । इन चार प्रश्नों का निर्देश अभिधर्मकोश तथा लकावतारसूत्र में इस प्रकार है—

नहीं हो सकता। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार तब से इसके अन्य कारण भी बतलाये जा सकते हैं। बुद्धवर्म मध्यम प्रतिपदा—मध्यम मार्ग—का प्रतिनिधि है वह ही अन्तों की जोड़कर मध्य मार्ग पर चलना भौतिक मरणात्ता है। उन प्रश्नों का उत्तर यदि उत्तरमन्त्र दिया जाय तो वह होगा शारकत्वाद् (आत्मा को निरूप्य मानने वाले व्यक्तिों का मत) और यदि विवेकमन्त्र दिया जाय तो वह होगा उच्छेदत्वाद् (आत्मा को परस्पर मानने वालों का मत)। बुद्ध की दोनों ही मत असामान्य हैं। ऐसी दशा में उत्तर देने से असत्य का ही प्रतिपादन होता। नही समझकर बुद्ध ने अतिप्रश्नों के उत्तर के अन्तर पर मौन प्रकट किया होगा, यह कहना अनुचित नहीं प्रतीत होती।

आध्यात्मिक तत्त्वों को लेकर प्राचीन विद्वानों ने कभी मौमांसा की है। उन्हीं के विषय में बुद्ध का मौन इतना कम आश्चर्य की घटना नहीं है। बार्मिक जयद में वह एक अन्तरजमरी बात है। इसकी मौमांसा आधुनिक तथा बुद्ध के मौम्य प्राचीन विद्वानों ने अपने अपने हय से भिन्न रूप से की है। उच्छेदमन्त्र का अर्थ यह है कि क्या बुद्ध ने इन तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त ही न किया कारण का? क्या वे इन विषयों से निरान्त अनभिज्ञ थे? अबका यदि वे अभिज्ञ थे तो उन्होंने इसके स्पष्ट उत्तर देने में मौनमन्त्र का आश्रय क्यों लिया? बोधिसत्व के नीचे तीन समाधि लगाने पर बुद्ध को सम्मूह समोधि प्राप्त हुई थी। अतः उनके हृदय में इन आश्चर्यक विषयों का अज्ञान क्या हुआ था यह मानना निरासम्भोज्य प्रतीत नहीं होता। बुद्ध निःस्पृह पुरुष थे। उन्होंने ज्ञान-बुद्धि-शिक्षा को आकाङ्क्ष करके लिए अज्ञान तत्त्वों का उपदेश दिया एवं कई भी विचाररहित पुरुष भावों के लिए तैयार नहीं हो सकते। मरते समय उन्होंने अपने प्रिय शिष्य आलम्ब से स्पष्ट स्वीकार किया था कि उन्होंने आन्तर तत्त्व तथा बाह्य तत्त्वों में बिना अन्तर किये (अन्तर अन्तरि कथा) ही सात्य का उपदेश दिया है। अपने शिष्यों से उन्होंने सत्य के विषय

१ अस्तीति शारकत्वाद्वा नास्तीत्युच्छेदवर्त्यम्।

तस्मादस्तित्वनास्तित्वे बाधयितुं विवक्ष्यम् ॥

(माध्यमिक चरित्र १५११)

२ शारकत्वेच्छेदमित्युक्तं तत्त्वं सौम्यसम्भूतम् ॥ (अज्ञान मन्त्र ४४ १२)

निमित्त गए। ब्रह्म के विषय में पूछा। इस पर बाध विल्कुल मौन रहे। दूसरी बार पूछा, फिर भी वही मौनभाव। तीसरी बार पूछा, फिर भी वही मौनमुद्रा। इस बार बाध ने कहा कि मैं बारबार आपके प्रश्न का उत्तर दे रहा हूँ^१ आप उसे समझ नहीं रहे हैं। यह आत्मा उपशान्त है^२। शब्दतः उसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती। तूष्णींभाव के द्वारा सत्य की व्याख्या का रहस्य आचार्य शंकर के इस प्रसिद्ध पद्य में भी हमें उपलब्ध होता है—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा ।

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु चिह्नसंशयाः ॥

(दक्षिणामूर्तिस्तोत्र)

आश्चर्य की बात है कि वटवृक्ष के नीचे वृद्ध शिष्य है तथा गुरु का व्याख्यान मौन है और शिष्य का सशय छिन्न हो गया है ।

अनक्षर तत्त्व

बौद्ध ग्रन्थों में इसी प्रकार के विचार अनेकत्र उपलब्ध होते हैं। महायान-विश्वक (श्लोक १) में नागार्जुन ने परमतत्त्व को 'वाचाऽवाच्यम्' 'वचन के द्वारा अकथनीय' कहा है। बोधिचर्यावतार (पृ० ३६५) ने बुद्धप्रतिपादित धर्म का अनक्षर (अक्षरों के द्वारा अप्रतिपाद्य) वतलाया है—अनक्षरधर्म का श्रवण कैसे हो सकता है ? उसका उपदेश कैसे हो सकता है ? उस अनक्षर के ऊपर अनेक धर्मों का समारोप करके ही उसका श्रवण तथा उपदेश लोक में किया जाता है^२ ।

अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का ।

श्रूयते देश्यते चापि समारोपादनक्षरः ॥

इसी प्रकार लकावतार सूत्र (पृ० १४३-१४४) में अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि बुद्ध ने कभी उपदेश ही नहीं दिया। अवचन बुद्धवचनम् । जिस

१ ब्रूम खलु त्वत्तु न विजानासि । उपशान्तोऽयमात्मा (शां० भा० ३।२।१७)

२ वेदान्त का भी यही कथन है कि ब्रह्म स्वयं निष्प्रपञ्च है परन्तु अध्या-रोप तथा अपवाद के द्वारा उसका प्रपञ्चन (व्याख्यान) किया जाता है। इन दोनों का सहारा लिए बिना उसका व्याख्यान ही नहीं हो सकता। 'अध्यारोपापवादाम्या निष्प्रपञ्च प्रपञ्च्यते ॥'

वेद का मौनानुसम्भन

अनंतरतत्त्व के विषय में वैदिक ऋषिओं ने जिस मौन मार्ग का अनुसम्भन किया था, तथापि वे उसी का अनुगमन किया। अतएव तथा इसके मूल कारण के स्वल्प का निर्णय करना इत्यादि कुछ है कि उनके विषय में वैदिक ऋषिओं ने यौनानुसम्भन ही अवसर बतलाया है। 'केन उपनिषद्' ने निर्दिष्ट मन्त्र के विषय में स्पष्ट कहा है कि जो वाणी से प्रभावित नहीं होता, परन्तु जिससे वाणी प्रभावित होती है, उसे ही मन्त्र जानो। जिस वैराग्य से अविच्छिन्न वस्तु को लोक उपसत्ता करता है वह मन्त्र नहीं है (१।४)। उस निर्दिष्ट मन्त्र तक नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती, वाणी नहीं जाती, मन नहीं जाता। अतः जिस प्रकार इस मन्त्र का उपदेश शिष्य को करना चाहिए, वह हम नहीं जानते। वह विदित वस्तु से अन्व है तथा अविविक्त से परे है, ऐसा हमने पूर्व पुरुषों से सुना है जिन्होंने हमारे प्रति उसका अनुसम्भन किया। ऐतिह्य उप (२।४१) का स्पष्ट कथन है कि मन्त्र के साथ कथन नहीं जाकर सीधे जाते हैं वही वह परमतत्त्व है (वही वाणी निर्वर्त्यते अप्राप्य भवता एव) इत्यादि मन्त्र में उस परमतत्त्व के लिए मेति, मेति (वह नहीं, वह नहीं) का प्रयोग उपलब्ध होता है। अतएव शंकर ने शाङ्करभाष्य (३।२।१) में 'आह्वयि' ऋषि के विषय में एक प्राचीन उक्ति उद्धृत की है। आह्वयि ऋषि याज्ञ ऋषि के पक्ष मन्त्र के व्याख्यान के

एवाचीन विभागेन प्रकृतः स्वामनीवत् ।

व्याहृतं मरुतोत्पत्तिं विदितप्रमाण्यद्विचरत् ॥

(अभि वेद ५।२२)

अनुविर्भ व्याकरणमेवांशं परिपुष्टुनम् ।

विमर्शं स्वामनीवं च तीर्थवादनिचारणम् ॥

(संघ सू २।१०२)

१ म तत्र अनुविर्भति, न अप्रपुष्टुति को मन्त्र न विद्ये न विश्वमीमो वपास्तुतिप्यार ।

अन्यत्र तद् निदिष्टत्वात् अविविक्तत्वात् ।

इति शुभम पूर्णं ये नस्तद् व्याख्ययिरे ।

(वेद १।१)

निमित्त गए। ब्रह्म के विषय में पूछा। इस पर बाध विलकुल मौन रहे। दूसरी बार पूछा, फिर भी वही मौनभाव। तीसरी बार पूछा, फिर भी वही मौनमुद्रा। इस बार बाध ने कहा कि मैं बारबार आपके प्रश्न का उत्तर दे रहा हूँ ? आप उसे समझ नहीं रहे हैं। यह आत्मा उपशान्त है^१। शब्दतः उसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती। तूष्णीभाव के द्वारा सत्य की व्याख्या का रहस्य आचार्य शंकर के इस प्रसिद्ध पद्य में भी हमें उपलब्ध होता है—

चित्र घटतरोमूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु चिच्छन्नसंशयाः॥

(दक्षिणामूर्तिस्तोत्र)

आश्चर्य की बात है कि घटवृक्ष के नीचे वृद्ध शिष्य है तथा गुरु का व्याख्यान मौन है और शिष्य का संशय छिन्न हो गया है।

अनक्षर तत्त्व

बौद्ध ग्रन्थों में इसी प्रकार के विचार अनेकत्र उपलब्ध होते हैं। महायान-विंशक (श्लोक १) में नागार्जुन ने परमतत्त्व को 'वाचाऽवाच्यम्' 'वचन के द्वारा अकथनीय' कहा है। बोधिचर्यावितार (पृ० ३६५) ने बुद्धप्रतिपादित धर्म को अनक्षर (अक्षरों के द्वारा अप्रतिपाद्य) बतलाया है—अनक्षरधर्म का श्रवण कैसे हो सकता है ? उसका उपदेश कैसे हो सकता है ? उस अनक्षर के ऊपर अनेक धर्मों का समारोप करके ही उसका श्रवण तथा उपदेश लोक में किया जाता है^२।

अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।

श्रूयते देश्यते चापि समारोपादनक्षरः॥

इसी प्रकार लकावतार सूत्र (पृ० १४३-१४४) में अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि बुद्ध ने कभी उपदेश ही नहीं दिया। अवचन बुद्धवचनम्। जिस

१ ब्रूम खलु त्वत्तु न विजानासि। उपशान्तोऽयमात्मा (शां० भा० ३।२।१७)

२ वेदान्त का भी यही कथन है कि ब्रह्म स्वयं निष्प्रपञ्च है परन्तु अध्या-रोप तथा अपवाद के द्वारा उसका प्रपञ्चन (व्याख्यान) किया जाता है। इन दोनों का सहारा लिए बिना उसका व्याख्यान ही नहीं हो सकता। 'अध्यारोपापवादाम्या निष्प्रपञ्च प्रपञ्च्यते ॥'

रात्रि में से पैदा हुए और जिस दिन उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया वह दोनों के बीच में उन्होंने किसी उपदेश का प्रकाशन नहीं किया। जिस प्रकार कोई मनुष्य किसी मार्ग से नगर में प्रवेश कर बाहों की विविधता देखता है वह मार्ग उसके द्वारा निर्मित नहीं होता, प्रसूत वह पूर्व से ही उपलब्ध होता है। उसी प्रकार बुद्ध का मार्ग पूर्वनिर्मित है उनके द्वारा उद्घातित नहीं होता। बुद्ध के द्वारा अभियोग तत्त्व 'भूतता' अथवा 'तत्त्वता' (सत्यता) है जो सदा विद्यमान रहता है^१।

आचार्य मागार्हून ने अपने 'त्रिरुपमस्तव' में भी इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की है—हे विभो आपने एक भी मखर का उच्चारण नहीं किया है परन्तु अपने विनेयजनों को ब्रह्म की बर्णना कर समुद्र कर दिया है—

नोबाहुसं त्वया किञ्चिदेकमप्यसुरं विभो ।

वृत्तान्तं विनेयजनो धर्मधर्मेण तर्पितः ॥ ७ ॥

आर्य अर्हन्त ने महान्याय सत्रासवार^२ (१२।२) में कहा है कि भगवान् बुद्ध ने किसी धर्म की प्रशंसा नहीं की। धर्म तो अस्वात्मवेद्य है—अनेक प्राणी के अनुभव की वस्तु है। परन्तु कुछ-उचित रूप से विहित धर्मों के द्वारा समस्त जनता को बुझाने अपनी ओर आकृष्ट किया है —

धर्मो नैव न प्रेरितो भगवता प्रत्यात्मवेद्यो यतः ।

आकृष्टा जनता न सुखविहितैर्धर्मैः स्वकी धर्मताम् ॥

इसी कारण साम्प्रतिकमत के उत्कृष्ट व्याख्याता आचार्य कन्नकीरति ने भी संक्षेप में तत्त्व की बात कही है कि धर्मों के सिद्ध परमार्थ मौनरूप है। परमार्थ

१ एवमेव महामते वग्मया तेष तत्त्वान्तोर्ध्वयस्ते स्मिन्तवेष धर्मता धर्मस्मिन्तिता धर्मनिवासता तत्त्वता, भूतता, उत्पत्ता ।

वस्तु न तस्यां विगतो वस्तु न परिमृष्टः ।

एतस्मिन्मन्तरे वारित मया निमित्तं अभ्यसितम् ॥

(सत्रासवार पृ १४४)

२ अत्रयवज्ज ने उत्तररत्नामली में इसे उद्धृत किया है। (अष्टम्य अत्रयवज्ज संस्कृत १ २२ पदोक्त)

हि आर्याणा तूणीभाव (माध्यमिक वृत्ति पृ० ५६) । लकावतार का कहना है—
न मौने तथागतैर्भाषितम् । मौना हि भगवन्त तथागता । तथागत (बुद्ध) सदा
मौन थे । उन्होंने किसी बात का कथन नहीं किया ।

इन सब कथनों के अनुशीलन से किसी भी आलोचक को यह प्रतीत हो सकता
है कि बुद्ध का किन्ही आध्यात्मिक तत्त्वों के व्याख्यान में मौनावलम्बन उनके
अज्ञान का सूचक नहीं है और न ज्ञात वस्तु के अप्रकटित रखने का भाव है,
प्रत्युत परमार्थ के 'अनक्षर' होने के कारण उनका तूणीभाव नितान्त युक्तियुक्त
है । इस विषय में उन्होंने प्राचीन ऋषियों के दृष्टान्त तथा परम्परा को ही अंगीकृत
किया है ।



पष्ठ परिच्छेद

आर्य सत्य

अर्थम्परात्म की दृष्टि से बुद्ध ने चार सत्यों का पता लगाया है। इनही सत्यों के सम्पूर्ण ज्ञान के कारण उन्हा एबोधि प्राप्त हुई। इन सत्यों का नाम 'आर्य सत्य' है। आर्यात वह सत्य जिन्हें आर्य (आर्य) लोग ही असीमोति जान सकते हैं। सत्यों की संख्या अमन्त है। परन्तु आत्यमिक महत्त्वशाली होने के कारण ने सत्य सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। ब्रह्मचर्य के अनुसार इन सत्यों को 'आर्य' करने का अभिप्राय यह है कि आर्य ब्रह्मचर्यजन ही इन सत्यों के तह तक पहुँच सकते हैं। पामर जन जोते हैं, मरते हैं तथा दुःखमय जगत् का प्रतिक्षण अनुभव भी करते हैं, परन्तु इन सत्यों को खोज निश्चयने में वे ब्रह्मचर्य समर्थ नहीं होते। क्लेश बोरा हयेशी पर रहने से फिजी भी तरह की तकलीफ नहीं पैदा करत, परन्तु आर्य में पचते ही पीडा उत्पन्न करता है। पामर जन हयेशी के समान हैं, तथा आर्यजन आर्य की तरह हैं। आर्यों के हृदय में ही इन दुःखों से आजात पहुँचता है, परन्तु साधारण जन सत दिन उन्हीं में पचते मरते हैं, परन्तु फिर मा उनके हृदय में इनके रहस्य समझने की योग्यता नहीं होती।

आर्य सत्य चार हैं—

- (१) दुःखम्—इस प्रकार का जीवन दुःख से परिपूर्ण है।
- (२) समुत्पत्तिम्—इस दुःख का कारण विद्यमान है।
- (३) निरोधम्—इस दुःख से वास्तविक मुक्ति मिलती है।
- (४) निरोधपामिणी प्रतिपद्—दुःखों के नाश (निरोध) के लिए वास्तव माग (प्रतिपद्) है जिसके अनुसरण करने से जीव संसार में विद्यमान दुःख का

१. अर्थापेक्षम मनेव हि करतव्यसर्वस्य न निश्चये पुमिः ।

अभिप्रायं तु तदेव हि कथयत्यर्थं न पीड्य न च

करतव्यसर्वतो वातो न वेति मन्त्रारुन्धत्ययम् ।

असि सध्यास्तु निजम् ऐनेनेडिबते वागम् ॥

(आत्यमिक आर्यस्य दृष्टि पु० ४०६)

सर्वथा तथा सर्वदा निरोध कर सकता है। कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध ने इन सत्त्यों का आविष्कार किया, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इन तथ्यों का उद्घाटन बहुत पहले ही भारतीय आध्यात्मिक वेत्ताओं ने कर दिया था। व्यास^१ तथा विज्ञानभिक्षु^२ का स्पष्ट कथन है कि अध्यात्मशास्त्र चिकित्साशास्त्र के समान चतुर्व्यूह है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोगहेतु (कारण), आरोग्य (रोग का नाश) तथा भैषज्य (रोग को दूर करने की दवा) है, उसी भौति दर्शनशास्त्र में ससार (दुःख), ससारहेतु (दुःख का कारण), मोक्ष (दुःख का नाश) तथा मोक्षोपाय, ये चार सत्य माने जाते हैं। जिस प्रकार वैद्य अपनी दवा के प्रयोग से रोगी के रोग का नाश कर देता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी भी उपाय वतलाकर ससार के दुःख नाश कर देता है। वैद्यक शास्त्र की इस समता के कारण बुद्ध महाभिक्षु—वैद्यराज—वतलाये गये हैं। बौद्ध साहित्य में अनेक सूत्रग्रन्थ हैं जिनमें बुद्ध को इसी अभिधान से सकेत किया गया है^३।

(क) दुःखम्

ससार का दिन-प्रतिदिन का अनुभव स्पष्टतः वतलाता है कि यहाँ सर्वत्र दुःख का राज्य है। जिधर दृष्टि डालिए, उधर ही दुःख दिखलाई पड़ता है। इस बात का अपलाप कथमपि नहीं हो सकता है। दुःख की व्याख्या करते समय तथागत का कथन है—

इदं खो पन भिक्खवे दुक्खं अरिय सच्चं । जातिं पि दुक्खा, जरापि दुक्खा
मरणाप्पि दुक्खं, सोक-परिदेव-दोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो

१ यथा चिकित्साशास्त्र चतुर्व्यूह—रोगो, रोगहेतु, आरोग्य, भैषज्यमिति ।
एवमिदमपि शास्त्र चतुर्व्यूहम्—तद् यथा ससार ससारहेतु मोक्षो मोक्षोपाय इति ।
(व्यासभाष्य २।१५)

२ साख्य प्रवचनभाष्य पृ० ६ ।

३ 'भैषज्य गुरु' नामक बुद्ध की उपासना चीन तथा जापान में सर्वत्र प्रसिद्ध है। इस उपासना का प्रतिपादक सूत्र है 'भैषज्यगुरु वैदूर्यप्रभराज सूत्र', जिसका अनुवाद चीनी तथा तिब्बती भाषा में उपलब्ध होता है। इसमें बुद्ध के १२ प्रणिधान (व्रत) का तथा धारिणी का वर्णन है। सौशान्यवश इसका मूल संस्कृत भी अभी प्रकाशित हुआ है। (दृष्टव्य Dutt—Gilgit Mss Vol I, 1940, Calcutta)

दुःखो विमेषि विषयगो दुःखो नमिच्छ न तमसि तमि दुःख संस्मितेन
पथुपादानमन्यथापि दुःखम् ॥

हे मित्रवन् दुःख प्रथम ध्यानस्थ है। जन्म भी दुःख है। इन्द्रावस्था भी
दुःख है। मरण भी दुःख है। शोक, परिदेवता धीर्मान्स्म (उपाधानता) उपमास
(अमास ईरानो) सब दुःख है। अग्नि वस्तु के साथ समागम दुःख है। अग्नि
के साथ विरग भी दुःख है। ईषित वस्तु का न मिलना भी दुःख है। संशय
में रह सकते हैं कि रज्ज के द्वारा उत्पन्न पौर्वोक्तम्भ (रज्ज केदना छा सस्मर
तथा विज्ञान) भी दुःख है। आरम्भ है कि जगत् के अनेक कार्य अनेक पद्यों
में दुःख की सत्ता बनी हुई है। अतएव विर विर के समागम को अपवर्जन
का प्रयास करने मान कर निरन्तर आनन्दमय रहती है। इस अन्तर में भी
एक न एक दिन विरता होता अन्तरात्मिकी है। विर शब्द के लिए मानवमात्र
इतना परिश्रम करता है वसन्ती भी प्राप्ति निरन्तर अन्तरात्मिक है। अर्थ के उपानम
में दुःख रसज में दुःख तथा व्यज में भी दुःख है। तब अन्तरात्मिक अन्तरात्मिक कहे
बहा ज्ञान ! अन्तरात्मिक का अन्तर निरन्तर अन्तरात्मिक है कि वह संसार अन्तरात्मिक दुःख के
समागम है, तब इसमें इसी क्या हो सकती है ? और आनन्द और सा पदार्थ ज्ञान !

को तु हासो किमानन्वो निर्वर्ण पञ्चलिते सति ।

(अन्तरात्मिक; पद्या १४१)

यह संसार सब-जगत् के अन्तरात्मिक अन्तर के समागम है, परन्तु यह सब इस
स्वरूप को न जानकर ही तरह तरह के भोग विरास की सामग्री एकत्र करते हैं,
परन्तु इससे क्या होता है ? देखते देखते वस्तु की मीमांसा के समागम विरास सौम्य
का अन्तरात्मिकी पर शोकमय समता है। उसके अन्तरात्मिकी विर मित्र होकर विर
करते हैं। परिश्रम तथा अन्तरात्मिक सौम्य की गई मीमांसा-सामग्री दुःख न पैदाकर दुःख
ही पैदा करती है। अतः इस संसार में अन्तरात्मिक दुःख ही प्रतीत होता है।
साधारण सब इस अन्तरात्मिक अन्तरात्मिक करते हैं, परन्तु उससे अन्तरात्मिक नहीं होते।
साधारण पदार्थ समझकर उसके अन्तरात्मिकी विर अन्तरात्मिकी है। परन्तु दुःख का
अन्तरात्मिकी निरन्तर सत्ता है—अन्तरात्मिकी अन्तरात्मिक है। महर्षि पञ्चलित के स्पष्ट
कहा है—दुःखीय सर्व विमेषिज (योगसूत्र २।१५) विमेषी दुःख की दृष्टि में
यह समझ संसार ही दुःख है। दुःख की भी नहीं दृष्टि की।

(ख) दुःखसमुदयः

द्वितीय आर्य सत्य है—दुःखसमुदय । समुदय का अर्थ है—कारण । अतः दूसरा सत्य है—दुःख का कारण । बिना कारण के कार्य उत्पन्न नहीं होता । कार्य-कारण का नियम अचछेद्य है । जब दुःख कार्य है, तब उसका कारण भी अवश्य ही होगा । दुःख का हेतु है—तृष्णा । भगवान् बुद्ध के शब्दों में^१—

‘इदं खो पन भिक्खवे दुक्खसमुदय अरियमच्च । योय तण्हा पोनव्भविका नन्दिरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी सेयमीद कामतण्हा, भवतण्हा विम्वतण्हा’ ।

हे भिक्षुगण, दुःखसमुदय दूसरा आर्यसत्य है । दुःख का वास्तव हेतु तृष्णा है जो बारवार प्राणियों को उत्पन्न करती है (पौनर्भविका), विषयों के राग से युक्त है तथा उन विषयों का अभिनन्दन करनेवाली है । यहाँ और वहाँ सर्वत्र अपनी तृप्ति खोजती रहती है । यह तृष्णा तीन प्रकार की है—कामतृष्णा, भव-तृष्णा तथा विभवतृष्णा । सक्षेप में दुःख-समुदय का यही स्वरूप है ।

दुःख की उत्पत्ति का कारण है तृष्णा-प्यास-विषयों की प्यास । यदि विषयों के पाने की प्यास हमारे हृदय में न हो, तो हम इस ससार में न पड़े और न दुःख भोगें । तृष्णा सबसे बड़ा बन्धन है जो हमें ससार तथा ससार के जीवों से बाँधे हुए है । ‘धीर विद्वान् पुरुष लोहे, लकड़ी तथा रस्सी के बन्धन को हट नहीं मानते । वस्तुतः हट बन्धन है—सारवान् पदार्थों में रक्त होना या मणि, कुण्डल, पुत्र तथा स्त्री में इच्छा का होना’ । धम्मपद का यह कथन^२ विलकुल ठीक है । मक्खी जिस प्रकार अपने ही जाल बुनती है और अपने ही उसी में बँधी रहती है । ससार के जीवों की दशा ठीक ऐसी ही है^३ । वे लोग तृष्णा से नाना प्रकार के विषयों में राग उत्पन्न करते हैं और इन्हीं राग के बन्धन में, जो उनके ही

१ मज्झिमनिकाय—महाहत्थिपदोपमसुत्त ।

२ न त दल बन्धनमाहु धीरा, यदायम दारुज पर्वज च ।

सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु, पुत्तसु दारेसु च या अपेक्खा ॥

(धम्मपद, ३४५ गाथा)

३ ये रागरत्ता नु पतति सीत, सय क्त मक्खटका च जाल ।

(धम्मपद ३४७ गाथा)

उत्पन्न होते हुए हैं, अपने को बॉध कर दिनरात बन्धन का बन्ध ठहरते हैं। वह तुष्णा तीन प्रकार की उपर कथार्यार्थ गई है—

(१) कामतुष्ण्य—जो तुष्णा नाश प्रकार के किस्मों को कामना करती है।

(२) संचतुष्ण्य—संच = संसार या बन्धन। इस संसार को उत्पन्न करने रखने वाली तुष्णा। इस संसार की स्थिति के कारण होती है। हमारी तुष्णा ही इस संसार को उत्पन्न करती है। संसार के होने पर ही हमारी सुखवासना परिपूर्ण होती है। अतः इस संसार की तुष्णा भी तुष्णा का ही एक प्रकार है।

(३) विमल तुष्ण्य—'विमल' का अर्थ है कण्ठोद, संसार का नाश। संसार के नाश की इच्छा सभी प्रकार बुद्ध उत्पन्न करती है। विष प्रकार उसके शक्ति होना को अमिश्रण। जो शीघ्र संसार को नाशवान् समझते हैं, वे आर्वाक्यन्व पणिक बनकर भ्रम छोड़ भी ब्रह्म पंथी हैं। जीवन को सुखमय बनाना ही सबका ध्येय होता है। वे इस विमला से उल्लिख भी विचलित नहीं होते कि उन्हें सब सुखसा पड़ेगा। जब यह वैद मस्म की डेर बन जाती है, तब जीवन किसी भ्रम सुखल आता है। संसार के उन्मूलन का यही धर्म व्यवसाय है जिसके उपर आर्वाक्यन्वियों का वह मूलमग्न व्यवस्थित है—

पावकजीवेत् सुखं जीवेत्, भ्रमं कृत्वा भूतं पिबेत् ।

मस्मीमूत्रय वेदस्य पुनरुत्पन्नं भूतं ॥

वही तुष्णा भगवत् के समस्त निरोह तथा विरोध को बनाने है। इसी के कारण रक्षा राज्य से स्वच्छ है। सज्जित सज्जित से स्वच्छ है। आश्रम आश्रम से स्वच्छ है। मात्र पुत्र से स्वच्छ है। और लक्ष्मी भी मात्र से स्वच्छ है। अग्नि। समस्त पापकर्मों का विनाश वही तुष्णा है^१। और इसीलिए बोरी करता है; कलुष इसी के लिए परजीवामम करता है। वही इसी के लिये परोक्षों को ब्रह्म है। तुष्ण-मूलक वह संसार है। तुष्णा ही दुःख का कारण है। इसी का उन्मूलन करना प्रत्येक ऋषी का धर्म्य है।

(ग) दुःखविरोध

दुःखीय आनन्दत्व का नाम 'दुःखविरोध' है। 'विरोध' शब्द का अर्थ भग्न का त्याग है। वह राज्य कथार्यार्थ है कि दुःख का नाश होता है। बुद्ध को उत्पन्न

घतलाकर ही बुद्ध की शिक्षा का अन्त नहीं होता, प्रत्युत उनका उपदेश है कि इस दुःख का अन्त भी है । बुद्ध ने भिक्षुओं के सामने इस सत्य की इस प्रकार व्याख्या की—

‘इदं खो पन भिक्खवे दुक्खनिरोधं अरियसच्चं । सो तस्सायेव तण्हाय असेस-
विरागनिरोधो चागो पटिनिस्सागो मुत्ति अनालयो ।’

अर्थात् दुःखनिरोध आर्यसत्य उस तृष्णा से अशेष-सम्पूर्ण वैराग्य का नाम है, उस तृष्णा का त्याग, प्रतिसर्ग, मुक्ति तथा अनालय (स्थान न देना) यही है ।

बुद्धधर्म की महती विशेषता है कार्यकारण के अटूट सम्बन्ध की स्वीकृति । जगत् की घटनाओं में यह सम्बन्ध सर्वत्र अनुस्यूत है । ऐसी कोई भी घटना नहीं है जिसके भीतर यह नियम जागरूक न हो । दुःख के कारण का ऊपर विवरण दिया गया है । उस कारण को यदि नष्ट कर दिया जाय, तो कार्य आपसे आप स्वतः नष्ट हो जायगा । अतः कार्य कारण का सम्बन्ध ही इस सत्य की सत्ता का पर्याप्त प्रमाण है ।

दुःखनिरोध की ही लोकप्रिय सज्ञा ‘निर्वाण’ है । तृष्णा के नाश कर देने से इसी जीवन में, जीवित काल में ही, पुरुष उस अवस्था पर पहुँच जाता है जिसे निर्वाण के नाम से पुकारते हैं । निर्वाण के विषय में बुद्धधर्म के सम्प्रदायों में बड़ा मतभेद है जिसकी चर्चा आगे की जायगी । यहाँ इतना ही समझना पर्याप्त होगा कि ‘निर्वाण’ जीवन्मुक्ति का ही बौद्ध संकेत है । ‘अगुत्तर निकाय’ में निर्वाण-प्राप्त पुरुष की उपमा शैल से दी गई है । प्रचण्ड भूभावात पर्वत को स्थान से च्युत नहीं कर सकता, भयकर आँधी के चलने पर भी पर्वत एकरस, अडिग, अच्युत बना रहता है । ठीक यही दशा निर्वाणप्राप्त व्यक्ति की है^१ । रूप, रस, गन्धादि विषयों के थपेड़े उसके ऊपर लगातार पड़ते रहते हैं, परन्तु उसके शान्त

१ सेलो यथा एकधनो वातेन न समीरति ।

एव रूपा, रसा, सदा, गन्धा, फस्सा च केवला ॥

इद्वा धम्मा अनिद्रा च, न पवेधेन्ति तादिनो ।

ठित चित्तं विप्पमुत्तं वस यस्तानुपस्सति ॥

चित्त को किसी प्रकार भी धुँस्य नहीं करते। आश्रमों से निरहित होकर वह पुनः अग्रमंथ शान्ति का अनुभव करता है।

(घ) बुध्दनिरोधगामिनी प्रतिपद्

प्रतिपद् का अर्थ है—माग। यही बहुत आमसम्भ है जो बुध्दनिरोध तक पहुँचातबाल्मा माग है। यमसंन्यस्तान् यद्वि है। ती उपर्युक्त माग भी अग्रमंथ होय। निर्वाण प्रत्येक प्राणी का गन्तव्य स्थान है। जो उपर्युक्त दिए माग की कल्पना श्री ग्यायमपठ है। इस माग का नाम 'अग्रमिग माग' है। आठ अंग ये हैं—

(१) सम्पत्तृष्टि	}	प्रज्ञा
(२) सम्पत्तृष्टि		
(३) सम्पत्तृष्टि	}	शक्ति
(४) सम्पत्तृष्टि		
(५) सम्पत्तृष्टि		
(६) सम्पत्तृष्टि	}	समाधि
(७) सम्पत्तृष्टि		
(८) सम्पत्तृष्टि		

अग्रमिग माग—बुध्दनिरोध की आश्रमपर्याय का अर्थ साधन है। इस माग पर बलन से प्रत्येक व्यक्ति अपने बुद्धों का इच्छा नाश कर देता है तथा निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इसीलिए यह समाप्त मागों में अग्रमंथ माना गया है—मगलान्दिको छोड़ (मार्गायामद्वयिक-अग्र) (धम्मपद २।११)। अग्रमंथ के पूर्व सहस्र भिक्षुओं का उपदेश होते समय मगलान्द बुद्ध ने अपने भिक्षुओं से इसी मार्ग को ज्ञान की विशुद्धि के लिए तथा मार को मूर्च्छित करने के लिए आश्रम-जीव बतलाया है—

एसो य ममो नत्तं कम्मो वस्सनस्स विमुत्तिया ।

एत हि तुम्हें पटिपब्बज्ज मारस्सेत पमोहने ॥

(धम्मपद २।१२)

बुध्दनिरोध के अनुसार प्रज्ञा शक्ति और समाधि ये तीन मुख्य साधन माने जाते हैं। अग्रमिग माग इसी साधनमय का पञ्चमिग रूप है। बुध्दनिरोध में आश्रम-

ही प्रधानता है। तथागत निर्वाण के लिए तत्त्वज्ञान के जटिल मार्ग पर चलने की शिक्षा कभी नहीं देते, प्रत्युत तत्त्वज्ञान के विषम प्रश्नों के उत्तर में वे मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर समझते हैं। आचार पर ही उनका प्रधान लक्ष्य है। यदि अष्टाङ्गिक मार्ग का सम्यक् पालन किया जाय, बिना किसी मीनमेख के इसका यथोचित आश्रय लिया जाय, तो शान्ति अवश्य प्राप्त होगी। गौतम के उपदेशों का यही सार है। मार्ग पर आरुढ़ होना एकदम आवश्यक है। केवल शब्दत-इस मार्ग का आश्रय कभी उचित फल देने में समर्थ नहीं हो सकता। इसीलिए भगवान् बुद्धदेव ने स्पष्ट शब्दों में पञ्चसहस्र भिक्षुओं के सघ के सामने डके की चोट अपने सिद्धान्त का सिंहनाद किया--

तुम्हेहि किञ्च आतप्प^१ अक्खातारो तथागता ।

पटिपन्ना पमोक्खन्ति भायिनो मारवन्धना^२ ॥

हे भिक्षुओं, उद्योग तुम्हें करना होगा। उपदेश के श्रवणमात्र से दुःखनिरोध कथमपि नहीं हो सकता। उसके निमित्त आवश्यकता है उद्योग की। तथागत का कार्य तो केवल उपदेश देना है। मार्ग वतलाना मेरा काम है और उस मार्ग पर चलना तुम्हारा कार्य है। उस मार्ग पर आरुढ़ होकर, ध्यान में रत होनेवाले व्यक्ति ही मार के वन्धन से मुक्त होते हैं, अन्य पुरुष नहीं। इससे बढ़कर उद्योग तथा स्वावलम्बन की शिक्षा दूसरी कौन सी हो सकती है ?

मध्यम प्रतिपदा

इस आचारमार्ग के आठों अङ्गों में 'सम्यक्' (ठीक, साधु, शोभन) विशेषण दिया गया है। विचार करना है कि इस सम्यक्ता की कसौटी क्या है ? किस दशा में वचन सम्यक् कहा जाता है अथवा किस अवस्था में दृष्टि सम्यक् मानी जाय। तथागत का कथन है कि अन्तों के मध्य में रहना ही 'सम्यक्ता' है। किसी भी वस्तु के दोनों अन्त उन्मार्ग की ओर ले जाने वाले होते हैं। अर्थात् किसी भी वस्तु में अत्यधिक तल्लीनता अथवा उससे अत्यधिक वैराग्य दोनों अनुचित हैं। उदाहरण के लिये अधिक भोजन करना भी दुःखदायी है और विलकुल भोजन न करना भी दुःख का कारण है। अतः सत्य तो दोनों अन्तों के बीच

में ही रहता है। इस शोभन मध्य को अधिक महत्व देने के कारण ही कुछ का मार्ग मध्यम प्रतिपदा' मध्यम मार्ग (बीज का रस्ता) कहा जाता है। 'मध्यम प्रतिपदा' का प्रतिपादन कुछ के ही शब्दों में इस प्रकार है—

‘हे मित्रवन्ने अन्त्या पञ्चभिर्मतेन न सेवितव्या । कतमे द्वे ? यो चात्र अमेन्द्र कामसुखान्तराद्युपयोगो हीना यम्मो पोषुष्वनिको अनरिचो अनल्पसंहितो । यो चात्र अचक्षितमबासुयोपो बुक्को अनरिचो अनल्पसंहितो । एते चो मित्रवन्ने तमे अन्ते अमुपगम्य मयिहमा प्रतिपदा तत्त्वमतेन अभिरुदुया नक्कुरमी आपन्नरचो उपस-
मात्र अभिजाय सम्बोवात्र विद्वान् संवत्सि’ ।

[हे मित्रवन्ने संसार का परित्याग कर निरुक्तिमार्ग पर कतने बातें स्पष्टि (प्रवृत्ति) को चाहिए कि होना अन्तों का सेवन न कर । कौन से दो अन्त ? एक अन्त है—अम्य वस्तुओं न मोक्ष की इच्छा से चला लगा रहना । वह निषयासुवीन हीन मान्य आप्यात्मिकता से शृङ्खल हो जाने वाला अमार्ग तथा अनर्थ उत्पन्न करने वाला है । दूसरा अन्त है—शरीर को बंध देना । वह भी बुद्ध का अमार्ग तथा हानि उत्पन्न करने वाला है । इन दोनों अन्तों के सेवन करने से मानव अन्तःकर्म से कमी उद्धार नहीं पा सकता । उसके उद्धार का उपाय इस अन्तों को छूटकर बीज का मार्ग है । कुछ ने इसी का प्रतिपादन किया है । वह मार्ग वेद सन्मीक्षण करने वाला ज्ञान उत्पन्न करने वाला है । वह चित्त का शान्तिप्रदान करता है सम्बन्ध ज्ञान प्रेषा करता है तथा निर्वाण उत्पन्न करता है । इसी मार्ग का सेवन अनेक प्रवृत्ति के लिए हितकर है]

इस मध्यम मार्ग का प्रकारान्त कुछ के जीवन का चरम रहस्य है । यौतय ने अपने जीवन की कसौटी पर दोनों अन्तों को कटकर देखा कि वे साराहीन हैं—परम शान्ति के देने में क्लिप्त असमर्थ हैं । वे महलों में पड़े थे । उस समय के समस्त राजकीय सुख उन्हें प्राप्त थे । उनके पिता से उनके चित्त को निष्का-
बाधुरा में बाँधने के लिए उनके सौख्य में किसी वस्तु की तृप्ति न होने ली । परन्तु कुछ ने इस वैयक्तिक जीवन को भी परम शान्ति के देने में अमीन पाया । तत्प-
न्तर वे इष्टीय की कठिन साधना में अतीवोप-पूतक बंध गये । उन्होंने अपने शरीर को मुक्त कर बाँध बना दिया । कुछ पर योमताबमा के कारण उनका शरीर हड्डियों का एक लच्छा बाँध ही रह गया । परन्तु इस मार्ग में भी शान्ति न मिली ।

तब ये इस सत्य पर पहुँचे कि परमसुख पाने के लिए न तो विषयों की सेवा समर्थ है और न कठिन साधना के द्वारा शरीर को कष्ट पहुँचाना। परित्राजक न तो विषयों की एकाङ्गी कामना में ही आसक्त हो और न शरीर को कष्ट पहुँचाने में निरत हो, प्रत्युत शील, समाधि और प्रज्ञा के सम्पादन में चित्त लगाकर अनुपम शान्ति की उपलब्धि करे। इस प्रकार 'मध्यम मार्ग' बुद्ध की सच्ची स्वानुभूति पर आश्रित है।

मध्यम प्रतिपदा आठों अङ्गों में लगती है। दृष्टि के लिए भी दो अन्त हैं— एक है शाश्वत दृष्टि और दूसरी है उच्छेद दृष्टि। जो पुरुष शरीर से भिन्न, अपरिणामी, नित्य आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं वे 'शाश्वत दृष्टि' रखते हैं। जो पुरुष शरीर को आत्मा से अभिन्न मानकर शरीरपात के साथ आत्मा का नाश वतलाते हैं वे 'उच्छेद दृष्टि' में रमते हैं। ये दोनों दृष्टियों एकाङ्गिनी होने से हानिकारक हैं। मध्यक् दृष्टि तो दोनों के बीच की दृष्टि है। दुःख न तो शाश्वत होने से अजेय है और न आत्महत्या कर उसका अन्त किया जा सकता है। दुःख को नित्य मानकर उस पर विजय करने से भगनेवाला आलसी पुरुष उसी प्रकार निन्दनीय है, जिस प्रकार आत्महत्या कर दुःखों का अन्त माननेवाला कायर पुरुष गर्हणीय है। उचित मार्ग दुःखों के कारणभूत तृष्णा को भलीभाँति समझकर उसका नाश करना है। तृष्णा का उदय अविद्या के कारण है। अविद्या ही समग्र दुःखों की जननी है। उस अविद्या को विद्या के द्वारा नाश करने से चरम उपशम की प्राप्ति होती है। भगवान् बुद्ध भी 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' के औपनिषद सिद्धान्त के ही अनुयायी हैं। परन्तु यह ज्ञान केवल कोरा चकवाद न होना चाहिये। शाब्दिक ज्ञान से शान्ति का उदय नहीं होता। ज्ञान को आचार मार्ग के अवलम्बन से पुष्ट करना होता है। आचाररूप में परिवर्तित ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। जिस ज्ञानी का जीवन आचार की दृढ़ भित्ति पर अवलम्बित नहीं है, वह कितना भी डींग-ढाँके, वह अध्यात्म मार्ग पर केवल चालक है जो अपने को धोखा देता है और ससार को भी धोखे में डालता है।

अष्टांगिक मार्ग

मगगानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चान चतुरो पदा ।

विरागो सेट्ठो धम्मान द्विपदानाञ्च चक्खुमा ॥ (धम्मपद. २०।१)

एक मार्गों में भेष्ट अर्थव्यवस्था का सामान्य स्वरूप अभी तक बतलाना
सकता है। जब उसके विविध रूप का निरूपण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है —

(१) सम्पत्कृष्टि— कृष्टि का अर्थ हानि है। सम्पत् के लिए हानि की
मिति आवश्यक होती है। आचार और विचार का परस्पर सम्बन्ध निरन्तर
रखित होता है। विचार की मिति पर आचार पड़ा हुआ है। इसीलिए इस
आचारमार्ग में सम्पत्कृष्टि पहला अङ्ग मानी गई है। जो व्यक्ति अङ्कुरित की
तथा अङ्कुरकमूल को जानता है, अङ्कुर को और अङ्कुरकमूल को जानता है, वही
सम्पत्कृष्टि से सम्पन्न माना जाता है। अर्थिक शक्ति तथा मानसिक बल ही
प्रकार के होते हैं—अङ्कुर (मूल) और अङ्कुरक (पुत्र)। इन दोनों को मली-
भौति जानना सम्पत्कृष्टि कहलाता है। 'अर्थिकम निवार' में इन दोनों का नि-
रूप इस प्रकार है—

	अङ्कुरक	अङ्कुर
अर्थव्यवस्था	(१) अर्थव्यवस्था (विद्या)	(१) अ—विद्या
	(२) अर्थव्यवस्था (चोरी)	(२) अ—चोरी
	(३) मिथ्याचार (व्यभिचार)	(३) अ—व्यभिचार
शारीरिक बल	(४) अर्थव्यवस्था (मूल)	(४) अ—अर्थव्यवस्था
	(५) अर्थव्यवस्था (पुत्र)	(५) अ—पुत्रव्यवस्था
	(६) अर्थव्यवस्था (अङ्कुरक)	(६) अ—अङ्कुरक
	(७) अर्थव्यवस्था (अङ्कुरक)	(७) अ—अङ्कुरक
मानसिक बल	(८) अर्थव्यवस्था (लोभ)	(८) अ—लोभ
	(९) अर्थव्यवस्था (प्रतिविद्या)	(९) अ—प्रतिविद्या
	(१०) अर्थव्यवस्था (मूली चारणा)	(१०) अ—मिथ्याचार

१. निर्वाणगामी मार्गों में अर्थव्यवस्था मार्ग भेष्ट है। लोक में विद्ये का अर्थ है
लोक में अर्थव्यवस्था भेष्ट है। एक मार्गों में चोरी भेष्ट है और मनुष्यों में अङ्कुरक
जानी-हुआ भेष्ट है।

२. सम्पत्कृष्टि हानि।

अकुशल का मूल है लोभ, दोष तथा मोह । इनसे विपरीत कुशल का मूल है—अलोभ, अदोष तथा अमोह । इन कर्मों का सम्यक् ज्ञान रखना आवश्यक है । साथ ही साथ आर्यसत्त्यों का—दुःख, दुःखममुदय, दुःखनिरोध तथा दुःख-निरोध मार्ग को भलीभाँति जानना भी सम्यक् दृष्टि है ।

(२) सम्यक्-संकल्प—सम्यक् निश्चय । सम्यक् ज्ञान होने पर ही सम्यक् नेश्चय होता है निश्चय किन बातों का ? निष्कामना का, अद्रोह का तथा अहिंसा का । कामना ही समग्र दुःखों की उत्पादिका है । अतः प्रत्येक पुरुष को इन बातों का दृढ संकल्प करना चाहिए कि वह विषय की कामना न करेगा, प्राणियों से द्रोह न करेगा और किसी भी जीव हिंसा न करेगा ।

(३) सम्यक्-वचन—ठीक भाषण । असत्य, पिशुन वचन, कटुवचन तथा वक्वाद—इन सबको छोड़ देना नितान्त आवश्यक है । सत्य से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है^१ । जिन वचनों से दूसरों के हृदय को चोट पहुँचे, जो वचन कटु हो, दूसरों की निन्दा हो, व्यर्थ का वक्वाद हो, उन्हें कभी नहीं कहना चाहिए । वैर की शान्ति कटुवचनों से नहीं होती, प्रत्युत 'अवैर' से ही होती है—

न हि वैरेन वैरानि सम्मन्तीघ कुटाचन ।

अवैरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥ (धम्मपद ११५)

व्यर्थ के पदों से युक्त सहस्रों काम भी निष्फल होते हैं । एक सार्थक पद ही श्रेष्ठ होता है जिसे सुनकर शान्ति उत्पन्न होती है । शान्ति का उत्पन्न करना ही वाक्यप्रयोग का प्रधान लक्ष्य है । जिस पद से इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती, उसका प्रयोग नितान्त अयुक्त है—

सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसहिता ।

एक अत्थपद सेय्यो य सुत्त्वा उपसम्मति ॥ (धम्मपद ८१९)

(४) सम्यक्-कर्मान्त—हिन्दू धर्म के समान ही बुद्धधर्म में कर्म सिद्धान्त

१ असत्य भाषण नरक में ले जाता है । धम्मपद का कथन है कि असत्य-वादी नरक में जाते हैं और वह भी मनुष्य, जो किसी काम करके भी 'नहीं किया' कहता है । दोनों प्रकार के नीचे कर्म करने वाले मनुष्य मर कर समान होते हैं—

अभूतवादी निरय उपेति यो वापि कत्वा 'न करोमी' ति चाह ।

उभोपि ते पेच्च समा भवन्ति निहीनकम्मा मनुजा परत्थ ॥

अ समन्वित महत्त्व बिना जाता है। मनुष्य की सद्यति वा पुर्णति का कारण उसका कर्म ही होता है। कर्म के ही कारण जीव इस लोक में मृत या पुनः भेषण है तथा परलोक में भी स्वर्ग या नरक का गामी बनता है। हिंसा बोरी व्यभिचार आदि मित्रवर्गीय कर्मों का उल्लंघन तथा उल्लंघन परित्याग अपेक्षित है। पाँच कर्मों का अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है। इन्हीं की उद्भा है—पञ्चशौच। पञ्चशौच ये हैं— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, श्रुत-भैरव आदि माहक पदार्थों का अछेदन। इन कर्मों का अनुष्ठान सबके लिए निहित है। इनका सम्पादन तो करना चाहिए, परन्तु इनका परित्याग करनेवाला व्यक्ति ब्रह्मपद के शब्दों में मृत बनति अतः = अपनी ही बह खोबता है^१। आत्मविषय अपने ऊपर नियम पात्रा ही मानव की अमन्तशान्ति का कारण होता है। आत्मब्रह्म इन कर्मों का विधान करता है। 'आत्मा ही अपना नाथ-स्वामी है। अपने को छोड़कर अपना स्वामी दूसरा नहीं। अपने को ब्रह्मन कर देने पर ही ब्रह्म नाथ-(निर्वाण) को जीव पात्र है^२। मित्रियों के लिए तो आत्म-ब्रह्मन के नियमों में बड़ी कमी है। इन उल्लंघन कर्मों के अतिरिक्त उन्हें पाँच कर्म—अपराधमोक्षण, नाथ-धारण, संयम, श्रुत तथा अमृत श्रुत का त्याग और भी कर्तव्य है। इन्हें ही 'दशशौच' कहते हैं। मित्रियों के निहित प्रभाव जीव को आदर्श बनाने के लिए बुद्ध ने अन्व कर्मों को भी आवश्यक बतलाया है किन्तु अस्तेय 'मित्रवर्ग' में निषेध है।

१. वा पाणमसिवातैति सुपाशद य भगवति ।

लोक अहिंस्य आदिपति परदारण्य मच्छति ॥

श्रुतमेवार्थं च यो करो अमुपुचति ।

इमेमेगो लोहस्मि मूष पतति अतन्ना ॥ १८-१२।१३

अता हि अतन्ना माषा को हि माषा परो सिया ।

अतना व बुद्धतेन वाचं गमति दुस्मर्गः । —(ब्रह्मपद १२।८)

यह आत्मविषय का मित्रवर्ग बहिर्जन्य का मूल मन्त्र है—(गीता)

उद्वेगाममादमर्गं कामानमगादयेत् ।

आत्मन आत्मना बभूवता रिपुतामना ॥ ४ ॥

बभूवतामनस्तस्य किनामवावता किना ।

अनामवस्तु शत्रुन कर्त्तामव शत्रुन ॥ ५ ॥

(५) सम्यक् आजीव^१ = ठीक जीविका । झूठी जीविका को छोड़कर सच्ची जीविका के द्वारा शरीर का पोषण करना । बिना जीविका के जीवन धारण करना असम्भव है । मानवमात्र को शरीर रक्षण के लिए कोई न कोई जीविका ग्रहण करनी ही पड़ती है, परन्तु यह जीविका सच्ची होनी चाहिए जिससे दूसरे प्राणियों को न तो किसी प्रकार का क्लेश पहुंचे और न उनकी हिंसा का अवसर आवे । समाज व्यक्तियों के समुदाय से घनता है । यदि व्यक्ति पारस्परिक फल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपनी जीविका अर्जन करने में लगे, तो समाज का वास्तविक मंगल होता है । उस समय के व्यापारों में बुद्ध ने पाँच जीविकाओं को हिंसाप्रवण होने से अयोग्य ठहराया है^२—(१) सत्य वणिज्जा (शस्त्र = हथियार का व्यापार), (२) सत्तवणिज्जा (प्राणी का व्यापार), (३) मंसवणिज्जा (मांस का व्यापार), (४) मज्जवणिज्जा (मद्य-शराब का रोजगार), (५) विसवणिज्जा (विष का व्यापार) । लक्खणसुत्त ३ में बुद्ध ने इन जीविकाओं को गर्हणीय बतलाया है—तराजू की ठगी, कस = (चटखरे) की ठगी, मान की (नाप की) ठगी, रिश्वत, वचना, कृतघ्नता, साचियोग (कुटिलता), छेदन, वध, वन्धन, डाका, लूटपाट की जीविका ।

(६) सम्यक् व्यायाम = ठीक प्रयत्न, शोभन उद्योग । सत्कर्मों के करने की भावना करने के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए । इन्द्रियों पर सयम, बुरी भावनाओं को रोकने और अच्छी भावनाओं के उत्पादन का प्रयत्न, उत्पन्न, अच्छी भावनाओं के कायम रखने का प्रयत्न—ये सम्यक् व्यायाम हैं । बिना प्रयत्न किये चंचल चित्त से शोभन भावनार्यें दूर भगती जाती हैं और बुरी भावनार्यें घर जमाया करती हैं । अतः यह उद्योग आवश्यक है ।

(७) सम्यक् स्मृति—इस अंग का विस्तृत वर्णन दीधनिकाय के 'महा सति पट्ठान' सुत्त (२।९) में किया गया है । स्मृतिप्रस्थान चार है—(१) कायानुपश्यना, (२) वेदानुपश्यना, (३) चित्तानुपश्यना तथा (४) धर्मानुपश्यना । काय, वेदना, चित्त तथा धर्म के वास्तव स्वरूप को जानना तथा उसकी स्मृति सदा

१ जीविका के लिए आजीव का प्रयोग कालिदास ने भी किया है—भट्टा अह कोलिशे मे आजीवे=भर्तः अथ कीदृशो मे आजीव । शाकुन्तल पष्ठ अंक का प्रवेशक ।

२ अंगुत्तर निकाय, ५.१ ३ दीधनिकाय पृ० २६९ ।

बन्धने रहना निरन्तर आवश्यक होता है। अन्य मलम्भ केवल तथा बन्धन परी पदार्थों का समुत्पन्नमात्र है। शरीर को इन कर्मों में देखने वाला पुनः कर्म आवश्यकपर्यो' कहा जाता है। वेदना तीव्र तरह की होती है—सुख दुःख, न सुख न दुःख। वेदना के इस स्वरूप की आत्मा वाला व्यक्ति 'वेदना में वेदनापर्यो' कहलाता है। चित्त की नाना अवस्थाओं होती हैं—कमी यह चरण होता है, कमी विरग कमी शब्देय और कमी बीजशेष कमी समोह तथा कमी बीजमोह। चित्त की इन विभिन्न अवस्थाओं में रहती कैसी गति होती है उसे आत्मवेदना पुरव चित्त में चित्तपर्यो होता है। बर्म भी जाना प्रथम के हैं (१) नीवरण—अमरसम्भ (अमृतसम्भ) व्यपार (शेव), स्थान-भूत (शरीर-मन की अवस्था), बीजत्व-बीजत्व (ब्रह्म-वेद) तथा चित्तिष्ठ (चरण) स्वयं (२) आत्मतम (४) चाप्यंग (५) आर्षे कृतु छव। इसके स्वरूप को ठीक ठीक समझ कर उनकी उही रूप में आबने वाला पुरुष 'बर्म में चर्मपर्यो' कहलाता है। सम्भ्र समाधि के निमित्त इस सम्भ्र स्मृति की विशेष आवश्यकता है। वाय तक वेदना का बीजा स्वरूप है इसका स्मरण करा बनाये रहने से अबमें आधुनिक उत्पन्न नहीं होती। चित्त समाप्त होकर वेदना की ओर बढ़ता है तथा एकत्र होने की योग्यता सम्पादन करता है।

(८) सम्भ्र समाधि—आर्य शक्तियों की समीक्षा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बुद्ध का मार्ग उपनिषद्प्रतिपादित मार्ग से भिन्न नहीं है। उपनिषद् का सिद्धान्त है—मते ज्ञानान्न मुक्ति (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती)। यह सिद्धान्त बुद्ध को भी सर्वथा मान्य था परन्तु बुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक उसे धारण करने की योग्यता शरीर में पैदा नहीं होती। ज्ञान के उदय के लिए शरीर की शुद्धि निरन्तर आवश्यक है। इसीलिए बुद्ध ने शीत और समाधि के द्वारा क्रमशः शरीरशुद्धि और चित्तशुद्धि पर विशेष ध्यान दिया है।

बुद्धधर्म के तीन महतीय तत्त्व हैं—शक्ति समाधि और प्रज्ञा। आधुनिक मार्ग के प्रतीक न तीनों ही हैं। शक्ति से तात्पर्य आधुनिक मार्गों से है। बुद्ध के दोनो प्रथम के शिष्य थे—एकनामी प्रथम मित्र तथा दुसरे ही पदस्थ। कनिष्ठ बर्म इन बर्म प्रथम के बुद्धशुद्धि के लिए समर्थन मान्य है जैसे

अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा मय का निषेध । ये 'पंचशील' कहलाते हैं और इनका अनुष्ठान प्रत्येक बौद्ध के लिए विहित है । भिक्षुओं के लिए अन्य पाँच शीलों की भी व्यवस्था है—जैसे अपराधभोजन, मालाधारण, सगीत, सुवर्ण-रजत तथा महार्घ शय्या—इन पाँचों वस्तुओं का परित्याग । पूर्वशीलों से मिला कर इन्हें ही 'दश शील' (दश सत्कर्म) कहते हैं । गृहस्थ के लिए अपने पिता माता, आचार्य, पत्नी, मित्र, सेवक तथा श्रमण-ब्राह्मणों का सत्कार प्रतिदिन करना चाहिए । बुरे कर्मों के अनुष्ठान से सम्पत्ति का नाश अवश्यम्भावी होता है । नशा का सेवन, चौरस्ते की सैर, समाज (नाच गाना) का सेवन, जूआ खेलना, दुष्ट मित्रों की सगति तथा आलस्य में फँसना—ये छत्रो सम्पत्ति के नाश के कारण हैं । बुद्ध ने गृहस्थों के लिए भी इनका निषेध आवश्यक बतलाया है^१ ।

शील तथा समाधि का फल है प्रज्ञा का उदय । भवचक्र के मूल में 'अविद्या' विद्यमान है । जब तक प्रज्ञा का उदय नहीं होता, तब तक अविद्या का नाश नहीं हो सकता । साधक का प्रधान लक्ष्य इसी प्रज्ञा की उपलब्धि में होता है । प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है^२—(१) श्रुतमयी—श्राव्य प्रमाणों से उत्पन्न निश्चय, (२) चिन्तामयी—युक्ति से उत्पन्न निश्चय तथा (३) भावनामयी—समाधिजन्य निश्चय । श्रुत-चिन्ता प्रज्ञा से सम्पन्न शीलवान् पुरुष भावना (ध्यान) का अधिकारी होता है । प्रज्ञावान् व्यक्ति नाना प्रकार की ऋद्धियों हो नहीं पाता प्रत्युत प्राणियों के पूर्वजन्म का ज्ञान, परचित्त ज्ञान, दिव्यश्रोत्र, दिव्यचक्षु तथा दुःखक्षय ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है^३ । उसका चित्त कामास्रव (भोग की इच्छा), भवास्रव (जन्मने की इच्छा) तथा अविद्यास्रव (अज्ञानमल) से सदा के लिए विमुक्त हो जाता है । साधक निर्वाण प्राप्त कर अर्हत् की महनीय उच्च पदवी को पा लेता है । धम्मपद ने बुद्धशासन के रहस्य को तीन ही शब्दों में समझाया है—

(१) सब पापों का न करना, (२) पुण्य का संचय तथा (३) अपने चित्त की परिशुद्धि—सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा ।

स-चित्त-परियोदपनं एत बुद्धान सासन ॥ (धम्मपद १४।५)



१ द्रष्टव्य दीर्घनिकाय, सिंगालो वाद सुत्त (३१) पृष्ठ २७१-२७६ ।

२ अमिधर्मकोश ६।५ ३ द्रष्टव्य दीर्घनिकाय (सामञ्ज्य फल सुत्त) पृ० ३०-३१

सप्तम परिच्छेद

बुद्ध के दार्शनिक विचार

(क) प्रतीत्य समुत्पाद

बुद्ध ने व्यापार मार्ग के उपदेश देने में ही अपने को सर्वदा व्यस्त रखा । व्याप्यात्मिक तथ्यों की सीमांछा न हो उन्होंने स्वयं की और न अपने अनुयायियों को ही इन बातों के अनुसन्धान के लिए उत्साहित किया । परन्तु उनके उपदेशों की दार्शनिक मिति है कि प्रतीत्य पर प्रतिष्ठित होकर वे कार्य हुआर क्यों से मानवसमाज का संघटन करते बड़े आ रहे हैं । 'प्रतीत्य समुत्पाद' ऐसा ही सामाजीय सिद्धान्त है । बौद्धदर्शन का यह आधार पीठ है । 'प्रतीत्य समुत्पाद' का अर्थ है 'सापेक्ष कारणवत्प्रसूत' । प्रतीत्य (प्रति + इ यती + क्यप्) किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर, समुत्पाद = अन्य वस्तु की उत्पत्ति अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति^१ । बुद्ध ने इतना ही कहा—अस्मिन् सति इदं भवति = इस बीज के होने पर यह बीज होती है अर्थात् जगत् के वस्तुओं या घटव्यों में सर्वत्र यह कार्यकारण का नियम जागरूक है^२ । एक वस्तु के रहने पर दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है । वस्तु की उत्पत्ति बिना किसी कारण के नहीं होती । कार्यकारण का यह महत्त्वपूर्ण विषय बुद्ध की अपनी कोश है । उन्होंने अपने समय के दार्शनिक के मतों की समीक्षा की । उन उन्हें पता चला कि कुछ लोग 'निरति-वारी' हैं—उनके अनुसार जगत् के समस्त कार्य—बुरे या अच्छे—भाग्य के अर्पण हैं । साम्प्रतिक मुक्त्यो है ठहर ही कल्याणपरम्परा कुम्भी है । कुछ लोग 'ईश्वरिच्छा' को ही महत्त्व देकर जगत् के अर्थों के लिए ईश्वर की मनमाजी इच्छा को कारण बताते थे । परन्तु अन्य लोग 'वदच्छा' के महत्त्व के मानने वाले थे । उनकी सम्मति में वह निश्च इही वदच्छा (मनमाजी व्यवहार) के बरा में होकर माना प्रकार का रूप धारण करता रहता है । परन्तु बुद्ध का बुद्धि-

१ प्रतीत्यशब्दो व्यञ्जनाः प्रसूतव्येयानां वर्तते । पविः प्रभुमन्त्रे इति सत्त्वाद् शब्दाः प्रभुमन्त्रिणं वर्तते । एतच्च हेतुप्रसूतव्येयौ भावप्रसूतव्यौ । प्रतीत्यसमुत्पादार्थः ।

२. अस्मिन् सति इदं भवति अस्त्योत्पादवत्समुत्पद्यते इति इदं प्रत्ययार्थः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः ।
(भाष्यमिक इति पृ ९)

प्रवण हृदय इन मीमासाओं को मानने के लिए तैयार न था। ये विभिन्न मत त्रुटिपूर्ण होने से इनकी बुद्धि में वेतरह खटकते थे। यदि इन मतों का अङ्गीकार किया जाय, तो कोई भी व्यक्ति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। यह कृपण या तो भाग्य के पजे में फसकर या ईश्वर के वश में होकर अथवा प्रवृत्ति के चल पर अनिच्छया अनेक कार्यों का सम्पादन करता रहता है। अपने कार्यों के लिए दूसरों पर अवलम्बित होने के कारण उसकी उत्तरदायिता क्योंकर युक्तियुक्त मानी जा सकती है? इस दुरवस्था से वाध्य होकर भगवान् बुद्ध ने इस कार्यकारण के अटल नियम की व्यवस्था की।

यह नियम अटल है, अमिट है। देश, काल या विषय—इन तीनों के विषय में यह नियम जागरूक है। इस जगत् (कामधातु) के ही जीव इस नियम के वशीभूत नहीं हैं, बल्कि रूपधातु के देवता आदि प्राणी भी इस नियम के आगे अपना मस्तक झुकाते हैं। भूत, वर्तमान तथा भविष्य—इन तीनों कालों में यह नियम लागू है। बौद्धों के अनुसार कारणता का यह चक्र अनन्त तथा अनादि है। इसी लिए वे लोग इस जगत् का कोई भी मूल कारण मानकर इसका आरम्भ मानने के लिए तैयार नहीं हैं। यह नियम सब विषयों पर चलता है। इसके अपवाद केवल 'असंस्कृत धर्म' हैं जो नित्य तथा अनुत्पन्न माने जाते हैं। समस्त 'संस्कृत' धर्म, चाहे वे रूप, चित्त, चैतन्य या चित्तविप्रयुक्त हों, हेतु प्रत्ययों के कारण उत्पन्न होते हैं। बौद्ध लोग और भी आगे बढ़ते हैं। स्वयं बुद्ध भी इस कार्यकारण नियम के वशवर्ती हैं। तीनों कालों के बुद्ध न तो इस महान् नियम के परिवर्तन करने में समर्थ हुए हैं और न भविष्य में समर्थ होंगे। बुद्धधर्म की यह महती विशेषता है। अन्य धर्मों में भी यह नियम थोड़े या अधिक अंश में विद्यमान है, परन्तु अनेक उच्चतम शक्तियों के आगे इसका प्रभाव तनिक भी नहीं रहता। अन्य धर्मों में ईश्वर इस नियम के प्रभाव से परे बतलाया जाता है, परन्तु इस धर्म में स्वयं बुद्ध भी इस नियम से उसी प्रकार बद्ध हैं तथा पराधीन हैं जिस प्रकार साधारण व्यक्ति।

एक बात ध्यान देने योग्य है। बुद्धधर्म के समस्त सम्प्रदायों का यह मन्तव्य है कि एक ही कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता, प्रत्येक धर्म कम से कम दो कारणों के परस्पर मिलन का फल है। सम्भवतः इस नियम की

स्वरसा ईश्वरवाद के कारण के लिए आत्म में भी ग' यो, परन्तु आपे
 पक्षपर यह सिद्धांत रह हो गया कि बाप उपकरणों की रासायनिक कार्रवाई के
 निमित्त कारण का कारण बाधकमान है। अतः यह कबन ठीक नहीं है कि प्रत्येक
 कारण कायको आवश्यक कराने के, क्योंकि अनेक कारण अनुसृत उपकरण
 के अभाव में पलायन का प्राप्त हो नहीं करते। इसी लिए हेतु तथा बाधक अनुसृत
 उपकरण के परस्पर सहयोग से ही सुसमय में कार्य का प्रथम माना जाता है।

कारणवाद

पक्षी विषाणों में कारणकार्य के सम्बन्ध का विरोध अनुसन्धान उपकरण
 नहीं होता। वे सब इतना ही मिला है कि इसके होने पर यह वस्तु उत्पन्न होती
 है (अस्तिन सति इदं भवति)। इस प्रसङ्ग में हेतु और पक्षपर
 कारण (प्रत्यय) शब्दों का प्रयोग एक साथ समझायेन किया गया है।
 पक्षिक शब्द कारणवाद की भीमांसा के लिए इन दोनों (हेतु-प्रत्यय) महत्त्व-
 पूर्ण शब्दों के अर्थ की समीक्षा मिश्रित व्यवहारक है। स्वविराट्
 वे अनुसृत 'हेतु' का प्रयोग अर्थ ही सीमित अर्थ में किया गया है। सोम होन तथा
 बाध के द्वारा विषय की विवृति के लिए हेतु का प्रयोग विषयों में मिला है।
 इसी लिए विज्ञान की इन अवस्थाओं का सहितक कहते हैं।

अन्तर्गत अर्थ तथा अन्तर्गत—ये तीनों कुशल-हेतु है। प्रत्यय का प्रयोग
 अर्थकारण सम्बन्ध के किसी भी रूप के बोधार्थ किया जाता है अर्थात् एक
 वस्तु दूसरी वस्तु के साथ ही सम्बन्ध कारण करती है अर्थात् प्रत्यय
 हेतु-प्रत्यय के द्वारा सुचित करते हैं। अविद्यमान के अन्तिम मान्य 'परम' ^१
 स्वविराट् में का विषय ही १४ प्रकार के 'प्रत्ययों' का विवरण प्रस्तुत
 करता है।

अन्तिमवादी तथा बोधवार में इन शब्दों के अर्थ मिला है। 'हेतु' का
 अर्थ है मुख्य कारण प्रत्यय का अर्थ है अनुसृत कारणधामनी^१। 'हेतु' मुख्य

१ हेतुमन्त्र प्रति अर्थयै गच्छतीति इतरप्रत्ययमिति सिद्धि हेतु प्रत्यय।
 अन्तर्गत (१।२।१९)। विरोध के लिए इत्यत्र (अन्तर्गत—१।२।१९)

कारण होता है तथा 'प्रत्यय' गौण कारण होता है । उदाहरण के हेतु-प्रत्यय निमित्त हम देख सकते हैं कि पृथ्वी में रोपने पर बीज पनपता महायान में है । पृथ्वी, सूर्य, वर्षा आदि की सहायता से वह बढ़कर वृक्ष बन जाता है । यहाँ बीज हेतु तथा पृथ्वी, सूर्य आदि 'प्रत्यय' है, क्योंकि सूरज की गरमी और जमीन की नमी न रहने पर बीज कथमपि अंकुर नहीं बन सकता, न वह बढ़कर वृक्ष हो सकता है । वृक्ष फल कहलाता है । स्थविरवाद में प्रत्ययों की संख्या २४ है, परन्तु सर्वास्तिवादियों के मतानुसार हेतु ६ होते हैं, प्रत्यय ४ तथा फल ५ ।

मानव व्यक्ति के विषय में इस नियम का प्रदर्शन निकायों में स्पष्ट भावेन किया गया है । प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश अङ्ग हैं जिसमें एक दूसरे के कारण उत्पन्न होता है । इसे 'भवचक्र' के नाम से पुकारते हैं । इस चक्र भवचक्र के कारण इस संसार की सत्ता प्रमाणित होती है । इन अङ्गों की संज्ञा 'निदान' भी है । इनके नाम क्रम से इस प्रकार हैं—

(१) अविद्या (२) संस्कार (३) विज्ञान (४) नामरूप (५) पञ्चायतन—
६ इन्द्रियाँ (६) स्पर्श (७) वेदना (८) तृष्णा (९) उपादान (राग) (१०) भव (११) जाति (जन्म) (१२) जरा—मरण (बुढ़ापा तथा मृत्यु) ।

इन द्वादश निदानों की व्याख्या में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में पर्याप्त मतभेद है । हीनयानी सम्प्रदायों में आश्चर्यजनक एकता है । इस प्रसङ्ग में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का उपयोग कर द्वादश निदान तीन जन्मों से सम्बद्ध माने जाते हैं । प्रथम दो निदानों का सम्बन्ध अतीत जन्म से है, उसके अनन्तर आठ निदानों (३-१०) का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है तथा अन्तिम दो (११, १२) भविष्य जीवन से सम्बद्ध हैं । इसी कारण वसुवन्धु ने इसे 'त्रिकाण्डात्मक' बतलाया है^१ ।

कारण शृङ्खला

अतीत जन्म

(१) अविद्या—पूर्वजन्म की वह दशा जिसमें अज्ञान, मोह तथा लोभ के बश में होकर प्राणी क्लेशबद्ध रहता है ।

१ स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गत्रिकाण्डक ।

पूर्वापरान्तमोर्द्धे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरणा ॥ (अभि० कोश ३।२०)

(२) संस्कार—पूर्वजन्म की वह दशा जिसमें अधिका के कारण प्राणी मरता या पुनः कर्म करता है^१ ।

वर्तमान जीवन

(१) पिधान—इस जीवन की वह दशा जब प्राणी माता के गर्भ में प्रवेश करता है और भैतन्य प्राप्त करता है—गर्भ का काल ।

(२) नामरूप—गर्भ में भ्रूण का कलक या गुच्छुर आदि अवस्था है^२ । 'नाम रूप' से अभिप्राय भ्रूण के मानसिक तथा शारीरिक अवस्था है जब वह कर्म में प्रारंभ होता है ।

(३) पञ्चापवृत्त—'आयत्तम' = स्निग्ध । इस अवस्था का सूचक है जब भ्रूण मातृ के उदर से बाहर आता है, उसके अंग अत्यन्त विस्फुल्लित हो जाते हैं, परन्तु अभी तक वह उन्हें प्रयुक्त नहीं करता ।

(४) स्पर्श—शरीर की वह दशा जब शिशु बाह्य जगत् के पदार्थों के साथ सम्पर्क में आता है । वह अपनी इन्द्रियों के प्रयोग से बाहरी जगत् को समझने का प्रारंभ करता है, परन्तु उसका इस समय का ज्ञान भ्रमपूर्ण होता है ।

(५) वेदना—शुष्क हुआ व शुष्क और न हुआ । ये शरीर के तीन प्रकार हैं । शिशु की वह दशा जब वह पाँच वर्षों के लगभग शुष्क हुआ की अवस्था से परिचित होता है । स्पर्श में बाह्य जगत् का ज्ञान (भ्रमपूर्ण हो उठा) उत्पन्न

१ संस्कार के अर्थ में क्या मतभेद है । विद्वानों के अनुसार अथर्व का अर्थ है, परन्तु चन्द्रबीरि ने इससे शोध शोध तथा राम का अर्थ किया है (भाष्य पृष्ठ ५१२) । गोविन्दराय ने शास्त्रसाम्य टीका (२१/१९) में इसी अर्थ को ग्रहण किया है ।

२ नामरूप की व्याख्या में पर्याप्त मतभेद है । वह राम्य उपनिषद् से ही लिया गया है परन्तु कुछ से इसके अर्थ को परिवर्तित कर प्रयोग किया है । 'रूप' से अभिप्राय शरीर से है और 'नाम' से उत्पत्ति मन से है । अथर्व नामरूप वर्तमान शरीर तथा मन से उत्पन्न संस्कार विशेष के लिए प्रयुक्त होता है । बाह्य जगत् के भी इसकी अन्य प्रकार व्याख्या की है । अथर्व न २-२१/१९ पर मामांती तथा कमला । विद्वान्मन्त्रारो रूपिण कृपाबालसम्प्राप्त तन्मय । तानुपाशाय रूपमभिभिर्बेति । तद्वैकल्पमभिभिर्बेति नामरूपं निरूप्यते शरीरस्तेन कलकगुच्छुरावस्था (मम्मठी २१/१९)

होता है और वेदना में अन्तर्जगत् का ज्ञान जाग्रत होता है । दस वर्ष तक बालक के शरीर-मन की प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं, परन्तु अभी तक उसे विषय सुखों का ज्ञान नहीं रहता ।

(८) तृष्णा—वेदना होने पर इस सुख को मुझे पुनः प्राप्त करना चाहिए— इस प्रकार के निश्चय का नाम तृष्णा है^१ ?

(९) उपादान—शालिस्तम्बसूत्र के अनुसार उपादान का अर्थ है तृष्णा-वैपुल्य—तृष्णा की बहुलता । युवक की बीस या तीस की अवस्था में विषय की कामना प्रबलतर ही उठती है, कामना के वश में होकर मनुष्य अपनी प्रबल इच्छाओं की परिपूर्ति के लिए उद्योग करता है । उपादान (= आसक्ति) अनेक प्रकार के होते हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—कामोपादान = स्त्री में आसक्ति, शीलोपादान = व्रतों में आसक्ति, आत्मोपादान = आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति । आत्मोपादान सब से घटकर प्रबल तथा प्रभावशाली होता है ।

(१०) भव^२—वह अवस्था जब आसक्ति के वश में होकर मनुष्य नाना प्रकार के भले-बुरे कर्मों का अनुष्ठान करता है । इन्हीं कर्मों के कारण मनुष्य को नया जन्म मिलता है । नवीन जन्म का कारण इस वर्तमान जीवन में सम्पादित कार्यकलाप ही होता है । पूर्वजन्म के 'संस्कार' के समान ही 'भव' होता है । दोनों में पर्याप्त सादृश्य है ।

भविष्य जन्म

(११) जाति = जन्म । भविष्य जन्म में मनुष्य की दशा, जब वह माता के गर्भ में आता है और अपने दुष्कृत या सुकृत के फलों को भोगने की योग्यता पाता है ।

१ वेदनाया सत्या कर्तव्यमेतत् सुख मयेत्यध्यवसानं तृष्णा भवति ।—भामती ।

२ भव का यह अर्थ मान्य आचार्यों के अनुसार है । वसुवन्धु का कथन है—यद् भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद् भव —अभिधर्म कोश ३।२४ अर्थात् भविष्य जन्म को उत्पन्न करने वाला कर्म । चन्द्रकीर्ति की व्याख्या एतदनुकूल ही है—पुनर्मवजनकं कर्म समुत्थापयति कायेन वाचा मनसा च—माध्यमिक वृत्ति-पृ० ५६५ । वाचस्पति की भी व्याख्या एतद्वैपरीत्य ही है—भवत्यस्मात् जन्मेति भवो धर्माधर्मौ ।—भामती २।२।१९

— (१२) जरासरण—अविद्य कर्म में अनुभूति की दशा काय वह कृत्य को पाकर मरण प्राप्त करता है । उत्पन्न स्वरूपों के परिपाक का नाम जरा है और उनके पक्षा का नाम मरण है । ये दोनों अन्तिम निराम निदानों से लेकर 'म' तक (१-१) निदानों का क्रम में सम्मिलित करते हैं ।

इस श्रृङ्खला में पूर्व कारणस्म है तथा पर काय रूप । जरासरण की उत्पत्ति जाति से होती है । यदि जीव का जन्म ही न होता तो जरासरण का अनुसर ही नहीं आता । यह जाति अब कर्मों का परिणाम रूप है । इस प्रकार मासक स्वर्ण की सत्ता के लिए अविद्या ही मूल कारण है—प्रथम निदान है । हीमयानियों के अनुसार इन निदानों का कार्य-कारण की दृष्टि से ऐसा वर्गीकरण करना उचित है—

(क) पूर्व का कारण और वर्तमान का कार्य

- | | |
|---------------------|--|
| १ पूर्व का कारण— | (१) अविद्या तथा (२) संस्कार |
| २ वर्तमान का कार्य— | (३) धाम (४) नामरूप |
| | (५) ब्रह्मवृत्त (६) स्वरा (७) विद्या । |

(ख) वर्तमान का कारण और भविष्य का कार्य

- | | |
|--------------------|------------------------|
| १ वर्तमान का कारण— | (८) लुप्ता ९ उपादान |
| | (१०) भव |
| २ भविष्य का कार्य— | (११) जाति, (१२) जरासरण |

यह समूचा निवरण अविद्यावादी तथा सर्वस्तिवादी के सामान्य मन्त्रियों के अनुसृत है । महाबाह मत के अनुसार इसमें पार्थक्य है । पञ्च देवों की भाँति है कि मायमिष' में परमाय सत्य की दृष्टि से प्रीति अनुसार से महायानी निदानों की माय नहीं दृष्टका है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि व्यापका (साहित्यिक सत्य) से इस उपादेय माना है । जमाचार मत की मान्यता ही महाबाह के सामान्य को जानने के लिए एकमात्र सम्यक् है । बोधचार मन्तारी अन्तर्गतों में इस सत्य के व्याख्यान में दो मह बाँटों का उस्तुत किया है ।

(१) वरुणी बात यह है कि जमाय दृष्टि में ज्ञात निदानों का सम्बन्ध देवता का कर्म के साथ है तीन जन्मों के साथ नहीं (जेसा हीनवादी मानते

आये थे) । इनमें केवल दो काण्ड हैं—पहले से लेकर १० तक, **दो जन्म से सम्बन्ध** तथा ११ और १२, जिनमें प्रथम दश का सम्बन्ध एक जन्म से है, तो दूसरा का दूसरे जीवन के साथ । उदाहरणार्थ यदि प्रथम दश निदानों का सम्बन्ध पूर्व जन्म से है, तो ११ और १२ निदान का इस जन्म से । अथवा प्रथम दश का सम्बन्ध इस वर्तमान जीवन से है, तो अन्तिम दो निदानों का भविष्यजीवन से ।

(२) दूसरी बात निदानों के चार विभेदों के विषय का लेकर है । योगाचार की मूल कल्पना है कि यह जगत् 'आलय विज्ञान' में विद्यमान बीजों का ही विकास या विस्तृतीकरण है । इसी कल्पना के अनुरोध से उन **निदानों के चार प्रभेद** लोगोंने नवीन चार भेदों का वर्णन किया है । भौतिक जगत् की सृष्टि के लिए यह आवश्यक है कि कोई कारण शक्ति मानी जाय जो प्रत्येक घर्म के बीज का उत्पादन करे परन्तु उत्पत्ति के अनन्तर भी ये बीज 'आलय विज्ञान' में शान्त रूप से रहेंगे जब तक किसी उद्देघक कारण की सत्ता न मानी जाय । जैसे एक वृक्ष से वृक्षान्तर की उत्पत्ति होने के लिए बीज का होना अनिवार्य है और यह बीज भी वृक्ष के उत्पादन में समर्थ नहीं होगा जब तक पृथ्वी, वायु, सूर्य की सहायता पाकर वह अकुरित न हो । इसी दृष्टान्त को दृष्टि में रखकर योगाचार ने निदानों के चार निम्न प्रकार माने हैं —

वर्तमान	{	१ बीज उत्पादक शक्ति = अविद्या, संस्कार
		२ बीज = विज्ञान—वेदना
		३ बीजोत्पादन सामग्री = तृष्णा, उपादान तथा भव
भविष्य—		४ व्यक्त कार्य = जाति, जरामरण

निदानों की समीक्षा में योगाचार का मत पर्याप्त प्रमाण के ऊपर अवलम्बित है । यह 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन की आधार-शिला है । इसीलिए दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त का विवेचन बड़ी ऊहापोह के साथ किया है^१ ।

(स) अनारमवाद

१ ममत्वान् पुत्र वन्मे अनारमवादी वे । अपने उपदेशों में उन्होंने आरमभार के अनुयायियों को कभी आलोचना की है । वह अनारमवाद मुख्यतः की बार्थनिक मिति है जिसपर समग्र आचार और विचार अपने आत्मय के निमित्त अभ्यसित हैं । आरमवाद का मुख्य ने अरुण वने अग्निनिवेश के साथ किया है । उनके सम्बन्ध का बीज यह है कि समग्र आत्मवादी पुत्र आरमा के स्वरूप को बिना अपने उसके भंग्य के लिए अन्त प्रकर के उत्कर्ष तथा दुष्कर्ष किया करते हैं । इस सिद्धान्त के प्रत्यक्ष छान्त यह मार्ग के हैं । पुत्र का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति ऐसा ही सबसे सुन्दर ही (अनपद अरुणी) से प्रेम करता हो परन्तु न तो उसके पुत्रों से परिचित हो न उसके रूप रंग से न उसका कह ही जाने कि वह कही है, छोटी है या मझोटी है और न उसके नाम-धर्म से ही अभिज्ञ हो । ऐसे पुत्र का आचरण लोक में सर्वथा अप्रवृत्तस्वरूप होता है । उसी प्रकार आरमा के पुत्र और बर्मे को बिना अपने उसके परलोक में पुत्र प्राप्ति को समग्र से जो व्यक्ति यह बात करता है, वह भी उसी प्रकार गर्हणीय होता है । महत्त्व की स्थिति से परिचय बिना पाये हो या व्यक्ति बीमरुते के ऊपर उस पर बहने के लिए सीढ़ियों तैयार करे मन्त्र उससे बचकर कोई मूर्ख हो सकता है । सत्ताहीन पदार्थ की प्राप्ति का अयोग्य परम मूर्खता का सूचक है । उसी प्रकार अस्त आरमा के भंग्य के लिए नामा प्रकार के कर्मों का सम्पादन है^१ । आरमा को सत्ता को पुत्र कभी ही दुष्प्रवृत्ति से देखते थे—‘जो वह भिन्न आत्म अन्तर्गत अन्तर्गत का विषय है, और तहाँ-तहाँ अपने तुरे कर्मों का विषयको अनुभव करता है, वह भिन्न आरमा जिस पुत्र शास्त्र तथा अपरिवर्तयमान है अन्तर्गत कर्मों तक नेता ही रहेगा—‘हे मित्राणां, यह अन्तर्गत विस्तृत बात बर्मे है’ (अर्ध भिन्नवै, केसो परिपुत्रो वास बम्मे^२) । पुत्र के इस उपदेश से आरममन्त्र के प्रति हमको कबसे सना स्पष्ट है । वे मित्य पुत्र आत्म के अस्तित्व के भावने से सम्पन्न परावृत्त हैं ।

पुत्र के इस अनारमवाद के भीतर बीज का रहस्य है । भारतीय चिन्तन परम्परा के अनेक अंश में पक्षपाती होने पर भी उन्होंने इस उपनिषद्प्रतिपादित

**नैरात्म्य-
वाद का
कारण**

आत्मतत्त्व को तुच्छ दृष्टि से क्यों तिरस्कृत कर दिया ? इस प्रश्न का अनुसन्धान बड़ा ही रोचक है । इस विचित्र ससार के दुःखमय जीवन का कारण तृष्णा या काम है । काम वह समुद्र है जिसके अन्त का पता नहीं और जिसके भीतर जगत् के समस्त पदार्थ समा जाते हैं^१ । अथर्ववेद ने कामसूक्त में (१।१।२) काम के

प्रभाव का विशद वर्णन किया है । 'काम ही सबसे पहले उत्पन्न हुआ, इसके रहस्य को न तो देवताओं ने पाया, न पितरों ने, न मर्त्यों ने । इसी लिए काम, तुम सबसे बड़े हो, महान् हो'^२ । काम अग्नि-रूप है । जिस प्रकार अग्नि समग्र पदार्थों को अपना ज्वाला से जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार काम प्राणियों के हृदय को जलाता है^३ । बुद्धधर्म में यही काम 'मार' के नाम से प्रसिद्ध है । सुगत के जीवन में 'मारविजय' को इसीलिए प्रसिद्धि प्राप्त है कि उन्होंने अपने ज्ञान के बल पर अज्ञेय 'काम' को जीत लिया था । इस 'काम' का विजय वैदिक ऋषियों को उसी प्रकार अभीष्ट है जिस प्रकार बुद्ध को ।

उपनिषदों का कहना है कि आत्मा की कामना के लिए सब प्रिय होता है । (आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति) जगत् में सबसे प्यारी वस्तु यही आत्मा है जिसके लिए प्राणी विषय के सुखों की कामना किया करता है । हमारी स्त्री पुत्रादिको के ऊपर आसक्ति इसी स्वार्थ के ऊपर अवलम्बित है । बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश देते हुए आत्मा को ही सब कामनाओं का केन्द्रविन्दु बतलाया है । दारा दारा के लिए प्यारी नहीं है, आत्मा के काम से ही वह प्यारी बनती है । समग्र पदार्थों की यही दशा है । बुद्ध ने उपनिषत् से इस सिद्धान्त को ग्रहण किया, परन्तु इस काम के अनारम्भ के लिए एक नवीन नो मार्ग की शिक्षा दी । उनकी विचारधारा का प्रवाह नये रूप से प्रवाहित हुआ— आत्मा का अस्तित्व मानना ही सब अनर्थों का मूल है । आत्मा के रहने पर ही

१ समुद्र इव हि काम, न हि कामस्यान्तोऽस्ति । (तैत्ति० ब्रा० २।२।५।६)

२ कामो जज्ञे प्रथम नैन देवा आपुः पितरो न मर्त्या ।

ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महास्तस्मै ते काम

नम इत्कृणोमि । (१।१।२।१९)

३ यो देवो (अग्नि) विश्वात् य तु काममाहु । (अथर्व ३।२।१।४)

‘अहंकार’—अहंकार का उदय होता है। इस आत्मा को सुख पहुँचाने के लिए ही जीव जन्मा प्रसार से इस शरीर को शुद्ध करता है और सुख प्राप्ति के उपायों का इच्छा है। काम का उन्मूलन इसी राय के परम आशय आत्मा के अस्तित्व पर अवलम्बित है। अतः इस आत्मा का निवेद्य करना ही काम-विमल का सबसे शुद्ध मार्ग है। राग की वस्तु के अभाव में राग ही निम पर किया व्ययमा ? उद्यम में पुनःशोक से विह्वल निराशा को बुद्ध का नहीं उपदेश था कि इस संसार में जिने शोक, सन्ताप भावा प्रकार के क्लेश उत्पन्न होते हैं वे प्रिय वस्तु के लिए ही होते हैं। प्रिय का अभाव में शोकादि का भी अभाव अवश्यमेव होता है^१।

अथवा बुद्ध के इसी उपदेश की प्रतिष्ठाति वास्तान्तर में बीज आत्माओं के प्रश्नों में उपलब्ध होती है। नास्तर्ह्य का कहना है कि वह आत्मा को देखता है, उसी पुद्गल का ‘अहं’ के लिए सदा स्नेह बना रहता है। स्नेह से दुःखों के लिए दुःख पैदा होगी है। तुम्हा दोषों को उक उठी है। गुणदर्या पुद्गल ‘निपय मरे हैं’ इस विचार से निपयों के छावनों को प्रह्व करता है। तुम्हा से उपलब्ध का जन्म होता है। अतः जब तक अश्रमाभिनिवेश है, जब तक वह संसार है। आत्मा के रहने पर ही पर (पुनरे) का जन्म होता है। स्व और पर के विमल से रागद्वेष की उत्पत्ति होती है। स्व के लिए राग और पर के लिए द्वेष। और रागद्वेष के कारण ही समस्त शोक उत्पन्न होते हैं। अतः समस्त बीजों की उत्पत्ति का निदान आत्महन्ति है। बिना इसकी हत्यने बीजों का निराकरण असम्भव है^२।

१. वे केवि सोअ परिषेवितं वा पुद्गलं वा शोकस्ति अनेकरूपा ।
पिअ पटिप्पेव अस्मि एते पिने अस्मत्ते न जन्मति एते ॥ (उद्यम ८६)

२. वा परवत्तात्पत्तं तत्सहमिति शमकता स्नेहा ।
स्नेहात् पुच्छेत्तु पुद्गलि तुम्हा शोकादितरत्तुच्छेत् ॥
पुणदर्या परितुम्हा ममेति तत्साधममुपादत्ते ।
तैवात्माभिनिवेशो नात्तु त्वत्तु संसार ॥
अस्मि सति परत्तु स्वपरनिम्मात्तु परिग्रहेषी ।
अथवा उपतिवन्नात् तर्हि शोका अस्मत्ते ॥

(अथार्हवत्त्व बोधिव्यवहारपरिच्छेद पृ. ४१२)

उद्यम पृ. ११९) अमिधयवत्त्वपरिच्छेद (पृ. १०) में, कृत्य अन्तिम करिष्यः ।)

स्तोत्रकार (मातृचेष्ट ?) बुद्ध के नैरात्म्यवाद को प्रशंसा का पात्र बतलाते हैं^१—जब तक मन में अहंकार है तब तक आवागमन की परम्परा (जन्म प्रवन्ध) शान्त नहीं होती। आत्मदृष्टि की सत्ता में हृदय से अहंकार नहीं हटता। हे बुद्ध, आप से बढकर कोई भी नैरात्म्यवादी उपदेशक नहीं है और न आपके मार्ग को छोड़कर शान्ति देनेवाला दूसरा मार्ग ही है। बुद्धधर्म के शान्तिदायी होने का मुख्य कारण नैरात्म्यवाद की स्वीकृति है। चन्द्रकीर्ति के मत में भी सत्कायदृष्टि (आत्म दृष्टि) के रहने पर ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। इस बात की समीक्षा कर तथा आत्मा को इस दृष्टि का विषय मानकर योगी आत्मा का निषेध करता है^२। अतः आत्मा का यह निषेध काम के निराकरण के लिए किया गया है।

अनात्मवाद की ही दूसरी सहा 'पुद्गल नैरात्म्य' तथा 'सत्काय दृष्टि'^३ है। सत्कायदृष्टि को ही आत्मग्राह, आत्माभिनिवेश तथा आत्मवाद भी कहते हैं।

१ साहकारे मनसि न शम याति जन्मप्रवन्धो

नाहंकारश्चलति हृदयात् आत्मदृष्टौ च सत्याम् ।

नान्य शास्ता जागति भवतो नास्ति नैरात्म्यवादी

नान्यस्तस्मादुपशानविधेस्त्वन्यतादस्ति मार्गः ॥

(तत्त्वसंग्रहपत्रिका पृ० ९०५)

२ सत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान् धर्मेणाश्व दोषांश्च धिया विपश्यन् ।

आत्मानमस्या विषय च बुद्ध्वा योगी करोत्यात्मनिषेधमेव ॥

(माध्यमकावतार ६।१२३, मा० बृ० में उद्धृत पृ० ३४०)

३ 'सत्काय दृष्टि' पाली में 'सक्काय दिट्ठि' है। 'सत्काय' की भिन्न २ व्युत्पत्ति के कारण इस शब्द की व्याख्या कई प्रकार से की जाती है। 'सत्काय' दो प्रकार से बनता है—१ सत् + काय तथा २ स्व + काय। पहिली व्याख्या में सत् के दो अर्थ हैं—(क) वर्तमान, अस् धातु से तथा (ख) नश्वर (सद से)। अतः वर्तमान देह में या नश्वर देह में आत्मा तथा आत्मीय का भाव रखना। ५० विधुशेखर भट्टाचार्य का कहना है कि तिब्बती तथा चीनी अनुवादकों ने सत् का नश्वर अर्थ ही ग्रहण किया है। दूसरी व्याख्या के लिए नागार्जुन का प्रमाण है उन्होंने माध्यमिक कारिका (२३।६) में 'स्वकाय-दृष्टि' का प्रयोग किया है। चन्द्रकीर्ति की,

‘सर्व अनात्म’—यही बुद्धधर्म का अभाव मान्य सिद्धांत है। इसका अर्थ यह है कि जगत् के समस्त पदार्थ स्वस्वभूत हैं, वे अतिपक्व धर्मों के समुच्चय मात्र हैं, इनका स्वयं स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत नहीं होती। अनात्म शब्द में ब्रह्म का अर्थ प्रखण्ड प्रतिवेग नहीं है, प्रत्युत पुरुषार्थ का अर्थ है। अनात्म शब्द नहीं छोड़ित करता है कि आत्मा का अभाव है, बल्कि आत्मा के अभाव के साथ अन्य पदार्थों की सत्ता बतलाता है। आत्मा का जोड़कर सर्व वस्तुओं की सत्ता का अस्तित्व है। ‘सर्ववस्तु’ की बहुरी संज्ञा ‘वर्म’ है। ‘धर्म’ का इस निष्ठसंग अर्थ में प्रयोग रूप बुद्धधर्म में ही पाते हैं। धर्म का अर्थ है आत्मगत सूक्ष्म प्रकृति तथा मन के अग्रिम उत्पन्न ब्रह्मका पुनः प्रवृत्त्यर्थ नहीं किया जा सकता। यह जगत् इन्हीं मान्य धर्मों के जाल-प्रतिजाल से सम्पन्न हुआ है। बीज धर्म सांख्य के गुण के समान है। दोनों अस्वगत सूक्ष्म पदार्थ हैं। अन्तर इतना ही है कि तीनों गुणों (उत्पन्न रज तम) की सत्ता के साथ साथ साक्ष्य गुणत्रय की साम्यावस्थाविधी ‘प्रकृति’ मानता है। बीज दार्शनिक अचरवचारी हैं। मैथिलिकों के सदृश अचरवचसे प्रवृत्त अचरवचों की सत्ता से स्वीकार नहीं करते। न्याय दृष्टि में ब्रह्म परमाणुपुत्र के अतिरिक्त एक नहीं पदार्थ है। अर्थात् अचरवच ब्रह्म अचरवच परमाणुओं से प्रवृत्त उत्पन्न रहता है, परन्तु बीजों की दृष्टि में परमाणु का अनुत्पन्न ही ब्रह्म है, अचरवच से निम्न अचरवच मानक कोई पदार्थ होता ही नहीं। अथर्व के अत्यन्त सूक्ष्मतम पदार्थों की ही संज्ञा ‘धर्म’ है। इनकी सत्ता सर्वथा माननीय है। परन्तु इन्हें जोड़ देने पर वस्तुओं का स्वस्वभूत अचरवच पदार्थ कोई निश्चयान रहता है यह बात बीज स्रोत मानने के लिए तैयार नहीं हैं। अनात्म कहने का अभिप्राय नहीं है कि धर्म की सत्ता है परन्तु उससे अतिरिक्त आत्मा की सत्ता नहीं है। अतः वैराग्य की ही संज्ञा ‘वर्मता’ है। अमिधर्मधेरा की व्याख्या ‘सुखाधीन’ में

व्याख्या है—स्वभाव इति आत्मानीव इति। दोनों व्याख्याओं का उत्तरय मात्र एवमुक्त है। परस्वभाविक शरीर में आत्मा तथा आत्मीय इति (अर्थात् और मान्य) रहना उत्पन्न इति है। इहम् by Bhattacharya: Basic Conception of Buddhism (पृ. ७७-७८ की कादम्बिणी)

यशोमित्र के इस महत्त्वशाली कथन का—प्रवचनधर्मता पुनरत्र नैरात्म्य बुद्धा-
नुशासने वा—यही अभिप्राय है।

पुद्गल, जीव, आत्मा, सत्ता—ये सब शब्द एक दूसरे के समानार्थक हैं।
बुद्धमत में इन शब्दों को द्वारा अभिहित पदार्थ कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। आत्मा
केवल नाम है, परस्परसम्बद्ध अनेकों धर्मों का एक सामान्य
आत्मा की नामकरण आत्मा या पुद्गल है। बुद्धधर्म के व्यावहारिक रूप से
व्यावहारिक आत्मा का निषेध नहीं किया है, प्रत्युत पारमार्थिकरूप से ही।

सत्ता अर्थात् लोकव्यवहार के लिए आत्मा की सत्ता है जो रूप, वेदना,
संज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान—पञ्चस्कन्धों का समुदायमात्र है, परन्तु
इनके अतिरिक्त आत्मा कोई स्वतन्त्र परमार्थभूत पदार्थ नहीं है। आत्मा के लिए
बौद्ध लोग 'सन्तान' शब्द का प्रयोग करते हैं जो अन्य सिद्धान्तों से उनकी
विशिष्टता बतलाता है। आत्मा सन्तानरूप है, परन्तु किनका ? मानसिक तथा
भौतिक, आभ्यन्तर तथा बाह्य, इन्द्रिय तथा इन्द्रिय-प्राप्त पदार्थों का। १८ घातु
(इन्द्रिय, इन्द्रिय-विषय तथा सद्सम्बद्ध विज्ञान) परस्पर मिलकर-इस 'सन्तान'
को उत्पन्न करते हैं और ये उपकरण 'प्राप्ति' नामक सस्कार के द्वारा परस्पर
सम्बद्ध रहते हैं। 'प्रतीत्य समुत्पाद' वादी बुद्ध ने एक क्षण के लिए भी आत्मा
की पारमार्थिक सत्ता के सिद्धान्त को प्रश्रय नहीं दिया^१।

पञ्चस्कन्ध

बुद्ध ने आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का तो निषेध कर दिया, परन्तु वे मन और
मानसिक वृत्तियों की सत्ता सर्वथा स्वीकार करते हैं। आत्मा का पता भी तो हमें
मानसिक व्यापारों से ही चलता है। स्फुरण का अर्थ है समुदाय इनका अपलाप

१ अवान्तर काल में 'चात्सीपुत्रीय' या 'साम्मितीय' नामक बौद्ध सम्प्रदाय
(निकाय) ने पञ्चस्कन्धों के संघात से अतिरिक्त एक नित्य परमार्थ रूप में पुद्गल
की सत्ता मानी है। इनके मत का विस्तृत खण्डन वसुवन्धु ने अभिधर्मकोश के
अन्तिम 'स्थान' (अध्याय) में बड़ी युक्ति से किया है। चात्सीपुत्रियों का यह
एकदेशीय सिद्धान्त बौद्ध जनता के मस्तिष्क को अपनी ओर आकृष्ट न कर सका।
(द्रष्टव्य Dr Schervatsky—The Soul Theory of the Buddhists.)

कबमपि नहीं हो सकता। अतः पाँच स्कन्धों का संघटनमात्र है। स्कन्धों के नाम हैं—रूप वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान। चित्त इस व्यक्ति के नाम से पुकारा है, वह इन्हीं पाँच स्कन्धों का समुच्चयमात्र है। इन स्कन्धों की व्याख्या में बीज मन्त्रों में पर्याप्त मतभेद है। वस्तुतः प्रत्येक बीज 'नामरूपप्रत्यय' है। 'रूप' से अभिप्राय शरीर के भौतिक भाग से है और 'नाम' से अत्यर्थ मानसिक प्राप्ति से है। शरीर और मन के परस्पर संबन्ध से ही मानव व्यक्ति की स्थिति है। 'नाम' को चार भागों में बाँटा गया है—विज्ञान वेदना संज्ञा तथा संस्कार।

(१) रूपस्कन्ध—रूप शब्द की व्युत्पत्ति को प्रकार से दो गई है। स्कन्धोऽभिर्बिम्बा' अर्थात् जिसके द्वारा विषयों का रूपचित्रित भाव अर्थात् इन्द्रियों। दूसरी व्याख्या है—स्कन्धोऽस्ति रूपाभिः अर्थात् विषय। इस प्रकार रूपस्कन्ध विषयों के साथ सम्बद्ध इन्द्रियों तथा शरीर का भाग है।

(२) विज्ञानस्कन्ध—अर्थ—यै इत्याकारक ज्ञान तथा इन्द्रियों से ज्ञान रूप इस भाव आदि विषयों का समन्वय दोनों अन्तर्भाव ज्ञान 'विज्ञान स्कन्ध' के द्वारा वाच्य है। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं का ज्ञान तथा आत्मज्ञान 'यै' है। ऐसा ज्ञान—दोनों का महान् इस स्कन्ध के द्वारा होता है।

(३) वेदनास्कन्ध—जिस वस्तु से स्पर्श से कुछ अभिन्न के स्पर्श से कुछ तथा मिय-अभिमि दोनों से मिय वस्तु के स्पर्श से न कुछ और न कुछ को को चित्त को विरोध अस्तित्व होती है वही वेदना स्कन्ध है। बाह्य वस्तु के हान होने पर उत्पन्न संस्कार का चित्त पर प्रभाव पड़ता है वही 'वेदना' है। वस्तु की मित्रता के कारण वह तीन प्रकार की होती है—सुख दुःख न सुख न दुःख।

(४) इन सुख-दुःखात्मक वेदना के आधार पर हम इन वस्तुओं के वर्णन महान् में सब समर्थ होते हैं और इनके पुत्रों के आधार पर उनका समकरण करते हैं। वही है संज्ञास्कन्ध। विज्ञान और संज्ञा में वही अन्तर है या नैवा। विज्ञान के विविक्तत्वक प्रत्यय तथा सविस्तृतक प्रत्यय से बीज है। विविक्तत्वक प्रत्यय में हम वस्तुओं के विषय में इतना ही जानते हैं—एवमिधिरिदम्—कुछ

१ विज्ञानस्कन्ध-अभिव्याख्या रूपाभि-विषय इन्द्रियमन्त्रों का अन्तर्भाव।

भाष्यनी (१।१।१४) अहमित्याधारमात्र विज्ञानमिन्द्रियादिकर्म न ज्ञानवेत्त इह अन्तर्भावार्थ अन्तर्भावार्थ विज्ञानस्कन्ध इत्यर्थः (अन्तराह)

अस्फुट वस्तु है। परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष में हम उसे नाम, जाति आदि से संयुक्त करते हैं कि यह गाय है, वह श्वेतवर्ण की है तथा घास चरती है। यह दूसरा ज्ञान बौद्धों का 'संज्ञा स्कन्ध' है^१।

५) संस्कार स्कन्ध—इस स्कन्ध के अन्तर्गत अनेक मानसिक प्रवृत्तियों का समावेश किया जाता है, परन्तु प्रधानतया राग, द्वेष का। वस्तु की संज्ञा से परिचय मिलते ही उसके प्रति हमारी इच्छा या द्वेष का उदय होता है। रागादिक क्लेश, मदमानादि उपक्लेश तथा धर्म, अधर्म—ये सब इस स्कन्ध के अन्तर्गत हैं।

वस्तुतत्त्व की जानकारी के लिये यही क्रम उपयुक्त है, परन्तु बौद्धग्रन्थों में सर्वत्र 'विज्ञान स्कन्ध' को द्वितीयस्थान न देकर पंचम स्थान दिया गया है। इसकी उपयुक्तता वसुवन्धु ने अभिधर्मकोश में नाना कारणों से बतलाई है। उदाहरणार्थ, उनकी दृष्टि में यह क्रम स्थूलता को लक्ष्यकर निर्धारित है। स्थूल वस्तुओं का प्रथम 'निर्देश' है। शरीर दृष्टिगोचर होने से स्थूलतम है। मानस व्यापारों में वेदना स्थूल है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सुख-दुःख की भावना को झट समझ लेता है। 'नाम' की स्थूलता इससे घटकर है। 'संस्कार' विज्ञान की अपेक्षा स्थूल है क्योंकि धृष्टि, श्रद्धा आदि प्रवृत्तियों का समझना उतना कठिन नहीं है। 'विज्ञान' वस्तु के सूक्ष्मरूप का ज्ञान चाहता है। अतः उसे सूक्ष्म होने से अन्त में रखना उचित ही है^२।

'मिलिन्द प्रश्न' में भदन्त नागसेन ने यवनराज मिलिन्द (इतिहास प्रसिद्ध 'मिनेण्डर' द्वितीय शताब्दी ई० पू०) ने 'आत्मा' के बुद्धसम्मत आत्मा के सिद्धान्त को बड़े ही रोचक ढंग से समझाया है। मिलिन्द ने विषय में पूछा—आपके प्रधानचारी आपको 'नागसेन' नाम से पुकारे हैं, नागसेन तो यह 'नागसेन' क्या है ? भन्ते क्या ये केश नागसेन हैं ?

१ संज्ञास्कन्ध सविकल्पप्रत्यय-संज्ञाससर्गयोग्य प्रतिभास यथा दित्य कुण्डली प्रैरो ब्राह्मणो गच्छतीत्येवजातीयक—भामती । 'सविकल्पकप्रत्यय', इत्यनेन विज्ञानस्कन्धो निर्विकल्प इति भेद स्कन्धयोर्ध्वनित (कल्पतरु)

२ अन्य कारणों के लिए द्रष्टव्य Macgovern: Manual of Buddhist Philosophy पृ० ९३-९४ । यहाँ अभिधर्मकोष का आवश्यक प्रश-चीनी भाषा से अनूदित है ।

मधी माहात्म्य ।

तो रोबे मापसेव हैं ।

मही महापुत्र !

ये मन्त्र शक्ति वमना, मास स्नातु, इष्टी मन्त्रा वक्तु इष्टय यष्टु होम
प्रीति फुल्लुस शक्ति पदनी शक्ति पेट, पाञ्चमा पित्त कफ पीय श्लेष्म, पचीना
मेव, शौच, बर्षी छार, वेद्य साक्षिना शिमाना मायसेव है :

महर्षि महाशयः ।

मन्ते एवं कथा आपन्नस्य मायसेन है। 'चेदनाये मायसेन है। संहा संस्मर विज्ञान मायसेन है।

महीं महाशय !

मन्ते तो क्या रूप मैदवा संह, संस्कार और चिह्न सभी एक सा
बागसेन हैं :

नहीं महाशय !

तो क्या इन स्थापितों से निच कोई मापक है ?

महो महाराज ।

मनो मैं आपसे पूछते पूछते बक बक किन्तु 'नामदेव' क्या है ? इसका पता नहीं चलता । तो आपसे क्या सम्बन्ध है ? आखिर 'नाम देव' है क्यों । आप मुठ कासते हैं कि नामदेव कोई नहीं हैं ।

उस आमुष्मान् मायसेन ने राजा मित्रिन्द से कहा—महाराज आप लज्जित बहुत ही सुकुमार हैं। इस होपहरिय की लगी और गर्म बालू और बंझी से भरी भूमि पर पड़ल आर्य हैं या किसी सज्जारी पर ?

मन्त्रो मी पैरुल बही ज्ञाना रूप पर भाषा ।

महाराज यदि आप रथ पर आये तो मुझे बतलवें कि आपका रथ कहाँ है।
क्या रथ (रथ) रथ है।

बड़ी मम्बै ।

पचा सप्त (दुरे) एव है ।

बढ़ी भगवै ।

क्या बन्ना है ?

नहीं भन्ते ।

क्या रथ का पञ्जर 'रथ की रस्तियों' 'लगाम' चाबुक रथ है ।

नहीं भन्ते ।

महाराज क्या ईषा अक्ष आदि सब एक नाथ रथ हैं ?

नहीं भन्ते ।

महाराज, क्या ईषा आदि में परे कहीं रथ है ?

नहीं भन्ते ।

महाराज, मैं आप से पूछते पूछते थक गया, परन्तु पता नहीं चला कि रथ कहाँ है ? क्या रथ केवल शब्दमात्र है ? आखिर यह रथ क्या है ? महाराज, आप झूठ बोलते हैं कि रथ नहीं है । महाराज सारे जम्बूद्वीप के आप सबसे बड़े राजा हैं । भला किसके डर से आप झूठ बोलते हैं ॥

×

×

×

तब राजा मिलिन्द ने आयुष्मान् नागसेन से कहा—भन्ते, मैं झूठ नहीं बोलता । ईषा आदि रथ के अवयवों के आधार पर केवल व्यवहार के लिए 'रथ' ऐसा सब नाम कहा जाता है ।

महाराज, बहुत ठीक । आपने जान लिया कि रथ क्या है ? इसी तरह मेरे केश इत्यादि के आधार पर केवल व्यवहार के लिए 'नागसेन' ऐसा एक नाम कहा जाता है । परन्तु परमार्थ में, 'नागसेन' ऐसा कोई पुरुष विद्यमान नहीं है ।

आत्म-विषयक बौद्धमत का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है । दृष्टान्त भी नितान्त रोचक है ।

पुनर्जन्म

अब प्रश्न यह है कि आत्मा के अनित्य सघातमात्र होने से पुनर्जन्म किस का होता है ? बुद्ध पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते हैं । जीव जिस प्रकार का कर्म करता है, उसी के अनुसार वह नवीन जन्म ग्रहण करता है । वैदिक मत में यही मत मान्य है, परन्तु आत्मा को नित्य शाश्वत मानने के कारण वहाँ किसी प्रकार की भी विप्रतिपत्ति नहीं है, परन्तु बौद्धमत आत्मा के अस्तित्व को ही अस्वीकार

करता है। तब पुनर्जन्म किसका होता है? जिसमें कर्म किया, वह अतीत में सीधे हो जाता है और जो कर्मता है, उसने वे कर्म ही नहीं किये जिसके फल मोक्ष के लिए नये जन्म की जरूरत पड़ती।

एक मिश्रित कर्म का भी प्रश्न था कि जो उत्पन्न होता है, वह नहीं मरता है या वृद्धा। मायसेन का उत्तर है—न नहीं है और न वृद्धा। और इस सिद्धान्त को उन्होंने 'बीपशिका' के द्वाारा से अभिव्यक्त किया। बीपशिका है। जो मनुष्य रात के समय बीपक करता है, क्या वह रात का वृद्धाश्रम भर नहीं जाता करता है? साधारण रीति से नहीं प्रतीत होता है कि वह रातभर एकही बीपक करता है परन्तु वस्तु स्थिति तो बताती है कि रात के पहले पहर की बीपशिका दूसरी की, दूसरे और तीसरे पहर की बीपशिका चतुर्थे मिलायी। फिर भी रात भर एक बीपक करता रहता है। बीपक एक है, परन्तु उसकी शिखा (धम) प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। आत्मा के विषय में भी ठीक वही दशा बरिखर्ब होती है। 'मिथी वस्तु के अस्तित्व के सिद्धांतों में एक आवश्यकता उत्पन्न होती है और एक सब होती है। और इस तरह प्रकाश जारी रहता है। प्रकाश की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता क्योंकि एक के साथ होते ही दूसरी उठ जाती है। इसी कारण पुनर्जन्म के समय न वही जीव रहता है और न वृद्धा ही हो जाता है। एक जन्म के अन्तिम निश्चय के साथ होते ही दूसरे जन्म का प्रथम निश्चय उठ जाता होता है।'

इस की वही हुई चीजों की म्यास से देखने पर पूर्वोक्त सिद्धान्त ही पुष्ट प्रतीत होता है। इस पुष्ट जाने पर कुछ समय के बाद कमकर जारी हो जाता है। वही से मरकन और मरकन से भी बनता जाता है। इस पर पुष्ट की वही प्रश्न है कि जो वृष का वही वही, जो वही, वही मरकन की चीजों का मरकन वही की। उत्तर स्पष्ट है—वे चीजें वृष नहीं है, वृष के वृद्धाश्रम विचार हैं—वृष से वही हुई हैं। प्रकाश भी इसी प्रकार जारी रहता है। पुनर्जन्म के समय जन्म लेनेवाला जीव न तो वही है और न वृद्धा मिला है। एक तो यह है कि निश्चय की वही प्रतिक्षण बदलती

हुई नित्य सी दीखती है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम उठ खड़ा होता है^१। प्रतिक्षण में कर्म नष्ट होते चले जाते हैं, परन्तु उनकी वासना अगले क्षण में अनुस्यूत रूप से प्रवाहित होती है। इसलिए अनित्यता को मानते हुए भी बौद्धों ने पुनर्जन्म को तर्कयुक्त माना है।

(ग) अनीश्वरवाद

बुद्ध प्रथम कोटि के अनीश्वरवादी थे। उनके मत में ईश्वर की सत्ता मानने के लिए हमारे पास कोई भी उपयुक्त तर्क नहीं है। अपने उपदेशों में उन्होंने अपनी अनीश्वरवादी भावना को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया है जिसे पढ़कर प्रतीत होता है कि वे अनजाने और अनसुने ईश्वर के भरोसे अपने अनुयायियों को छोड़कर उन्हें अकर्मण्य तथा अनात्मविश्वासी बनाना नहीं चाहते थे।

पाथिकसुत्त (दीघ निकाय ३।१) में बुद्ध ने ईश्वर के कर्तृत्व का बड़ा उपहास किया है। केवट्सुत्त (११) ने ईश्वर को भी अन्य देवताओं के तुल्य एक सामान्य देवता बतलाया है जो इन महाभूतों के निरोध के विषय ईश्वर का में वन्हीं देवताओं के समान ही अज्ञानी है। इस प्रसङ्ग में बुद्ध - उपहास का उपहास बड़ा मार्मिक तथा सूक्ष्म है। प्रसङ्ग यह बतलाया गया है कि एक बार भिक्षुसूच के एक भिक्षु के मन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि ये चार महाभूत—पृथ्वीधातु, जलधातु, तेजोधातु, वायुधातु—कहाँ जाकर विलुप्त निरुद्ध हो जाते हैं। समाहितचित्त होने पर देवलोकगामी मार्ग उसके सामने प्रकट हुए। वह भिक्षु वहाँ गया जहाँ चातुर्महाराजिक देवता निवास करते हैं। वहाँ जाकर इन महाभूतों के एकान्त निरोध के विषय में पूछा। उन्होंने अपनी अज्ञानता प्रकट की और उस भिक्षु को अपने से बढ़कर चार महाराजा नामक देवताओं के पास भेजा। वहाँ जाकर भी उसे वही नैराशपूर्ण उत्तर मिला। वहाँ से वह क्रमशः त्रायारित्रिश, शक्र, याम, सुयाम, तुषित, सतुषित, निर्माणरति, सुनिर्मित, परनिर्मित वशवर्ती, वशवर्ती, ब्रह्मकायिक नामक देवताओं के पास गया, जो क्रमशः प्रभाव तथा माहात्म्य में अधिक बतलाये गये। ब्रह्मकायिक देवता ने उसे कहा कि हे भिक्षु हमसे बहुत बढ़-चढ़कर ब्रह्मा हैं। वे महाब्रह्मा, विजयी, अपराजित, परार्थद्वेषा, वशी, ईश्वर, कर्ता, निर्माता, श्रेष्ठ और सभी हुए

तथा हमें ब्रह्मे पदार्थों के पिता हैं। वही इस प्रपञ्च का उत्पत्ति दे सकते हैं। उक्त स्वामि हमको यह भी जानते, पर शोक करते हैं कि बहुत आसोक और प्रपञ्च के प्रकट होने पर प्रपञ्च प्रकट होते हैं। महाप्रपञ्च प्रकट हुए और उन्होंने आत्मन्मन्त्र मरे शब्दों में अपने को ब्रह्मा तथा ईश्वर कहता था परन्तु उक्त प्रपञ्च पूरने पर वा उन्होंने उत्तर दिया वह मिताम्न उपजायास्पद वा। उन्होंने कहा है मित्र प्रपञ्चांक के देखा मुझे ऐसा समझते हैं कि ब्रह्मा से कुछ अज्ञात नहीं है अतः अविदित अज्ञानास्पद नहीं है। परन्तु मैं स्वयं ही नहीं जानता कि वे महाप्रपञ्च क्यों निरुद्ध होते हैं। तुमने भी समझी की कि मन्त्रान्तर कुछ को जोरकर इस प्रपञ्च के उत्पत्ति के लिए मेरे पास आने। देखा योग मुझे सर्वज्ञ कहते हैं, परन्तु मुझ में सर्वज्ञ नहीं है। तब उस मित्र को कुछ न उपदेश दिया कि क्यों अविदित (उत्पत्ति विवृति-सत्य से निरुद्ध) अज्ञान और अज्ञान प्रपञ्च निर्माण है वहीं वारों महाप्रपञ्चों का विस्तृत निरोध होता है।

इस प्रपञ्च को देखकर कुछ की मन्त्रा का परिचय मिलता है। वे ईश्वर को इस अज्ञान का व तो नहीं जानते हैं और न उन्हें सर्वज्ञ मानने के लिए तैयार हैं। वह किसी को ईश्वर की उत्पत्ति में अज्ञात है तो अज्ञात नहीं रहे। परन्तु ईश्वर को सर्वज्ञ मानना मिथ्या बुद्धिबिहीन है। वे अपना अज्ञान अपने ही स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हैं।

ऐक्यज्य धृत (बी मि १२) में कुछ ने इस प्रपञ्च की मुक्त समीक्षा की है। उन्होंने वैद-दक्षिणा अर्थियों तथा ब्रह्मार्थों को अस्मिन् ब्रह्मात्मा कहकर उनके द्वारा उद्गम्यित पदार्थों को भी अज्ञानात्मिक कहता है। ब्रह्मार्थों में पौर्वाचार्य (अमर-अमर आदि अमर) पामे जाते हैं। अतः उनका सिद्धान्त बुद्धि है। जब वे ईश्वर (प्रपञ्च) को न तो जानते और न देखते हैं तब उनकी उत्पत्ति प्रपञ्च करने वाले मार्ग का उपदेश क्यों कर जाया जाय ? अनेक ब्रह्मार्थों का अज्ञानता अज्ञानियों के समान है^१। जैसे अज्ञानों को वीर एक दूसरे से शरीर हो आगे जाता भी नहीं देखा जानता भी नहीं देखा पौष्टे जाता भी नहीं देखा। उनके अज्ञान में निरवस्था करवा अज्ञानियों किन्हीं अज्ञान-अज्ञानों की अज्ञान के समान नहीं बन्य है। जो बर्ग ब्रह्म अज्ञान करते हैं उन बर्गों को छोड़ कर

अन्य धर्मों से युक्त पुरुष कितना भी देवता या ईश्वर की स्तुति करे उसकी स्तुति सफल नहीं होती। क्या किसी काकपेया जलपूर्ण नदी के इस तीर पर खड़ा होनेवाला पुरुष अपरतीर को बुलावे, तो क्या अपरतीर इधर चला आवेगा ? नहीं, कथमपि नहीं। इसी कारण त्रैविद्य ब्राह्मणों के द्वारा ईश्वर-तत्त्व उपदिष्ट हुआ है, अतएव वह माननीय है तथा प्रामाणिक है, इस सिद्धान्त को बुद्ध मानने के लिए कथमपि तत्पर नहीं हैं। बुद्ध बुद्धिवादी व्यक्ति थे। जो कल्पना बुद्ध की कसौटी पर नहीं कसी जा सकती है, उसे वे मानने को सर्वथा पराङ्मुख थे।

(घ) अभौतिकवाद

बुद्ध के इन विचारों को पढ़कर लोगों के मन में भावना उठ सकती है कि बुद्ध भौतिकवादी थे, जब प्रकृति के ही उपासक थे। इस ससार से अतिरिक्त किसी अन्य लोक की सत्ता नहीं मानते थे। परन्तु यह कल्पना अयथार्थ है। बुद्ध अनात्मवादी तथा अनीश्वरवादी होने पर भी भौतिकवादी न थे। जब उनके जीवन में भौतिकवादियों से उनकी या उनके शिष्यों की भेंट हुई, तब उन्होंने सदा जोरदार शब्दों में उनके मत का खण्डन किया।

पायासिराजञ्ज सुत्त (दी० नि० २।१०) के अध्ययन से बुद्धमत के अभौतिकवादी होने का नितान्त स्पष्ट प्रमाण मिलता है। पायासी राजन्य बुद्ध का ही समकालीन था। वह कोशलराज प्रसेनजित् के द्वारा प्रदत्त 'सेतव्या' नामक नगरी का स्वामी था। उसको यह मिथ्या दृष्टि थी—यह लोक भी नहीं है, परलोक भी नहीं है, जीव मर कर पैदा नहीं होते, अच्छे और बुरे कर्मों का कोई भी फल नहीं होता। पायासी सचमुच चार्वाक मत का अनुयायी था। अपने मत की पुष्टि में उसकी तीन युक्तियाँ थीं—(१) मरे हुए व्यक्ति लौटकर कभी परलोक के समाचार सुनाने के लिए नहीं आते। (२) धर्मात्मा आस्तिकों को भी मरने की इच्छा नहीं होती। यदि इस लोक में पुण्यसमाय का फल स्वर्ग तथा आनन्द प्राप्त करना है तो क्यों धर्मात्मा पुरुष अपनी मृत्यु की कामना नहीं करता ? (३) मृतक शरीर से जीव के जाने का कोई भी चिह्न नहीं मिलता। मरते समय उसको देह से जीव को निकलते हुए किसी ने नहीं देखा, जीव के निकल जाने से शरीर हलका नहीं हो जाता, प्रत्युत वह पहिले से भी भारी वन बैठता है। इस तर्क

के बल पर वह अनेक दार्शनिक को चुनौती देता फिरता था। एक बार उसे मैथिल के शिष्य (अथर्व) अथर्व कुमार वारवण से जसी नगर में मेट हुई। वारवण ने उसकी दुष्टियों को बर्षा ही सुन्दरता से आभूषण कर परलोक को उत्तम-पुष्पसुष्प-कर्मों का फल तथा जीव को शरीर से मिश्रता का प्रतिपादन किया। बुद्ध का बही मत है। बुद्ध समझते थे कि मौक्तिकवाद का अग्रसम्भवन उनके महावर्ण तथा समाधि के सिद्ध सिद्धान्त प्रतिबन्धक है। एक अवसर पर इसीलिए उन्होंने कहा—'बही जीव है बही शरीर है'—दोनों एक हैं, ऐसा मत होने पर महावर्ण प्राप्त नहीं हो सकता। 'जीव दूसरा है शरीर दूसरा है' ऐसा मत होने पर भी महावर्णप्राप्त नहीं हो सकता।

इस अभिप्राय कथन का उत्तर यह है कि मौक्तिकवादी और वास्तववादी के लिए महावर्ण-वास—छात्र जीव-को दुष्टिगत—हीक नहीं उठती। छात्रजीवन विद्यार्थी को इच्छा तभी महसूस करता है जब उसे परलोक में शोभन फल पाने का रस निश्चय होता है। परन्तु मौक्तिकवादी परलोक को मानता ही नहीं। जन्म बसके लिए छात्रजीवन व्यर्थ है। व्यासा को मिला शारङ्ग नामसे बाधे व्यक्ति के लिए भी यह व्यर्थ है, क्योंकि शारङ्ग व्यासा में छात्र-जीवन के अनुष्ठान से किसी प्रकार का संशोधन नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में वास्तववादी बुद्ध मौक्तिकवाद के पक्षके विरोधी थे तथा अस्तित्ववाद के पक्ष समर्थक थे। उनकी व्यापार शिक्षा की बही दार्शनिक भिन्न है। इस प्रकार हीनवान के दार्शनिक उत्तमों के अनुशीलन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसे बार सिद्धान्त मान्य थे—(क) अतीत समुत्पन्न, (ख) अनात्मवाद, (ग) अनौपरकाय तथा (घ) अमौक्तिकवाद। ये तत्त्व बौद्ध धर्म के सिद्धांत-बीज हैं।



द्वितीय खण्ड (धार्मिक विकाश)

आलम्बनमहत्त्व च प्रतिपत्तेर्द्वयोस्तथा ।
ज्ञानस्य वीर्यारम्भस्य उपाये कौशलस्य च ॥
उदागममहत्त्वञ्च महत्त्व बुद्धकर्मणः ।
एतन्महत्त्वयोगाद्धि महायान निरुच्यते ॥

(असंग—महायान सूत्रालंकार १९।५९-६०)

अष्टम परिच्छेद

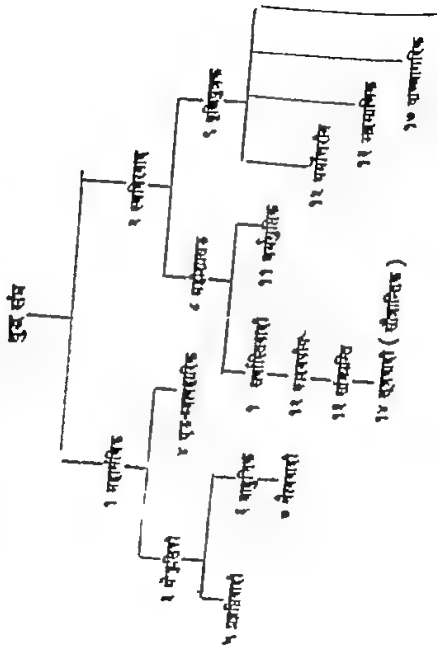
(क) निकाय तथा उनके मत

अशोककालीन ये बौद्ध सम्प्रदाय अष्टादश निकाय के नाम से बौद्ध ग्रन्थों में खूब प्रसिद्ध हैं। 'निकाय' का अर्थ है सम्प्रदाय। इन निकायों के अनुयायियों का भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों में आविपत्य था। बहुत शताब्दियों तक इनकी प्रभुता बनी रही। इन निकायों के अलग अलग सिद्धान्त थे जो कालान्तर में विलुप्त हो गये, परन्तु उनके उल्लेख पीछे के बौद्ध ग्रन्थों में ही नहीं, प्रत्युत ब्राह्मणग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। परन्तु इन निकायों के नाम, स्थान तथा पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में बौद्ध ग्रन्थों में ऐकमत्य दृष्टिगोचर नहीं होता। कथा वत्थु^१ की रचना का उद्देश्य यही था कि इन निकायों के सिद्धान्तों की समीक्षा स्वविरवादी मत की दृष्टि से की जाय। मोगगलिपुत्त तिस्स (वि० पू० तृतीय शतक) ने इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना कर प्राचीन मतों के रहस्य तथा स्वरूप के परिचय देने का महनीय कार्य किया है। आचार्य वसुमित्र ने 'अष्टादश निकाय शास्त्र'^२ की रचना कर इन निकायों के सिद्धान्तों का विशद वर्णन किया है। दोनों ग्रन्थकारों की दृष्टि में भेद है। तिस्स येरवादी हैं तथा वसुमित्र सर्वास्तिवादी। दृष्टि की भिन्नता के कारण आलोचना का भेद होना स्वाभाविक है, परन्तु दोनों में प्रायः एक समान सिद्धान्तों का ही निर्देश किया गया है जिससे इन सिद्धान्तों की ख्याति तथा प्रामाणिकता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

१ तिस्स की रचना होने पर भी कथावत्थु का इतना आदर है कि वह त्रिपिटक के अन्तर्गत माना जाती है। इसका उपादेय अग्नेजी अनुवाद लण्डन की पाली टेक्स्ट सासाइटी ने प्रकाशित किया है।

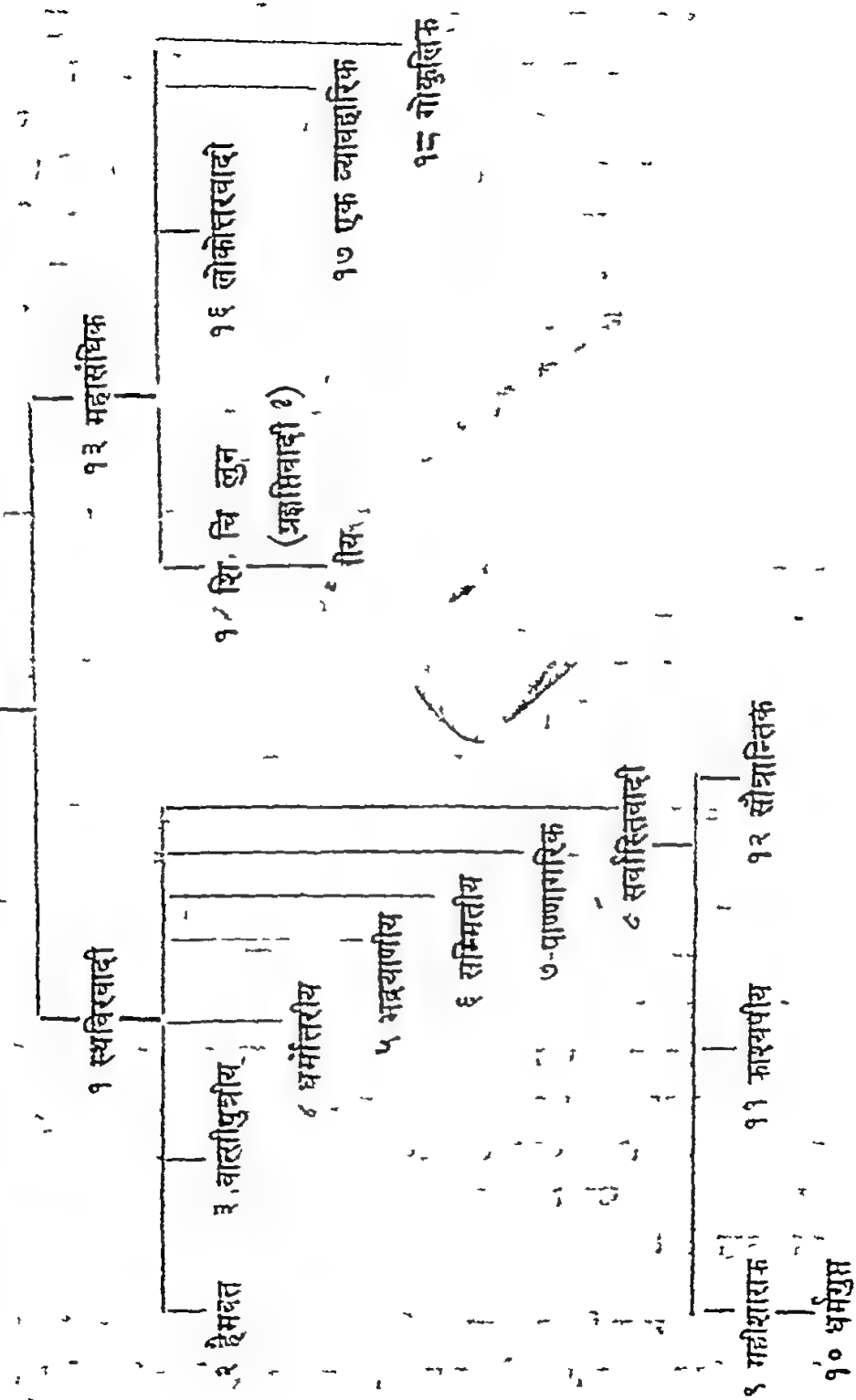
२ इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत उपलब्ध नहीं, परन्तु चीनी भाषा में इसका अनुवाद उपलब्ध है जिसका अग्नेजी में अनुवाद जापानी विद्वान् प्रो० मसूदा ने किया है। (द्रष्टव्य 'एशिया मेजर' भाग २, १९२५)

क्यापण' को पट्टपञ्चा के अनुसार इन पट्टपञ्च विषयों का विमलज इस प्रकार से था—



‘नील भाषा में अनुवादित भदन्त वसुमित्र प्रणीत ‘महासंघ’ ग्रन्थ के अनुसार यह अठारह शाखाभेद इस प्रकार है —

6



इन अष्टादश निक्षपों की उत्पत्ति अष्टोक से पहिले ही हो चुकी थी। पर उनके बाद इस साम्प्रदायिक मतमंजु का प्रवाह रुक नहीं प्रसृत बौद्ध धर्म के विपुल प्रसार के साथ-साथ विभिन्न सिद्धान्तों की कल्पना के कारण अन्त्यक मनीन सम्प्रदायों की उत्पत्ति तथा पुष्टि होती ही रही। 'कपावस्तु' सम्प्रदाय में इन अष्टान्तर तथा अपेक्षाकृत मनीन मतों के भी सिद्धान्तों को रूप वर्णन मिलता है। ब्रह्मदरानार्थ बौद्धवादी सम्प्रदाय से अष्टादशायें अथवा शब्दों के राज्य में विस्तार पानेवाले अन्त्यक सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। आग्नेयधर्मों की राजधानी बाल्मिक्य (विष्णु प्रह्लाद का 'परमोकाट' नगर) इस सम्प्रदाय का केन्द्रस्थल था। इसी अन्त्यक सम्प्रदाय से ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में बार अन्त्य सम्प्रदायों का जन्म हुआ— पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, राजगिरिक तथा सिद्धार्थक। बाल्मिक्य का प्रधान स्तूप ही महाशैल्य के पास से प्रसिद्ध था। इसी कारण वहाँ का सम्प्रदाय 'बौद्धवादी कल्याण'। 'राजगिरिक' तथा 'सिद्धार्थक' नामकरण के कारण का पता नहीं चलता, परन्तु पूर्वशैलीय तथा अपरशैलीय सम्प्रदाय बाल्मिक्य के पूर्व तथा पश्चिम में होनेवाले दो पर्वतों के ऊपर स्थित विहारों के कारण इन नामों से अभिहित हुये हैं। इसका पता हमें भोजिनग्रन्थों से चलता है। राजगिरिक भी अन्त्यक सम्प्रदाय के अन्तर्गुह्य के परन्तु आग्नेय देश में इनका केन्द्र 'राजगिरि' नहीं था। वह वहीं कहा जा सकता। 'कपावस्तु' में इसके एतद्द सिद्धान्तों का अन्त्यक किना पता है विषयों से अष्ट इसके तथा सिद्धार्थकों के एक समान हैं। अतः इन दोनों का आपस में सम्बन्ध एकत्र अनुमानित है। सिद्धार्थक के नामकरण का तो पता नहीं चलता परन्तु इसके सिद्धान्तों की समानता बलवती है कि या तो एक दूसरे से निकल या का दोनों का उत्पन्न स्थान एक ही था। वे चारों ही अन्त्यक निक्षप आग्नेयधर्मों के समय में बहुत ही उन्नत देश में थे। आग्नेय राजा तथा उनकी राज्यों बौद्धधर्म में विशेष अनुप्राण रहती थी, इसी कारण आग्नेय देश अनेक शताब्दियों तक बौद्ध धर्म का प्रधान स्थल रहा है।

इसी 'अन्त्यक निक्षपों' का परिमिश्रित निक्षिप्त रूप 'महावाज' है। महार्थ अर्थों में विषय सिद्धान्तों को लेकर अपना सम्प्रदाय स्वविरचनियों से पूरक किना

उन्हीं सिद्धान्तों का अन्तिम विकास महायान सम्प्रदाय में हुआ ।
महायान के यान का अर्थ है मार्ग और महा का अर्थ है बड़ा । अतः महा-
विशिष्ट यान का अर्थ हुआ बड़ा या श्रेष्ठ अथवा प्रशस्त मार्ग । इस मत
सिद्धान्त के अनुयायियों का कहना है कि जीव को चरम लक्ष्य तक पहुँचाने
 में यही मार्ग सबसे अधिक सहायक है । स्थविरवाद अन्तिम
 लक्ष्य तक नहीं पहुँचाता । इसीलिये उसे 'हीनयान' सहा दी गयी । हीनयान से
 महायान की विशेषता अनेक विषयों में स्पष्ट है । अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण
 इस मत के अनुयायी अपने को महायानी—अर्थात् प्रशस्त मार्गवाला—कहते थे —

(१) **द्यौसत्त्व की कल्पना**—हीनयान मत के अनुसार अर्हत् पद
 की प्राप्ति ही भिक्षु का परम लक्ष्य है । निर्वाण प्राप्त कर लेने पर भिक्षु क्लेशों
 से रहित होकर आत्म-प्रतिष्ठित हो जाता है । वह जगत् का उपकार कर नहीं
 सकता । परन्तु द्यौसत्त्व महामैत्री और करुणा से सम्पन्न होता है । उसके
 जीवन का लक्ष्य ही जगत् के प्रत्येक प्राणी को क्लेश से मुक्त करना तथा निर्वाण
 में प्रतिष्ठित कराना होता है ।

(२) **त्रिकाय की कल्पना**—धर्मकाय, सभोगकाय और निर्माणकाय—
 ये तीनों काय महायान को मान्य हैं । हीनयान में बुद्ध का निर्माण काय ही अभीष्ट
 है । वे लोग धर्मकाय की भी कल्पना किसी प्रकार मानते थे । परन्तु हीनयानी
 धर्मकाय से महायानी धर्मकाय में विशेष अन्तर है ।

(३) **दशभूमि की कल्पना**—हीनयान के अनुसार अर्हत् पद की प्राप्ति
 तक केवल चार भूमियाँ हैं—(१) स्रोतापन्न (२) सकृदागामी (३) अनागामी तथा
 (४) अर्हत् । परन्तु महायान के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति तक दशभूमियाँ होती
 हैं । ये सोपान की तरह हैं । एक के पार करने पर साधक दूसरे में प्रवेश
 करता है ।

(४) **निर्वाण की कल्पना**—हीनयानी निर्वाण में क्लेशावरण का ही
 अपनयन होता है, परन्तु महायानी निर्वाण में ज्ञेयावरण का भी अपसारण
 होता है । एक बुद्धाभाव रूप है, तो दूसरा आनन्द रूप है ।

(५) **भक्ति की कल्पना**—हीनयान मार्ग विल्कुल ज्ञानप्रधान मार्ग है ।
 है । बुद्ध मार्ग पर चलना ही उसका चरम लक्ष्य है ।

जान में मक्ति का पर्याप्त स्थान है। कुछ सामारण मानव न होकर बोधोत्तर पुन्य थे। उनकी मक्ति क्रम से ही मानव इस बुद्धबहुल संसार से पार हो सकते हैं। मक्ति को प्रभव देने के कारण ही महात्मान के समय में बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण होने लगा। अतः महात्मान के कारण बौद्धकला—चित्रकला तथा मूर्तिकला—की विशेष वृद्धि हुई। शुद्धकला में बौद्धकला के विकास का बड़ी प्रभावकारण है।

इन्हीं उत्कृष्ट महात्मान सम्प्रदाय की विशेषताओं का विस्तृत विवेचन अभी बसकर किया जायेगा।

(ख) निकाया के मत

(१) महासंघिक का मत

अष्टादश मित्तों के मतों के बल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं। केवल दो प्रधान मतों का विवरण यहाँ दिया जाता है। मूल बौद्धसंघ से अलग होमेकता नहीं पहचान सम्प्रदाय का। बैथली की द्वितीय संमेलि (सत्र) के समय में ही ये लोग अलग हो गये और बैथली में अजर एक छह मित्तों के संघ के साथ अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करने के लिये इन्होंने अलग सभा की। स्वविरादी कट्टरपन्थी थे परन्तु महासंघिक विनय के अष्टम नियमों में संशोधन कर सामारण लोगों के लिये अनुसृत बनाने के पक्ष में थे। इनके विनयनिरवक सिद्धान्तों के विषय में हमें कुछ भी नहीं कहना है। आनन्द की दृष्टि से उनका संशोधन विशेष महत्व का नहीं प्रतीत होता परन्तु उनका कुछ और धर्म निरवक सिद्धान्त पर्याप्त महत्वपूर्ण है। सिध्य तथा अनुसृत दोनों से इन सिद्धान्तों का अन्तर्गमन किया है। यहाँ इनके अतिरिक्त अष्टादश सिद्धान्तों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा।

महासंघिकों का वह सर्वमान्य सिद्धान्त था कि कुछ मनुष्य नहीं थे अपितु लोकदेवता थे। उनका शरीर कन्यास्य (विशुद्ध, कोमल) धर्मों से रक्षित था। अतः वे निरा-स्पर्श एवं बोधों भव्यों से विमुक्त थे।

(१) कुछ की अपरिमित रूपरूप को कारण कर सकते थे अर्थात् उनमें इसी काबोत्तरता शक्ति थी कि वे अपनी इच्छानुसार अगमिता भीति शरीरों को एक एक ही धारा कर सकते थे। उनका मत अपरिमित था

तथा उनकी आयु भी असंख्य थी। वे अवान्तर बातें बुद्ध के लोकोत्तर होने से स्वतः सिद्ध हैं।

२—बुद्ध ने जिन सूत्रों का उपदेश दिया है वे स्वतः परिपूर्ण हैं। बुद्ध ने धर्म को छोड़कर अन्य किसी बात का उपदेश दिया ही नहीं। अतएव उनकी शिक्षा परमार्थ सत्य के विषय में है, व्यावहारिक सत्य के विषय में नहीं। परमार्थ सत्य शब्दों के द्वारा अवर्णनीय हैं। पाली त्रिपिटकों में दी गयीं शिक्षायें व्यावहारिक सत्य के विषय में हैं, परमार्थ के विषय में नहीं।

३—बुद्ध की अलौकिक शक्तियों की इयत्ता नहीं। वे जितनी चाहें उतनी शक्तियाँ एक साथ प्रकट कर सकते हैं।

४—अन्वयका कहना है कि बुद्ध और अर्हत् दोनों एक कोटि में नहीं रखे जा सकते। दोनों में दस प्रकार के 'बल' होते हैं^१। अन्तर इतना ही है कि बुद्ध 'सर्वोत्तम' हैं अर्थात् उनका ज्ञान प्रत्येक वस्तु के विषय में विस्तृत व्यापक तथा परिपूर्ण होता है परन्तु अर्हत् का ज्ञान एकाग्र और अरूप होता है।

बोधिसत्त्व संसार के प्राणियों को धर्म का उपदेश करने के लिये स्वतः अपनी स्वतन्त्र इच्छा से जन्म ग्रहण करते हैं। जातकों की कथाओं में इस सिद्धान्त का पर्याप्त परिचय मिलता है तथा महायान के प्रमुख आचार्य (२) बोधि शान्तिदेव 'शिक्षा-समुच्चय' तथा 'धर्मचर्यावतार' में इसका भली-सत्त्व को भौति वर्णन किया है। बोधिसत्त्वों को मातृ-गर्भ में भ्रूण के नाना-कल्पना वस्थाओं को पार करने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्युत वे स्वेत हस्ती के रूप में माता के गर्भ में प्रवेश करते हैं और उसी

१ दस प्रकार के बल से समन्वित होने के कारण ही बुद्ध का नाम 'दशबल' है। दशबलों के नाम ये हैं—

(१) स्थानास्थानं वेत्ति (२) सर्वत्र गामिनीं च प्रतिपद वेत्ति। (३) नानाधातुकं लोका विन्दति (४) अधिमुक्तिनानात्वं वेत्ति। (५) परपुरुषचरितकुशलानि वेत्ति (६) कर्मबलं प्रति जानन्ति शुभाशुभम् (७) क्लेश व्यवदानं वेत्ति, ध्यानसमाप्तिं वेत्ति (८) पूर्वनिवासं वेत्ति (९) परिशुद्धिर्व्यनयना भवन्ति। (१०) सर्वक्लेश विनाशं आप्नोन्ति। महावस्तु ४० १५९-१६० ॥ ये ही दशबल इसी रूप में कथावस्तु और मज्झिम निकाय में भी उपलब्ध हैं।

एत को चाहिने तरफ से निकलकर जन्म ग्रहण कर लेते हैं। कोविन्द को यह कल्पना विधान्त मानी है। परन्तु स्वविराजो इसमें तबिक भी निराल नहीं करते।

अर्हत के स्वल्प लेकर भी महासंनिको ने पर्याप्त आलोचना की है। वेर-
कारियों के अनुसार अर्हत ही प्रत्येक व्यक्ति का महनीय आदर्श है जिसकी प्राप्ति के
लिए हर समय को सर्वथा अग्रतन्त्र होना चाहिये। परन्तु यह
(३) अर्हत सिद्धांत बर्तमान मतकों को पछान नहीं पा। इसके अनुसार (क)
का स्वल्प अर्हत वृत्तों के द्वारा अनुमाना जा सकता है। (ख) अर्हत होने
पर भी उसमें अज्ञान रहता है। (ग) अर्हत होने पर भी इसे
संतान और स्विह होते हैं (घ) अर्हत वृत्तों को सहायता से ज्ञान प्राप्त करता
है। अर्हत निराल इन विचारों का अण्डन करवाती सिद्ध ने 'कथावस्तु' में किया है।
अन्त्यपन्न धारक अपने मार्ग से बहुत होकर परावृत्त होता है परन्तु
अर्हत कभी अपने मार्ग से बहुत नहीं होता। एक बार अर्हत
(४) कोत्तापन्न पर की प्राप्ति होने पर वह सदा ही परस्व (स्विर) रहता है।
वह कभी भी अपरस्व नहीं हो सकता।

इन्द्रियों का रूप अज्ञ भीतिक है। वे केवल मांसिक है। नेत्र इन्द्रिय व
ले निरालों को देखती है और न अन्त इन्द्रिय निरालों को छुलती है। इन्द्रियों अपने
निरालों को ग्रहण करती ही मारी। यह सिद्धान्त वसुधित के
(५) इन्द्रिय अन्त के आकार पर है परन्तु 'कथावस्तु' में ता महासंनिकों की
इन्द्रियनिराल कल्पना की इससे निपटीत की मारी है।

सर्वस्विकारियों (को स्वविराजियों की ही अपराध है) के अनुसार
असंस्कृत बर्म तीन हैं (क) आत्मा (ख) अतिरिक्तविराल (ग) अतिरिक्तविराल
विराल। परन्तु महासंनिकों के अनुसार इनकी संख्या १ है। तीन
३ असंस्कृत ले मारी हैं बार आत्म है—(१) आत्मवस्तु (२)
अन्त निरालवस्तु (३) अतिरिक्तवस्तु (४) केवलवस्तु (५) केवलवस्तु
तथा वा बर्म अन्त की है।

(२) सम्मितीय सम्प्रदाय

सम्मितीयों का प्रसिद्ध नाम वात्सीपुत्रीय है। यह थेरवाद की ही उपशाखा है जो कि अशोक से पूर्व में ही मूल शाखा से अलग हो गयी थी। हर्षवर्धन के समय में इस सम्प्रदाय की विशेष प्रधानता थी। इसका पता **नामकरण** तत्कालीन चीनी यात्रियों के विवरणों से मिलता है। इस सम्प्रदाय की प्रधानता पश्चिम में सिन्धु प्रान्त में तथा पूर्व में बङ्गाल में थी। इनके अपने विशिष्ट सिद्धान्त थे परन्तु इनके पुद्गल के सिद्धान्त ने अन्य सिद्धान्तों को दबा दिया था। ब्राह्मण दार्शनिकों (विशेषकर उद्योतकर और वाचस्पति) ने सम्मितीयों के पुद्गलवाद का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। इस सिद्धान्त की महत्ता का परिचय इसी बात से लग सकता है कि वसुवन्धु ने अपने अभिधर्म-कोष के अन्तिम परिच्छेद में 'पुद्गलवाद' का विस्तृत खण्डन किया है तथा तिष्य ने 'कथावत्यु' में खण्डन करने के लिये सर्व प्रथम इसी मत को लिया है।

सम्मितीयों ने लोकानुभव की परीक्षा कर यह परिणाम निकाला है कि इस शरीर में 'अह' इस प्रकार की एकाकार प्रतीति लक्षित होती है जो क्षणिक न होकर चिरस्थायी है। यह प्रतीति पञ्च स्कन्धों के सहारे उत्पन्न नहीं की जा सकती। कोई भी पुरुष केवल एक ही व्यक्ति के रूप में कार्य करता है या सोचता है, पाँच विभिन्न वस्तुओं के रूप में नहीं। मनुष्य के गुण (जैसे स्रोतापन्नत्व) भिन्न-भिन्न जन्मों में भी एक ही रूप से अनुस्यूत रहते हैं। इन घटनाओं से हमें वाध्य होकर मानना पड़ता है कि पञ्च-स्कन्धों के अतिरिक्त एक नवीन मानस व्यापार विद्यमान है जो अहंभाव का आश्रय है तथा एक जन्म से दूसरे जन्म में कर्मों के प्रवाह को अविच्छिन्न रूप से बनाये रहता है। स्कन्धों के परिवर्तन के साथ ही साथ मानस व्यापार भी बदलता रहता है। अतः इन पञ्चस्कन्धों के द्वारा ही अतीत जन्म तथा उसके घटनाओं की स्मृति की व्याख्या भली-भाँति नहीं हो सकती। अतः वाध्य होकर सम्मितीयों ने एक छठे (षष्ठ) मानस व्यापार की सत्ता अङ्गीकार की। इसी मानस व्यापार का नाम 'पुद्गल' है। यह पुद्गल स्कन्धों के साथ हो रहता है। अतः निर्वाण में

डा० दत्त—(इ० हि० का० भाग १३ पृ० ५४९-५८०)

(इ० हि० का० भाग १४ पृ० ११०-११३)

जब स्वन्धी का निरोध हो जाता है तब पुत्रस का भी उपशम आवश्यक नहीं है। यह पुत्रस न तो संस्कृत करा जा सकता है और न असंस्कृत। पुत्रस स्वन्धी के समान अनिष्ट नहीं है। अतएव उसमें संस्कृत धर्मों का गुण विद्यमान नहीं रहता। पुत्रस निर्वाण के समान न तो अपरिचितमौल है और न निर्विकल्पायी है। इसलिए उसको असंस्कृत भी नहीं कह सकते। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बसुमित्र ने इन शब्दों में किया है—

(१) पुत्रस न तो स्वन्ध ही है और न स्वन्ध से निष्ठ है। स्वन्धी आत्मतन्त्रों तथा मातृभों के समुदाय के सिद्धे पुत्रस शब्द का व्यवहार किया जाता है।

(२) धर्म पुत्रस की ओर करके अन्यान्तर ग्रहण नहीं कर सकते। जब न अन्यान्तर ग्रहण करते हैं तो पुत्रस के साथ ही करते हैं।

बसुमित्र ने पुत्रसवाद के अतिरिक्त अन्य कई सिद्धान्तों का वर्णन किया है। न नीचे दिये जाते हैं। (क) पञ्चविहास न तो शर्म उत्पन्न करते हैं और न विराम। (ख) विराम उत्पन्न करने के सिद्धे साधक को संन्यासियों को छोड़ना पड़ता है। धर्म मार्ग में रहने पर संन्यासियों का नाश नहीं होता प्रायुक्त मार्ग-मार्ग में पहुँचने पर इन संन्यासियों का नाश आवश्यक नहीं है।

१. बेरवाली और अर्धास्तिवासी इत्यादि न के विस्तार तथा धम्मोत्तर के साथ इस मत का सम्बन्ध किया है। ब्रह्म-बेरवाली-सौत-बोरी-आफ बुद्धिहस (पिउरुसर्ग १११८) के अनुसार का प्रथम परिच्छेद। यह पुत्रस सम्मिलितियों का विविध मत का परन्तु मन्त्रानिष्ट धर्मग्रन्थ तथा धर्मान्तरिकी सम्प्रदाय के अनुयायी लोग भी इस व्यक्ति की उताही स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि यह व्यक्ति अनिर्वचनीय रूप है। न तो पञ्चसम्भा के साथ इसका सम्बन्ध है और न भेद।

२. सम्मिलितियों के सिद्धान्त के सिद्धे ब्रह्म

(क) पुर्ण-इन्द्रजित्वापिडिया आफ रिक्किण एन्ड एक्किण भग ११५ ११८-११८ तथा (इ हि का भग १५५ १-१) (११) (११८-११८)

१. अज्ञान निवारण में महत्त्वपूर्ण होने के कारण वेदस का ही निवारण का वर्णन दिया गया है। अन्य निवारणों के वर्णन के सिद्धे देखिये—

(क) अज्ञान के अंगीही अनुवाद की भूमिका पृ. ११-२० पृष्ठी टेक्सट सीसाही)

नवम परिच्छेद

महायान सूत्र

(सामान्य इतिहास)

महायान सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट त्रिपिटक नहीं है और यह हो भी नहीं सकता, क्योंकि महायान किसी एक सम्प्रदाय का नाम नहीं है। इसके अन्तर्गत अनेक संप्रदाय हैं जिनके दार्शनिक सिद्धान्तों में अनेकत्व पार्यक्य है। होनेसांग ने अपने ग्रन्थ में बोधिसत्त्वपिटक का नामोल्लेख किया है और महायान के अनुसार विनयपिटक और अभिधम्म पिटक का भी निर्देश किया है। परन्तु यह कल्पित नाम प्रतीत होता है। यह किसी एक विशेष त्रिपिटक का नाम नहीं। नेपाल में नवग्रन्थ विशेष आदर तथा भ्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं। इन्हें नवधर्म के नाम से पुकारते हैं। यहाँ धर्म से अभिप्राय धर्मपर्याय (धार्मिक ग्रन्थों) से है। इन ग्रन्थों के नाम हैं—(१) अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता। (२) सद्धर्म पुण्डरीक (३) ललित विस्तर (४) ललावतार सूत्र (५) सुवर्णप्रभास (६) गण्डव्यूह (७) तथागत गुह्यक अथवा तथागत-गुणज्ञान (८) समाधिराज। (९) दशभूमिक अथवा दशभूमेश्वर। इन्हें 'वैपुल्यसूत्र' कहते हैं जो महायान सूत्रों की सामान्य सज्ञा है। ये ग्रन्थ एक संप्रदाय के नहीं हैं और न एक समय की ही रचनाएँ हैं। सामान्य रूप से इनमें महायान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। एतावता नेपाल में इन ग्रन्थों के प्रति महती आस्था है। महायान के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादक अनेक सूत्र इन ग्रन्थों से अतिरिक्त भी हैं। इन सूत्रों में से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जायेगा। इन्हीं सूत्रों के सिद्धान्तों को ग्रहण कर पिछले दार्शनिकों ने अपने प्रामाणिक ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। अतः इन सूत्रों की परम्परा से परिचय पाना बौद्ध दर्शन के जानकारी के लिये नितान्त आवश्यक है।

(१) सद्धर्म-पुण्डरीक -

भक्तिप्रवण महायान के विविध आकार के परिचय के निमित्त, इसे सूत्र का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। ग्रन्थ का नामकरण विशेष सार्थक है। पुण्डरीक (श्वेतकमल) पवित्रता तथा पूर्णता का प्रतीक माना जाता है। जिस प्रकार

महिन पंक से उत्पन्न होने पर भी कल्पित मृदित्वता से स्पष्ट नहीं होता। उसी प्रकार बुद्ध जन्म में उत्पन्न होकर भी इसके अर्थक तथा क्लेशों से सर्वथा अस्पृष्ट है। इस महात्म्यावासी सूत्र का मूल संस्कृत रूप प्रकाशित है^१ जिसमें यद्यपि के साथ अनेक सम्मानों संस्कृत में ली गई हैं। सूत्र काफी बड़ा है। इसमें २७ अध्याय या 'परिचर्य' हैं।

बीनी भाषा में इसके का अनुवाद किने चमे से बिमके नाम के बहुत तीन ही अनुवाद उपलब्ध होते हैं। इसका मूलरूप प्रथम कलावरी में संकलित किया गया था क्योंकि बायर्मुन (बिरीन राउफ) ने इसे अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। बीनी में प्रथम अनुवाद (अनुपलब्ध) १५५ ई. में किया गया था। उपर्युक्त अनुवाद तीन हैं—बर्मरस (१८९ ई.), कुमारजीव (४ ई. के आस पास), क्लेण्ट तथा बर्मरस (९ १ ई.)। इन अनुवादों की तुलना करने पर ग्रन्थ के साम्प्रतिक रूप का परिचय मती-जाति करता है। नबिचो का कथन है कि इसी सूत्र के समान एक अन्य ग्रन्थ भी है—सुद्धर्मपुण्डरीक सूत्र शास्त्र (बुद्धचन्द्रवर्धित) जिसका दो बार बीनी भाषा में अनुवाद किया गया। बोधिसि (५ ६ ई.) तथा इसी समय के पास रत्नमणि ने इस बुद्धचन्द्र के ग्रन्थ का बीनी में अनुवाद किया। सुद्धर्म पुण्डरीक के एक अर्थ का संश्लेषण ग्रन्थ में अनुवाद भी उपलब्ध है जिससे उत्तरी चीन में भी इस ग्रन्थ के विरल प्रमाण का परिचय करता है^२।

चीन तथा व्यापार के बीनों में यह सूत्र से धार्मिक शिक्षा के लिए प्रचार प्रवृत्त माना गया है। इस ग्रन्थ के ऊपर इन देशों में अनेक टीकाओं तथा व्याख्याओं समय समय पर लिखी गईं^३। पूर्वोक्त अनुवादों में कुमारजीव का अनुवाद निजम्त कोकण्ड है। इतिहास के अनुसार यह ग्रन्थ उसके पुत्र हुई-सी को बड़ा प्राप्त

१ का वर्ण तथा मन्त्रिण्यो का संस्करण (सेनिकम्प १९८) बुद्ध प्रभावली सं १ बुर्गाट का कोण अनुवाद पेरिस १८५२; वर्ण का धर्मशी अनुवाद Sacred Book of East एग २१ १८८४।

२ बुद्धप्रभावली (संख्या १४ १९११) में मूल और जर्मन विप्लवियों के साथ प्रकाशित। का नबिचो ने सुद्धर्मपुण्डरीक का विस्तृत संस्करण व्यापार से प्रकाशित किया है जिसमें अनेक नवीन हस्तलिखित ग्रन्थों का आधार दिया गया है।

३ ब्रह्म्य नबिचो की प्रस्तावना पृ. ६।

या । साठ साल के दीर्घजीवन में वे प्रतिदिन इसका पारायण किया करते थे । १०५२ ई० में निचिरेन के द्वारा स्थापित 'होषके-शू' सम्प्रदाय का यही सर्वमान्य ग्रन्थ है । चीन तथा जापान के 'तेनदई' सम्प्रदाय इसी ग्रन्थ को अपना आधार मानते हैं । पूर्वी तुर्किस्तान में भी इसकी मान्यता कम न थी । वहा से उपलब्ध ग्रन्थों के पाठ नेपाल की प्रतियों से कहीं अधिक विश्वसनीय तथा विशुद्ध हैं ।

इस ग्रन्थ में नाना प्रकार की कहानियों के द्वारा महायान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है । जिस महायान का रूप इसमें दृष्टिगोचर होता है वह उसका अवान्तरकालीन प्रौढ़ लोकप्रिय रूप है जिसमें मूर्तिपूजा, बुद्धपूजा, स्तूपपूजा आदि नाना पूजाओं का विपुल विधान मान्य है । 'भित्ति पर बुद्ध की मूर्ति बनाकर यदि एक फूल से भी उसकी पूजा की जाय, तो विक्षिप्तचित्त मूढ़ पुरुष भी करोड़ों बुद्धों का साक्षात् दर्शन कर लेता है' ।^१ बुद्ध अवतारी पुरुष थे । उनकी करोड़ों बोधिसत्त्व पूजा किया करते हैं और वे भी मानवों के कल्याणार्थ मुक्ति का उपदेश देते हैं । 'नमोऽस्तु बुद्धाय' इस मन्त्र के उच्चारण मात्र से मूढ़ पुरुष भी उत्तम अभ्योधि प्राप्त कर लेता है (२।९६) । 'पुण्डरीक' का प्रभाव बौद्धकला पर भी विशेष रूप से पड़ा है ।

(२) प्रज्ञापारमिता सूत्र

महायान के सिद्धान्तसूत्रों में प्रज्ञापारमिता सूत्रों का स्थान विशिष्ट है । अन्य सूत्र बुद्ध तथा बोधिसत्त्व के वर्णन तथा प्रशंसा से श्रोतप्रोत हैं, परन्तु प्रज्ञापारमिता सूत्रों का विषय दार्शनिक सिद्धान्त है ।

पारमिताओं की संख्या ६ हैं^२— दान, शील, धैर्य, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा । इन छःओं का वर्णन इन सूत्रों में उपलब्ध होता है, पर प्रज्ञा को पूर्णता का विवरण विशेष है । 'प्रज्ञापारमिता' का अर्थ—सबसे उच्च ज्ञान । यह ज्ञान 'शून्यता' के विषय में है । ससार के धर्म (पदार्थ) प्रतिबिम्बमात्र हैं, उनकी वास्तव सत्ता नहीं

१ पुष्पेण चैकेन पि पूजयित्वा आलेख भित्तौ सुगतानविग्धम् ।

विक्षिप्तचित्ता पि च पूजयित्वा अनुपूर्वं द्रव्यन्ति च बुद्धकोटय ॥ (२।९४)

२ स्थविरवाद के अनुसार ये १० हैं—

दानं शीलं च नेकस्वर्मं पञ्चा-विरियं च पञ्चमं

खन्ति सप्तमधिरागं मेत्तुपेक्खाति ये दस ।

प्रज्ञापारमिता, प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र^१ ।

इन विविध सस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन से यही प्रतीत होता है कि अष्टसाहस्रिका ही मूल ग्रन्थ है जिसने अनेक अशो के जोड़ने से दृढ़दाकार धारण कर लिया तथा अनेक अशों को छोड़ कर लघुकाय बन गया । इस ग्रन्थ का प्रभाव माध्यमिक तथा योगाचार के आचार्यों पर बहुत अधिक रहा है । नागार्जुन ने शून्यता के तत्त्व को यहीं से ग्रहण किया है । उन्हें इस तत्त्वका उद्भावक मानना ऐतिहासिक भूल है । नागार्जुन, असग तथा वसुवन्धु ने इन प्रज्ञापारमिताओं पर लम्बा चौड़ी व्याख्याएँ लिखी हैं जो मूलसंस्कृत में उपलब्ध न होने पर भी चीनी तथा तिब्बती अनुवादों में सर्वथा सुरक्षित हैं ।

‘प्रज्ञापारमिता’ शब्द के चार भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं । दिङ्नाग ने इन अर्थों को ‘प्रज्ञापारमिता पिण्डार्थ’ की पहिली कारिका में दिया है—

प्रज्ञापारमिता ज्ञानमद्वय स तथागत ।

साध्यतादर्थ्ययोगेन ताच्छब्द ग्रन्थमार्गयो ॥

दिङ्नाग का यह ग्रन्थ अभी तिब्बती अनुवाद में ही उपलब्ध है । परन्तु इस कारिका को आचार्य हरिभद्र ने अपने ‘अभिसमयालकारालोक’ नामक अभिसमय की टीका में उद्धृत किया है । इसके अनुसार प्रज्ञापारमिता अद्वैत ज्ञान तथा बुद्ध के धर्मकाय का सूचक है । यही कारण है कि बौद्धधर्म के परमतत्त्व के प्रतिपादक होने के कारण इन सूत्रों पर बौद्धों की महती आस्था है । इसको वे लोग बड़ी पवित्रता तथा पावनता की दृष्टि से देखते हैं और बौद्ध देशों के प्रत्येक मन्दिर में इस सूत्र की पोथियाँ रखी जाती हैं, पूजी जाती हैं तथा विपुल श्रद्धा की भाजन हैं ।

(३) गण्डव्यूह सूत्र

चीनी तथा तिब्बती त्रिपिटकों में ‘बुद्धावतंसक’ सूत्रों का उल्लेख महायान के सूत्रों की सूची में उपलब्ध होता है । इस सूत्र को आधार मान कर चीनमें

अश मध्यएशिया से डा० स्टाइन को प्राप्त हुए हैं तथा अनुवाद के साथ सम्पादित भी किये गये हैं । (Hoernle—Ms. Ramana's pp १७६, १९५ तथा २१४-२८८)

१ इसका भी सम्पादन तथा अनुवाद वज्रच्छेदिका के साथ डा० मैक्समूलर ने किया है—(अष्टव्य S B E भाग ४९, २-खण्ड) तिब्बती अनुवाद का भी अंग्रेजी अनुवाद उपलब्ध है ।

अवर्तसक' मत की उत्पत्ति ५५७ ई. से ५८९ ई० के मध्य में हुई। जापान में 'केगन' सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ यही सूत्र है। यह सूत्र मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं होता परन्तु 'मन्त्रमुह महात्मन सूत्र' इस अवर्तसकसूत्र से सम्बद्ध प्रतीत होता है क्योंकि इस सूत्र के चीनदेशीय अनुवाद के साथ इसकी समानता पर्याप्त रूप से है। शुभम नामक एक पुष्प परमत्त्व की प्राप्ति के विभिन्न देश-विदेश भूमि है बाबा प्रकार के लोगों से शिक्षा पता है परन्तु भगवतः मन्त्रुभी के अनुमह से वह परमार्थ को प्राप्त करने में समर्थ होता है। शिक्षासमुच्चय में इस सूत्र से अनेक उद्धरण उपलब्ध होते हैं। इस सूत्र के अन्त में 'महाराष्ट्र प्रविशाल गद्या' नामक ११ श्लोक इतों में एक मयोरम स्तुति उपलब्ध होती है जिसमें महात्मन के सिद्धान्तों के अनुसार पुत्र की समिधम स्तुति की गई है।

(४) दशभूमिक सूत्र

इस सूत्र को दशभूमिक वा दशभूमेरवर के नाम से पुकारते हैं। यह अवर्तसक का ही एक अन्त है। परन्तु प्रायः स्वतन्त्र रूप से अधिकतर उपलब्ध होता है। इस सूत्र का निम्न प्रसङ्ग एक पुरुष की के लिए दशभूमियों का क्रमिक वर्णन है। बोधिसत्व ब्रह्ममर्त से इस दशभूमियों का विस्तृत वर्णन किया है। मातृ गद्य में है और प्रथम परिच्छेद में संस्कृतमयी पापाएँ भी हैं। यह निम्न महात्मन मत से अपना विशेष स्थान रखता है। इसी निम्न को लेकर आचार्यों ने भी मए मए ग्रन्थों की रचना की है।

चीनी भाषा में इसके बार अनुवाद मिलते हैं जिसमें सबसे प्राचीन अनुवाद बर्मरस का ९९७ ई. में किया हुआ है। इसके अतिरिक्त कुमार बीज (५९ ई.) बोधिसत्व (५ - ५१९) और शम्भुवर्म (७८९ ई.) ने चीनी भाषा में किया है। नामार्त्तन ने इसके एक अन्त पर 'दशभूमिक विमाका शास्त्र' नामक व्याख्या लिखी की जिसका भी चीनी अनुवाद कुमारबीज ने किया है। इसमें केवल दशभूमिक दो भूमियों का ही वर्णन है^१।

१ इस सूत्र का अक्षरान्त तथा सम्प्रदान का सुसुधी ने नागार्त्तन में जापान से १९१४ ई. में किया है। इसका कहोडा से भी G O B. में यह ग्रन्थ निकल रहा है।

२ बाब एदेर ने इसके मूल संस्कृत का संपादन तथा सप्तम भूमि वाले परिच्छेद का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। दृष्टिम्ब १९२९।

(५) रत्नकूट

चीनी त्रिपिटक तथा तिब्बती कजूर का 'रत्नकूट' एक विशेष अंश है। इसमें ४९ सूत्रों का संग्रह है जिनमें सुखावती व्यूह, अक्षोभ्य व्यूह, मञ्जुश्री बुद्धक्षेत्र-गुण व्यूह, काश्यप परिवर्त तथा 'परिपृच्छा' नामक अनेक ग्रन्थों का विशेष कर समुच्चय है। संस्कृत में भी रत्नकूट अवश्य होगा। परन्तु आजकल वह उपलब्ध नहीं है। रत्नकूट के ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से संस्कृत में भी यत्र तत्र उपलब्ध हैं। 'काश्यप परिवर्त' के मूल संस्कृत के कुछ अंश खोदान के पास उपलब्ध हुए हैं और प्रकाशित हुए हैं। इसका सबसे पहला अनुवाद १७८ ई०-१८४ ई० तक चीनी भाषा में हुआ था। इस ग्रन्थ में बोधिसत्व के स्वरूप का वर्णन तथा शून्यता का प्रतिपादन अनेक कथानकों के रूप में किया गया है। बुद्ध के प्रधान शिष्य-काश्यप—इस सूत्र के प्रवचनकर्ता है। इसीलिए इसका नाम 'काश्यप परिवर्त' है।

रत्नकूट में सम्मिलित परिपृच्छाओं में 'राष्ट्रपाल परिपृच्छा'^१ या राष्ट्रपरिपाल सूत्र अन्यतम है। इस सूत्र के दो भाग हैं। पहले भाग में बुद्ध ने बोधिसत्व के गुणों के विषय में राष्ट्रपाल के द्वारा किए गए प्रश्नों का उत्तर दिया है। दूसरे भाग में कुमार पुण्यरश्मि के चरित्र का वर्णन किया गया है।

(६) समाधिराज सूत्र

इसका दूसरा नाम 'चन्द्रप्रदीप' सूत्र है। इस ग्रन्थ में चन्द्रप्रदीप (चन्द्र-प्रभ) तथा बुद्ध का कथनोपकथन है जिसमें समाधि के द्वारा प्रज्ञा के प्राप्त करने का उपाय बतलाया गया है। इस ग्रन्थ का एक अल्प अंश पहले प्रकाशित हुआ था। इधर काश्मीर के उत्तर में गिलगित प्रान्त के एक स्तूप के नीचे से यह ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है तथा काश्मीर नरेश की उदारता से कलकत्ते से प्रकाशित हुआ है^२।

यह सूत्र अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिक वृत्ति में तथा शान्तिदेव ने शिक्षासमुच्चय में इस ग्रन्थ से उद्धरण दिए हैं।

१. इसका संस्कृत लेनिनग्राद के बुद्ध-ग्रन्थावली न० २ में डा० फिलों के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है, १९०१।

२. गिलगित मैनसकिण्ट—भाग २; कलकत्ता १९४०।

इस ग्रन्थ में अगिष्ठा के समय में होनेवाली बौद्धसंगीति का उल्लेख है तथा १४८ ई. में इसका पहला चीनी अनुबाध प्रस्तुत किया गया था। इससे प्रतीय होता है कि प्रथम शताब्दी के अन्त में अथवा द्वितीय के आरम्भ में इस ग्रन्थ का संकलन किया गया।

इसकी भाषा यावा है जिसमें संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण है। निम्न बही है शुद्धता। संसार के प्रकार बस्तुतः एक ही हैं तथा समरूप हैं, यद्यपि वे अज्ञानी पुद्गलों की दृष्टि में भिन्न भिन्न तथा भिन्न प्रतीय होते हैं। सर्वमर्म-स्वभाव-समता का ज्ञान ही मन्त्र-प्रवेष्ट से आधियों का उद्धार कर सकता है। इस सूत्र में बद्ध पारमिताओं में शक्ति और शक्ति को विरोध महत्त्व न देकर शक्ति पारमिता को ही सर्वमात्र्य ठहराया गया है। इसके अन्वय से आधियों को सर्व-वर्गों की समता का ज्ञान उत्पन्न होता है जो इन्हें बुद्ध के स्वरूपीय पद पर प्रतिष्ठित कर देती है। ग्रन्थ में १९ परिचर्त (परिच्छेद) हैं। इसका मूलरूप संक्षिप्त वा लघु कि इसके प्रथम चीनी अनुबाध से पता चलता है। परन्तु धीरे धीरे ग्रन्थ की कठोररुद्धि होने लगी और वह उपलब्ध सूत्र इसी परिचर्तित रूप में है।

(७) सुखवती ग्यूह

जिस प्रकार चर्यन पुष्करिक में शतम्भ मुनि तथा 'अरम्भ ग्यूह' में अल-लोकिनेश्वर की प्रभु प्रशंसा उपलब्ध होती है उसी प्रकार 'सुखवती ग्यूह' में 'अमिताम' बुद्ध के शिष्यों का विविध आध्यात्मिक वर्णन है। संस्कृत में इसके दो संस्करण मिलते हैं। एक मध्य और दूसरा छोटा। दोनों में पूर्वा-अन्तर है। परन्तु दोनों अमिताम बुद्ध के शिष्यमय स्वर्ग का वर्णन समान से करते हैं। जो अल-अमिताम के शिष्यों के वर्णन में अपना समय बिताते हैं, मरण-काल में अमिताम के रूप और गुण का स्मरण करते हैं वे शत्रु के अन्तर इस आनन्द मय लोक में उत्पन्न होकर निहार करते हैं। इसी निम्न पर इस सूत्र का विरोध होता है। सुखवती की वर्णना महात्म्य के मत में स्वर्ग की वर्णना है। वह वह आनन्दमय-लोक है जहाँ लाखों एत-के बुद्ध रहते हैं, चीने के कमल खिलते हैं, नदियों में स्वच्छ जल का प्रवाह अत्यन्त अमि-करता हुआ सदा बहता है, यहाँ अत्यन्त प्रशान्त है। यहाँ पर उत्पन्न होनेवाले तीन आध्यात्मिक शिष्यों से भूक्ति

रहते हैं और जिस सुख की वे कल्पना करते हैं उसकी प्राप्ति उन्हें उसी क्षण में हो जाती है। इस प्रकार महायानीय स्वर्ग की विशिष्ट कल्पना इस व्यूह का प्रधान लक्ष्य है।

सुखावती व्यूह की दृष्टी^१ के १२ अनुवाद चीनी भाषा में किए गये थे जिनमें ५ अनुवाद आजकल उपलब्ध हैं। सबसे पहला अनुवाद १४७-१८६ ई० के बीच का है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस व्यूह की रचना द्वितीय शताब्दी के आरम्भ में हो चुकी थी। लघ्वी के तीन अनुवाद चीनी भाषा में उपलब्ध हैं—कुमारजीव का (४०२ ई०), गुणभद्र का (४२०-८८० ई०) तथा ह्वेनत्सांग का (६५० ई० के लगभग)। इसी व्यूह से सबद्ध एक तीसरा भी सूत्र है जिमका नाम है अमितायुर्ध्यानसूत्र, जिसमें अमितायु बुद्ध के ध्यान का विशेष वर्णन है। इसका संस्कृत मूल नहीं मिलता। चीनी अनुवाद ही उपलब्ध है। चीन और जापान के बौद्धों में इस व्यूह की मान्यता है। वहाँ के बौद्धों के हृदय में बुद्ध के प्रति श्रद्धा जमाने में इस व्यूह में बड़ा भारी काम किया है। अमिताम को जापानी में 'अमिद' कहते हैं। इन दोनों देशों के बौद्धों का दृढ़ विश्वास है कि अमिद की उपासना, ध्यान तथा जप से सुखावती की प्राप्ति अवश्य होगी। जापान में विशेषतः 'जोदोशू' तथा 'सिनशू' संप्रदाय के भक्तों की यह दृढ़ धारणा है। इस प्रकार सुखावती व्यूह का प्रभाव तथा महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही अधिक है।

(८) सुवर्णप्रभास सूत्र

महायान सूत्रों में यह नितान्त प्रसिद्ध है। सौभाग्यवश इसका मूल संस्कृत भी उपलब्ध है और जापानी विद्वान् नञ्जियो ने नागराक्षरों में छापकर प्रकाशित किया है^२। इसके विपुल प्रभाव तथा ख्याति की सूचना चीन तथा तिब्बत में किये गये अनेक अनुवादों से भलीभाँति मिलती है। चीन भाषा में इस सूत्र का अनुवाद ५ बार किया गया था, जिनमें तीन अनुवाद आज भी उपलब्ध हैं—

१ इसके दोनों संस्करण मैक्समूलर तथा नैझीयो के संपादकत्व में आक्स-फोर्ड से १८८३ में प्रकाशित हुए हैं। मैक्समूलर ने 'Sacred Book of the East' के भाग ४९ में इनका अनुवाद भी निकाला है।

२ नञ्जियो का नागरी संस्करण क्यो तो (जापान) से १९३१ ई० में प्रकाशित हुआ है।

(१) बर्मरुत (४१२ ४१६ ई) का अनुबाद सबसे प्राचीन है। इसमें केवल १८ परिच्छेद हैं। यह अनुबाद बहुत ही सरल तथा सुमन-माना जाता है। (२) परमार्य (५४८ ई) का अनुबाद २२ परिच्छेदों में है, परन्तु यह नष्ट हो गया है। (३) नरोत्तम (पञ्च शतक) का २२ परिच्छेदों में; यह अनुबाद भी उपलब्ध नहीं है। (४) पाण्डो कर्पूर (५९७ ई) द्वारा अनुबाद, प्राचीन अनुबादों का नवीन संस्करण दो भय परिच्छेदों के साथ किया गया है। (५) इतिह (७१ ई) का अनुबाद २१ परिच्छेदों में है। यह अनुबाद उस ग्रन्थ का है जिसे इतिह्य भारत से अपने साथ ले गये थे। विष्णु में भी इस सूत्र की प्रसिद्धि पर्याप्त मात्रा में की गयी थी वहाँ गिब गिब शब्दों में रचित अनुबाद प्रायः भी उपलब्ध होते हैं। ममोक्षिया देश की भाषा में भी इतिह के बीमा अनुबाद से इस ग्रन्थ का अनुबाद किया गया है^१। पूर्वी तुर्किस्तान से मूल ग्रन्थ के अनेक अंश प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार दुर्लभ ग्रन्थों के अपनी प्रसन्न से अनेक देशों को आलोकित किया जा इसमें सन्देह नहीं है।

मूल ग्रन्थ में २१ परिच्छेद हैं जिनका नाव 'परिवर्त' है। धारम्भ के १ परिच्छेद महावान सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने से अत्यन्त महत्त्वशाली है। इनमें तपागत के अन्तः परिमाण, पाप-प्रेयान, शुद्धता का विस्तृत वर्णन विवरण है। पिछले परिच्छेदों में तपागत की पूजा अर्चा करने वाले देशी-देशवासी के विमल फल मिलने की मनोरञ्जक कहानी लिखी है। बीमा अनुबादों से तुलना करने पर स्पष्ट है कि इसका मूल रूप बहुत ही छोटा था और पीछे अनेक कालों की सम्मिश्रित कर देने से धीरे धीरे बढ़ता गया है। बर्मरुत का अनुबाद इस मूल संस्कृत से अतीर्णता मिलता है।

इस सूत्र का अठेरस महावान के नायिक सिद्धान्तों का सरल भाषा में प्रतिपादक है। वर्तन के गूढ़तर तप्या का विवरण अठेरस नहीं है। इस सूत्र पर सङ्घर्ष पुष्करीक तथा मञ्जापारमिता सूत्र का व्यापक प्रभाव पड़ा है। इसका परिष्कार भाषा तथा भाव दोनों की दृष्टि से करता है। इस सूत्र का गौरव व्यापक में

^१ यह अनुबाद लेखित प्रारंभ (१९५) की दुर्लभ ग्रन्थालयी (पृ १) में प्रकाशित हुआ है।

प्राचीन काल से आज तक अधुण रीति से माना जाता है । ५८७ ई० में जापान के नरेश 'शोकोतू' ने इस सूत्र की प्रतिष्ठा के लिए एक विशिष्ट मन्दिर की स्थापना की । पिछले गताब्दियों में जापान के प्रत्येक प्रान्तीय मन्दिर में इस सूत्र की प्रतियाँ रखी गईं । आज कल जापानी बौद्धधर्म के रूप निर्धारण में इस सूत्र का भी बड़ा हाथ है^१ ।

(६) लंकावतार सूत्र

यह ग्रन्थ विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला मौलिक ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ का बहुत ही बढ़िया विशुद्ध संस्करण अनेक वर्षों के परिश्रम के अनन्तर जापान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर नन्जिओ ने प्रकाशित किया है^२ । ग्रन्थ में दस परिच्छेद हैं । पहले परिच्छेद में ग्रन्थ के नाम-करण तथा लिखने के कारण का निर्देश है । ग्रन्थ के अनुसार इन शिक्षार्थों को भगवान् बुद्ध ने लंका में जाकर रावण को दिया था । लंका में अवतीर्ण होने के कारण ही इस ग्रन्थ का नाम लंकावतार सूत्र है । दूसरे परिच्छेद से लेकर नवम परिच्छेद तक विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का विवेचन है । इनमें दूसरा और तीसरा परिच्छेद बड़े महत्त्वपूर्ण हैं । ग्रन्थ के अन्त में जो प्रकरण है उसका नाम है 'सगाथकम्' जिसमें ८८४ गायत्री सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए दी गई हैं । मंत्राय नाथ ने इन्हीं सूत्रों से विज्ञान के सिद्धान्त को ग्रहण कर अपने ग्रन्थों में पल्लवित तथा प्रतिष्ठित किया है ।

इस ग्रन्थ के तीन चीनी अनुवाद मिलते हैं—(१) गुणभद्र का अनुवाद सबसे प्राचीन है । ये मध्य भारत के रहने वाले विद्वान् बौद्ध भिक्षु थे जिन्होंने लंका जाकर ४४३ ई० में इस ग्रन्थ का अनुवाद किया । इस अनुवाद में प्रथम, नवम तथा दशम परिच्छेद नहीं मिलते जिससे प्रतीत होता है कि इनकी रचना उस समय तक नहीं हुई थी । (२) वोधिरुचि—इन्होंने ५१३ ई० में इसका अनुवाद चीनी भाषा में किया । (३) शिद्धानन्द—इन्होंने ७००-७०४ ई० के भीतर चीनी भाषा में अनुवाद किया । प्रकाशित संस्कृत मूल इसी अनुवाद से मिलता है । इन अनुवादों में पहले अनुवाद पर जापानी और चीनी भाषा में अनेक टीकाएँ हैं ।



१ द्रष्टव्य इस ग्रन्थ की प्रस्तावना पृ० ८ ।

२ लंकावतार सूत्र-कीओटो (जापान) १९२३ ई०

दशम परिच्छेद

त्रिविध यान

बौद्धधर्मों के अनुसार यान (निर्वाण की प्राप्ति के मार्ग) तीन हैं—आयक यान अर्थात्—बुद्धायाम तथा बोधिसत्त्वयान । अत्येक यान में बोधि की कल्पना की एक चूचुरे से निरन्तर निरुद्धन है—आयकयानि अत्येक बुद्धबोधि सामान्य तथा सम्यक् बोधि । आयकयान 'होमयान' का ही चूचुरा नाम रूप है । गुरु के पास आकर धर्म सीखनेवाला व्यक्ति 'आयक चूचुरा' है । वह स्वयं अप्रतिबुद्ध है परन्तु निर्वाण पाने की इच्छा उसमें बलवती है । अतः वह किसी योग्य 'अध्यापयित्र' के पास आकर धर्म की शिक्षा ग्रहण करता है । आयक का यान उच्च अर्थात् पर की प्राप्ति है । अत्येकबुद्ध की कल्पना बड़ी क्लेशजन है । जिस व्यक्ति को बिना गुरुपर्येय के ही प्राप्तिम फल का उच्च हो जाता है, अर्थात् संस्कार के कारण जिसकी प्राप्तिम फल स्वतः उन्नीलित हो जाती है वह आयक 'अत्येकबुद्ध' की संज्ञा प्राप्त करता है । वह बुद्ध तो बन जाता है, परन्तु उसमें चूचुरों के उत्सार करने की शक्ति नहीं रहती । वह ब्रह्मचर्यमय बचप से बचप इटकर किसी निर्जन स्थान में एकाग्रता प्राप्त करता है और विमुक्ति—मुक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव करता है । 'बोधिसत्त्व' अपने ही बलसे का मार्ग तभी चढ़ता अतः वह समस्त प्राणिमों के बल्लभ का मार्ग बनाने का प्रयत्न है और इस परोपकार के लिए वह बुद्धत्व पर की प्राप्ति करने का अभिलाषी होता है । इन तीनों जानों के स्वरूप से परिचय पाना बुद्धधर्म के निवारण की समझने के लिए निम्नान्त आवश्यक है ।

(१) आयक यान

बौद्धधर्म में प्राणिमों की ही प्राणिमों कल्पना की गयी है—(१) पुण्यकर्म तथा (२) धर्म । जो प्राणी संसार के प्रपन्न में फलकर अज्ञानवश अपना जीवन व्यपन्न कर रहा है उसे पुण्यकर्मज कहते हैं । परन्तु जब आयक प्रपन्न आयक की से इटकर गुरुस्थानीय बुद्ध से निरुद्धन वाले ज्ञान की शक्तियों से चार चरमा सम्यग् स्थिति कर लेता है तथा निर्वाणपामी मार्ग भूमिमी पर आसुत हो जाता है तब उसे 'आयक' कहते हैं । अत्येक यान का यान उच्च अर्थात् पर की प्राप्ति है । नहीं तब

पहुँचने के लिये इन चार भूमियों को पार करना पड़ता है—(१) स्रोतापन्न भूमि (२) सकृदागामी भूमि (३) अनागामी भूमि तथा (४) अर्हत् भूमि । प्रत्येक भूमि में दो दृशायेँ होती हैं—(१) मार्गावस्था तथा (२) फलावस्था ।

श्रावक की निर्वाण प्राप्ति के लिए चार अवस्थाओं का विधान दिया गया है—
(१) स्रोतापन्न (स्रोत आपन्न), (२) सकृदागामी (नरुदागामी) (३) अनागामी तथा (४) अरहत् (अर्हत्) । 'स्रोतआपन्न' शब्द का अर्थ है
(१) स्रोता- धारा में पड़ने वाला । जब साधक का चित्त प्रपञ्च में एकदम हट-
पन्न कर निर्वाण के मार्ग पर आरुढ़ हो जाता है, जहाँ से गिरने की
सभावना तनिक भी नहीं रहती, तब उसे 'स्रोत आपन्न' कहते हैं ।

व्यासभाष्य के शब्दों में चित्तनदी उभयतो वाहिनी है^१—वह दोनों ओर बहा करती है—पाप की ओर भी बहती है और कल्याण की ओर भी बहती है । अतः पाप की ओर से हटकर कल्याणगामी प्रवाह में चित्त को डाल देना जिससे वह निरन्तर निर्वाण की ओर अप्रमत्त होता चला जाय, साधना की प्रथम अवस्था है । अतः स्रोत आपन्न को पीछे हटने का भय नहीं रहता, वह सदा कल्याण की ओर बढ़ता चला जाता है । इन तीन संयोजनों (बन्धनों) के क्षय होने पर यह शुभ दशा प्राप्त होती है^२—(१) सत्कायदृष्टि, (२) विचिकित्सा, (३) शीलघ्नत-परामर्श । इस देश में नित्य आत्मा की स्थिति मानना एक प्रकार का बन्धन ही है, क्योंकि इसी भावना से प्रभावित होकर प्राणी नाना प्रकार के हिंसोत्पादक कर्मों में प्रवृत्त होता है । अतः सत्कायदृष्टि का दूरीकरण नितान्त आवश्यक है । 'विचिकित्सा' का अर्थ है सन्देह तथा 'शीलघ्नत परामर्श' से अभिप्राय व्रत, उपवास आदि में आसक्ति से है । इनके वश में होनेवाला साधक कभी निर्वाण की ओर अभिमुख नहीं होता । अतः इन बन्धनों के तोड़ देने पर साधक पतित न होनेवाली सहाधि की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ता है । इसके चार अंग होते हैं^३—(१) बुद्धानुस्मृति-साधक बुद्ध में अत्यन्त अद्धा से युक्त होता है । (२) धर्मानुस्मृति—भगवान् का धर्म स्वाख्यात (सुन्दर व्याख्यात) है, इसी शरीर में फल देनेवाला (सादृष्टिक),

१ चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय च वहति पापाय च
(व्यासभाष्य १।१२)

२ महालसुत्त (दीघनिकाय पृ० ५७-५८) ३ दीघनिकाय पृ० २८८

एषा पञ्चमः (असासिक) है । अतः उसमें थोड़ा रहस्य है । (१) संशयान्मृति बुद्ध के शिष्यरूप का न्यायशास्त्रज्ञ से तथा शुभार्थ पर आत्म्य होने से संशय में निश्चय रहता है । (४) अरुण्ड अनिन्दित समाधिगामी कमनीय शक्ति से कुछ होता है ।

सोत्पापत भूमि की प्रथम अवस्था की शोधभू कहते हैं । जब कामदह होने के कारण साधक कामबाधु (बाधनामय जगत्) से सम्बन्ध विच्छेद कर स्व भातु की ओर आसक्त होता है । इस समय उसका नवीन जन्म होता है । पूर्ण कबित लोगों संयोगों के साथ हो जाने के कारण साधक को निर्वाण प्राप्ति के सिवा सात जन्म से अधिक जन्म होने की आवश्यकता नहीं रहती ।

(२) सङ्कटागामी—का अर्थ एक बार आने वाला । सोत्पापक मिथु जन्म एवम् (इन्द्रिय शिष्य) तथा प्रतिष्ठ (दूसरे के प्रति अनिष्ट करने की शक्त) नामक दो बन्धनों को दुर्घट नाम बनाकर दुर्घटमार्ग में आये कहता है । इस भूमि में आकाशकाय (क्लेशों का माया) करना प्रथम काम रहता है । सङ्कटागामी मिथु संसार में एक ही बार आता है ।

(३) अनागामी—का अर्थ फिर व जन्म लेनेवाला है । ऊपर के दोनों बन्धनों को छुड़ देने पर मिथु अनागामी पड़ता है । वह न तो संसार में जन्म लेता है और न किसी दिव्य लोक में जन्म लेता है ।

(४) अहर्त्—इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये मिथु को बायीं बंध हुए इन पाँच बन्धनों का तोड़ना असम्भन्त आवश्यक होता है—(१) स्वप्न (२) अकल्पराय (३) मल (४) बीजदहन और (५) अविद्या । इन बन्धनों के छेदन करते ही सब क्लेश दूर हो जाते हैं । समस्त दुःख—स्वप्न का अन्त हो जाता है । संसार में साधक को निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है । तुलना के लिये हो जाने के कारण साधक इस जगत् में रहता हुआ भी कमल-पत्र के समान संसार से अलिप्त रहता है । वह परम शान्ति का अनुभव करता है । व्यस्तियत निर्वाण पदवी प्राप्ति अर्थात् का अनाम ज्ञेय है । इसी अर्थात् पर की वस्तुविश्व आत्मक मान का परम सत्य है ।

(५) प्रत्येक—कुछ बात

इस बात का अर्थ प्रत्येक बुद्ध है । अतः सृष्टि से ही बिना सब तत्त्व

पस्फुरित हो जाते हैं, जिसे तत्त्वशिक्षा के लिए किसी भी गुरु के लिए परतन्त्र होना नहीं पड़ता, वही 'प्रत्येक बुद्ध' के नाम से अभिहित होता है। प्रत्येक बुद्ध का पद अर्हत् तथा बोधिसत्त्व के बीच का है। अर्हत् से उसमें यह विलक्षणता है कि वह प्रातिभ चक्षु के बल पर ज्ञान का सम्पादक है और बोधिसत्त्व से यह कमी है कि वह अपना कल्याण साधन कर लेने पर भी अभी दूसरों के दुःख को दूर करने में समर्थ नहीं होता। इस साधक के द्वारा प्राप्त ज्ञान का नाम 'प्रत्येकबुद्ध' बोधि है जो सम्यक् सम्बोधि—परम ज्ञान—से हीन कोटि की मानी जाती है।

(३) बोधिसत्त्व—यान

इस यान की विशिष्टता पूर्व यानों से अनेक अंश में विलक्षण है। यह यान 'बोधिसत्त्व' के आदर्श को प्राणियों के सामने उपस्थित करता है। बोधिसत्त्वयान को ही महायान कहते हैं। बोधिसत्त्व की कल्पना इतनी उदात्त, उदार तथा उपाय है कि केवल इसी कल्पना के कारण महायानधर्म जगत् के धर्मों में महनीय तथा माननीय स्थान पाने का अधिकारी है। 'बोधिसत्त्व' का शाब्दिक अर्थ है बोधि (ज्ञान) प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति। इसकी प्राप्ति के लिए विशिष्ट साधना आवश्यक होती है। उसके विवरण देने से पहले हीनयान और महायान के लक्ष्यों में जो महान् अन्तर विद्यमान रहता है उसे भली भाँति समझ लेना बहुत जरूरी है।

हीनयान का अन्तिम लक्ष्य अर्हत् पद की प्राप्ति है, परन्तु महायान का उद्देश्य बुद्धत्व की उपलब्धि है। अर्हत् केवल अपने ही क्लेशों से मुक्ति पाकर अपने को सफल समझ बैठता है, उसे इस बात की तनिक भी बोधिसत्त्व चिन्ता नहीं रहती कि इस विशाल विश्व में हजारों नहीं, करोड़ों का आदर्श प्राणी नाना प्रकार के क्लेशों में पड़कर अपने अनमोल जीवन को व्यर्थ विताते हैं। अर्हत् केवल शुष्क ज्ञानी है जिसने अपनी प्रज्ञा के बल पर रागादि क्लेशों का प्रहाण कर लिया है। परन्तु महायान का लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। बोधिपाक्षिक धर्मों में प्रज्ञा से बढ़कर महाकरुणा का स्थान है। बुद्ध वही प्राणी बन सकता है जिसमें प्रज्ञा के साथ महाकरुणा

का मात्र विद्यमान रहता है। 'आयगयाशीर्षे' में एक प्रश्न है कि हे बभ्रु-
यी बोधिसत्त्वों की चर्चा का आरम्भ क्या है और उसका अविद्यान चर्चा
आरम्भ क्या है? मञ्जुषी का उत्तर है कि हे वैशुपुत्र! बोधिसत्त्वों की चर्चा
महाकल्याणपुर पर होती है। महाकल्याण ही उसका आरम्भ है तथा दुर्लभ
प्राणी ही इस कल्याण के अवलम्बन (पात्र) हैं। आर्यधम्मसङ्गीति में इच्छित
बोधिसत्त्व चर्चा में महाकल्याण को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। इस प्रश्न का
जवाब है कि बोधिसत्त्व को केवल एक ही धर्म स्थापित करना चाहिए और वह धर्म
है महाकल्याण। यह कल्याण जिस मार्ग से जाती है उसी मार्ग से अन्य समस्त
बोधिसत्त्व धर्म चलते हैं^१। महाकल्याण ही बोधिसत्त्व का बुद्ध बनने में प्रधान
कारण होती है। यह विचारता है कि क्या कुछ और दूसरों को सब तथा बुद्ध
समान रूप से अप्रिय लगते हैं। एक मुझ में वीर ही निरीकृत है कि मैं अपनी
ही रक्षा करूँ और दूसरों की न करूँ। अथावा शान्तिदेव का वह कबल निरन्तर
सब है^२—

यथा मम परेषां च भयं दुन्ना च न प्रियम् ।

सवात्मन को विरोपो यत् त रक्षामि नेतरम् ॥

बोधिसत्त्व के जीवन का उद्देश्य जगत् का परममयल स्रजना होता है। उसने
स्वार्थ इत्यादि विस्तृत रहता है कि उसने 'स्व' को परिवर्ति के मोक्ष जगत् के समस्त
प्राणी का ज्ञाते हैं। फिर मैं विपरीतिवा से लेकर इच्छा परमेश्वर का एक ही
प्राणी बुद्ध का अवलम्बन करता है, एक एक वह अपनी सुखि नहीं चाहता।
उसका इच्छा करना से ज्ञान प्राप्त होता है कि वह बुद्धी प्राणियों के बुद्ध को

१ किमारम्भा मञ्जुषी बोधिसत्त्वानां चर्चा किमविद्यानाः । मञ्जुषीपाठ—
महाकल्याणपुरस्या वैशुपुत्र बोधिसत्त्वानां चर्चा वात्सल्यविद्यनेति विस्तृता ।

(बोधिचर्याभाष्यार्पणिका पृ. ४८०)

२ एक एक हि चर्चा बोधिसत्त्वेषु स्वच्छिता कर्तव्या सुप्रतिविद्धा । एतत्
करतव्यत्वात् सर्वे सुदुर्लभा भवन्ति । मयस्तु वैशुपुत्र बोधिसत्त्वस्य महाकल्याण पण्डित
तेन सर्वसुदुर्लभा पण्डितम् ।

(बोधिचर्या० पृ. ४८१)

१ शिवास्तुल्य पृ. २ ।

तनिक भी आँच से पिघल उठता है। बोधिसत्त्व की कामना को शान्तिदेव ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया है^१—

एव सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम् ।
तेन स्या सर्वसत्त्वाना सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ॥
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः ।
तैरेव ननु पर्याप्त मोक्षेनारसिकेन किम् ॥

. सौगतमार्ग के अनुष्ठान से जिस पुण्यसभारका मैंने अर्जन किया है, उसके फल में मेरी यही कामना है कि प्रत्येक प्राणी के दुःख शान्त हो जायें ।

मुक्त पुरुषों के हृदय में जो आनन्द का समुद्र हिलोरे मारने लगता है, वही मेरे जीवन को सुखी बनाने के लिए पर्याप्त है। रसहीन सूखे मोक्ष को लेकर मुझे क्या करना है ? बोधिसत्त्व की प्रशंसा शब्दों के द्वारा नहीं हो सकती। लोक का यह नियम है कि उपकार के बदले में प्रत्युपकार करने वाले व्यक्ति की भी प्रशंसा होती है, परन्तु उस बोधिसत्त्व के लिए क्या कहा जाय ? जो बिना किसी प्रकार की अभ्यर्थना के ही विश्व के कल्याण—साधन में दत्तचित्त रहता है^२ ।

इस प्रकार अर्हत् तथा बोधिसत्त्व के लक्ष्य में आकाश पाताल का अन्तर है। हीनयान तथा महायान के इन आदर्शों की तुलना करते समय अष्टसाहसिका प्रज्ञा-पारमिता (एकादश परिवर्त) का कथन है कि हीनयान के अनु-
हीनयान यायी का विचार होता है कि मैं एक आत्मा का दमन करूँ; एक
तथा आत्मा को शम की उपलब्धि कराऊँ, एक आत्मा को निर्वाण की
महायान का प्राप्ति कराऊँ। उसकी सारी चेष्टा इसी लक्ष्य के लिए होती है।
आदर्शमेद परन्तु बोधिसत्त्व की शिक्षा अन्य प्रकार की होती है। वह अपने को परमार्थसत्य में स्थापित करना चाहता है। पर साथ ही साथ सब प्राणियों को भी परमार्थसत्य में स्थापित करना चाहता है। अपने ही परिनिर्वाण के लिए उद्योग नहीं करता, प्रत्युत अप्रमेय प्राणियों के परिनिर्वाण के लिए

१ बोधिचर्या० पृ० ७७ (तृतीय परिच्छेद) ।

२ कृते यः प्रतिकुर्वीत सोऽपि तावत् प्रशस्यते ।

अव्यापारितसाधुस्तु बोधिसत्त्वः किमुच्यताम् ॥

(बोधिचर्या० १।३१)

उद्योग करता है। इस प्रकार दोनों में सहस्रमेव इत्यादि स्पष्ट है कि उसमें पल्लो करने के लिए पाप्मा भी स्वाभाविक है।

शुद्ध पुण्यत्व के प्रतीक हैं। शुद्ध के प्रतिनिधि होने से उनका नाम है—शास्ता (अर्थात् मार्गदर्शक शुद्ध)। शुद्ध के लिए प्रयास के उदय के छत्र छाया महाकल्याण का उदय भी निरन्तर व्यापक है। जब तक कल्याण का आविर्भाव नहीं होता, तब तक अन्य पुरुषों को उपदेश देकर सुखिताम करने की प्रवृत्ति का बन्ध ही नहीं होता। उस व्यक्ति को स्वार्थपाशवन्धन विह्वली अवस्था है जो स्वयं निर्वाण पाकर समवित्त का अनुभव करता है। उसके चारों ओर कोटि कोटि प्राणी पाषाण प्रस्तर के बसेरों को सहते हुए जाहि जाहि का आर्तनाद कर रहे हों परन्तु वह स्वयं विज्ञानकर का उद्योग नहीं करता हुआ मौनकल्याण करने हो। अतः पुण्यत्व की प्राप्ति के लिए 'महाकल्याण' की सखी व्यापक है। महाकल्याण में इसी शुद्धत्व पर की उपस्थिति परम लक्षण है।

(क) बोधिसत्त्व

महाकल्याण प्रणों में शुद्धत्व की प्राप्ति के लिए पालवान् व्यक्ति को 'बोधिसत्त्व' कहते हैं। अनेक जन्म में निरन्तर साधना करने का अनन्त परिश्रम शुद्धत्व की प्राप्ति होता है। शाल्वसुनि ने एक ही जन्म में शुद्धत्व को पा मही किया, अमुक्त जातकों से जैसे फल बसता है अनेक जन्मों में शत्रुओं की पापमिता पाकर ही इस महनीय स्वाभाव को पाया। महाकल्याण के प्रणों में शुद्धत्व की प्राप्ति के लिए एक विशिष्ट साधना का उपदेश मिलता है जिसका नाम है बोधिसत्त्व। बोधिसत्त्व का आरम्भ बोधिविशिष्ट प्रण से होता है।

मानव अपनी परिस्थितियों का बाध है। वह मरणापर की दुःखोर्मियों का ग्राहक रहता हुआ इधर से उधर भाग पाग फिरता है। सखी बुद्धि स्वतः पापोन्मुक्त की रहती है। परन्तु विही पुण्य के बल पर कभी कभी लक्षण

(१) बोधि-विशेष मन्त्रान् से सुखि जाने का भी इच्छुक बनता है। वह विशिष्ट कल्याण बोधिविशिष्ट है। बोधि का अर्थ है ज्ञान। अतः बोधिविशिष्ट के अर्थ से तात्पर्य है—समय क्षेत्रों के समुद्रचार्य शुद्धत्व की प्राप्ति के लिए सम्यक् संयोग में विशिष्ट का प्रतिष्ठित होना 'बोधिविशिष्ट का महान्'

करना है। बोधिचित्त ही सर्व अर्थ-साधन की योग्यता रखता है। भवजाल से मुक्ति पाने वाले जीवों के लिए बोधिचित्त का आश्रय नितान्त अपेक्षणीय है^१। ज्ञान में चित्त को प्रतिष्ठित करना महायानी साधना का प्रथम सोपान है।

बोधिचित्त दो प्रकार का होता है—बोधिप्रणिधिचित्त और बोधिप्रस्थानचित्त। प्रणिधि का अर्थ है ध्यान और प्रस्थान का अर्थ वास्तविक चलना। सर्व जगत्-परित्राणाय बुद्धो भवेयमिति प्रथमतर प्रार्थनाकारा कल्पना प्रणिधि-

(२) द्विविध चित्तम् अर्थात् मैं सब जगत् के परित्राण के लिए बुद्ध बनू—
मेद यह भावना जब प्रार्थना रूप में उदय लेती है तब बोधिप्रणिधि-चित्त का जन्म होता है। यह पूर्वावस्था है। जब साधक व्रत ग्रहण कर मार्ग में अग्रसर होता है और शुभ कार्य में व्यापृत होता है, तब बोधि प्रस्थान चित्त का उत्पाद होता है^२। इन दोनों में पार्थक्य वही है जो गमन की इच्छा करने वाले और गमन करने वाले के बीच में होता है। इन दोनों दशाओं का मिलना कठिन होता है। 'आर्यगण्डव्यूह' का यह कथन यथार्थ है^३ कि जो पुरुष अनुत्तर सम्यक्स बोधि में चित्त लगाते हैं वे दुर्लभ हैं और उनसे भी दुर्लभतर वे व्यक्ति होते हैं जो अनुत्तर सम्यक्स बोधि की ओर प्रस्थान करते हैं। यह समस्त दुःखों की ओषधि है और जगदानन्द का बीज है।

(३) अनुत्तर पूजा

इस बोधिचित्त के उत्पाद के लिए सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान बतलाया जा है। इस पूजा के सात अंग ये हैं^४—वन्दन, पूजन, पापदेशना, पुण्यानु-

१ भवदुःखशतानि तर्तुकामैरपि सत्त्वव्यसनानि हर्तुकामैः ।

बहु सौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्य हि सदैव बोधिचित्तम् ॥

(बोधिचर्या० १।८)

२ द्रष्टव्य शान्तिदेव—बोधिचर्या० पृ० २४, शिक्षासमुच्चय पृ० ८ ।

३ बोधिचर्या पृ० २४ ।

४ 'धर्मसंग्रह' के अनुसार इन अंगों में 'याचना' के स्थान पर बोधिचित्तोत्पाद की गणना है। पञ्जिकाकार प्रज्ञाकरमति के अनुसार इस पूजा का 'शरणगमन' भी एक अंग है। अतः सप्ताङ्ग न होकर यह पूजा अष्टाङ्ग है।

मोक्ष बुद्ध्याभ्येयम् बुद्ध्यात्मना तथा बोधिपरिणामतः । अनुत्तर
 पूजा के पूजा मानसिक होती है । प्रथमतः जगत् के कल्याण साधन के
 सप्त वर्ग किए विरह के शरण में आना चाहिए । शरणपत्र हुए बिना
 ऐसी संमत्त कायना की भावना सहज नहीं होती । अगन्तर क्या
 प्रकार के मानस उपचारों से बुद्धों की तथा बोधिसत्त्वों की (१) सम्यक् तथा
 (२) अर्चमा का अनुष्ठान किया जाता है । साधक बुद्ध का लक्षित कर अपने
 आगे या बनजाने किने गये या अनुमोदित समस्त पापों का प्रत्याक्षान्न करता
 है = (३) पापपेक्षायाः^१ । विनाश का अर्थ प्रकटीकरण है । अतः पश्चात्तप पूर्वक
 अपने पापों का प्रकट करना पापपेक्षाया कहलाता है^२ । पापपेक्षाया का फल यह
 है कि पश्चात्तप के द्वारा प्राचीन पापों का शोधन हो जाता है तथा आगे बढ़कर
 नये पापों से रक्षा करने लिए बुद्ध से प्रार्थना भी की जाती है । इसके अनन्तर
 साधक सब प्राणिजों के सौखिन्द्य शुभकर्म का अनुमोदन करता है और सब जीवों
 के सर्वहु-क—निर्मोक्ष का अनुमोदन करता है । इसे (४) पुण्यानुमोदन करते
 हैं । समस्त सत्त्वों की सेवा करने का यह निश्चय करता है । साधक शुभ भावना
 की प्रमत्त होता है और अंशति बोधकर सब विद्याओं में स्थित बुद्धों से प्रार्थना
 करता है कि जीवों की बुद्ध-निवृत्ति के लिए वे उसे धम का उपदेश करें जिससे
 वह जीवों के लिए महावृद्ध विन्यासवि धामधेनु तथा कल्पवृक्ष बन आवे । इसका
 नाम है (५) बुद्धाभ्येयणा (अभ्येयना = भावना) तथा साधक कृताकृत्य बोधि
 सत्त्वों से प्रार्थना करता है कि वह इस संसार में जीवों की स्थिति सदा बनी रहे
 वह परिमिर्बाध की प्राप्त न करे जिससे वह सदा मानवों के कल्याण के साधन में
 व्यावृत्त रहे । इसका नाम है (६) बुद्धपाचना । अगन्तर वह प्रार्थना करता है

१ अनादिमति ससारे अममज्जनेन वा पुनः ।

बन्मसा पशुना पाप कृतं कारितमेव वा ॥ १८ ॥

पञ्चानुमोदितं किञ्चिद्विद्वत्पञ्चात्म्यं मोक्षतः ।

तत्परिणर्ष देवतामि पश्चात्तपेन क्षप्ति ॥ १९ ॥

(बोधिवर्षा द्वितीय परि)

२ ईश्वरपर्म में भूतपुच्छन में Confession (वनपेक्षाया) की जो प्रथा है
 उसका भी तात्पर्य इसी पश्चात्तप के द्वारा पापशोधन से है ।

कि इस अनुत्तरपूजा के फलरूप में जो सुकृत सुखे प्राप्त हुए हैं, उसके द्वारा मैं समस्त प्राणियों के दुःखों के प्रशमन में कारण बनूँ। यह है (७) वोधिपरिणामना। इस पूजा से वोधिचित्त का उदय अवश्य हो जाता है।

(ग) पारमिताग्रहण

महायानी साधक के लिए वोधिचित्त ग्रहण करने के उपरान्त पारमिताओं का सेवन आवश्यक चर्या है। 'पारमिता' शब्द का अर्थ है पूर्णत्व। इसका पाली रूप 'पारमी' है। जातक की निदान कथा में वर्णित है कि बुद्धत्व की आकाक्षा रखने वाले सुमेध नामक ब्राह्मण के अश्रान्त परिश्रम करने पर दश पारमितायें प्रकट हुईं जिनका नाम निर्देश इस प्रकार है—दान, शील, नैष्कर्म्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान (दृढ निश्चय), मैत्री (हित अहित में समभाव रखना) तथा उपेक्षा (सुख दुःख में एकसमान रहना)। इन्हीं पारमिताओं के द्वारा शाक्यमुनि ने ५५० विविध जन्म लेकर सम्यक् सवोधि की लोकोत्तर सम्पत्ति प्राप्त की। यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य जन्म में ही पारमिता का अनुष्ठान सम्भव हो। जातकों का प्रमाण स्पष्ट है कि शाक्यमुनि ने तिर्यक् योनि में भी जन्म लेकर पारमिता का अनुशीलन किया। बिना पारमिता के अभ्यास के कोई भी वोधिसत्त्व बुद्ध की मान्य पदवी को कथमपि प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए पारमिता का अनुशीलन इतना आवश्यक है।

किसी गन्तव्य स्थान तक पहुँचने के लिए जिस प्रकार पथिक को मवल की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार वोधिमार्ग पर आरुढ़ साधक को 'सभार' की अपेक्षा रहती है। सभार दो प्रकार के होते हैं—पुण्यसभार और ज्ञानसंभार। पुण्यसभार के अन्तर्गत उन शोभन गुणों की गणना है जिनके अनुष्ठान से अकल्पित प्रज्ञा का उदय होता है। ज्ञानसंभार प्रज्ञा का अधिवचन है। प्रज्ञापारमिता का उदय ही बुद्धत्व की उत्पत्ति का एकमात्र कारण होता है, परन्तु उसके निमित्त पुण्यसभार की सम्पत्ति का उत्पाद एकान्त आवश्यक है। महायानी ग्रन्थों में पारमिताओं की संख्या ६ ही मानी गई है। पट् पारमितायें ये हैं—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। इन पट्पारमिताओं में प्रज्ञा पारमिता का प्राधान्य है। प्रज्ञापारमिता यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। इसी की दूसरी संज्ञा है 'भूततथता'। बिना प्रज्ञा के पुनर्भव का अन्त नहीं होता। इसी पारमिता की उत्पत्ति के लिए अन्य

पारमिताओं की शिक्षा ही जगती है। अतः दान शीत शान्ति दीय तथा ध्यान—
इन पाँच पारमिताओं का अन्तर्भाव 'पुण्यार्णव' के भीतर किया गया है। अन्न
के द्वारा परिशोधित शिव जाने पर ही दान शीत आदि पूर्णता को प्राप्त करते हैं
और पारमिता का उपदेश प्राप्त करते हैं। अज्ञातहित होने पर भी पारमितायें
सीकिक प्रसन्न होती हैं, बुद्धत्व की प्राप्ति में साहाय्य नहीं देती। अतः पद पारमिता
का पुंशब्दपुत्र अनुशान्तिन महाप्रान साधना का मुख्य अंग है।

सब चीजों के लिए सब वस्तुओं का दान देना तथा दानफल का परिस्फाप
करना 'दानपारमिता' है। दान के अनन्तर यदि फल को व्यापारता नहीं रहती
है, तो वह कर्म बन्धनकारक होता है अपूर्ण रहता है। अतः
(१) दान- दान को पूर्णता के निमित्त दान के फल का परिस्वाप एकत्र
पारमिता आवश्यक है। सांसारिक दुःख का मूल उर्ध्वपरिग्रह है। अतः
अपरिग्रह के द्वारा मरुदुःख से विमुक्ति मिलती है। दान के
व्यवसाय का नहीं उत्पन्न है। इस पारमिता की शिक्षा से साधक किसी वस्तु में
समल नहीं रहता सब वस्तुओं का पुनर्गुण्य देखता है और अपने को सबका
पुन समझता है। बोधिसत्त्व के लिए बार बार दुःखित हैं—राज्य मत्स्य-
ईश्वर-पैशुन्य और संसार में क्षीमवित्त। जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता
हो उससे वह वस्तु बिना शोक बिना फल की व्यापारता के, दे देती
आदि। तभी इस पारमिता की शिक्षा पूरी समझनी चाहिए।

शीत का अर्थ है अक्षयिपात्र आदि समग्र गृहित कर्मों से वित्त को विरति।
वित्त का विरति ही शीत है। दानपारमिता में आत्मभाव के परिस्वाप की शिक्षा
ही गई है जिससे जगत् के प्राणी ससत्त्व उपभोग कर सकें।

(२) शीत- परन्तु यदि आत्मभाव की रक्षा न हो, तो दूसरे ससत्त्व उपभोग
पारमिता किस प्रकार करेंगे? इसीलिए 'वीरवृत्त-परिपुष्का' का कल्प है
कि साधक को शकट के समान बर्मेबुद्धि से मार के सद्वृत्त के
लिए ही, इस वेद की रक्षा करनी चाहिए। इसके साथ साथ वित्त की रक्षा भी
विविध आवश्यक है। वित्त इत्यादि विषय गुरु है कि यदि धानवाला से उसकी

रक्षा न की जायगी, तो कभी शान्ति नहीं आ सकती। शत्रुप्रभृति जो वाह्यभाव हैं, उनका निवारण करना शक्य नहीं। अतः चित्त के निवारण से ही कार्यनिधि होती है। शान्तिदेव का यह कथन बहुत युक्तियुक्त है^१—

भूमिं छादयितुं सर्वा कुतश्चर्म भविष्यति ।

उपानचर्मभात्रेण छात्रा भवति मेदिनी ॥

पैर की रक्षा के लिए कण्टक का गोधन आवश्यक है। इसके लिए पृथिवी को चाम से ढक देना चाहिए। परन्तु इतना चाम कहाँ मिलेगा? यदि मिले भी तो क्या उससे पृथ्वी ढाँकी जा सकती है? अपने पैर को जूते के चाम से ढक लेने पर समग्र मेदिनी चर्म से आवृत हो जाती है। चित्तनिवारण में यही कारण है। खेतों को काट गिराने की अपेक्षा सस्य के प्रलोभन से इधर-उधर भटकने वाली गाय को ही बाँध रखना सरल उपाय होता है। विषयों के अनन्त होने से उनका निवारण कल्पनाकोटि में नहीं आता। अतः अपने चित्त का निवारण ही सरल तथा सुगम उपाय है।

चित्त की रक्षा के लिए 'स्मृति' तथा 'संप्रजन्य' की रक्षा आवश्यक है। 'स्मृति' का अर्थ है विहित तथा प्रतिषिद्ध का स्मरण^२। स्मृति उस द्वारपाल की तरह है जो अकुशल को घुसने के लिए अवकाश नहीं देती। 'संप्रजन्य' का अभिप्राय है—प्रत्यवेक्षण। काय और चित्त की अवस्था का प्रत्यवेक्षण करना^३। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते हर समय काय और चित्त का निरीक्षण अभीष्ट है। शम के ही प्रभाव से चित्त समाहित होता है और समाहित चित्त होने से ही यथाभूत दर्शन होता है। चित्त के अधीन सर्वधर्म हैं और धर्म के अधीन बोधि है। चित्तपरिशोध के लिए ही शीलपारमिता का अभ्यास आवश्यक होता।

इस पारमिता का उपयोग द्वेष के प्रशमन के लिए किया जाता है। द्वेष के

१ बोधिचर्या ५।१३

२ विहितप्रतिषिद्धयोर्यथायोग स्मरण स्मृति । (बोधिचर्या० पृ० १०८)

३ एतदेव समासेन संप्रजन्यस्य लक्षणम् ।

यत्कायचित्तावस्थाया प्रत्यवेक्षा मुहुर्मुहुः ॥

(बोधिचर्या० ५।१०८)

(३) शान्ति
पारमिता

समान दूसरा पाप नहीं, और शान्ति के समान कोई तप नहीं। इस पारमिता की शिक्षा प्रदान करने का प्रकार शान्तिरेव ने इस अधिष्ठ में शिक्षा है^१—

समेत भुक्तेयेत सममेत वनं तत ।

समाधानां युज्येत माषयेत्पुमाविकम् ॥

मनुष्य में शान्ति होनी चाहिए। समाहीन व्यक्ति को भुत के प्रलय में जो वेद उत्पन्न होता है उसके सहन करने की शक्ति न होने से उत्पन्न नीर्म नष्ट होता है। अशिक्ष होकर भुत (इन) की इच्छा करनी चाहिए। शान्ति को नष्ट का आशय होता चाहिए। सब में भी बिना वित्त—समाधान के विशेष का प्रयत्न नहीं होता। इसलिए समाधि करो। समाहितचित्त होने पर भी बिना बहेशरोपण के कोई फल नहीं होती। अतः आशुभ आदि की भावना करो।

शान्ति तीन प्रकार की है—(१) बुद्धाविवासना शान्ति। (२) परापरमर्षण शान्ति तथा (३) वर्मनिष्पन्न-शान्ति। प्रथम प्रकार की शान्ति यह है जिसमें अत्यन्त अमिष्ट का आगम होने पर भी बीमनस्व न हो। बीर्म शान्ति के नश्य के प्रतिपक्षरूप सुखित का अत्यर्ध प्रस्ताप करना चाहिए। प्रकार परापरमर्षण का कार्य है हमारे के किये हुए अपकार को सहन करना और उसका प्रत्यपकार न करना। द्वेष के रहस्य समझते समय शान्तिरेव की यह उक्ति कितनी सुन्दर है^२—

मुरय दण्डाधिक हित्वा मेरके यति कुप्यते ।

द्वेषण मेरित सोऽपि द्वेष द्वेषोऽस्तु मे वरम् ॥

दण्ड के द्वारा ताबित किये जाने पर मनुष्य भारवे वाले के ऊपर कोप करता है। वह तो ठीक नहीं जान पड़ता। यदि मेरक पर कोप करता है तो द्वेष के ऊपर कोप करना चाहिए, क्योंकि द्वेष की मेरणा से ही वह किसी के मारने के लिए तैयार होता है। अतः द्वेष से द्वेष करना चाहिए। अतः द्वेष की पीतने के लिए शान्ति का उपयोग आवश्यक है। तृतीय प्रकार की शान्ति का अर्थ वर्मों के

१ शिक्षासमुच्चय (अध्याय २) ।

२ बोधिवर्षा १४११ ।

स्वभाव पर ध्यान देने से होता है। जब जगत् के समस्त धर्म क्षणिक तथा निःसार हैं, तब किस के ऊपर कोध किया जाय ? किससे द्वेष किया जाय ? क्षमा ही जीवन का मूलमन्त्र है।

वीर्य का अर्थ है उत्साह। जो क्षमी है वह वीर्य लाभ कर सकता है। वीर्य में बोधि प्रतिष्ठित है। जैसे वायु के बिना गति नहीं है, उसी प्रकार वीर्य के बिना पुण्य नहीं है। कुशल कर्म में उत्साह का होना ही वीर्य का होना

(४) वीर्य है। इसके विपक्ष में आलस्य, कुत्सित कर्म में प्रेम, विषाद और पारमिता आत्म-अवज्ञा हैं। संसार-दुःख के तीव्र अनुभव के बिना कुशल कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती साधक को अपने चित्त में कभी विषाद

को स्थान न देना चाहिए। उसे यह चिन्ता न करनी चाहिए कि मनुष्य अपरिमित पुण्य-ज्ञान के बल से दुष्कर कर्मों का अनुष्ठान कर कहीं असंख्य कल्पों में बुद्धत्व को प्राप्त होता है। मैं साधारण व्यक्ति किस प्रकार बुद्धत्व को प्राप्त कर सकूँगा क्योंकि तथागत का यह सत्य कथन है कि जिसमें पुरुषार्थ है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है। जिन बुद्धों ने उत्साहवश दुर्लभ अनुत्तर बोधि को प्राप्त किया है वे भी संसार सागर के आवर्त में घूमते हुए मशक, मक्षिका, और क्रिमि के योनि में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार चित्त में उत्साह का भाव भरकर निर्वाण-मार्ग में अग्रसर होना चाहिए। 'सत्त्व की अर्थ-सिद्धि के लिए बोधिसत्त्व के पास एक बल-व्यूह है जिसमें छन्द, स्थाम, रति और मुक्ति की गणना की गई है। छन्द का अर्थ है—कुशल कर्मों में अभिलाषा। स्थाम का अर्थ है—आरब्ध कार्यों में दृढ़ता। रति—सत्-कर्म में आसक्ति का नाम है। मुक्ति का अर्थ है—उत्सर्ग या त्याग। यह बल-व्यूह वीर्य संपादन करने में चतुरंगिणी सेना का काम करता है। इसके द्वारा आलस्य आदि शत्रुओं को दूर भगाकर वीर्य के बढ़ाने में प्रयत्न करना चाहिए। इन गुणों के अतिरिक्त बोधिसत्त्व को निपुणता, आत्मवश-वर्तिता, परात्मसमता और परात्मपरिवर्तन का संपादन करना चाहिए। जैसे रूई वायु की गति से संचालित होती है उसी प्रकार बोधिसत्त्व उत्साह के द्वारा संचालित होता है और अभ्यास-परायण होने से अक्षि को प्राप्त करता है'।

इस प्रकार वीर्य की वृद्धि कर साधक को समाधि में चित्त स्थापित करना

१ प्रष्टव्य—बोधिवर्ग का समग्र परिचय।

काहिए^१ क्योंकि निश्चित-चित्त पुरुष बीजकर्म होता हुआ भी बचेगा

१ (४) ध्यान को अपने चंचल से हटा नहीं सकता । इसके लिए तत्काल मेरी पारमिता

साधनों का निर्देश किया है—शमन तथा विपरमना । विपरमना

का अर्थ है ज्ञान और शमन का अर्थ है चित्त को एकत्रकृत

समाधि । शमन के बाद विपरमना का जन्म होता है और शमन (समाधि)

का जन्म संसार में आसक्ति को प्रेरित देने से होता है^२ । बिना आसक्ति हुए समाधि

प्रतिष्ठित नहीं होती । आसक्ति से जो जनम होते हैं सस्ते कीम नहीं परिचित

है । इसलिए महत्वाची साधक को जन-संसार से दूर इच्छा-वश में बाहर

निकल करवा चाहिए । और नहीं एकत्रकृत करते हुए साधक को जप के

अभित्वत्ता के ऊपर अपने चित्त को समाहित करवा चाहिए । उसे यह भावना

करनी चाहिए कि प्रिय का समापन सदा निश्चयकरक होता है । और अकेला ही

उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है । तब जीवन के, कठिण सब के

लिए ही प्रिय-वस्तुओं के जनक लयाने से काम क्या^३ । परमार्थ इति से देख

जाय तो और किन्हीं संयति करता है । जिस प्रकार यह कहते हुए पवित्र का

एक स्थाप में निश्चय होता है और फिर विरोध होता है उसी प्रकार संसार-रूपी

पार्य पर कहते हुए आसि माहों का प्रिय-मित्रों का दैनिक समागम हुआ करता

है^४ । इस प्रकार वाचिसत्त्व को संसार की प्रिय वस्तुओं से अपने चित्त को हटाकर,

एकत्रकृत का स्वरूप कर अनर्कली क्रमों के निवारण के लिए चित्त को एकत्रकृत

तथा शमन का अभ्यास करना चाहिए ।

१ विरोध के लिए इच्छा—बोधिचर्या (अष्टम परिच्छेद) ।

२ शमनेन विपरमनादुत्पन्न कुरुते क्लेशविचारमित्येत्य ।

शमनः प्रथमं गौतमीया स न छोडे विरपेक्षनामिरता ॥

(बोधिचर्या ७४)

३ एक उत्पन्नते जन्मुमिरते चेक एव हि ।

पान्थस्य लयनामप्या किं प्रियेर्मित्रकारके ॥

(बोधिचर्या ७१५)

४ अन्तार्थ प्रतिपन्नस्य ज्ञानासपरिमितः ।

तथा मन्त्रावतन्नापि जन्मासपरिमितः ॥ (बोधिचर्या ७१४) ।

चित्त की एकाग्रता से प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है, क्योंकि जिसका चित्त समाहित है उसी को यथाभूत सत्य का परिज्ञान होता है। द्वादश निदानों में अविद्या ही मूल स्थान है। इस अनवरत परिणामशाली दुःखमय प्रपञ्च

(६) प्रज्ञा- का मूल कारण यही अविद्या है। इस अविद्या को दूर करने का पारमिता एकमात्र उपाय है—प्रज्ञा। अब तक वर्णित पाँचों पारमितायें इस पारमिता की परिकरमात्र हैं। भव-दुःख के उन्मूलन में प्रज्ञा-पारमिता की ही प्रधानता है। इस प्रज्ञा का दूसरा नाम है विपर्ययना, अपरोक्ष ज्ञान। इस ज्ञान के उत्पन्न करने में समाधि की महिमा है।

प्रज्ञा पारमिता का अर्थ है सब धर्मों की निस्तारता का ज्ञान। अथवा सर्व-धर्मशून्यता। शून्यता में प्रतिष्ठित होनेवाला व्यक्ति ही प्रज्ञापारमिता (पूर्ण ज्ञान या सर्वज्ञता) को प्राप्त कर लेता है। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि भावों की उत्पत्ति न स्वतः होती है, न परतः होती है, न उभयतः होती है, न अहेतुतः होती है, तभी प्रज्ञापारमिता का उदय होता है। उस समय साधक के लिए किसी प्रकार का व्यवहार शेष नहीं रह जाता। उस समय यह परमार्थ स्वतः भासित होने लगता है कि यह दृश्यमान वस्तु-समूह माया के सदृश है। स्वप्न और प्रतिबिम्ब की तरह अलीक और मिथ्या है। जगत् की सत्ता केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। जगत् का जो स्वरूप हमारे इन्द्रियगोचर होता है वह उसका मायिक (साम्प्रतिक) स्वरूप है। वास्तव में सब शून्य ही शून्य है। यही ज्ञान आर्य ज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान का जब उदय होता है। तब अविद्या की निवृत्ति होती है। अविद्या के निरोध होने से सत्कारों का निरोध होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व कारण के निरोध होने से उत्तरोत्तर कार्य का निरोध हो जाता है और अन्त में दुःख का निरोध संपन्न होता है। इस प्रकार प्रज्ञापारमिता के उदय होने पर ससार की निवृत्ति और निर्वाण की प्राप्ति होती है। सृष्टि = ससार = समस्त दोषों का आकर। निवृत्ति = निर्वाण = समस्त गुणों का भण्डार है। इस प्रज्ञापारमिता की कल्पना पूजनीया देवता के रूप में पारमिता सूत्रों में की गई है। 'प्रज्ञा-पारमिता-सूत्र' ने प्रज्ञा का मनोरम वर्णन इस प्रकार किया है —

सर्वेषामपि वीराणां परार्थनियतात्मनाम् ।

याधिका जनयित्री च माता त्वमसि वत्सला ॥ १६ ॥

पुनरे प्रत्येकपुनरेष्य भाषसेष्य निषेधिता ।

मार्गस्त्वमेव मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः ॥ १७ ॥

इन पाठमित्रों की शिक्षा से बोधिसत्त्व की साधना सम्पन्न हो जाती है। वह बुद्धत्व की प्राप्ति कर सब सत्त्वों के उद्धार के महनीय कार्य में संलग्न हो जाता है। उसके जीवन का प्रत्येक क्षण प्रार्थनों के क्रमोच्च तथा भक्त के साधन में व्यय होता है। उसमें स्वार्थ का तत्त्विक भी गन्ध नहीं रहता। महात्मन की सम्पन्नता का वही पर्यवसान है। वह साधना बिछरी उदात्त तथा संश्लेषरिणी है, इसे कम क्षयिक कहना ही व्यर्थ है। बुद्धधर्म के विपुल प्रचार तथा प्रसार में बोधिसत्त्व का वह महान् कार्य ही बिना सफल तथा सहायक का, इसे इतिहास-दिशाओं के सामने विशेष कहना ही व्यर्थ रहता नहीं है।



एकादश परिच्छेद

(क) त्रिकाय

महायान और हीनयान के पारस्परिक भेद इसी त्रिकाय के सिद्धान्त को लेकर हैं। हीनयान निकायों में स्थविरवादियों ने त्रिकाय के सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं लिखा है। क्योंकि उनकी दृष्टि में बुद्ध शरीर धारण करनेवाले एक साधारण मानव थे तथा साधारण मनुष्यों की भाँति ही वे समस्त मानवीय दुर्बलताओं के भाजन थे। स्थविरवादियों ने कभी-कभी बुद्ध को धार्मिक नियमों का समुच्चय बतलाया, परन्तु यह केवल सकेत मात्र था जिसके गूढ़ तात्पर्य की ओर उन्होंने अपनी दृष्टि कभी नहीं डाली। इन संकेतों को सर्वास्तिवादियों ने और महायानियों ने ग्रहण किया और अपने विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। सर्वास्तिवादियों का भी इस विषय में धारणा विशेष महत्व की नहीं है। महासधिकाँ ने इस विषय में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने ही तथागत तीनों कायों—निर्माण-काय, सम्भोगकाय और धर्मकाय—की आध्यात्मिक रीति से ठीक-ठीक विवेचना प्रस्तुत की। 'त्रिकाय' महायान-सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त समझा जाता है।

त्रिकाय की कल्पना का विकास अनेक शताब्दियों में धीरे-धीरे होता रहा। आरम्भिक महायान के अनुसार (जिसके सिद्धान्त अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में उपलब्ध होते हैं) काय दो ही थे। (क) रूप (निर्माण) त्रिकाय का काय—जिसके अन्तर्गत सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों का अन्तर्भाव विकाश है। यह काय प्रत्येक प्राणी के लिए है। (ख) धर्मकाय—इसका प्रयोग दो अर्थ में होता था। (१) बुद्ध के निर्माण करनेवाले समस्त धर्मों से बना हुआ शरीर। (२) परमार्थ (तथता), जो इस जगत् का मूल सिद्धान्त है।

विज्ञानवादियों ने इस द्विविधकाय की कल्पना को त्रिविध बना दिया। उन्होंने स्थूल रूपकाय को सूक्ष्म रूपकाय से अलग कर दिया। पहिले का नाम रक्खा 'निर्माणकाय' और दूसरे का 'संभोगकाय'। लंकावतारसूत्र में यह 'संभोगकाय' निष्यन्द बुद्ध या धर्मतानिष्यन्द बुद्ध (धर्म से उत्पन्न होनेवाले बुद्ध) नाम दिया गया है। असग ने सूत्रालंकार में 'निष्यन्द बुद्ध' के लिए संभोगकाय तथा

धर्मधन के लिए 'स्वाम्यधिक दाव' का प्रयोग किया है। इस प्रकार बापों का धर्मधन भी कई शताब्दियों के भीतर बँटि-बीरे होता रहा।

स्वामि-दादी कल्पना

विचारों के सम्बन्ध से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि वे बुद्ध की मृत्युतः इन मृत्यु पर आकर धर्म प्रचार करने वाला व्यक्तिमान समझते थे। बुद्ध की यह मानवकल्पना इन शब्दों में प्रकट की गयी है।

‘भगवा अहं सम्मा सम्बुद्ध विज्झावरमसम्पन्नो सुगतो लोकाविद्व
अमुत्तरो पुरियवन्मसारभी सच्च वैषममुत्तान सरया पुत्थो भगवा’।

(बौधनिकस्य भाष्य १ पृ ६७-६८)।

अर्थात् भगवान् अर्हत् सम्बुद्ध ज्ञान सम्पन्न विद्या और आचरण से बुद्ध सन्तुष्टि को प्राप्त करकेवाले लोकाव्यक्ता थे। मनुष्यों के बापक, देवता और मनुष्यों को उपदेशक ज्ञानसम्पन्न तथा समवात्थ थे। इसका स्पष्ट अर्थ है कि बुद्ध मनुष्य से बरन्तु मानवों में आत्मन्त ज्ञान सम्पन्न तथा बर्माणदेशक थे। त्रिविध में अनेक अवस्था पर बुद्ध की अमानवीय कल्पना का भी संकेत है। मृत्यु के समय से बुद्ध पहिले बुद्ध ने आत्मन्त से कहा था कि मेरी शक्त से अकस्मत्त भित्ति पर्य और विनय का सिद्ध उपदेश दिया है वही तुम्हारे लिये शिक्षा का काम करेगा। धर्मधन की कल्पना वही से आरम्भ होती है परन्तु धर्मधन का अर्थ बौद्ध धार्मिक विचारों का समुदायमान है अन्तः कुछ नहीं। इस प्रकार धर्मधनियों में वही त्रिविध कल्पना गयी रही।

हीनयान का यह सम्प्रदाय धर्मधनियों से बाप की कल्पना में कुछ पृथक् था।

सहितविस्तर में बुद्ध के जीवनचरित से सर्वत्र अनेक अलौकिक

सुर्वास्ति

कथार्ये दी गई हैं। बुद्ध की कल्पना नितान्त स्पष्ट है। वे अमानवीय

दादी

पुत्रों से कुछ एक मानव व्यक्तिमान हैं। लोकाव्यवर्तन के लिये ही

कल्पना

बुद्ध इस कल्पना में उत्पन्न होते हैं। यदि वे एक ही लोक में विद्यमान

करते और वही कर मुच्छिज्ज कर लिये रहते तो यह लोक का

अव्यवर्तन कल्पति नहीं सिद्ध हो सक्त था। इसी कल्पना होने पर भी धर्मधन

की दार्शनिक कल्पना यहाँ नहीं दी गई पड़ती। आचार्य ब्रह्मचर्य से अधिपन्नधर्म

में धर्मधन की कल्पना की अधिक विवक्षित किया है। धर्मधन का प्रयोग अर्हत्

दो अर्थों में किया है—(१) क्षय-ज्ञान (दुःख के नाश का ज्ञान) अनुत्पाद ज्ञान आदि उन धर्मों के लिये धर्मकाय शब्द का व्यवहार किया गया है जिनके सम्पादन करने से मनुष्य स्वयं बुद्ध बन जाता है (बोधिपक्षीय धर्म) । (२) भगवान् बुद्ध का विशुद्ध व्यक्तित्व—यही धर्मकाय का नया अर्थ है जिसे वसुवन्धु ने दिया । इस प्रकार धर्मकाय की मूर्त कल्पना को अमूर्त रूप देना वसुवन्धु का कार्य है । इसी प्रकार जब कोई भिक्षु बुद्ध की शरण में जाता है तो वया वह बुद्ध के शरीर के शरण में जाता है । वसुवन्धु का उत्तर है कि नहीं, वह उन गुणों की शरण में जाता है जिनके आश्रय भगवान् बुद्ध हैं ।

सत्य सिद्धि सम्प्रदाय धर्मकाय का प्रयोग बुद्ध के उस शरीर के लिये करता है जो शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति तथा विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन से पवित्र और विशुद्ध हो जाता है । बुद्ध भी अर्हत् हैं परन्तु इस सम्प्रदाय मत के संस्थापक हरिवर्मा की दृष्टि में अर्हत् तथा बुद्ध के शरीर में महान् अन्तर है । अर्हत् में तो केवल पाँच सद्गुण रहते हैं परन्तु बुद्ध के धर्मकाय में दस प्रकार के बल (दश बल), चार प्रकार की योग्यता (चैशारय) तथा तीन प्रकार की स्मृतियों रहती हैं ।

महायानी कल्पना

हीनयान के अनुसार काय की यही कल्पना है । महायान की कल्पना इससे नितान्त भिन्न, प्रौढ़ तथा आध्यात्मिक है । इसी का वर्णन यहाँ संक्षेप में किया जावेगा—

(१) निर्माण काय

भगवान् बुद्ध ने यह शरीर दूसरे के उपकार के लिये ही धारण किया था । यही शरीर माता और पिता से उत्पन्न हुआ था । चेतन प्राणियों के धर्म इसी शरीर से संबद्ध हैं । शाक्यमुनि ने मुनि के रूप में इसी निर्माण काय को धारण किया था । असंग ने इस काय की विशेषता बतलाते हुये कहा है कि शिल्प, जन्म, अमिसबोधि (ज्ञान), निर्वाण की शिक्षा देकर जगत् के कल्याण के लिये ही बुद्ध ने इस शरीर को धारण किया था । इस निर्माणकाय का अन्त नहीं । परार्थ की सिद्धि जिन जिन शरीरों के द्वारा सम्पन्न की जा सकती है, उन सब शरीरों को बुद्ध ने इसी निर्माण काय के द्वारा धारण किया ।

१ शिल्प-जन्म-महाबोधि-सदा-निर्वाण-दर्शन ।

बुद्धनिर्माणकायोऽयं महामायो विमोचने ॥ (महायान सूत्रालंकार ९।६४)

'निष्ठि-मात्रज-सिद्धि' के अनुसार निर्माणकर्म अत्यन्त, अत्येक कुछ पूर्ण बन तथा मृमि में न स्थित होने वाले बोधिसत्त्वों के सिद्धि हैं। 'सिद्धि' के यौगी भाषा में सिद्धि शिष्टार्थों के कुछ के वर्तमान रूप धारण करने के प्रकारों का पूरा वर्णन किया है। वे कभी कभी अज्ञान का रूप धारण कर बोधते वे और कभी-कभी शारीरपुत्र या धूम्रपि के द्वारा धर्मोपदेश करते थे। इसीविषे इन शिष्टों के द्वारा दिये गये उपदेश कुछ के ही उपदेश गये जाते हैं। कुछ ऐसा ब्रह्मते ऐसा रूप धारण कर सकते थे; जो निवार नहीं कर सकते थे; अथवा से शब्द उत्पन्न कर सकते थे। यह सब अन्य 'निर्माणकर्म' के द्वारा विपन्न किया जाता था।

संज्ञाकार सूत्र में निर्माणकर्म और धर्मकर्म का सम्बन्ध निष्ठि मात्रज सिद्धि के अनुसार ही दिखताया गया है। इस अर्थ का अर्थ है कि निर्मित कुछ (निर्माण कर्म) कर्मों से उत्पन्न नहीं होते^१। तथापि न तो इन कुछों में वर्तमान हैं और न उनके बाहर। तथापि निर्माण कर्म से उत्पन्न कर तथापि के विषये कुछ हैं इनका सम्पादन करते हैं। कुछ इसी शरीर के द्वारा शब्द शीघ्र पत्र सम्पादि विद्य, यथा ज्ञान स्वरूप आदि का उपदेश करते हैं^२।

इस प्रकार निर्माणकर्म का कार्य परोपकार-साधन करता है। इस बात को संज्ञा का अर्थ नहीं। निष्ठ ऐतिहासिक शब्द धूमि से इस परिमित हैं वे भी तथापि के निर्माणकर्म ही थे।

(२) संयोग-काय

यह संयोग-काय निर्माण-कर्म की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म है। अभी कतलना गया है कि ज्ञानक आदि निर्माण कर्म से धारण करते थे। सूक्ष्म शरीर की केवल बोधिसत्त्व ही धारण कर सकते हैं। संयोग-काय दो प्रकार का माना जाता है—(१) परसंयोग-काय और (२) स्वसंयोग-काय। स्वसंयोग-काय भिन्न, कुछ का अपना विशिष्ट शरीर है। परसंयोग-काय बोधिसत्त्वों का अर्थ है। इसी बात के द्वारा कुछ वे महामान्य सूत्रों का उपदेश यदृच्छ वर्त पर दिया था या सुजयती मृद में दिया। महामान्य धर्म का उपदेश इसी शरीर के द्वारा किया गया। पञ्चविंशति-साहसिक के अनुसार संयोग काय अत्यन्त सूक्ष्म शरीर है जिसके एक एक

छिद्र से प्रकाश की अनन्त और असंख्य धारयें निकलकर जगत् को आप्लावित किया करती हैं। जब इस शरीर से उपदेश देने के लिये जिह्वा बाहर निकलती है, तब उससे असंख्य प्रभा की ज्वालायें चारों ओर फैलती हैं। इसी प्रकार का विचित्र वर्णन अन्य प्रज्ञापारमिताओं में भी मिलता है। लंकावतारसूत्र में इसी का नाम 'निष्यन्द बुद्ध' रक्खा है। इस शरीर का कार्य वस्तुतत्त्व से अनभिज्ञ होनेवाले लोगों के सामने परिकल्पित और परतन्त्र रूप का उपदेश करना है। 'सुवर्णप्रभाससूत्र' के कथनानुसार 'सभोगकाय' बुद्ध का सूक्ष्म शरीर है। इसमें महापुरुष के समस्त लक्षण विद्यमान रहते हैं। इसी शरीर को धारण कर बद्ध-भगवान् योग्य शिष्यों के सामने धर्म के गूढ़ तत्त्वों का उपदेश दिया करते हैं। विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि में सभोगकाय के दो भेद कर दिये गये हैं—परसंभोग काय और स्वसंभोग काय। इनमें पहिला बोधिसत्त्वों का शरीर है और दूसरा स्वयं बुद्ध भगवान् का। अमेयता, अनन्तता, और प्रकाश की दृष्टि से इन दोनों प्रकारों में किसी प्रकार का भेद नहीं है। अन्तर है तो इस बात में है कि परसंभोग काय में महापुरुष के लक्षण विद्यमान रहते हैं तथा उसका चित्त सत्य नहीं होता। स्वसंभोग काय में महापुरुष के लक्षण नहीं रहते परन्तु इसका चित्त नितान्त सत्य है। इस चित्त में चार गुण विद्यमान रहते हैं—आदर्श ज्ञान (दर्पण के समान विमला ज्ञान), समता-ज्ञान (प्रत्येक वस्तु सम है, इस विषय का ज्ञान), प्रत्य-वेक्षणा ज्ञान (वस्तुओं के पारस्परिक भेद का ज्ञान), कृत्यानुष्ठान ज्ञान (कर्तव्यों का ज्ञान)।

इस प्रकार सभोगकाय बोधिसत्त्वों का सूक्ष्म शरीर है जिसके द्वारा धर्म का उपदेश दिया जाता है। इस भूतल पर सबसे पवित्र स्थान गृद्धकूट है जहाँ सभोग काय उत्पन्न होकर धर्मोपदेश करता है^१।

१ महायान सम्प्रदाय में दो नय माने जाते हैं (१) पारमिता नय और (२) मन्त्र नय। बुद्ध ने पारमिता नय का उपदेश सभोगकाय से गृद्धकूट पर्वत पर किया और मन्त्र नय का उपदेश श्री पर्वत पर किया। गृद्धकूट और श्रीपर्वत भौगोलिक नाम हैं जिनकी सत्ता आज भी विद्यमान है, परन्तु तान्त्रिक रहस्य-वेत्ताओं का कहना है कि ये पीठस्थान हैं जिनकी सत्ता इमी शरीर में है। ये कोई भौगोलिक स्थान नहीं हैं।

(१) धर्म-काय

युक्त का यही वास्तविक परमार्थमूल शरीर है। यह काय सम्प्रदाय अतिरिचनीय है। महात्मन सुनासकधर तथा 'सिद्धि' में इसका नाम स्वामाधिक काय या स्वस्व काय बतलाया गया है। यह अत्यन्त और अपरिमित तथा सर्वत्र व्यापक है। संश्लेषकाय तथा निर्माणकाय का यही आधार है। अर्थात् यह शब्द है :—

‘सम’ सुदमस्य तच्छिष्टः धर्मः स्वामाधिको भवः ।

संश्लेष-विमुक्त-हेतुयुगेष्ट भोगदर्शने” ॥

साक्षात् है कि धर्मकाय एक हुईके लिये एक रूप होता है। हुआ होने से यह अत्यन्त सूक्ष्म होता है। निर्माण काय तथा संश्लेष काय से संबद्ध रहता है। संश्लेष और विमुक्त का कारण होता है तथा इसी के कारण से संश्लेष काय अपना संश्लेष छिद्र कर सकता है। यह महापुरुष के लक्षणों से हीन मिथ्यपक्ष मिल, स्वयं तथा अत्यन्त शुद्ध से युक्त होता है। दुर्गों के संश्लेष काय मिथ्यमिथ्य होते हैं परन्तु धर्मकाय एक ही होता है। सम्प्रदाय इसका वर्णन नहीं किया का सकता। यह तो स्वयं वैद्य है (महात्मनैव)। जिस प्रकार धूर्त को बमो न देखने वाला धर्मकाय धूर्त का वर्णन नहीं कर सकता इसी प्रकार धर्मकाय का वर्णन शब्दों के द्वारा कबमपि नहीं किया जा सकता।

धर्मकाय का यह लक्षण अथ धारमिताओं के आधार पर ही विहित किया गया है। शून्यवाद के प्रकरण में इस दिक्कतसे कि शून्यता की कल्पना असम्भव है। इसी प्रकार धर्मकाय की अत्यन्तक कल्पना महात्मन सुज्ञों को मन्त्र है। साधर्मिकों को भी धर्मकाय का यह स्वयं स्वीकृत है। आचार्य नापार्तुन ने आत्मविश्वास-विषय के २२ वें प्रकरण में उदाहरण की कमी परीक्षा की है। उसके शब्द का अर्थप्रत्यय यह है कि यदि मन-सन्तति स्वीकृत की जाय तभी उदाहरण की लक्षण स्वीकृत की जा सकती है। क्योंकि उदाहरण मन-सन्तति के कारण अत्यन्त के प्रतीक हैं। मन-सन्तति (सत्य का परम्परा) वस्तुता सिद्ध नहीं होती। अतः उदाहरण की कल्पना अमान्य-सिद्ध नहीं है। अन्तर्बोधित के नापार्तुन के शब्दों से सिद्ध किता है। अन्तर्बोधित धर्म का कल्पन है कि जो मनुष्य मन के

द्वारा मेरा दर्शन करना चाहता है या शब्द के द्वारा मुझे जानना चाहता है वह मुझे जान नहीं सकता, क्योंकि—

धर्मतो बुद्धा द्रष्टव्या, धर्मकाया हि नायका ।

धर्मता चाप्यविज्ञेया, न सा शक्या विजानितुम्^१ ॥

अर्थात् बुद्ध को धर्मता के रूप से अनुभव करना चाहिये क्योंकि वे मनुष्यों के नायक ठहरें, उनका वास्तविक शरीर धर्मकाय है । लेकिन यह धर्मता अविज्ञेय है । उसी प्रकार तथागत भी अविज्ञेय ही हैं । तथागत का जो स्वभाव है वही स्वभाव इस जगत् का है । तथागत स्वयं स्वभावहीन हैं । उसी प्रकार यह जगत् भी निःस्वभाव है । जिसे साधारण पुरुष तथागत के नाम से पुकारते हैं वे वस्तुतः क्या हैं ? वे अनास्रव, कुशल धर्मों के प्रतिविम्ब रूप हैं । न उनमें तथता है और न वे तथागत हैं^२ । इतनी व्याख्या के बाद नागार्जुन इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि जगत् के मूल में एक ही परमार्थ है जो वास्तविक है । उसीका नाम तथागत-काय या धर्मकाय है ।

योगाचार मत में धर्मकाय की कल्पना नितान्त महत्त्वपूर्ण है । लकावतारसूत्र के अनुसार बुद्ध का धर्मकाय (धर्मता बुद्ध) बिना किसी आधार का होता है । इन्द्रियों के व्यापार, सिद्धि, चिह्न सबसे यह पृथक् रहता है । त्रिशिका के अनुसार धर्मकाय आलय विज्ञान का आश्रय होता है । यही धर्मकाय वस्तुओं का सच्चा रूप है । यही तथता, धर्मघातु, तथा तथागतगर्भ के नाम से प्रसिद्ध है^३ ।

बौद्धों के इस त्रिकाय सिद्धान्त की ब्राह्मण दर्शन के सिद्धान्त से तुलना की जा सकती है । धर्मकाय वेदान्त के ब्रह्म का प्रतिनिधि है तथा सभोगकाय ईश्वर

१ माध्यमिकवृत्ति पृ० ४४८ ।

२ तथागतो हि प्रतिविम्बभूतः कुशलस्य धर्मस्य अनास्रवस्य ।
नैवात्र तथता न तथागतोऽस्ति, विम्बश्च सदृश्यति सर्वलोके ॥

(माध्यमिक वृत्ति पृ० ४४८)

३ स एवानास्रवो घातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः ।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुने ॥

(त्रिशिका, श्लोक ३०, पृ० ४३)

(६) धर्म-काय

मुक्त का यही वास्तविक परमार्थमय शरीर है। वह काय राष्ट्रता अभिव्यक्ति का है। महात्मा सुभाषचंद्र तथा 'सिद्धि' में इसका नाम स्वाभाविक काय या स्वभाव काय बतलाया गया है। यह अचल और अपरिमेय तथा सर्वत्र व्यापक है। संयोगकाय तथा निर्माणकाय का यही आधार है। अर्थ यह काय है :—

‘समं सुहृन्मम तच्छिष्टं कायः स्वभावविक्रमे मत्तः ।

संयोग-विमुक्त-हेतुर्नयेष्ट मोगदर्शने’ ॥

अर्थात् है कि धर्मकाय एक सुखोंके सिने एक का होता है। सुख होने से वह अत्यन्त दुःख होता है। निर्माण काय तथा संयोग काय से संबद्ध रहता है। संयोग और विमुक्त का कारण होता है तथा इसी के कारण से संयोग काय अपना संयोग सिद्ध कर सकता है। वह महापुरुष के लक्ष्यों से हीम निष्पन्न मिल प्राप्त तथा अचल पुर्ण से मुक्त होता है। सुखों के संयोग काय मित्र-मित्र होते हैं वस्तु धर्मकाय एक ही होता है। राष्ट्रता इसका बर्णन नहीं किया जा सकता : वह तो स्वयं वेद है (अथात्मवेद)। जिस प्रकार धर्म को कभी न देखने वाला अन्धा धर्म का बर्णन कभी नहीं कर सकता इसी प्रकार धर्मकाय का बर्णन राष्ट्रों के द्वारा कबमपि नहीं किया जा सकता।

धर्मकाय का यह लक्ष्य महा पारमिताओं के आधार पर ही निश्चित किया गया है। राष्ट्रवाद के प्रचार में हम शिक्षणार्थों कि राष्ट्रवाद की कल्पना अभासप्रक नहीं है। उसी प्रकार धर्मकाय की भावनायक कल्पना महात्मा सुभाषचंद्र के माध्यमों को भी धर्मकाय का वह स्वरूप स्वीकृत है। आचार्य रामचंद्र के व्याख्यात्मक-विचार के २२ वें प्रकरण में उदाहरण की कड़ी परीक्षा की है। उनके कलम का अभिप्राय यह है कि यदि मम-सन्तति स्वीकृत की जाय तभी उदाहरण की सत्य स्वीकृत की जा सकती है। क्योंकि उदाहरण मम-सन्तति के वरम अन्तर्गत के प्रतीक हैं। मम-सन्तति (सत्य का परम्परा) अस्तुता सिद्ध नहीं होती। अतः उदाहरण की कल्पना अभास-सिद्ध नहीं है। अन्तर्दीर्घ के माध्यम के कलम को प्रमाणों से सिद्ध किया है। अन्तर्दीर्घा सुत्र का अर्थ है कि जो वस्तु स्वयं के

से खिल जाता है। उसके हृदय में महाकरुणा का उदय होता है और वह दश महाप्रणिधान (व्रत) से संपादन का सकल्प करता है कि—(१) प्रत्येक देश में और सब तरह से बुद्ध की पूजा करना, (२) जहाँ कहीं और जब कहीं बुद्ध उत्पन्न हो तब उनकी शिक्षाओं का पालन करना, (३) तुषित स्वर्ग को छोड़कर इस भूतल पर आने तथा निर्वाण प्राप्त करने तक समस्त क्षेत्रों में बुद्ध के उदय का निरीक्षण करना, (४) सब भूमियाँ तथा सब प्रकार की पारमिता प्राप्त करने के लिए ज्ञान प्राप्त करना, (५) जगत् के समस्त प्राणियों को सर्वज्ञ बनाना, (६) जगत् में विद्यमान समस्त भेदों का अवलोकन करना, (७) समग्र प्राणियों को उनके अनुसार आनन्दित करना, (८) बोधिसत्त्वों के हृदयों में एक प्रकार की भावना उत्पन्न करना, (९) बोधिसत्त्व की चर्या का संपादन करना, (१०) सम्बोधि को प्राप्त करना। इस भूमि को विशुद्ध करने के लिए श्रद्धा, दया, मैत्री, दान, शास्त्र-ज्ञान, लोक-ज्ञान, नम्रता, दृढता तथा सहनशीलता—इन दश गुणों की बड़ी आवश्यकता होती है।

(२) **चिमला**—इस भूमि में काय, वचन, मन के दस प्रकार के पापों (दोषों) को साधक दूर करता है। दश पारमिताओं में से केवल शील का सर्वतोभावेन अभ्यास किया जाता है।

(३) **प्रभाकरी**—इस तृतीय भूमि में साधक जगत् के समस्त संस्कृत पदार्थों को अनित्य देखता है। वह आठ प्रकार की समाधि, चार ब्रह्मविहार तथा सिद्धियों को प्राप्त करता है। काम-वासना, देह-तृष्णा क्षीण हो जाती है और उसका स्वभाव निर्मल होने लगता है। वह विशेषकर धैर्य पारमिता का अभ्यास करता है।

(४) **अर्चिष्मती**—इस भूमि में साधक बोध्यज्ञों तथा अष्टाङ्गिक मार्ग का अभ्यास करता है। उसका चित्त दया तथा मैत्रीभाव से स्निग्ध हो जाता है। सशय छिन्न हो जाते हैं। जगत् से चैराग्य उत्पन्न हो जाता है और साधक वीर्यपारमिता का अभ्यास विशेष रूप से करता है।

(५) **सुदुर्जया**—चित्त की समता और चिन्तारों की विशुद्धता (चित्ताशय विशुद्ध समता) के उत्पन्न करने से साधक चतुर्थ भूमि से पञ्चम भूमि में प्रवेश करता है। प्राणियों के ऊपर दया के विचार से वह नाना प्रकार के लौकिक विद्याओं का अभ्यास करता है। इस भूमि में साधक जगत् को छोड़ बैठता है और उपदेशक बन जाता है। ध्यानपारमिता का अभ्यास इस भूमि की विशेषता है।

(६) **अभिमुक्ति**—दश प्रकार की समता से यह भूमि प्राप्त होती है।

तत्त्व का निदर्शक है। जिस प्रकार जगत् को ज्ञानोपदेश करने के बौद्ध तथा सिद्धे प्रपञ्चालीत ब्रह्म ईश्वर की मूर्ति बारण करता है, उसी प्रकार ब्रह्मण्य बर्मकाय ज्ञानोपदेश करने के सिद्धे संयोगज्ञान का रूप बारण करता है। बर्मकाय वस्तुतः एक ही रूप है। प्रत्येकजन्म का संयोगजन्य समन्वय मिश्र-मिश्र हुआ करता है परन्तु सब बुद्धों का बर्मकाय एक, अमिच्छ तथा सम होता है। निर्माणभाव की वृत्तिका अवतार-स्वित् से भी वा सफ़री है। जिस प्रकार जगत्का सबको के मनोरथ को सिद्ध करने के सिद्धे अन्तःकार बारण करते हैं उसी प्रकार निर्माणभाव के द्वारा भी जगत् के उद्धार का कार्य सन्धान बुद्ध सम्पन्न किया करते हैं। इस प्रकार दोनों बर्मों की वान-वस्तुता में वस्तुतः साम्य है।

(क) ब्रह्ममूर्ति

महात्मा की एक अल्प विविधता दृष्टिभूमि की कल्पना में है। वह तो निश्चित बात है कि व्यापारिकक वृत्ति एक हिम के अन्वयभाव का फल नहीं है। व्यापारिकक की बोधी पर ब्रह्मा अमन्त परिधम असीम उत्साह तथा अर्थम प्रकाश का फल है। साधक की उत्पत्ति का पत्र उसके भीतर होनेवाले परिवर्तन से उत्पन्न है। ईश्वरत्व के अनुसार अर्थम पद की प्राप्ति तक बार भूमिर्वा है किन्तु नाम (१) सोपाप (२) उच्छ्रयामी (३) अन्वामी (४) अर्थम है। महात्मा के अनुसार उच्छ्रय वा निर्वाण की प्राप्ति के लिए दृष्ट भूमिर्वा यन्त्री जाती है। ये भूमिर्वा सोपाप की तरह हैं। एक भूमि के बार बार होने पर बोधितत्त्व अन्वामी भूमि में परार्पण करता है और बीरे-बीरे व्यापारिकक विकल्प की प्राप्ति कर उच्छ्रय पद पर अन्वामी होता है। अन्वय में 'ब्रह्ममूर्ति शास्त्र' में इस विषय का बड़ा ही सम्योपाय वर्णन किया है। साधक के उत्पन्न ज्ञाननेवाले विचारों के लिए इस अर्थम का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है।

ब्रह्ममूर्ति की नाम तथा उचित वर्णन इस प्रकार है :—

(१) भूमिर्वा—असीम ब्रह्म में जोमव बर्म के उत्पन्न करने से बोधितत्त्व के इच्छा में पहले पक्ष सम्बन्धि के प्राप्त करने की अन्वित्वा कल्पना होती है। इसी का नाम है बोधितत्त्व का उत्पन्न। इस प्रकार बोधितत्त्व वृत्त का (अन्वयम मन्त्र) की बोधि से निश्चित कर उत्पन्न के उच्छ्रय में प्रकट करता है। उच्छ्रय और बोधितत्त्वों के भीतरपूर्वजों को स्मरण कर उसका इच्छा अन्वय

द्वादश परिच्छेद

निर्वाण

निर्वाण के विषय में हीनयान और महायान की कल्पनाएँ परस्पर में नितान्त भिन्न हैं। यह विषय बौद्ध दर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बौद्धधर्म का प्रत्येक सम्प्रदाय निर्वाण के विषय में विशिष्ट मत रखता है। निर्वाण भावरूप है या अभारूप, इस विषय को लेकर बौद्ध-दर्शन में पर्याप्त मोमासा की गई है। यहाँ पर इस महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन सक्षेप में किया जा रहा है।

(क) हीनयान

हीनयान मतानुयायी अपने को तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित मानता है—
(१) दुःख-दुःखता—अर्थात् भौतिक और मानसिक कारणों से उत्पन्न होने वाला क्लेश। (२) संस्कार-दुःखता—उत्पत्ति विनाशशाली जगत् निर्वाण का के वस्तुओं से उत्पन्न होने वाला क्लेश। (३) चिपरिणाम-सामान्य दुःखता—सुख को दुःख रूप में परिणत होने से उत्पन्न क्लेश। रूप मनुष्य को इन क्लेशों से कभी भी छुटकारा नहीं है, चाहे वह कामघातु, रूपघातु अथवा अरूपघातु में जीवन व्यतीत करता हो। इस दुःख से छुटकारा पाने का उपाय बुद्ध ने स्वयं बतलाया है—आर्य सत्य, सासारिक पदार्थों की अनित्यता तथा अनात्म तत्त्व का ज्ञान। अष्टाङ्गिक मार्ग के अनुशीलन से तथा जगत् के पदार्थों में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, इस ज्ञान को परिनिष्ठित रूप देने पर साधक ऊपर निर्दिष्ट क्लेशों से सदा के लिए मुक्ति पा लेता है। फिर ये क्लेश उसे किसी प्रकार पीड़ित करने के लिए या ससार में बद्ध करने के लिए कथमपि समर्थ नहीं होते। अतः आर्य सत्य के ज्ञान से, सदाचार के अनुष्ठान से, हीनयान सम्प्रदाय में कोई भी साधक क्लेशों से निवृत्ति पा लेता है। यही निर्वाण है।

हीनयान के विविध संप्रदायों में इस विषय को लेकर पर्याप्त मतभेद देख पड़ता है। निकायों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि निर्वाण क्लेशाभाव रूप है।

अमर के समस्त पदार्थों को शुद्ध करता है। और प्राणियों पर दया के लिए अमर के शुद्ध पदार्थों को भी उत्पन्न ही समझता है। अण्ड में पड़े रहने वाले प्राणियों के ऊपर वह दया का भाव रहता है। वहाँ तक की भूमियों की हीनता के कारण भूमियों के साथ तुल्यता को का सखी है। सम भूमि से शुद्धता की उपस्थिति का प्रत्यक्ष आरम्भ होता है। अथा पारमिता का अन्वाच इस भूमि की नियोज्य है।

(७) दूरगमा—इस भूमि में साधक का मार्ग निरीह रूप से व्यक्त होता आरम्भ करता है। वह इस प्रकार के उपायों के द्वारा (उपाय कीदृश्य ज्ञान) का सम्पादन यहीं से आरम्भ करता है। जिस प्रकार से बहुत बालिक समुद्र के ऊपर अपनी मातृ निर्मलता से जाता है उसी प्रकार सम भूमि में बोधिलता सर्व-ज्ञ के समुद्र में प्रवेश करता है। वह सर्वज्ञ हो जाता है परन्तु निर्वाण की प्राप्ति दूर रहती है।

(८) अचक्षा—इस भूमि में साधक वस्तुओं को अपनी तरह से विस्तारण करता है। वह देख, बचन और मन के आगमों से तबिक प्रभावित नहीं होता। जिस प्रकार स्वप्न से जाग हुआ मनुष्य स्वप्न के ज्ञान को बाधित समझता है, उसी प्रकार अचक्षा भूमि का साधक अमर के समस्त प्रपञ्चों को बाधित, प्राप्त तथा अक्षय मानता है।

(९) साधमयी—इस अवस्था में साधक मनुष्यों के उत्थार के लिए वह अनेक उपायों का अनुसन्धान करता है, वन का उपदेश देता है और बोधिलता के कारण प्रकार के विषय पर्याप्तोक्त (परिपूर्णता का प्रतिनिधि) का अन्वाच करता है। वे बार प्रकार की प्रतिनिधि हैं शब्दों के कार्य का विवेचन धर्म का विवेचन, व्याकरण की विवेचन पद्यति तथा विषय के शीघ्र प्रतिपत्ति की शक्ति (प्रतिमात्र)।

(१०) धर्ममेय—इसी का दूसरा नाम धर्मिक है। इस अवस्था में बाधिलता सब प्रकार की उपायियों को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार से राजा अपने पुत्र का सुवर्ण पद पर धर्मिक करता है उसी प्रकार साधक मुक्तता को प्राप्त कर लेता है। बाधिलता भूमियों का यही नाम परमजन्म है^१।



से उस पार तक जा सकता है परन्तु अश्रान्त परिश्रम करने पर भी उस पार को इस पार नहीं ला सकता। ठीक यही दशा निर्वाण को है। उसके साक्षात्कार करने का मार्ग बतलाया जा सकता है परन्तु उसके उत्पादक हेतु को कोई भी नहीं दिखला सकता^१। इसका कारण यह है कि निर्वाण निर्गुण है। उसके उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य इन तीनों काल से परे है। अदृश्य होने पर भी, इन्द्रियों के द्वारा गोचर न किये जाने पर भी, उसकी सत्ता है। अर्हत् पद को प्राप्त कर भिक्षु विशुद्ध, ऋजु तथा आवरणों तथा ससारिक क्रमों से रहित मन के द्वारा निर्वाण को देखता है। अतः उसकी सत्ता के विषय में किसी प्रकार का अपलाप नहीं किया जा सकता परन्तु निर्गुण होने से वह उत्पाद-रहित है। उपाय होने से उसका साक्षात्कार अवश्य होता है परन्तु वह स्वयं अनिर्वचनीय पदार्थ है।

नागसेन ने निर्वाण की अवस्था के विषय में भी खूब विचार किया है^२। महाराज मिलिन्द की सम्मति में निर्वाण में दुःख कुछ न कुछ अवश्य ही रहता है क्योंकि निर्वाण की खोज करनेवाले लोग नाना प्रकार के निर्वाण की सयमों से अपने शरीर, मन तथा इन्द्रियों को तप्त किया करते सुखरूपता हैं। संसार से नाता तोड़कर इन्द्रियों तथा मन की वासनाओं को मारकर वन्द कर देते हैं जिससे शरीर को भी कष्ट होता है तथा मन को भी। इसी युक्ति के सहारे मिलिन्द की राय में निर्वाण भी दुःख से सना हुआ है। इसके उत्तर में नागसेन की स्पष्ट सम्मति है कि निर्वाण में दुःख का लेश भी नहीं रहता। वह तो सुख ही सुख है। राज्य की प्राप्ति होने में नाना प्रकार के क्लेशों को सहना पड़ता है परन्तु स्वयं राज्य-प्राप्ति क्लेशरूप नहीं है। इसी प्रकार तपस्या, ममता त्याग, इन्द्रिय-जय आदि निर्वाण के उपाय में क्लेश है स्वयं निर्वाण में कहाँ? वह तो महासमुद्र के समान अनन्त है। कमल के समान क्लेशों से अलिप्त है। जल के समान सभी क्लेशों की गर्मी को शान्त कर देता है तथा कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा की प्यास को दूर कर देता है। वह अकाश के समान दश गुणों से युक्त रहता है। न पैदा होता है,

मिलिन्द प्रश्न पृ० ३२९-३३३।

मिलिन्द प्रश्न पृ० ३८४-४०३।

बस क्लेश के उपहरण का सर्वथा परिहार हो जाता है तब निर्वाण निर्वाण की अवस्था का वन्म होता है। इसे सुख रूप भी कहना — निरोध पना है। परन्तु अधिकतर बौद्ध भिक्षु निर्वाण को अममकर्म ही मानता है। भित्तिम्ब प्रभु में निर्वाण के विषय में बड़ी सूक्ष्म विवेचना की गई है। इसका स्पष्ट कथन है कि निरोध ही वास्तविक निर्वाण है। संसार के सभी अज्ञानी जीव इन्द्रियों और विषयों के उपभोग में लगे रहने के कारण नासा प्रकार के दुःख उठते हैं। परन्तु ज्ञानी चार्य ज्ञात इन्द्रियों और विषयों के उपभोग में ब कमी लाग पड़ता है और न उल्लेख आनन्द ही होता है। फलतः उनकी दुःखा निरोध हो जाता है। दुःखा ने निरोध के साथ उपादान का तथा मन का निरोध उत्पन्न होता है। पुनर्बन्ध के बन्ध होते ही सभी दुःख रुक जाते हैं। इस प्रकार दुःखारिक् क्लेशों का निरोध हो जाता ही निर्वाण है। मध्यम की सम्मति में निर्वाण के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा खोप हो जाता है। बिना प्रभु कहती हुई व्याप की उत्पन्न कुछ कामे पर विचार नहीं का सकती। सभी प्रकार निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद वह व्यक्ति दिव्यतावा नहीं का सकता क्योंकि उसके व्यक्तित्व की बनावट रहने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। अतः निर्वाण के अनन्तर व्यक्तित्व की उपाधि किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

संसार में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं की विरोधता है कि कुछ ती-कर्म के कारण उत्पन्न होते हैं, कुछ हेतु के कारण और कुछ अज्ञ के कारण। परन्तु निर्वाण ही अज्ञान के अन्त होता पदार्थ है जो न तो कर्म के निर्वाण की कारण, न हेतु के कारण और न अज्ञ के कारण उत्पन्न होता है। निर्मयता वह तो हेतु से रहित विच्छेदनीय, इन्द्रियहीन अविर्भवनीय पदार्थ है जिसे विमुक्त ज्ञान के द्वारा कोई जान सकता है। निर्वाण के सम्प्राप्त्यकार करने के उपाय हैं परन्तु उसे उत्पन्न करनी का कोई उपाय नहीं है। सम्प्राप्त्य करना तथा उत्पन्न करना दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु है। बिना प्रभु कोई भी मनुष्य अपनी आकस्मिक शक्ति के बल पर दिव्यत्व तक का सकता है, परन्तु वह साक्षात् कोशित करे वह दिव्यत्व की इस स्थान पर नहीं ला सकता। कोई भी मनुष्य आचार्य शक्ति के सहारे ही ज्ञान पर पहुँचकर समुद्र के इस पार

से उस पार तक जा सकता है परन्तु अश्रान्त परिश्रम करने पर भी उस पार को इस पार नहीं ला सकता। ठीक यही दशा निर्वाण की है। उसके साक्षात्कार करने का मार्ग बतलाया जा सकता है परन्तु उसके उत्पादक हेतु को कोई भी नहीं दिखला सकता^१। इसका कारण यह है कि निर्वाण निर्गुण है। उसके उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य इन तीनों काल से परे है। अदृश्य होने पर भी, इन्द्रियों के द्वारा गोचर न किये जाने पर भी, उसकी सत्ता है। अर्हत् पद को प्राप्त कर भिक्षु विशुद्ध, ऋजु तथा आवरणों तथा ससारिक कर्मों से रहित मन के द्वारा निर्वाण को देखता है। अतः उसकी सत्ता के विषय में किसी प्रकार का अपलाप नहीं किया जा सकता परन्तु निर्गुण होने से वह उत्पाद-रहित है। उपाय होने से उसका साक्षात्कार अवश्य होता है परन्तु वह स्वयं अनिर्वचनीय पदार्थ है।

नागसेन ने निर्वाण की अवस्था के विषय में भी खूब विचार किया है^२। महाराज मिलिन्द की सम्मति में निर्वाण में दुःख कुछ न कुछ अवश्य ही रहता है क्योंकि निर्वाण की खोज करनेवाले लोग नाना प्रकार के निर्वाण की सयमों से अपने शरीर, मन तथा इन्द्रियों को तप्त किया करते सुखरूपता हैं। संसार से नाता तोड़कर इन्द्रियों तथा मन की वासनाओं को मारकर बन्द कर देते हैं जिससे शरीर को भी कष्ट होता है तथा मन को भी। इसी युक्ति के सहारे मिलिन्द की राय में निर्वाण भी दुःख से सना हुआ है। इसके उत्तर में नागसेन की स्पष्ट सम्मति है कि निर्वाण में दुःख का लेश भी नहीं रहता। वह तो सुख ही सुख है। राज्य की प्राप्ति होने में नाना प्रकार के क्लेशों को सहना पड़ता है परन्तु स्वयं राज्य-प्राप्ति क्लेशरूप नहीं है। इसी प्रकार तपस्या, ममता-त्याग, इन्द्रिय-जय आदि निर्वाण के उपाय में क्लेश है स्वयं निर्वाण में कहीं? वह तो महासमुद्र के समान अनन्त है। कमल के समान क्लेशों से अलिप्त है। जल के समान सभी क्लेशों की गर्मी को शान्त कर देता है तथा कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा की प्यास को दूर कर देता है। वह अकाश के समान दश गुणों से युक्त रहता है। न पैदा होता है,

१ मिलिन्द प्रश्न पृ० ३२९-३३३।

२ मिलिन्द प्रश्न पृ० ३८४-४०३।

बीज-वर्णन-मीमांसा

न प्रपन्ना होता है न मरता है और न आत्मयमन को प्राप्त करता है। वह
स्वप्न-वत् तथा अमन्त है। अन्ती राह पर कतकर संसार के सभी
अनित्य सुख तथा अमरम रूप से देखने हुए कोई भी व्यक्ति प्रकृति के निर्वाण
साक्षात्कार कर सकता है। उसके लिए किसी विद्या का निर्वहण नहीं किया
सकता। महात्मनि अरबबोध का अन्तर्भाव है कि प्रकृति प्रकृति ही प्रकृति न हो तुम्हें
प्राप्त है, न अन्तरिक्ष में; न किसी विद्या में न किसी विद्विद्या में प्रकृति
(तत्त्व) के अन्त होने से वह केवल शान्ति को प्राप्त कर लेता है। उक्त प्रकृति
कभी प्रकृति न हो करी जाया है, न प्रकृति पर, न अन्तरिक्ष में न किसी विद्या में।
कभी प्रकृति न हो करी जाया है, न प्रकृति पर, न अन्तरिक्ष में न किसी विद्या में।

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावर्ति गच्छति नान्तरिक्षम् ।
विशं न अस्ति विद्विषं न अस्ति स्नेहस्यत् केवलमेति शान्तिम् ।
तथा ह्यपी निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावर्ति गच्छति नान्तरिक्षम् ।
विशं न अस्ति विद्विषं न अस्ति स्नेहस्यत् केवलमेति शान्तिम् ।

निर्वाण को वही सामान्य अन्तर्भाव है। अन्त के अन्त होने से वह अन्त के
पाश स्वतः विद्यमान हो जाते हैं इस समय अन्त की अवस्था का अन्त
निर्वाण है। वही अन्त अन्त है जिसके लिये अन्त अन्त
ने अपने अन्त की शक्ति की है। निर्वाण इसी शक्ति में प्राप्त होता
है। अन्त में अन्त अन्त प्रकृति की वा अन्त है वही अन्त
निर्वाण-प्राप्त अन्त की है। परन्तु निर्वाण के स्वरूप के अन्त
में हीनत्व तथा महात्म्य अन्त के अनुयायियों में प्रतीत मतभेद
है। सामान्य रीति से कहा जा सकता है कि हीनत्व निर्वाण

को अन्त का अन्तमन्त मानता है और महात्म्य उसे अन्तमन्त मानता है।
परन्तु हीनत्व के अनुयायियों के अन्त भी अन्त अन्त है। अन्तमन्तों को
उत्ति में निर्वाण मानसिक तथा अन्तमन्त का अन्त अन्त है। निर्वाण प्राप्त
हो जाने के बाद अन्तमन्त का अन्तमन्त ही जाया है। 'निर्वाण' शब्द ही का
अर्थ है अन्त अन्त। अन्त अन्त ही प्रकृति तथा अन्त अन्त है अन्त अन्त
अन्त और अन्त अन्तमन्त रहता है। परन्तु अन्त अन्त ही प्रकृति अन्त

शान्त हो जाता है, उसी प्रकार तृष्णा आदि क्लेशों के विराम हो जाने पर जब यह भौतिक जीवन अपने चरम अवसान पर पहुँच जाता है तब यह निर्वाण कहलाता है। वैभाषिकों का मत इस विषय में स्थविरवादियों के समान ही है।

वे भी निर्वाण को अभावात्मक मानते हैं।

१८ निर्वाण प्रतिसंख्या-निरोध है अर्थात् विशुद्ध प्रज्ञा के सहारे सांसारिक सास्रव धर्मों तथा संस्कारों का जब अन्त हो जाता है तब वही निर्वाण कहलाता है^१।

निर्वाण नित्य, असंस्कृत धर्म, स्वतन्त्र सत्ता (भाव = वस्तु) वैभाषिक पृथक् भूत सत्य पदार्थ (द्रव्य सत्) है^२। निर्वाण अचेतन अवस्था का सूचक है अथवा चेतन अवस्था का? इस प्रश्न के विषय में निर्वाण वैभाषिकों में ऐकमत्य नहीं दीख पड़ता। तिब्बती परम्परा से ज्ञात होता है कि कुछ वैभाषिक लोग निर्वाण की प्राप्ति के अवसर पर उस चेतना का सर्वथा निरोध मानते थे जो क्लेशोत्पादक (सास्रव) संस्कारों के द्वारा प्रभावित होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि आस्रवों से किसी प्रकार भी प्रभावित न होने वाली कोई चेतना अवश्य है जो निर्वाण की प्राप्ति होने के बाद भी विद्यमान रहती है। वैभाषिकों का यह एकांगी मत था। इस मत के माननेवाले कौन थे? यह कहना बहुत ही कठिन है। वैभाषिकों का सामान्य मत यही है कि यह अभावात्मक है। सघमद्र की 'तर्क ज्वाला' के अध्ययन से प्रतीत होता है कि मध्यभारत में वैभाषिकों का एक ऐसा सम्प्रदाय था जो 'तथता' नामक चतुर्थ असंस्कृत धर्म मानता था। यह तथता वैशेषिकों के अभाव पदार्थ के समान था। निर्वाण की कल्पना के लिए ही अभाव के चारों भेद प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव की कल्पना की गयी थी। यह 'तथता' महायान में परमार्थ सत्य के लिए प्रयुक्त 'तथता' शब्द से नितान्त भिन्न है। इस प्रकार वैभाषिकों के मत में निर्वाण क्लेशाभाव रूप माना जाता है। परन्तु अभाव होने पर भी यह सत्तात्मक पदार्थ है। वैभाषिक लोग भी

१ प्रतिसंख्यानमनासवा एव प्रज्ञा गृह्यते तेन प्रज्ञाविशेषेण प्राप्यो निरोध इति प्रतिगम्या निरोध। (यशोमित्र—अभिधर्मकोश व्याख्या पृ० १६)

२ द्रव्य सत् प्रतिसंख्याननिरोध—सत्यचतुष्टय निर्देश-निर्दिष्टत्वात् मार्गसत्यं च इति वैभाषिकाः। (वही पृ० १७-)

बौद्धों के समान 'असाव' को परार्थ मानते थे। आज परार्थों के समान असाव भी स्वतन्त्र परार्थ था।

ये लोग निर्वाण को निरुद्ध ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होनेवाले भौतिक जीवन का वरम विचार मानते थे। इस अवस्था में भौतिक सत्ता किसी प्रकार विद्यमान नहीं रहती। इसलिये यह वस्तु सत्ता का अभाव माना गया है। सौत्रान्तिक परन्तु वैश्यायिकों से इनका मत इस विषय में भिन्न है। वैश्यायिक मत में लोग दो निर्वाण को स्वयं उत्पन्न परार्थ और वस्तु नहीं मानते। निर्वाण निर्वाण की प्राप्ति के अनन्तर सूक्ष्म चेतना विद्यमान रहती है जो वरम शान्ति में डूबी रहती है। मोठ देश की परम्परा से पता चलता है कि सौत्रान्तिकों की एक उपस्थाका ऐसी थी जो निर्वाण को भौतिक सत्ता तथा चेतना का अभाव मानती थी। उसकी दृष्टि में निर्वाण प्राप्त होने वाले अर्हत् को भौतिक सत्ता का ही सर्वथा निरोध नहीं हो जाता किन्तु चेतना का भी निरोध हो जाता है। इस उपस्थाका के अनुसार निर्वाण के अनन्तर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। न तो कुछ जीवन शेष रहता है और न कोई चेतना ही बची रह जाती है। इस प्रकार यह निर्वाण निरन्तर अवस्थात्मक है।

निर्वाण की हीनमानी कल्पना आर्य समाज के धर्मशास्त्रियों में स्वाभाविकीय की भुक्ति की कल्पना से विस्तृत मिलती है। भौतय के शब्दों में कुछ से अत्यन्त विमोह का अवस्था (भुक्ति) कहते हैं। अत्यन्त का अर्थ है वरम नैवायिकों अनन्तम्। अर्थात् जिससे उपाय वर्तमान बन्ध का परिहार हो की भुक्ति बन्ध तथा भविष्य में अन्ध अन्ध की उत्पत्ति न हो। एहीन बन्ध से दुःखता का नाश हो जाता ही यदि, परन्तु भविष्य बन्ध की उत्पत्ति भी उतनी ही अवसरक है। इन दोनों के मध्य होने पर आत्मा कुछ से आत्मस्थित मिश्रित या होता है। जब तक कामना यदि आत्मशुद्धि का उत्प्रेर नहीं होता, तब तक कुछ की आत्मस्थित मिश्रित नहीं हो सकती। इससे आत्मा के नौ विरोध का—भुक्ति कुछ कुछ, इच्छा, द्वेष, प्रवृत्ति का अपरम तथा संस्कार का—मूलाच्छेद ही सम्भव है। कुछ वरम में आत्मा अन्त निरुद्ध स्वयं में प्रतिष्ठित हो जाता है और अचिन्त निरोध शक्त से विरहित

रहता है। वह छ प्रकार की ऊर्मियों से भी रहित हो जाता है। ऊर्मि का अर्थ है क्लेश। भूख, प्यास प्राण के, लोभ, मोह चित्त के, शीत, आतप शरीर के; क्लेश दायक होने से ये छुआँ 'ऊर्मि' कहे जाते हैं। मुक्त आत्मा इन छुआँ ऊर्मियों के प्रभाव को पार कर लेता है और सुख, दुःख आदि सासारिक बन्धनों से विमुक्त हो जाता है। उस अवस्था में दुःख के समान सुख का भी अभाव आत्मा में रहता है। जयन्तभट्ट^१ ने बड़े विस्तार के साथ भाववादी वेदान्तियों के मत का खण्डन कर मुक्ति के अभाव पक्ष को पुष्ट किया है। मुक्ति में सुख न मानने का प्रधान कारण यह है कि सुख के साथ राग का सम्बन्ध सदा लगा रहता है। और यह राग है बन्धन का कारण। ऐसी अवस्था में मोक्ष को सुखात्मक मानने में बन्धन की निवृत्ति कथमपि नहीं हो सकती। इसलिये नैयायिक लोग मुक्ति को दुःख का अभाव रूप ही मानते हैं।

इसी अभावात्मक मोक्ष की कल्पना के कारण नैयायिकों को 'वेदान्ती श्रीहर्ष' ने बड़ी दिलगमी उड़ायी है। उनका कहना है कि जिस सूत्रकार ने सचेता प्राणियों के लिये ज्ञान, सुख आदि से विरहित शिलारूप प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य बतलाकर उपदेश किया है उसका 'गोतम' नाम शब्द ही यथार्थ नहीं है अपितु अर्थहीन भी है। वह केवल गौ न होकर गोतम (अतिशयेन गौ इति गोतम—पक्का बैल) है^२। इस विवेचन से स्पष्ट है कि नैयायिक मुक्ति और हीनयानी निर्वाण की कल्पना एक ही है।

(ख) महायान में निर्वाण की कल्पना

गत पृष्ठों में हीनयान के अनुसार निर्वाण का स्वरूप बतलाया गया है। परन्तु महायान इस मुक्ति को वास्तविक रूप में निर्वाण मानने के लिये तैयार नहीं है। उसकी सम्मति में इस निर्वाण से केवल क्लेशावरण का ही क्षय होता है। ज्ञेयावरण की सत्ता बनी ही रहती है। हीनयान की दृष्टि में राग-द्वेष की सत्ता पञ्चस्कन्ध के रूप से या उससे भिन्न प्रकार से आत्मा की सत्ता मानने के

१ न्याय मञ्जरी भाग २ पृ० ७५-८१

(चौखम्मा संस्करण)।

२. मुक्ये यं शिखात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।

गोतम तमवेक्ष्यैव यथा वित्य तथैव स ॥

(नैषधचरित १७।७५)

कमर निर्भर है। आत्मा की सत्ता रहने पर ही मनुष्य के हृदय में यह नैतिक
में हिंसा करने की प्रवृत्ति होती है^१। परलोक में आत्मा को कुछ पहुँचने के
लिये ही मनुष्य मत्ता प्रकार के अङ्गुष्ठ कर्मों का सम्पादन करता है। इसलिये
समस्त क्लेश और बीज इसी आत्म दृष्टि (सत्त्व दृष्टि) के विषय परिणाम हैं।
अतः आत्मा का निषेध करता क्लेशात्मक ज्ञान का परम उत्पन्न है। इसी को कहते
हैं—पुद्गल-वैराग्य। इतिवत् इसी वैराग्य को मानता है। परन्तु इस वैराग्य
के ज्ञान से केवल क्लेशावरण का ही हट जाता है। इसके अतिरिक्त एक और
आवरण की भी सत्ता है, जिसको 'हंसावरण' कहते हैं। निवृत्तिमात्रादिति में इन
दोनों आवरणों का भेद नहीं दृश्यता से दिखता मना है। वैराग्य दो प्रकार
का है—(क) पुद्गल-वैराग्य और (ख) कर्म-वैराग्य। उपाधिक क्लेशावरण
से उत्पन्न होते हैं। अतः पुद्गल-वैराग्य के ज्ञान से प्रणी सब क्लेशों का भेद
होता है।

जगत् के पदार्थों के अभाव का दृष्टका के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान के ऊपर बड़ा
हुआ आवरण आप से आप दूर हो जाता है। और सर्वज्ञ की प्राप्ति के लिये
इन दोनों आवरणों (क्लेशावरण तथा हंसावरण) का दूर होना निवृत्त आवरणक
है। क्लेश मोक्ष की प्राप्ति के लिये आवरण का नाश करते हैं—मुक्ति को रोकते
हैं। अतः इस आवरण को दूर करने से मुक्ति प्राप्त होती है। हंसावरण सब
हंसा पदार्थों के ऊपर ज्ञान की प्रवृत्ति को रोकता है—अतः इस आवरण के
दूर हो जाने पर सब वस्तुओं में अवहित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिससे
गर्वादा की प्राप्ति होती है^२।

१ सत्त्वदृष्टि प्रसन्नमोक्षान् क्लेशाणि बीजाणि विना निपन्नम् ।

आत्मानमस्मा विषयश्च पुद्गलः बीजा कलत्वात्मनिषेधम् ॥

(पञ्चमोक्ति—भाष्यमङ्गलप्रार ११२ । भाष्यमङ्गल इति पृ १४)

२ पुद्गलकर्मवैराग्य—प्रतिपारब्धे पुद्गल क्लेशावेवावरणप्रदानार्थम् । तथा-

अहमर्थप्रमास उपायश्च क्लेशाः पुद्गलवैराग्यावधारणः उपायश्च । प्रतिपत्तत्पार
उपायश्चाम् प्रवर्तमानः सर्वसत्त्वान् प्रवर्तयति । जगत्वेवावरणप्रदानार्थं हंसावरणप्रति-
पत्तत्पार हंसावरणं प्रदीयते । कलत्वावरणप्रदानमपि मोक्षसर्वसाधिविषयार्थम् ।
कलत्वा हि वैराग्योत्पन्नमिति । अस्तौतु प्रदीयते कलत्वावरणम् । हंसावरण

आवरणों का यह द्विविध भेद दार्शनिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। महायान के अनुसार हीनयानी निर्वाण में केवल पहिले आवरण (अर्थात् क्लेशावरण) का ही अपनयन होता है। परन्तु शून्यता के ज्ञान होने से दूसरे प्रकार के आवरण का भी नाश होता है। जब तक इस दूसरे आवरण का क्षय नहीं होता, तबतक वास्तव निर्वाण हो नहीं सकता। परन्तु हीनयानी लोग इस भेद को मानने के लिये तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अर्हत्तों का ज्ञान अनावरण हो जाता है परन्तु महायान की यह कल्पना नितान्त मौलिक है। हीनयान के अनुसार अर्हत् पद की प्राप्ति ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। परन्तु महायान के अनुसार बुद्धत्व प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की भिन्नता के कारण ही निर्वाण की कल्पना में भी भेद है।

नागार्जुन ने निर्वाण की बड़ी विशद परीक्षा माध्यमिक कारिका के पचीसवें परिच्छेद में की है। उनके अनुसार निर्वाण की कल्पना यह है
नागार्जुन का मत कि निर्वाण न तो छोड़ा जा सकता है और न प्राप्त किया जा सकता है। यह न तो उच्छिन्न होनेवाला पदार्थ है और न शाश्वत पदार्थ है। न तो यह निरुद्ध है और न यह उत्पन्न है। उत्पत्ति होने पर ही किसी वस्तु का निरोध होता है। यह दोनों से भिन्न है —

अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।

अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते ॥

इस कारिका की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति का कथन है कि राग के समान निर्वाण का ग्रहाण (त्याग) नहीं हो सकता और न सात्त्विक जीवन के फल के समान इस की प्राप्ति ही संभव है। हीनयानियों के निर्वाण के समान यह नित्य नहीं है। यह स्वभाव से ही उत्पत्ति और विनाश रहित है और इसका लक्षण शब्दतः निर्वचनीय नहीं है। जब तक कल्पना का साम्राज्य बना हुआ है तब तक निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। महायानियों के अनुसार निर्वाण और ससार में कुछ भी भेद नहीं है। कल्पना जाल के क्षय होने का नाम ही निर्वाण है।

मपि सर्वस्मिन् ज्ञेये ज्ञानप्रवृत्तिप्रतिबन्धभूत अक्लिष्टज्ञानम् । तस्मिन् प्रहीणे सर्वाकारे ज्ञेयेऽसक्तमप्रतिहत च ज्ञान प्रवर्तत इत्यतः सर्वज्ञत्वमधिगम्यते ॥

(स्थिरमति—त्रिशिका विज्ञप्तिभाष्य, पृ० १५)

अमर निर्भर है। आत्मा की सत्ता रहने पर ही मनुष्य के इन्द्र में यह वाग्विषय में विज्ञान करने की प्रवृत्ति होती है^१। परलोक में आत्मा की कुछ पहुँचने के लिये ही मनुष्य माना प्रभर के अङ्गुष्ठ कर्मों का सम्पादन करता है। इसलिये समस्त क्लेश और दीप इसी आत्म इष्टि (सत्त्व इष्टि) के विषय परिणाम हैं अतः आत्मा का निवेद्य करना क्लेश नाश का परम उपाय है। इसी को कहते हैं—पुरुष-नैरात्म्य। ईश्वराल इसी नैरात्म्य को मानता है। परन्तु इस नैरात्म्य के ज्ञान से केवल क्लेशनाश का ही अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरी आवश्यकता भी सत्ता है, जिसको 'देवतात्व' कहते हैं। निवृत्तिमात्रतासिद्धि में ही दोनो आवश्यकताओं का भेद नहीं दुम्बरता से दिखताया गया है। नैरात्म्य हो प्रभर का है—(क) पुरुष-नैरात्म्य और (ख) सर्व-नैरात्म्य। उपाधिक क्लेश आत्म इष्टि से उत्पन्न होते हैं। अतः पुरुष-नैरात्म्य के ज्ञान से सभी सम क्लेशों का नाश होता है।

अतः के पदार्थों के अन्वय वा दृश्यता के ज्ञान से अपने ज्ञान के ऊपर पड़ने वाला आवरण आप से आप दूर हो जाता है। और सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिये इन दोनो आवरणों (क्लेशावरण तथा देवतात्व) का दूर होना निवृत्त आवरणक है। क्लेश मोक्ष की प्राप्ति के लिये आवरण का नाश करते हैं—सुख को रोक्ते हैं। अतः इस आवरण को दूर करने से सुख प्राप्त होती है। देवतात्व से सब ज्ञेय पदार्थों के ऊपर ज्ञान की प्रवृत्ति को रोक्ता है—अतः इस आवरण के दूर हो जाने पर सब वस्तुओं में अविच्छिन्न ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। जिससे सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है^२।

१ सत्त्व इष्टि प्रमथमरोहान् क्लेशांश्च शोथीं चित्ता विपरिवर्त्त।

आत्मानमस्त्वा विपुलं बुद्धं शोथी कटीत्वात्मनिषेधमेव ॥

(अमर-टीति—माध्यमकस्तार ४/१२ : माध्यमिक इष्टि बु ३४)

२ पुरुषत्वमनैरात्म्य—प्रतिपक्षार्थं पुनः क्लेशाङ्गनाशप्रवृत्त्यान्वितम् । तथा

अप्रमथप्रमथ रागद्वेष क्लेशाः पुरुषनैरात्म्यात्वात्वात् सत्त्व इष्टिः प्रतिपक्षत्वात्
तत्प्रवृत्त्यात् प्रवृत्तमात्रः सर्वक्लेशान् प्रवृत्तिः । सर्वनैरात्म्यात्वात्वापि देवतात्वप्रति-
पक्षत्वात् देवतात्वमप्यस्ति । क्लेशाङ्गनाशप्रवृत्त्यान्वितं शोथसर्वज्ञतापिमामयम् ।
क्लेशा हि शोथप्रवृत्त्यान्वितमिति । अतस्तेषु प्रवृत्तेषु शोथोऽपिमम्यते । देवतात्व-

आवरणों का यह द्विविध भेद दार्शनिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। महायान के अनुसार हीनयानों निर्वाण में केवल पहिले आवरण (अर्थात् क्लेशावरण) का ही अपनयन होता है। परन्तु शून्यता के ज्ञान होने से दूसरे प्रकार के आवरण का भी नाश होता है। जब तक इस दूसरे आवरण का क्षय नहीं होता, तबतक वास्तव निर्वाण हो नहीं सकता। परन्तु हीनयानी लोग इस भेद को मानने के लिये तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अर्हत्तों का ज्ञान अनावरण हो जाता है परन्तु महायान की यह कल्पना नितान्त मौलिक है। हीनयान के अनुसार अर्हत् पद की प्राप्ति ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। परन्तु महायान के अनुसार बुद्धत्व प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की भिन्नता के कारण ही निर्वाण की कल्पना में भी भेद है।

नागार्जुन ने निर्वाण की बड़ी विशद परीक्षा माध्यमिक कारिका के पचीसवें परिच्छेद में की है। उनके अनुसार निर्वाण की कल्पना यह है कि निर्वाण न तो छोड़ा जा सकता है और न प्राप्त किया जा सकता है। यह न तो उच्छिन्न होनेवाला पदार्थ है और न शाश्वत पदार्थ है। न तो यह निरुद्ध है और न यह उत्पन्न है। उत्पत्ति होने पर ही किसी वस्तु का निरोध होता है। यह दोनों से भिन्न है —

अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।

अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते ॥

इस कारिका की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति का कथन है कि राग के समान निर्वाण का ग्रहाण (त्याग) नहीं हो सकता और न सात्त्विक जीवन के फल के समान इस की प्राप्ति ही संभव है। हीनयानियों के निर्वाण के समान यह नित्य नहीं है। यह स्वभाव से ही उत्पत्ति और विनाश रहित है और इसका लक्षण शब्दतः निर्वचनीय नहीं है। जब तक कल्पना का साम्राज्य बना हुआ है तब तक निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। महायानियों के अनुसार निर्वाण और ससार में कुछ भी भेद नहीं है। कल्पना जाल के क्षय होने का नाम ही निर्वाण है।

मपि सर्वस्मिन् ज्ञेये ज्ञानप्रवृत्तिप्रतिबन्धभूत अक्लिष्टज्ञानम् । तस्मिन् प्रहीणे सर्वाकारे ज्ञेयेऽसक्तमप्रतिहत च ज्ञान प्रवर्तते इत्यतः सर्वज्ञत्वमधिगम्यते ॥

(स्थिरमति—त्रिशिका विज्ञप्तिभाष्य, पृ० १५)

मायानुस ने निर्वाण को मात्र पदार्थ मानने वाले तथा असाध पदार्थ मानने वाले शार्तमिकों के मत की आलोचना की है। उसके मत में निर्वाण मात्र एक अमय होने से अतिरिक्त पदार्थ है। यह अनिर्बन्धन है। यह परम तत्त्व है। इसी का नाम भूतकोटि का धर्म-धातु है।

दोनों मतों में निर्वाण का सामान्य स्वरूप

हीनयान तथा महायान के दोनों के अनुशासन से निर्वाणविषयक सामान्य कल्पना इस प्रकार है—

(१) यह शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता (विषयव्यव)। यह अव्यक्त वस्तु है अतः य तो इसकी उत्पत्ति है, न विनाश है और न परिवर्तन है।

(२) इसकी अनुमति अपने ही अन्तर स्तर की जा सकती है। इसी को बोधिसत्वादी लघु प्रत्यात्मवेद्य कहते हैं और हीनयानी लोग 'पञ्चत वैदित्य' शब्द के द्वारा कहते हैं।

(३) यह भूत वर्तमान और भविष्य दोनों बातों के दुखों के सिने एक है और सदा है।

(४) मार्ग के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है।

(५) निर्वाण में व्यक्ति का सर्वथा निरोध हो जाता है।

(६) दोनों मत वाले बुद्ध के ज्ञान तथा शक्ति को सोफोसर, अर्हत् के ज्ञान से बहुत ही उच्च मानते हैं। महायानी लोग अर्हत् के निर्वाण को निम्नकोटि का तथा अर्हिहास्यता का स्वरूप मानते हैं। इस बात को हीनयानी लोग भी मानते हैं।



निर्वाण की कल्पना में पार्थक्य

हीनयान

महायान

(१) निर्वाण सत्य, नित्य, दुःखा-

भाव तथा पवित्र है ।

(१) महायान इसको स्वीकार

करता है, केवल दुःखाभाव न मानकर इसे सुखरूप मानता है । वस्तुतः माध्यमिक और योगाचार नित्य-अनित्य सुख और असुख की कल्पना इसमें नहीं मानते क्योंकि उनकी दृष्टि में निर्वाण अनिवर्चनीय है ।

(२) निर्वाण प्राप्त करने की वस्तु है—प्राप्तम् ।

(२) निर्वाण अप्राप्त है ।

(३) निर्वाण भिक्षुओं के ध्यान और ज्ञान के लिये आरम्भण (आलम्बन) है ।

(३) ज्ञाता—ज्ञेय, विषयी और विषय, निर्वाण और भिक्षु के किसी प्रकार का अन्तर नहीं है ।

(४) निर्वाण लोकोत्तर दशा है । प्राणीमात्र के लिए सबसे उन्नत दशा यही है जिसकी कल्पना की जा सकती है ।

(४) लोकोत्तर से बढ़कर भी एक दशा होती है जिसे लकावतार सूत्र में 'लोकोत्तरतम' कहा गया है । यही निर्वाण है जिसमें सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है । योगाचार के मत में हीनयानी लोग केवल विमुक्तिकाय (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं और महायानी लोग धर्मकाय और सर्वज्ञत्व को प्राप्त करते हैं ।

(५) निर्वाण के केवल दो रूप हैं (क) सोपविशेष (ख) निरुप-विशेष या प्रतिसंख्याननिरोध और अप्र-तिसंख्यान निरोध ।

(५) योगाचार के अनुसार, निर्वाण के दो भेद और होते हैं । (क) प्रकृतिशुद्ध निर्वाण और (ख) अप्रतिष्ठित निर्वाण^१ ।

१ सूत्रालंकार (पृ० १२६—२७) के अनुसार श्रावक और प्रत्येकबुद्ध

(१) हिमवान् निर्वाण और
संसार को बर्ज्यमान्य नहीं मानता ।

(७) इमियाव जयत के पराधीन
की भी उत्पन्न मानता है । जयत सही
प्रकार सत्य है जिस प्रकार निवान ।

(८) इतिहास को यह प्रिय
साधन ही अपना मान्य रही है।

(१), माध्यमिकों के अनुसार निर्वाण ही निराकार परमाणु मूल है। बड़ी एकमात्र सत्ता है। अन्य पदार्थ केवल विनाश के निरूपण मात्र हैं। अतः इस प्रकार निर्वाण जीव सत्ता में अग्रगण्य रहती है। इन दोनों का सम्बन्ध समुद्र और ज्वर के समान है।

(७) माध्यमिक और बोया-
वर दोनों की सम्पत्ति में निर्वाण
कहेत है । अर्थात् वृत्तमें इच्छा—इव
निषेध—विषयी, विधि—निषेध का
हेतु निष्ठी प्रकार भी विषयान्न नहीं
रहता । यही एक शब्द है । अमृत का
अर्थ माध्यमिक तथा विष्णु है ।

(४) महात्मा जे निर्माण की
प्राप्ति की रोहने वाले हो प्रचार के

मैत्री से हीम होने से अपना वित्त निर्वाण की श्रुति ही में लगाते हैं। परन्तु बेविरागता मंत्री से कुछ होने के कारण निर्वाण में अपना वित्त कभी नहीं लगाता। हरीशचन्द्र उसकी एक प्रतिष्ठित निवास में माली जाती है। वह निर्वाण बुद्धों के द्वारा ही प्राप्त है। वह अद्वय से उत्पन्न अवस्था है। विद्वान्-आचार्य-सिद्धि के अनुसार इन दशा में कुछ लोग एक निर्वाण बोधो अपना वित्त से बहुत कर्षण करते हैं।

अविद्यया दृश्यं न तिष्ठति मनः शये कृपन्मयम् ।

कुल एव लोभ्याऽयं स्वकीयिणे वा भयेऽ स्नेहात् ।

विश्वेश्वरानां भक्तकर्मयुक्तानां सर्वदुःखहरणे निराये प्रसिद्धिं यत् ।
 श्रीविष्णुनाम्ना तु कर्मयुक्तानां निरायेऽपि यत् । न प्रसिद्धिम् । (अर्चन—
 सप्तमोऽध्यायः १२१—२०)

उसकी सम्मति में, क्लेशावरण के अनन्तर अर्हत् का ज्ञान आवरणहीन रहता है।

आवरण माने गये हैं—क्लेशावरण तथा ज्ञयावरण। उनकी सम्मति में हीनयानी केवल क्लेशावरण से मुक्त हो सकता है। और वे ही स्वयं दोनों आवरणों से मुक्त हो सकते हैं।^१

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हीनयान मत में जब भिक्षु अर्हत् की दशा प्राप्त कर लेता है तब उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। साधारणतया प्राणी पूर्व क्रमों

के कारण उत्पन्न होनेवाले धर्मों का सघातमात्र है। वह अनन्त निर्वाण का काल में इस भ्रान्ति में पड़ा हुआ है कि उसके भीतर आत्मा परिनिष्ठित नामक कोई चेतन पदार्थ है। अष्टाङ्गिक मार्ग के सेवन करने से रूप प्रत्येक व्यक्ति को वस्तुओं की अनित्यता का अनुभव हो जाता है।

जिन स्कन्धों से उसका शरीर बना हुआ है वे स्कन्ध विशिष्ट रूप से उसी के ही नहीं हैं। जगत् के प्रत्येक प्राणी उन्हीं स्कन्धों से बने हुए हैं। इस विषय का जब उसे अच्छी तरह से ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है। निर्वाण वह मानसिक दशा है जिसमें भिक्षु जगत् के अनन्त प्राणियों के साथ अपना विभेद नहीं कर सकता। उसके व्यक्तित्व का लोप हो जाता है तथा सब प्राणियों के एकत्व की भावना उसके हृदय में जाग्रत हो जाती है। साधारण रीति से हीनयानी कल्पना यही है। इससे नितान्त भिन्न महायानी लोग धर्मों की सत्ता मानते ही नहीं। वे लोग केवल धर्मकाय या धर्म-धातु को ही एक सत्य मानते हैं। बुद्ध को छोड़कर जितने प्राणी हैं वे सब कल्पना-जाल में पड़े हुये हैं। पुत्र और धन को रखने वाला व्यक्ति उसी प्रकार भ्रान्ति में पड़ा हुआ है जिस प्रकार सुख और शान्ति के सूचक निर्वाण को पानेवाला हीनयानी अर्हत्। दोनों असत्य में सत्य को भावना कर कल्पना के प्रपच में पड़े हुए हैं। हीनयान मत में निर्वाण ही एक परम सत्ता है। उसे छोड़कर

^१ हीनयानी निर्वाण का वर्णन कथावत्यु, विशुद्धिमग्ग तथा अभिधर्मकोश के अनुसार है तथा महायानी वर्णन माध्यमिक श्रुति तथा लकावतारसूत्र के अनुसार है। इन दोनों मतों के विशेष विवरण के लिये देखिये—Dutta—Aspects of Mahayan Buddhism PP 198-220.

अणु के समस्त पदार्थ क्षणिकत्वप्रसूत हैं। जिस अणु में प्राणी इस बात का अनुभव करने लगता है कि वही सत्य है, संसार निर्वाण से प्रबन्ध नहीं है (अर्थात् दोनों एक ही हैं) उस क्षण में वह बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। इसके सिधे केवल अपने आत्मत्व की भावना को ही बुर करने से काम नहीं लहेगा; प्रत्युत जिस किसी वस्तु को वह देखता है वह पदार्थ भी आत्मशून्य है। इसका भी ज्ञान परमावश्यक है। जब इस ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब महात्मनी कल्पना के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

छपर निर्दिष्ट निर्वाण की द्विविध कल्पना सांख्य तथा वेदान्त की मुक्ति के साथ तुलनीय है। इन दोनों प्राधान्य वर्णनों की मुक्ति में महत् अन्तर है।

सांख्य द्वैतवादी है और वेदान्त अद्वैतवादी। सांख्य की दृष्टि में निर्वाण की प्रकृति और पुरुष का एक मानने से अज्ञान उत्पन्न होता है और सांख्य और वेदान्त की दृष्टि में एक तत्त्व को जाना समझने में अज्ञान है। वेदान्त की सांख्य की प्रक्रिया के बलुछार समाधि के द्वारा बाध जगत् के मुक्ति से परावर्त्तों पर प्राप्त कपाने से सब निबन्ध भीरे भीरे छेड़ जाते हैं। बुद्धि तथा अस्मिन्ना में तन्त्रा व्यवस्था हो जाता है। अस्मिन्ना विषय और विषय के परस्पर मिश्रण का स्रवक है। 'अस्मि' में दो अंश हैं—अणु + मि। अणु = सत्त्व का प्रकृति तथा मि = उत्तम पुरुष = चेतन। अस्मि पुरुष नहीं हो सकता क्योंकि जसमें सत्त्व का अंश नहीं है। अस्मि प्रकृति भी नहीं है क्योंकि वह होने से वह 'मि' अर्थात् चेतन पुरुष नहीं हो सकती। इसीलिए 'अस्मि' प्रकृति तथा पुरुष का विपरीत तथा विपक्ष का, विभक्त है। समाधिप्राप्ति के बल पर हम इस अंश तक पहुँचते हैं। जब यहाँ से पुरुष को प्रकृति से प्रबन्ध हटाने का प्रयत्न होता है। विवेकव्यति ही सांख्य का चरम सचन है। प्रकृति तथा पुरुष के प्रपक्ष के ज्ञान को विवेकव्यति कहते हैं। योगसूत्र के अनुसार इसका सात भूमियाँ हैं। पुरुष भीरे-भीरे इन भूमियों से होकर सत्त्व से प्रबन्ध होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। सत्त्व तो स्वयं अन्यधरमव है। पुरुष के प्रतिविम्ब के पड़ने के कारण ही वह हीन बनता है। विवेकव्यति होने पर जब पुरुष का प्रतिविम्ब हट जाता है तब सत्त्व वह अन्यधरमव हो जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति का सर्वथा निवृत्त हो जाता है। इस

मुक्ति की कल्पना में प्रकृति अवश्य रहती है परन्तु पुरुष से उसका किसी प्रकार से सम्बन्ध नहीं रहता ।

वेदान्त में मुक्ति की कल्पना इससे बढ़कर है । उसमें प्रकृति या माया का कोई भी स्थान नहीं है । माया विल्कुल असत्य पदार्थ है । ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ है । इसका जब ज्ञान हो जाता है तब प्रकृति या माया वेदान्त में की सत्ता कथमपि रहती ही नहीं । ब्रह्म ही केवल एक सत्ता मुक्ति की रहता है । उस समय ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप का भान होता कल्पना है । वेदान्त की मुक्ति आनन्दमयी है । वह नैयायिक मुक्ति तथा सांख्य मुक्ति के समान आनन्द-विरहित नहीं है । इस प्रकार सांख्य मत में क्लेशावरण का ही क्षय होता है परन्तु वेदान्त में ज्ञेयावरण का भी लोप हो जाता है । अतः हीनयानी निर्वाण सांख्य की मुक्ति के समान है और महायानी निर्वाण वेदान्त की मुक्ति का प्रतीक है । आशा है कि इस तुलना से बौद्ध-निर्वाण का द्विविध स्वरूप पाठकों की समझ में अच्छी तरह से आ जायेगा^१ ।



-
- १ बौद्ध निर्वाण के विस्तृत तथा प्रामाणिक प्रतिपादन के लिये देखिए—
- (a) Dr Obermiller—Nirvana according to Tibetan Tradition. I. H. Q. Vol 10/No 2/PP. 211-257,
 - (b) Dutta-Aspects of Mahayan Buddhism. PP 120-204
 - (c) बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन पृ० २१७-२७ ।
 - (d) Dr. Poussin—Lectures on Nirvana
 - (e) Dr Stecherbatsky—Central Conception of Nirvana

तृतीय खण्ड

(बौद्ध दार्शनिक-सम्प्रदाय)

अर्थो ज्ञानमनन्विनो मनिमता चेमापिकेणोच्यते.
प्रत्यज्ञो नहि वादयन्तु-प्रियं नोत्रान्तिदैराधितं ।
नेम्यात्मज्ञानैरभिमता न्यास-सुद्धिं परा
मन्यन्ते या सध्याः हृत्तयिच म्पन्था परां मयिदम् ॥

अयोध्या परिच्छेद बौद्ध-दर्शन का विकास

बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक रूप की व्याख्यान करते समय हमने देखा है कि बुद्ध ने उत्तमों के उद्धारोद्देश को अनिर्णयनीय तथा अम्बाकुल बतलाकर अपने शिष्यों को इन स्वार्थ बचवासों से सदा रोका। उनके जीवनकाल में उत्पन्न के विवेक के प्रति उनके शिष्यों की ज़ही गारबा बनी रही। परन्तु उनके निर्वास के अन्तर उनके साम्राज्य शिष्यों की ज्यों-ज्यों कमी होती गयी, त्यों-त्यों उनके इस उपदेश का मुख्य भी कम होता गया। अन्तर्गत में वही बुद्धा विच्छेद विच्छेद ने उपदेश दिया करते थे। बौद्ध पण्डितों ने उत्तमों के उपदेशों का पाद अम्बान कर निष्ठा-पूर्ण सूक्ष्म सिद्धान्तों की हुई निष्कर्ष। इस प्रकार विस्तृत उत्पन्न में अपने विस्तार का बहला बूझ बुझा। धर्म एक बोध में पड़ा रह गया और उत्पन्न की विवेक-वैक्यन्ती गारो ओर चढ़ने लगी।

बुद्ध दर्शन के विभिन्न १८ सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय पश्चिमे दिया का बुका है। पर आग्रह तथा जैन दर्शनों ने इन भिन्नों पर उद्दिष्ट न कर बौद्ध दर्शन को प्रभावितता गार सम्प्रदायों में बौद्ध। इन गारों सम्प्रदायों के नाम विभिन्न धार्मिक सिद्धान्त के सब इस प्रकार हैं—

- (१) वैश्यापिक—वात्सार्थ प्रत्यक्षवाच
- (२) सौत्राग्निक—वात्सार्थानुमेयवाच
- (३) बोधवाच—विज्ञानवाच
- (४) माध्यमिक—शून्यवाच

वह भेदविभाज्य 'सत्ता' के महात्त्वपूर्ण धर्म को लेकर दिया गया है। सत्ता की सीमासा करवासे दर्शनों के गार ही प्रचार हो सकते हैं। व्यवहार के आधार पर ही परमार्थ का निरूपण दिया जाता है। स्वतः प्रचार से सूक्ष्म परार्थ की विवेचना की ओर बढ़ने में पहिला गत उन दर्शनों का है जो वाच्य तथा अम्बान्तर समस्त धर्मों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। अपर में वाच्य वाच्य का अन्तर्गत कमपि वही दिया का सत्ता। जिन वस्तुओं को लेकर हमारा जीवन है उसकी उन्नति स्वयं सत्ता है। इस प्रकार वात्सार्थ को प्रत्यक्ष

अपेण सत्य मानने वाले बौद्धों का पहिला सम्प्रदाय है जो 'वैभाषिक' कहलाता है। इसके आगे कुछ दार्शनिक और आगे बढ़ते हैं। उनका कहना यह है कि बाह्य वस्तु का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। जब समग्र पदार्थ क्षणिक है, तब किसी भी वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों के नील, पीत आदिक चित्र चित्त के पट पर खींच जाते हैं। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब को देखकर बिम्ब की सत्ता का हम अनुमान करते हैं, उसी प्रकार चित्त-पट के इन प्रतिबिम्बों से हमें प्रतीत होता है कि बाह्य अर्थ की भी सत्ता अवश्य है। अतः बाह्य अर्थ की सत्ता अनुमान के ऊपर अवलम्बित है। यह बौद्धों का दूसरा सम्प्रदाय है जिसे 'सौत्रान्तिक' कहते हैं।

तीसरा मत बाह्य अर्थ की सत्ता मानता ही नहीं। सौत्रान्तिकों के द्वारा कल्पित प्रतिबिम्ब के द्वारा बिम्बसत्ता का अनुमान उन्हें अभीष्ट नहीं है। उनकी दृष्टि में बाह्य भौतिक जगत् नितान्त मिथ्या है। चित्त ही एकमात्र सत्ता है जिसके नाना प्रकार के आभास को हम जगत् के नाम से पुकारते हैं। चित्त ही को 'विज्ञान' कहते हैं। यह मत विज्ञानवादी बौद्धों का है।

- सत्ता-विषयक चौथा मत वह होगा जो इस चित्त की भी स्वतन्त्र सत्ता न माने। जिस प्रकार बाह्यार्थ असत् है, उसी प्रकार विज्ञान भी असत् है। शून्य ही परमार्थ है। जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। शून्य की सत्ता पारमार्थिक है। इस मत के अनुयायी शून्यवादी या माध्यमिक कहे जाते हैं। स्थूल के सूक्ष्म तत्त्व की ओर बढ़ने पर ये चार ही श्रेणियाँ हो सकती हैं।

- इन मतों के सिद्धान्तों का एकत्र वर्णन इस प्रकार है —

- 'मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिल शून्यस्य मेने जगत् , ,

योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासा विवर्तोऽखिल ।

अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः

प्रत्यक्ष क्षणभगुर च सकल वैभाषिको भाषते ॥'

इन चारों सम्प्रदायों में वैभाषिक का सम्बन्ध हीनयान से है तथा अन्तिम तीन मतों का सम्बन्ध महायान से है। अद्वयवज्र के अनुसार यही मत युक्तियुक्त प्रतीत होता है। नैषधकार श्रीहर्ष ने भी इन तीन मतों का एक साथ उल्लेख कर इनकी परस्पर समानता की ओर संकेत किया है। ये तीनों सत्ता के विषय में विभिन्न मत रखने पर भी महायान के सामान्य मत को स्वीकार करते हैं।

तत्त्वसमीक्षा की दृष्टि से वैयर्थिक एक ओर पर आता है, तो 'योगाचार-माध्यमिक दूसरी ओर परं' लिये हुए हैं। सौत्रास्तिक का मत इन दोनों के बीच का है। क्योंकि कतिपय ग्रंथों में वह सर्वास्तिवाद की समर्थक है परन्तु अन्य सिद्धान्तों में वह योगाचार की ओर झुकता है। निर्वाण के महत्त्वपूर्ण विषय पर इन मतों की विशेषता इस प्रकार प्रदर्शित की जा सकती है—

वैयर्थिक तथा प्राचीन मत	संसार सत्य, निर्वाण सत्य।
माध्यमिक	संसार असत्य, निर्वाण असत्य।
सौत्रास्तिक	संसार सत्य, निर्वाण असत्य।
योगाचार	संसार असत्य, निर्वाण सत्य।

बीज-दर्शनों का यही धार्मिक विकास है।

ऐतिहासिक विकास

इन दर्शनों का ऐतिहासिक विकास कम रोचक नहीं है। विक्रम के पूर्व पंचम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक लगभग १५०० सौ वर्ष बीज-दर्शन के उदय और अस्त्युदय का महत्त्वपूर्ण समय है। इस बीज-दर्शन में योगाचार बीज-दर्शन के तीन बार प्रवर्तन स्वीकार करते हैं जिनसे वे 'त्रिचक्रवर्त्य' के नाम से पुकारते हैं। प्रत्येक विभाग लगभग ५ वर्षों का माना जा सकता है। पहिले काशिकीय में प्रधान विद्वान्त पुद्गल-मैत्रेय (काशिका का विवेक) का। बाद में भास्कर का विषय की सत्ता का विवेक माना जाता था। वह कण्ड शक्ति की का मूल सत्तामिहीन एक कर्मिक, परिष्कृत का सन्ततमान है। यही सत्य सर्वत्र प्रतिपादित किया जाता था। आचार की दृष्टि से व्यक्तिगत निर्वाण ही जीवन का लक्ष्य था। जहाँ पद की प्राप्ति ही मानवमात्र के लिये चरण कर्तव्य स्वीकृत की गई थी। इस स्वरूप का परिचय हमें वैयर्थिक मत में मिलता है।

दूसरा अत विभागा विक्रम की प्रथम शताब्दी से लेकर पंचम शताब्दी तक है जब पुद्गल-मैत्रेय के स्वाम पर 'वर्म-मैत्रेय' सर्वमान्य सिद्धान्त था। व्यक्तिगत ब्रह्मण के स्थान पर सर्वज्ञान निरवकम्पाय की भावना विराजते लगी। शून्यवाद के उदय का यही युग है। इस मत के अनुसार कण्ड की सत्ता का एकदम विरुद्ध न कर उसे आभास रूप माना गया। कार्य सत्य की अनन्त द्वितीय सत्यता (सांख्यिक तथा पारमार्थिक) की कल्पना में विशेष महत्त्व प्राप्त किया। वैयर्थिकों के 'बहुत्वाद्' के स्थान पर 'अद्वैत काय (शून्यवाद) के

सिद्धान्त को आश्रय दिया गया। सत्यता का निर्णय सिद्धों का प्रातिभचक्षु ही कर सकता है, इस मान्यता के कारण तर्क बुद्धि की कड़ी आलोचना कर रहस्यवाद की ओर विद्वानों का अधिक झुकाव हुआ। अर्हत् के सकीर्ण आदर्श ने पलटा साया और बोधिसत्व के उदार भाव ने विश्व के प्राणियों के सामने मैत्री तथा करुणा का मंगलमय आदर्श उपस्थित किया। मानव बुद्ध के स्थान पर लोकोत्तर बुद्ध का स्थान हुआ।

तीसरे विकास का समय विक्रम की पंचम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक है। तर्कविद्या की उन्नति इस युग की महती विशेषता थी। सर्वशून्यता का सिद्धान्त दोषमय माना गया और उसमें स्थान पर विज्ञान की सत्यता मानी गयी। समग्र जगत् चित्त या विज्ञान का परिणाम माना गया। 'विषयीगत प्रत्यक्षवाद' का सिद्धान्त विद्वज्जन मान्य हुआ। इस दर्शन की विलक्षण कल्पना आलय विज्ञान की थी। विज्ञानवाद के उदय का यही समय है। इस मत के अन्तिम आचार्य असग और वसुवन्धु को यह कल्पना मान्य थी परन्तु दिद्वाग और धर्मकीर्ति आदि ने आलय-विज्ञान को आत्मा का ही निगूढ रूप बतलाकर अपने ग्रन्थों में उसका खण्डन किया है।

इस विकास के बाद बौद्ध दर्शन में नवीन कल्पना का अभाव दृष्टिगोचर होने लगा। पुरानी कल्पना ही नवीन रूप धारण करने लगी। इस युग के अनन्तर बौद्धतत्त्वज्ञान की अपेक्षा बौद्ध धर्म ने विशेष उन्नति की। तान्त्रिक बौद्ध धर्म के अभ्युदय का समय यही है। परन्तु इस धर्म के बीज मूल बौद्धधर्म में सामान्य रूप से और योगाचार मत में विशेष रूप से अन्तर्निहित थे। अतः वज्रयान (तान्त्रिक बौद्धधर्म) को हम यदि योगाचार और शून्यवाद के परस्पर मिलन से उत्पन्न होने वाला धर्म मानें तो यह अनुचित न होगा। एक बात विशेष ध्यान देने के योग्य यह है कि इन चारों सम्प्रदायों का सम्बन्ध विशिष्ट आचार्यों से है, शून्यवाद का उदय न तो नागार्जुन से हुआ और न विज्ञानवाद का मैत्रेयनाथ से। यह मत इन आचार्यों के समय से नितान्त प्राचीन है। शून्यवाद का प्रतिपादन 'प्रज्ञा पारमिता' सूत्र में पाया जाता है और विज्ञानवाद का मूल 'लकावतार सूत्र' में उपलब्ध होता है। पूर्वोक्त आचार्यों ने इन मतों की युक्तियों के सहारे प्रमाणित और पुष्ट किया। इन आचार्यों का यही काम है और वैमाधिका के अनन्तर शून्यवाद का उदय हुआ और शून्यवाद के अनन्तर विज्ञानवाद का प्रादुर्भाव हुआ।

८. बौद्ध-दर्शन का ऐतिहासिक विकास

समय विभाग

प्रथम

विक्रमपूर्व ५ १ विक्रमी

द्वितीय

विक्रमी १-५००

तृतीय

विक्रमी ५ ०-१०

मुख्य सिद्धान्त

बहुलकार

(इरापल-युत्कल)

प्रथम मठ बनन मठ

अद्वैतकार

(उपनिषद्-युत्कल)

द्वितीय मठ बनन मठ

सम्प्रदाय

उपनिषद्वादी ब्राह्मणवादी

अद्वैतिक स्वतन्त्रिक

आचार्य

अस्त्यवर्णीपुत्र

संनम

याजुर्वेद

दृष्टा

आचार्य

विश्वामित्र

दृष्टा

वर्मवर्धन

अस्त्यवर्ण

(आचार्य-युत्कल)

प्रथम मठ बनन मठ

आयमसुधारी न्यायकारी

चतुर्दश परिच्छेद

वैभाषिक मत

(ऐतिहासिक विवरण)

इस सम्प्रदाय की 'वैभाषिक' सहा विष्णु के प्रथम शतक के अनन्तर प्राप्त हुई, परन्तु यह सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीनकाल में विद्यमान था। उस समय इसका प्राचीन नाम 'सर्वास्तिवाद' था जिसके द्वारा यह चीन देश नामकरण तथा भारतवर्ष में सर्वत्र विख्यात था। शाङ्कराचार्य^१ ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य (२।२।१८) में तथा वाचस्पतिमिश्र^२ ने इस भाष्य की भामती में वैभाषिकों को सर्वास्तिवादी ही कहा है। इस मत के अनुसार जगत् की समस्त वस्तु चाहे वह बाहरी या भीतरी, भूत तथा भौतिक, चित्त तथा चैत्तिक हो—वस्तुतः विद्यमान हैं, उनकी सत्ता में किसी प्रकार का सशय नहीं है। इसी कारण इस का नाम 'सर्वास्तिवाद' पड़ा। कनिष्क के समय में (विष्णु की द्वितीय शताब्दी में) बौद्ध भिक्षुओं की जो चतुर्थ संगीति हुई थी उसने इस सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थ आर्यकात्यायनीपुत्र रचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' के ऊपर एक विपुलकाय प्रामाणिक टीका का निर्माण किया जो 'विभाषा' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी ग्रन्थ को सर्वापेक्षा अधिक मान्यता प्रदान करने के कारण द्वितीय शतक के अनन्तर इस सम्प्रदाय को 'वैभाषिक' के नाम से पुकारने लगे। यशोमित्र ने अभिघर्मकोश की 'स्फुटार्था' नामक व्याख्या में इस शब्द की यही व्याख्या की है^३।

द्वितीय संगीति के समय में 'सर्वास्तिवाद' अपने प्रिय सिद्धान्तों के रक्षण के निमित्त 'स्थविरवाद' से पृथक् हो गया। अशोक के समय में (तृतीय शताब्दी)

१ तत्र ते सर्वास्तिवादिनो बाह्यमन्तर च वस्तु अभ्युपगच्छन्ति भूत च भौतिक च चित्त च चैत्त च ।
(शाङ्करभाष्य २।२।१८)

२ यद्यपि वैभाषिकसौत्रान्तिकयोरवान्तरमतमेदोऽस्ति तथापि सर्वास्तितायामस्ति सम्प्रतिपत्तिरित्येकोकृत्य उपन्यस्त ।
(भामती २।२।१८)

३ विभाषया दिव्यन्ति चरन्ति वा वैभाषिका । विभाषां वा वदन्ति वैभाषिका । उक्थादि प्रक्षेपात् ठक्, पृ० १२ ॥

इसका प्रमाण केन्द्र मधुरा था। राजाका नामक प्रसिद्ध बौद्धार्थ के प्रमाण सिन्धु उपगुप्त मधुरा के किसी बैरव कुल में उत्पन्न हुए थे। सर्वास्तिवादी लोग इन्हीं उपगुप्त को महाराज अशोकवर्ष के गुह मानते हैं, परन्तु स्वविरादी लोग मौर्यसिन्धु 'सिन्धु' को वह शौरवर्ष पद प्रदान करते हैं। तृतीय संघर्ष के अनन्तर मौर्यसिन्धु सिन्धु में बँस समान प्रचलित, स्वविराद के विरोधी, सम्प्रदासों के निराकरण के विभिन्न 'अपराध' नामक प्रसिद्ध प्रकरण-ग्रन्थ लिखा। इसमें निरुद्ध मतों में सर्वास्तिवाद भी सम्मिलित है। अतः इससे प्रकट होता है कि विष्णुवर्ष तृतीय शतक में भी सर्वास्तिवाद की पर्याप्त प्रसिद्धि थी। अशोक के अनन्तर वह सप्त पंगु-बहुना के प्रदेश को छोड़ कर भारत के विभिन्न उत्तरीय भाग—गन्धार तथा काश्मीर में—बाहर रहने लगा। इसकी प्रमाणता इस मूलग्रन्थ में विरोध रूप से सिद्ध होती है। वह प्रसिद्ध है कि महाराज अशोक स्वविराद के ही पृथपोपक से कीर इस सप्त के अन्तर के लिए उन्होंने काश्मीर गन्धार में व्यापक स्वविराद को भेजा, परन्तु इस देश में सर्वास्तिवाद की अनुपपत्ति नहीं रही। अतः (प्रथम शताब्दी) के पहले ही सर्वास्तिवादियों के दो प्रमुख भेद उपपन्न होते हैं—गन्धार शास्त्रिक तथा काश्मीर—शास्त्रिक। इसमें बहुबन्धु से अपना अविपर्ययोध काश्मीर के वैशादिक मत के अनुसर ही लिखा था परन्तु अतोपि के अन्तर्गत यह है कि काश्मीर के अन्तर की वैशादिकों की स्थिति थी। महाविष्णु में भी इन दोनों सम्प्रदासों के सिद्धान्तों का स्पष्ट अन्तर्लक्ष मिलता है। अतः ऐतिहासिक पर्यालोचना से हम यह सकते हैं कि अन्तिम के पहले दो सम्प्रदास थे—गन्धार के सर्वास्तिवादी तथा काश्मीर के सर्वास्तिवादी परन्तु अतुर्ब समीति

१ काश्मीरवैशादिकनीतिस्थितः अथवा यथार्थं अविपर्ययोधः ।

(अभिधेय ४१४)

२ विमेष एव शास्त्रमिदमो अन्तर्गतान्वितसम्प्रदासो वैशिष्टोऽय इत्युच्यते काश्मीर—वैशादिकनीति—स्थित इति विस्तरः। काश्मीरे यथा काश्मीरः। विभाषया विमेषन्तीति वैशादिका इति व्याख्यासमेतम्। अन्ति काश्मीरः अ वैशादिका अन्ति वैशादिका अ काश्मीरः। तैत्तिरीयान्तिविपर्ययोधः, य यथा अन्तर्गत वैशिष्टः ॥
(सुप्रार्थ)

के अनन्तर दोनों में एक प्रकार का समन्वय स्थापित कर दिया गया और वह 'काश्मीर वैभाषिक' नाम से ही प्रसिद्ध हुआ ।

वैभाषिक मत का बहुत प्रचारक सम्राट् कनिष्क से हुआ । उसकी ही आज्ञा से आचार्य पार्श्व ने काश्मीर में पौंच सौ वीतराग भिक्षुओं की महती सभा सम्पन्न की जिसके अध्यक्ष घसुमित्र थे तथा प्रधान सहायक कवि दार्शनिक—

विस्तार शिरोमणि अश्वघोष थे । इसी सगीति में ज्ञानप्रस्थान की महती

टीका 'महाविभाषा' की रचना की गई । उसी समय से कनिष्क ने

अपने धर्म-प्रचारक भेजकर भारत के बाहर उत्तरी प्रदेश—चीन, जापान में इस मत का विपुल प्रचार किया । सम्राट् कनिष्क धर्म-प्रचार में दूसरा अशोक था । चीनदेश में तभी से 'वैभाषिक' मत की प्रधानता है । चीनी परिव्राजकों के लेख से इस मत के विपुल प्रचार तथा प्रसार का हमें परिचय मिलता है । फाहियान (३९९-४१४ ई०) ने इसकी पाटलिपुत्र और चीन में स्थिति अपने समय में बतलाई है । युन घ्वाङ्ग के समय (६४० ई०) में यह मत भारत के बाहर काशगर, उघ्यान, आदि स्थानों में तथा भारत के भीतर मतिपुर, कन्नौज, राजगृह में पश्चिम फारस तक फैला हुआ था । इचिङ्ग (६७१-६९२ ई०) स्वयं वैभाषिक था । उसके समय में इस सम्प्रदाय का बहुत ही अधिक प्रचार दीख पड़ता है । भारत में मगध इसका अङ्ग था, परन्तु लाट (गुजरात), सिन्ध, तथा पूर्वी भारत में भी इसका प्रचार था । भारत के बाहर सुमात्रा, जावा (विशेषतः), जम्पा (अल्पश), चीन के पूर्वी प्रान्त तथा मध्यएशिया में इस मत के अनुयायी अपनी प्रधानता बनाये हुए थे । इस तरह 'सर्वास्तिवाद' का विपुल प्रचार इस मत के अनुयायियों के दीर्घकालीन अध्यवसाय का विशेष परिणाम प्रतीत होता है । सगीति के प्रस्तावानुसार पूरे त्रिपिटकों पर विभाषाएँ लिखी गईं जिनका क्रमशः नाम था—उपदेश सूत्र (सूत्र पर), विनय विभाषाशास्त्र तथा अभिधर्म विभाषा शास्त्र । इस प्रकार सर्वास्तिवाद का उदय तृतीय शतक वि० पू० में सम्पन्न हुआ तथा अभ्युदय १४ शताब्दियों तक भारत तथा भारत के बाहर वर्तमान था ।

साहित्य

सर्वास्तिवादियों का साहित्य संस्कृत भाषा में था और वह बहुत ही विशाल था । दुःख की बात है कि यह विराट् मूल साहित्य कालकवलित हो गया है ।

इसकी सत्ता का पता मात्र कल नील भग्न तथा शिखरी भग्न में किये गये अनुशासों से ही चलता है। इसके परिचय देने के लिए हम आपसी विश्व का सामान्य के निम्नत आकारी हैं।

द्वितीय संघीतिमें सदास्तिवाद और स्वविरवाद का विचार-विषय 'अभिपन्न' का और उसी में पार्ष्वय शीघ्र पड़ता है। सूत्र तथा विनय पिटक में दोनों मतों में विरोध साम्य है। ग्रन्थों के विषय तथा वर्गी-करण में (क) सुत्त कहीं कहीं विरोध अवरय वर्तमान है, परन्तु सामान्य रीति से इस विरोध कह सकते हैं कि दोनों मतों के सूत्र तथा विनय एक समान ही हैं। सदास्तिवाद का सूत्र—

मन्व वैमायिक		मन्व स्वविरवाद
शीपागम	=	शीपविक्रम
मन्वमायम	=	मन्वमविवाव
संयुक्तमम	=	संयुक्त "
अंगोत्तरायम	=	अंगुत्तर "
सुद्वयमम	=	सुद्वय "

सदास्तिवाद सूत्रों को 'आयम' कहते हैं तथा पेरवारी सूत्रों को 'विनय'। आपारण्यका यार्ता स्थापितियों के बाद ही आयम माने गये हैं परन्तु पौर्वमे आयम के भी वनियम ग्रन्थों की सत्ता निःसन्देह सिद्ध हो चुकी है। शीपविक्रम में १४ सूत्र हैं परन्तु शीपागम में केवल ९ सूत्र। इस सूत्रों में २० सूत्र दोनों ग्रन्थों में एक समान ही उपलब्ध होते हैं, यद्यपि विरोधग्रम निम्नत मिल है। शेष सात सूत्रों में तीन सूत्र मन्वमायम में उपलब्ध होते हैं परन्तु बार सूत्रों का अभी तक पता नहीं चलता। इन आयमों का अनुवाद नीली भाषा में मित्र १ शालाधियों में किया गया। बुद्धयता के (४१९ ई - ४१९ ई) पूरे शीपागम का अनुवाद नीली भाषा में किया तथा नीलम संघरेव के (१०० ई - १९० ई) समय मन्वमायम का। इन ग्रन्थों का उद्देश्य अनुशास के ग्रन्थों में मिलना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इन ग्रन्थों का मन्वम वैमायिक सम्प्रदाय के ही बन पा।

(ख) विनय

सर्वास्तिवादियों का अपना विशिष्ट विनयपिटक अवश्य विद्यमान था जिसका तिब्बती अनुवाद आज भी उपलब्ध है। दोनों विनयों की तुलना इस प्रकार है—

सर्वास्तिवादी	थेरवादी
(१) विनय वस्तु	महावग्ग (पाली विनयपिटक)
(२) प्रातिमोक्ष सूत्र }	प्रातिमोक्ष " "
(३) विनय विभाग }	सुत्तविभाग " "
(४) विनय क्षुद्रक वस्तु	सुल्ल वग्ग " "
(५) विनय उत्तर ग्रन्थ	परिवार " "

यह तिब्बती विनय सर्वास्तिवादियों का ही निःसन्देह रूप से है, इसका एक प्रमाण यह भी है कि तिब्बती ग्रन्थ के मुख पृष्ठ पर शारीपुत्र तथा राहुल से युक्त भगवान् बुद्ध की प्रतिमा बनी है। राहुल शारीपुत्र के शिष्य हैं और चीन देश में राहुल ही सर्वास्तिवाद के उद्भावक माने जाते हैं^१। इतना ही नहीं, तिब्बती अनुवादक पण्डित काश्मीर देश के निवासी थे। यह देश वैभाषिकों का प्रधान केन्द्र था। अतः अनुवादक के वैभाषिक होने से उनके द्वारा अनुवादित मूल ग्रन्थों का वैभाषिक होना स्वतः सिद्ध होता है।

सर्वास्तिवादियों के विभिन्न सम्प्रदायों के विनय में पर्याप्त भिन्नता दीख पड़ती है। मथुरा के सर्वास्तिवादियों में विनय वस्तु के अतिरिक्त ८० अध्यायों में विभक्त जातक तथा अवदान का एक विराट् सग्रह भी विनय में सम्मिलित था। परन्तु काश्मीरक सर्वास्तिवादियों ने जातक के कथानकों को अपने विनय में स्थान नहीं दिया। उनका विनय दस अध्यायों में विभक्त था जिस पर ८० अध्यायों की विशालकाय विभाषा विद्यमान थी। आख्यानों के विषय में यह द्विविध प्रवृत्ति ध्यान देने योग्य है^२।

(ग) अभिधर्म

सर्वास्तिवादियों का विशाल अभिधर्म आज भी चीनदेश में अपनी सत्ता बनाये हुये हैं। ये ग्रन्थ सात हैं— जिनके ज्ञानप्रस्थान-विषय-प्रतिपादन की विशेषता

१ Hoernle—Manuscript Remains P 166

२. द्रष्टव्य। इण्डियन हिस्ट्री का. भाग ५ (१९२९) पृ० १-५

के अरब मुख्य वायस्वानीय माना जाता है और अन्य ज्ञ प्रन्व सहस्रक तथा पौकक होने से 'पाद' माने जाते हैं। इनका परस्पर सम्बन्ध वेद तथा वैद्यों के समान ही समझना चाहिए। इनका संश्लिष्ट परिचय इस प्रकार है—

(१) ब्रह्मप्रस्थान—रचयिता आर्य कात्यायनीपुत्र ।

इसका बीबी भाषा में दो बार अनुवाद किया गया था। प्रथम सतक में कारमौरमिवासी यौतम संवदेन के (१८१ ई = ४४ वि) 'प्रेमिचम' नामक बीबी विद्वान् तथा भम्मपिय के सहयोग से इसका 'अष्टमन्व' के नाम से अनुवाद किया था। दूसरा अनुवाद मूल-भाषा (१५० ई — १६ ई) में किया था। मूल-भाषा ने उत्तरी भारत के ताम्रपत्र विहार में स्थापितवास्तुवासी ३ मिश्रणों को अपनी यात्रा के समय देखा था। इसी विहार में कात्यायनीपुत्र ने इस अनुपम ग्रन्थ की रचना की। इनका समय बुद्ध की मृत्यु के ३ वर्ष अनन्तर (अर्थात् १२६ वि पू वा १८१ ई पू) बताया गया है। यही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ था जिस पर अनेक असीम संगीति के 'विमार्ग' का निर्माण किया। इसके आठ परिच्छेद हैं इसीलिए यह 'आष्ट ग्रन्थ' भी कहा गया है जिसमें ओषोत्तरपर्य संज्ञोक्त ब्रह्म कर्म महामूढ इन्द्रिय समाधि तथा स्वरूप स्वान का सम्यक् समोपाय वर्णन किया गया है। वैदिकियों के दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए यही ग्रन्थ विद्वान् उपदेव तथा अज्ञान भग्ना जाता है।

(२) संगीतिपरम्य—अशोमित्र के अनुसार इसके रचयिता का नाम महावीरिष्ठ तथा बीबी ग्रन्थों के अनुसार शारीपुत्र था। दोनों बुद्ध के साक्षात् शिष्य थे। अतः वैदिकियों की दृष्टि में यह ग्रन्थ अमिषर्न खद्विज में सर्वप्रथम है। इनसे है कि बुद्ध की आरा से ही शारीपुत्र ने यहाँ की गवना के लिए इच्छा रखना की। वेदवादिओं के 'पुण्यसुपन्नसि' के अनुस्य ही इसका निरूपण है। इसमें १२ वर्ग हैं। हुएन सांग ने इसका बीबी भाषा में अनुवाद किया था जो १२६ पृष्ठों में तथा है।

(३) प्रकरणपाद्—रचयिता वसुमित्रः। इस ग्रन्थ के रचयिता वसुमित्र वसुपुत्रसंगीति के अन्वत् वसुमित्र से मिल गया प्रार्थन हैं। बुद्ध के निर्वाण से तीन सौ वर्षों के अनन्तर वसुमित्र की स्थिति अज्ञात है। अतः ये ग्रन्थ वसुपुत्र के समकालीन द्वितीय-शतक वि पू० में निरूपण में। हुएन सांग के

६५९ ई० में इसका अनुवाद किया। उससे पहले भी गुणभद्र तथा बुद्धयश-
(४३५-४४३ ई०) ने इसका चीनी में अनुवाद किया था। हुएन सांग के अनु-
सार पेशावर के पास पुष्कलवती विहार में वसुमित्र ने इसका निर्माण किया।
इसमें ८ वर्ग हैं जिनमें धर्म, ज्ञान, आयतन आदि विषयों का विशिष्ट विवरण
स्थित किया गया है।

(४) विज्ञानकाय—रचयिता स्थविर देवशर्मा। यह ग्रन्थ ज्ञानप्रस्थान का
तृतीयपाद है। हुएनसांग के अनुसार देवशर्मा ने श्रावस्ती के पास, विशोक में
इसका निर्माण किया। इसमें ६ स्कन्ध हैं जिनमें पुत्रल, हेतु, प्रत्यय, आल-
म्बन प्रत्यय तथा अन्य प्रकीर्ण विषयों का वर्णन है। हुएनसांग ने ६४९ ई० में
इसका चीनी में अनुवाद किया है जो ३१० पृष्ठों का है।

(५) धातुकाय—रचयिता पूर्ण (यशोमित्र), वसुमित्र (चीनीमत)।
हुएनसांग के पट्टशिष्य क्षीचि के मतानुसार इस ग्रन्थ के तीन संस्करण थे। बृहत्
संस्करण ६ हजार श्लोकों का था। अनन्तर इसके दो संक्षिप्त संस्करण तैयार किये
गये—९ सौ श्लोकों का तथा ५ सौ श्लोकों का। हुएनसांग का अनुवाद बीचवाले
संस्करण का है जो केवल ४३ पृष्ठों का है। इसमें २ खण्ड तथा १६ वर्ग हैं
जिसमें नाना प्रकार के धर्मों का विस्तृत विवेचन है।

(६) धर्म स्कन्ध—रचयिता शारीपुत्र (यशोमित्र), महामौद्गलायन
(चीनी मत)। सर्वास्तिवाद अभिधर्म का पञ्चम पाद है। यह ग्रन्थ महत्त्व में
ज्ञानप्रस्थान से ही कुछ घट कर है। यद्यपि यह पाद ग्रन्थों में गिना जाता है,
तथापि मूल ग्रन्थ के समान ही गौरवास्पद माना जाता है। संगीति-पर्याय में
प्रमाण के लिए इसके उद्धरण उपलब्ध होते हैं जिससे ग्रन्थ की प्राचीनता तथा
प्रामाणिकता का स्पष्ट परिचय मिलता है। हुएनसांग के चीनी अनुवाद में २१
परिच्छेद हैं जिनमें आर्यसत्य, समाधि बोध्यम् (ज्ञान के विविध अंग-प्रत्यंग),
इन्द्रिय, आयतन, स्कन्ध, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि दार्शनिक विषयों का पर्याप्त
विस्तृत विवेचन है।

(७) प्रज्ञप्ति शास्त्र—रचयिता आर्य मौद्गलायन। हुएनसांग ने पूर्वनिर्दिष्ट
केवल पाँच ही पादों का अनुवाद किया है। इस पष्ठपाद का अनुवाद बहुत पीछे
धर्मरत्न ने (१००४-१०५८ ई०) एकादश शतक में किया। इसी कारण इसकी

ग्रामाधिकारों में विद्वानों का विपुल सन्देह है। इसमें १४ वर्ष हैं जिसका बीबी बलुबाद ५५ वर्षों का है। विशेष बात यह है कि इसी ग्रन्थ का तिथ्यती बहुत बाद मिलता है, पूर्वोक्तलिखित ग्रन्थों का अनुवाद तिथ्यत में उपलब्ध नहीं होना जिसमें प्राचीन तथा समकालीन अनेक विद्वानों तथा व्याचार्यों के मतों का बख्तेब किया गया है। इसके रचनाकाल में अनेक शास्त्रविष्णुत आचार्यों ने जो अमि-धर्म महाशास्त्रों के नाम से सम्मिलित हैं। उस समय इन दार्शनिक विद्वानों की दो प्रणियों थी—गाम्भार शास्त्रिका—गाम्भार देश के व्याचार्य तथा कश्मीर शास्त्रिका—कश्मीर के पण्डित। परन्तु इन दोनों ग्रन्थों के मतों का सम्बन्ध कर दिया गया। अन्तर्गत अर्थ में कश्मीर के पण्डितों के मत का सर्वत्र आशान्वय गृहीत हुआ। वेदविद्वानों का मूल ग्रन्थ यही विभागा है।

सर्वास्तित्वादी अमिधर्म के वे ही छत ग्रन्थ बीबी बलुबाद में उपलब्ध होते हैं। इसका मूल संस्कृत में था जो व्यास कृत अष्टाध्याय है। इन ग्रन्थों की रचना भिन्न-भिन्न शास्त्रियों में हुई। सम्प्रदाय तो इनमें तीन ग्रन्थों की रचना हुई के ही समय में एक ग्रन्थ की एक ही वर्ष बाद तथा तीन ग्रन्थों की तीन ही वर्ष बाद सामान्य है, परन्तु रचना काल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है।

सर्वास्तित्वादिग्रन्थों के दार्शनिक ग्रन्थों का अमान्य परिचय दिया गया है। अमिधर्म के समय में ब्रह्मप्रस्थान के अन्तर्गत एक विशालकाय शास्त्र का निर्माण किया गया। इसी का नाम है—विमारापा। 'विमारापा' का शाब्दिक अर्थ—विमारापा है जिसका अर्थ एक विषय पर भिन्न भिन्न विद्वानों के मतों का संग्रह किया गया और उनमें का मत आधिकारिक प्रतीत हो उसे मान्यता प्रदान कर प्रकट कर दिया गया। कर्तृत्व संकीर्ण में व्याचार्य बलुमित्र तथा कविबर कश्मीरवासी का 'विमारापा' की रचना में विशेष हाथ था। 'विमारापा' की तीन टीकाओं की गईं जिनमें सबसे बड़ी टीका 'महाविमारापा' के नाम से विख्यात हुई। इसका बीबी भाषा में तीन बार अनुवाद किया गया। कश्मीर वेदविद्वान सचदेव (१८१ ई) ने इसका पहला अनुवाद किया था। दूसरा अनुवाद बलु-बर्मा तथा दासो-दाई ने मिलकर ४२५-४२७ ई में किया, परन्तु राज्याधिकार के कारण यह अनुवाद यत्र हो गया। तब सतम शास्त्रियों में हुए व्यास ने मूल संस्कृत से इस ग्रन्थरत्न का अनुवाद कर ज्यों में (१५६ ई - १५९

ई०) सम्पन्न कर अपनी विद्वत्ता का उज्ज्वल प्रमाण दिया। महाविभाषा में ज्ञानप्रस्थान के अनुसार ही आठ ग्रन्थ हैं जिनका अनुवाद चार हजार पृष्ठों के लगभग है। यह महाविभाषा शास्त्र बुद्धदर्शन का विराट् ज्ञानकोश है। इसी भाष्य के आधार पर चतुर्थ शतक में वसुबन्धु ने अपने अभिधर्मकोश का तथा संघभद्र ने समयप्रदीपिका का निर्माण किया। वैभाषिकों का यही मूल स्रोत है।

आचार्य

(१) वसुबन्धु—सर्वास्तिवाद के इतिहास में चतुर्थ शताब्दी सुवर्ण-युग मानी जाती है क्योंकि इसी युग में दो बड़े बड़े आचार्यों ने प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना कर इस मत के प्रभाव को और भी बढ़ाया। इनमें एक का नाम है—वसुबन्धु और दूसरे का संघभद्र। वसुबन्धु की प्रतिभा तथा पाण्डित्य अलौकिक था। उनके ग्रन्थ उच्चकोटि के हैं। इसी कारण उनकी गणना बौद्ध मत के प्रकाण्ड दार्शनिकों में की जाती है।

वसुबन्धु के पाण्डित्य तथा परमार्थ वृत्ति का परिचय हमें यशोमित्र के कथन से स्पष्ट मिलता है। यशोमित्र का कहना है कि वसुबन्धु ने परमार्थ के लिए शास्त्र की रचना कर स्वयं शास्त्र (बुद्ध) का कार्य सम्पादन किया है। अतः बुद्धिमानों के इस अप्रणी को विद्वज्जन द्वितीय बुद्ध के नाम से पुकारते थे^१। यह प्रशंसा वस्तुतः यथार्थ है। वसुबन्धु ने अपना अभिधर्मकोष लिखकर बुद्धधर्म का जो प्रसार तिब्बत, चीन, जापान तथा मंगोलिया आदि देशों में सम्पन्न किया है वह धार्मिक इतिहास में एक कौतूहलपूर्ण घटना है।

इनका जन्म गान्धार के पुरुषपुर (पेशावर) नगर में कौशिक गोत्रीय एक ब्राह्मणकुल में हुआ था। ये तीन भाई थे। जेठे भाई का नाम था आर्य असक जिनका चित्रण विज्ञानवाद के इतिहास के अवसर पर किया जायगा। छोटे भाई का नाम था 'चिरिञ्चि वत्स'। वसुबन्धु मध्यम पुत्र थे। गान्धार में उस समय

१ परमार्थशास्त्रकृत्या कुर्वाण शास्त्रकृत्यमिव लोके ।

य बुद्धिमत्तामग्र्यं द्वितीयमिव बुद्धमित्याहुः ।

तेन वसुबन्धु नाम्ना भविष्यपरमार्थबन्धुना जगतः ।

अभिधर्मप्रत्यासः कृतोऽयमभिधर्मकोशाख्य ॥ (स्फुटार्था पृ० १)

सर्वास्तित्वादिषा । अ बोध-बाह्य धा । शिक्षा के लिए वे अशरीर गए । वही विष्णुधारात्मक अ बाह्य अणुमन किन्ना गतवत्त्वत्वा में वे अयोध्या आए और अयोध्या में ही वे निरोध रूप से रहने लगे । शास्त्रार्थ में भी बड़े कुशल थे । मुनियों हैं कि एक बार विष्णुवासी आत्मक सांख्यार्थ ने उनके पुत्र पुत्रमित्र को शास्त्रार्थ में हरा दिया । बभ्रुबन्धु तब समस उचलित न थे । पुत्र के पराजय की बात सुनकर इन्होंने विष्णुवासी को शास्त्रार्थ के लिए उत्तकारा । परन्तु उनके पहले ही वे संख्यार्थ पराजय को झेंझकते स्वरूपवासी हो गए थे । तब इन्होंने विष्णुवासी की 'सौख्य सप्तति' के अन्त्य में 'परमार्थ सप्तति' की रचना की । इस ग्रन्थ का अन्त्येक उत्पत्तिग्रह के होनाकार आकाश कमलस्थिति में बड़े आश्चर्य के साथ किया है ।

बभ्रुबन्धु के समय में बहुत मतभेद है । आपाक के विद्वान् बौद्धों तक पहुँच रहे हैं । बभ्रुबन्धु हैं । परन्तु वह बड़े ठीक नहीं बैठती । बभ्रुबन्धु के ज्येष्ठ सहोदर अर्चंग के ग्रन्थों का बीबी भाषा में अनुवाद बर्मरठ ने किया था । और वे बर्मरठ ४ ई में बीज में निधन हुए । बीबी भाषा में अनुवादित परमार्थ कुल बभ्रुबन्धु की बीबी में वे अयोध्या के राजा के पुत्र मर गए हैं । बबर नामक वे अपने 'अध्यात्मद्वार इति' में इन्हीं बभ्रुबन्धु के समय (बन्धुग्रन्थ) का उल्लेख बताया है । बभ्रुबन्धु से अमित्राय गुप्तवर्तीन बन्धुग्रन्थ ग्रन्थ के हैं । अतः इनके पुत्र समुद्रगुप्त के समय में बभ्रुबन्धु की स्थिति समान भाषा का सकती है । इन्होंने ४ वर्ष का शीर्ष जीवन प्राप्त किया था । अतः इनका समय १८ ई से लेकर १९ ई तक मानना सर्वोत्तम तथा उचित प्रतीत होता है ।

इसकी निम्न निम्न अधर वरपुत्र के पश्यन में ऊरात की लक्ष्मी मकर इसकी अपनी स्वपत्र के मन्दन में हुतपति से बहती थी । बीबी भाषा के त्रिपिटक में इनके १९ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है । इन भाषा के लक्ष्मी भाषाओं का नाम बीज

- १ एवं आचार्यव्युत्पन्नप्रवृत्तिभिः कौटपरमार्थगततिद्यदिषु अमित्राय प्रवृत्त-
मात्रं वराग्रन्थम् । अन्त्येक एवावगन्तव्यम् । (उत्पत्तिग्रह १२९)
- २ सप्तम्यं सप्तति बन्धुग्रन्थतन्त्रबन्धुग्रन्थौ युता ।
- आन्ते मूलविराजका इतिविशेष दिह्या इत्यादिग्रन्थाः ३ ।
- आपक इतिविशेषितत्वं च बभ्रुबन्धुना विष्णुधारापरात्परत्वं चामित्रकृतम् ।

साहित्य से लगता है। अतः समीक्षा कर इनके मूल ग्रन्थों का पता लगाया जा सकता है। इनके हीनयान सम्बन्धी निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं —

ग्रन्थ

(१) परमार्थसप्तति—विन्ध्यवासी रचित साख्यसप्तति का खण्डन।

(२) तर्कशास्त्र—इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद परमार्थ ने ५५० ई० में किया। इसका विषय बौद्धन्याय है जिसमें तीन परिच्छेद हैं। पञ्चावयव, जाति, तथा निग्रह-स्थान का क्रमशः वर्णन है^१।

(३) वादविधि—इस ग्रन्थ के अस्तित्व के विषय में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। 'धर्मकीर्ति' ने वादन्याय ग्रन्थ लिखा जिसकी व्याख्या में शान्तरक्षित (७४०-८४०) ने लिखा है—'अयं वादन्यायमार्गः सकललोकानिवन्धनवन्धुना वादाविधानादौ आर्यवसुवन्धुना महाराजपथीकृतः। क्षुण्णश्च तदनु महत्या न्यायपरीक्षाया कुम-
तिमतमत्तमातङ्ग-शिर पीठपाटनपटुभिराचार्यदिङ्मनागपादैः।' इस वाक्य से मालूम होता है कि वसुवन्धु ने न्यायशास्त्र पर वाद-विधान नामक ग्रन्थ लिखा था। न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका में अनेक स्थानों पर वाचस्पति मिश्र ने वसुवन्धु के वादविधि का बहुशः उल्लेख किया है। इन निर्देशों की परीक्षा से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रामाण्यों के लक्षण थे। धर्मकीर्ति के ग्रन्थ की तरह केवल निग्रहस्थानों का ही वर्णन न था^२।

(४) अभिधर्मकोश :—

वसुवन्धु का सर्वश्रेष्ठ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ यही है जिसमें अभिधर्म के समस्त तत्त्व सक्षेप में वर्णित हैं। वैभाषिकमत का यह सर्वस्व है विभाषा की रचना के अनन्तर काश्मीर में वैभाषिकों की प्रधानता सर्वमान्य हुई। उसी मत को आधार मानकर

१. इसका अंग्रेजी अनुवाद डा० तुसी (Dr. Tucci) ने Pre—Dignaga Logic में किया है (गायकवाड़ सीरीज)

२. न्यायवार्तिक—पृष्ठ ४०। अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थादिज्ञान प्रत्यक्षमिति। इस पर टीका करते हुए वाचस्पति ने लिखा है—तदेव प्रत्यक्षलक्षण समर्थ्य वासु-
वन्धव तत्प्रत्यक्षलक्षण विकल्पयितुमुपन्यस्यति।

इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ^१। उपासित्वादिनों का अभिषर्ग ही इसका प्रथम आशय है^२। तथापि अपनी व्यापकता के कारण यह कोश बौद्धधर्म के समस्त मतों को मान्य तथा प्रमाणमूल है। बालभद्र ने तो वहाँ तक लिखा है कि शास्त्रमित्रों बिनाकर मित्र के आश्रम में शास्त्र-शास्त्र में कुशास सुखी भी कोश का उपदेश देते थे। वहाँ 'कोश' से अभिप्राय बहुवचन हुआ 'अभिषर्गकोश' से ही है^३। आपात में इस ग्रन्थ के आधार का पता इसी वजह से 'संग्रह' है कि इस कोश के सम्पादन के लिए 'कुश' नामक सम्प्रदाय का उद्भव हुआ है। उसी प्रकार बहुवचन को 'विश्वसिमाश्रय-विधि' के सम्पादन के निमित्त 'पुत्र शिष्य' नामक सम्प्रदाय का भी विद्यमान है। इसका अनुवाद दो बार चीनी भिक्षुओं ने किया— परमाश्रम का (५६१-५६७ ई.) तथा ह्युएचोंग का (६५१-५६१ ई.)। हेनसांग इस कोश की व्याख्या में बड़े सिन्हात थे। 'कोश' तथा 'होशो' नामक दो पाश्चात्य-पूर्ण व्याख्याएँ चीनी भाषा में विद्यमान हैं जिन्हें ह्युएचोंग के दो शिष्यों ने उनके व्याख्यान की सुनकर विषय किया था।

यह ग्रन्थ आठ परिवर्तनों में विभक्त है जिनके नाम से विषय का पता चलता है—१ बाणमिर्देश २ इन्द्रिय मिर्देश ३ लोकबल मिर्देश ४ कर्म मिर्देश ५ अलुख मिर्देश ६ आर्य पुरुष मिर्देश ७ राज मिर्देश तथा ८ व्यास मिर्देश। इस प्रकार ६ ही अधिकांशों में बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का यम विषय किया गया है परन्तु अधिकांश होने पर भी यह सूत्र के उपास गूढ तथा सूक्ष्म है। इसके अध्ययन की व्यवस्था करने के लिए अनेक व्याख्याओं से व्याख्याएँ लिखी हैं जिनमें केवल एक ही चीनी मूल संस्कृत में उपलब्ध है—

(१) अभिषर्गकोशग्रन्थ—बहुवचन उक्ति (संस्कृतमूल अग्रज्य सिन्हात) अनुवाद कुश-ग्रन्थावली ८ २ में १९१७ में प्रकाशित)।

१ अरमीरबैन्धुपिनीतिसिद्ध ग्रन्थो मयाय अभिषर्गमिषर्गः। अभिषर्गग्रन्थ-
८४८ (अशीमिषापीठ का संस्करण)

२ बोधमिषर्गी आश्रमस्थानादिरेतस्य मदीकस्य शास्त्रस्याभवभूतः। उक्तं ह्य-
आश्रममिषर्गमिषर्गमदीय शास्त्रं निराकृतम्—(स्त्रुयार्थ ५ १)

३ विहारनपरैः परमोपासकैः सुकैरपि शास्त्रस्यास्यकुशासौ कोशं समुपदि-
शयित्वा (हर्षचरित ५ २६० निर्णय सागर)।

(२) भाष्य टीका (तत्त्वार्थ)—स्थिरमति रचित ।

(३) मर्मप्रदीप वृत्ति—दिङ्नाग रचित ।

(४) गुणमति

(५) वसुमित्र

} रचित व्याख्यायें स्फुटार्थों में उल्लिखित (११५) हैं^१ ।

(६) स्फुटार्थ—यगोमित्र कृत मूलसंस्कृत में उपलब्ध है, केवल प्रथम कोशस्थान बुद्ध प्रत्यावली में (सं० २१, १९१८) प्रकाशित । समग्र ग्रन्थ रोमन लिपि में जापान में प्रकाशित । स्फुटार्थों में कारिका तथा भाष्य दोनों की टीकायें हैं, वसुवन्धुकृत भाष्य के उपलब्ध न होने से स्फुटार्थों की अनेक बातें समझ में नहीं आती । भाष्य उपलब्ध हो जाय, तो कोश का मर्म अभिव्यक्त हो सकता है ।

(७) लक्षणासुरिणी—पुण्यवर्धन ।

(८) औपयिकी—शान्तिस्थिर देव ।

इस व्याख्या-सम्पत्ति से कोश के महत्त्व का किञ्चित् परिचय चल सकता है । सच तो यह है कि अभिघर्मकोश एक ग्रन्थ न होकर स्वयं पुस्तक-माला है जिसके अंश को लेकर टीका-टिप्पणी लिखी गई तथा खण्डन-मण्डन की परम्परा शुरू हुई । अच्छी व्याख्या के बिना यह ग्रन्थ दुरूह है^२ । बौद्ध दर्शन के कोशभूत इस कोश का तात्पर्य तब तक अनभिव्यक्त रहेगा जब तक ग्रन्थकार का अपना भाष्य संस्कृत में न मिलेगा ।

(२) संघभद्र

वसुवन्धु के समकालीन दो वैभाषिक आचार्यों का अस्तित्व था—(१) मनोरथ—वसुवन्धु के मित्र और स्नेही थे । (२) संघभद्र—वसुवन्धु के घोर प्रतिद्वन्दी थे । वसुवन्धु के साथ इनके घोर विरोध का कारण यह था कि इनकी

१ गुणमति वसुमित्राद्यैर्व्याख्याकारैः पदार्थविवृत्या ।

सुकृता सामिमता मे लिखिता च तथायमर्थ इति ॥ (स्फुटार्थ ११५)

२ इस ग्रन्थ का संस्कृत मूल अप्राप्य था । पहले बेल्जियन विद्वान् डा० पुसें (Dr L de la Vallee Poussin) ने अदम्य उत्साह तथा अश्रान्त परिश्रम से चीनी अनुवाद से फ्रेंच में अनुवाद किया तथा साथ ही साथ मूल कारिकाओं का संस्कृत में पुनर्निर्माण किया । इसी आधार पर राहुल सांकृत्यायन ने नई अल्पकाय व्याख्या के साथ देवनागरी संस्करण काशी विद्यापीठ से प्रकाशित किया है ।

सम्मति में अनुबन्धु ने कोरा के अन्त्य में बहुत से ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था जो 'मिमांसा' से विस्तार प्राप्त करने पर पहुँचे थे। वैसायिक सिद्धान्तों के अनुबन्धु के विहित इन्होंने दो ग्रन्थों का निर्माण किया जो संस्कृत मूल के के अन्त्य में चीनी ग्रन्थ में अन्त्य भी अनुवाद रूप से विद्यमान हैं—

(१) अभिधर्म—म्यान्थानुसार—एक ग्रन्थ परिमाण में सवास्तव्य रसोत्तरमक है। इसमें अभिधर्म कोरा की वही वही व्युत्पत्ति है। इसी कारण इसका दूसरा नाम है 'कोराकरण' (अभिधर्मकोरा के लिए हिमवृद्धि)। सप्तम्य का कोरा की वारिधियों के विषय में विरोध नहीं था, परन्तु पञ्चात्मक वृत्ति 'सौत्रात्मिक' मत को ग्रहण करने के कारण अप्रतिबन्धक थी। यह बृहत्तर ग्रन्थ अष्ट प्रकरणों में विभक्त है, अनुवादक हुएमसांग १७५१ ई ; अनेक प्राचीन अनेक अष्टग्रन्थों का प्रमाण निर्दिष्ट किया गया है।

(२) अभिधर्मसमप्रदीपिका—म्यान्थानुसार अष्टम्यमक अधिक है तथा बृहत् भी है। इसीलिए इसके अष्टम्यमक सिद्धान्तों का संक्षिप्त प्रतिपादन इसमें है। हुएमसांग ने चीनी अन्त्य में अनुवाद किया है। इसमें ९ प्रकरण हैं तथा अनुवाद ७४९ पृष्ठों में है। अष्टम्यम ही संस्कृत का अर्थोपदेश था। यही रह कर इन्होंने पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों का निर्माण किया^१।

इतर आचार्य

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थ चीनी ग्रन्थ में अनुवाद रूप से उपलब्ध होते हैं :—

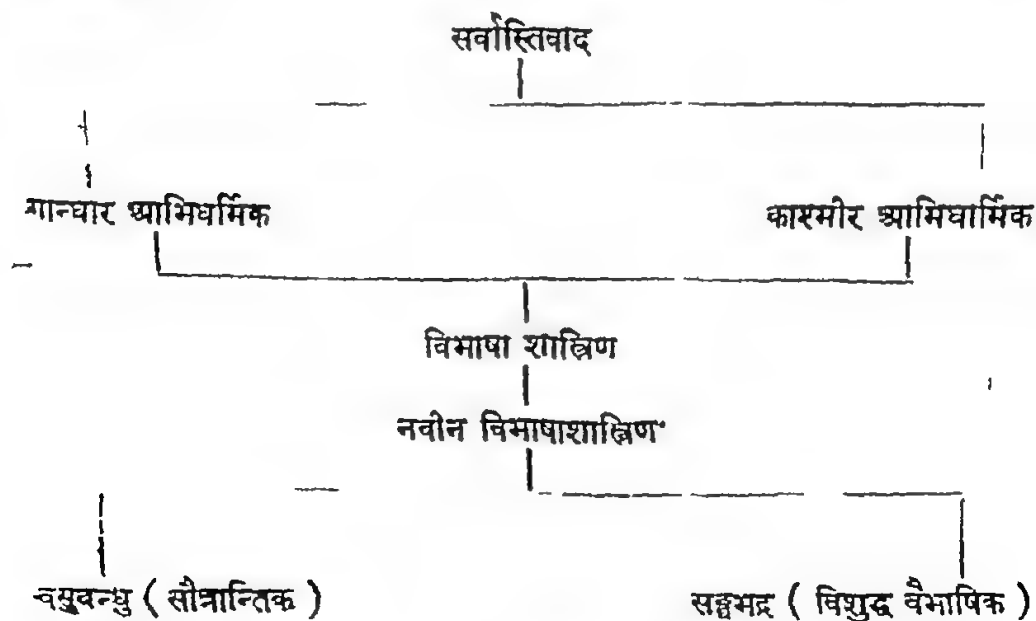
ग्रन्थ	अर्थ	अनुवादक
(१) अभिधर्मसमप्रदीपिका—सोप		२५ ई में अनुवादित।
(२) अभिधर्महृदय—सर्वोत्तर		संस्कृत में १९१ ई में चीनी में अनुवाद किया।
(३) " टीका—उपलब्ध		मोग्गल्लाना ५९२ ई ।
(४) " टीका—वर्मसार का वर्मसार का अनुमित्र के विद्वत् माने जाते हैं।		पिह्वर्मा ४९४ ई ।

^१ इन ग्रन्थों ५ वर्षों अनुवाद के लिए दृष्टव्य (प्रथम कुमार मुक्ती—
Indian Literature in China.)

- (३) लोक प्रज्ञप्ति-अभिधर्मशास्त्र परमार्थ ।
 (४) अभिधर्म भूमिका ,, हुएनसांग ।
 (५) शारिपुत्र अभिधर्म ग्रन्थ ,,
 (६) लक्षणानुसारशास्त्र-गुणमति परमार्थ ।
 (निदान और आर्यसत्य का वर्णन मिलता है) ।

सर्वास्तिवादियों के मूल ग्रन्थों का यही संक्षिप्त परिचय है । डा० तकाकुस ने बड़े परिश्रम से इनका चीनी अनुवाद की सहायता से परिचय दिया है^१ ।

सर्वास्तिवादियों के साहित्य के विकास का परिचय संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है ।



१. विशेष विवरण के लिए पृष्ठव्य—(पाली टेक्स्ट, सोसाइटी जर्नल, १९०४ ।
 प्रसाद कुमार मुन्शी—Indian Literature in China पृ० २१८—२२४)

पञ्चदश परिच्छेद
वैभाषिक सिद्धान्त

दुसरे के सिद्धान्तों के वैज्ञानिकों को मजबूत भाँति 'मानवा विज्ञान' मान-
रहा है। इसी कारण के आधार पर 'दुसरे' के समस्त सिद्धान्त प्रमाणित
हैं। इस आधार का काम है—बर्म। बर्म शब्द का प्रयोग भार-
वर्म रॉय हार्मिक अवयव में होने विभिन्न और विभिन्न वर्गों में किया
गया है कि इस अवयव में इस शब्द की बर्णना अवयव से अवयव
हो जाना बहुत ही आवश्यक है। 'वर्म' से अभिप्राय मूल और चित्त के सूक्ष्म
तत्वों से है जिसका प्रकटकरण और नहीं हो सकता। इन्हीं वर्गों के आधार
प्रतिपाद से वह वस्तु सम्भव होती है कि यह 'वर्म' के नाम से पुकारते हैं।
यह विषय दुसरे वर्म की अवयव के अनुसार क्या है। वर्मों के परस्पर मिलन
से एक संवत्समान है। ये वर्म अवयव सूक्ष्म होते हैं, वे सत्त्वमय होते हैं,
इनकी सत्ता दुसरे वर्म के अवयव का मूल वैज्ञानिक, सैद्धान्तिक और बौद्धिक
की सर्वथा माननीय है। वैज्ञानिकों की व्याख्या करते समय हमने विचारना
है कि पुनः वैज्ञानिक के मानने का ही कारण वर्मों की सत्ता में विचार करना
है। विचारों की अवयव का सम्बन्ध इन वर्मों के अस्तित्व से सिद्धान्त गहरा
है। अतः इन वर्मों के रूप में आधारित दुसरे के समय उपदेशों का कारण यह
प्रमाणित वचन में प्रकट किया गया है—

ये धर्मा हेतु-प्रमथा हेतुं तेषां तयागतो व्यवहृत् ।
व्यवहृत् सो निरोधो एवमादी महाभ्रमण ॥

अर्थात् इस कर्म में जिससे धर्म है वे हेतु से उत्पन्न होते हैं। उनके हेतु को तत्प्राप्त में बचतावा है। इस धर्मों का निरोध भी जाता है। महाभयमे इस निरोध का भी कथन किया है। इस प्रकार धर्म हेतु तथा उनका निरोध— इस तीन शब्दों में ही महाभय तत्प्राप्त के महनीय धर्म का स्वर धर्म उपस्थित किया जा सकता है।

धर्म की कल्पना से निम्नलिखित बातें ज्ञान्य होरती हैं—

(१) प्रत्येक वर्ग पूरक सत्ता रखता है—पूरक शक्तिमान है ।

(२) एक धर्म का दूसरे धर्म के साथ किसी प्रकार का—अन्योन्याश्रय समवाय-सम्बन्ध नहीं है । अतएव गुणों के अतिरिक्त द्रव्य की सत्ता नहीं होती, भिन्न भिन्न इन्द्रियग्राह्य विषयों को छोड़कर 'भूत' की पृथक् सत्ता नहीं होती । इसी तरह भिन्न भिन्न मानसिक व्यापारों के अतिरिक्त 'आत्मा' की सत्ता मान्य नहीं है—(धर्म = अनात्म = निर्जीव) ।

(३) धर्म क्षणिक होता है, एक क्षण में एक धर्म रहता है, चैतन्य स्वयं क्षणिक है—एक क्षण के अतिरिक्त अधिक वह नहीं ठहरता । गतिशील शरीरों की वस्तुतः स्थिति नहीं होती, प्रत्युत नये स्थानों में नये धर्मों का सन्तानरूप से यह आविर्भाव है जो गतिशील द्रव्य सा दीख पड़ता है (धर्मत्व = क्षणिकत्व) ।

(४) धर्म आपस में मिलकर नवीन वस्तु को उत्पन्न करते हैं । अकेला कोई भी धर्म वस्तु का उत्पादन नहीं कर सकता । धर्म परस्पर मिलकर नवीन वस्तु का उत्पादन करते हैं (संस्कृत)

(५) धर्म के परस्पर व्यापार से जो कार्य उत्पन्न होता है वह कार्य-कारण नियम के वश में रहता है । इस जगत् के समस्त धर्म आपस में कार्य-कारण-रूप से सम्यद्ध हैं । इसी का नाम है—प्रतीत्यसमुत्पाद ।

(६) यह जगत् वस्तुतः इन सूक्ष्म (७२ प्रकार के) धर्मों के सघात का ही परिणाम-है । धर्म का यह स्वभाव ही है कि वे कारण से उत्पन्न होते हैं (हेतु-प्रभव) और अपने विनाशकी ओर स्वतः अग्रसर होते हैं (निरोध) ।

(७) अविद्या तथा प्रज्ञा परस्पर विरोधी धर्म हैं । अविद्या के कारण जगत् का यह प्रवाह पूरे जोर से चलता रहता है और प्रज्ञाधर्म के उदय होने से इस प्रवाह में हास उत्पन्न होता है, जो धीरे धीरे शान्ति के रूप में परिणत होता है । अविद्या के समय धर्मों का सन्तान पृथक्जन साधारण व्यक्ति-को उत्पन्न करता है । प्रज्ञा के समय अर्हत् (सन्त आर्य) को । इस प्रपञ्च का पूर्ण निरोध बुद्ध की अवस्था का सूचक है ।

(८) इसलिए धर्मों को हम चार भागों में बाँट सकते हैं—चञ्चलावस्था (दुःख), चञ्चलावस्था का कारण (समुदय), परम शान्ति की दशा (निरोध), शान्ति का उपाय (मार्ग) ।

(९) इस जगत् की प्रक्रिया का चरम अवसान, 'निरोध' में है जो निर्विकार

शान्ति की वृत्ता है। इस समय 'संसार' का नाश हो जाता है (अर्थात्—निर्वाण) इस मान्यताओं को सूत्ररूप से इस प्रकार रखा सकते हैं—
 चरमस्य = अविच्छेद = संसृताव = अतीतसमुत्पन्नस्य = अनाद्य-असंश्लेषस्य = सम्यग्ज्ञे-
 रा-सम्यग्दर्शनात् = बुद्ध-विरोध = संसार = निर्वाण।

धर्मों का वर्गीकरण

इस धर्मों के अस्तित्व में वैमर्शिकों को विश्वास है। इसीलिए उनकी सर्वास्ति-
 वादी संज्ञा सार्वक है। वैमर्शिकों के अनुसार वह जगत्समस्त ब्रह्मवस्तुत् सत्य
 है। इसी स्वतन्त्र सत्य का अस्तुत्य हमें अपने अत्यन्त ज्ञान के द्वारा प्रतिक्षण
 में होता है। बहुत इन्द्रिय के द्वारा हम उसे को देखते हैं, देखने से ज्ञायते हैं कि
 वह क्या है। पास जाने पर हम उसे पड़े की काम में लाते हैं। वह पानी जाने के
 नाम में जाता है आदि आदि। अतः 'वैमर्शिकपरिच्छेद' होने के कारण से वह ब्रह्म
 सार्वक है और इस सार्वकता का ज्ञान हमें इन्द्रियों के द्वारा अत्यन्त रूप से होता है।
 अतः ब्रह्म की स्वतन्त्र सत्ता अत्यन्त कम्य है वह वैमर्शिकों का मुख्य मान्यता
 सत्य है। वह अमल भी दो प्रकार का है—बाह्य (यह आदि), आन्तर (बुद्ध
 बुद्ध आदि)। अतः तथा विस्त। इन दोनों प्रकार के अमल की सत्ता स्वतन्त्र अर्थात्
 परस्पर-विरुद्ध है।

अमल के मूलभूत वस्तुओं (धर्म) का विभाग वैमर्शिकों ने दो प्रकार से किया
 है—विषयीयत तथा विषयगत। विषयीयत विभाजन समय की अपेक्षा से दोनों में
 प्राचीन है तथा अपेक्षाकृत सरल सीधा भी है। स्वविरुद्धिकों
 विषयीयत को भी वह मान्य है। कुछ ने स्वर्ग इष्ट विमर्शक को अपनी
 वर्गीकरण उपदेशों में अंगीकृत किया है^१ किन्तु इसकी प्राचीनता निम्नलिखित
 है। विषयीयत विभाजन तीन प्रकारों से होता है—

(१) पञ्च स्कन्ध : (२) द्वावरा धर्मकत : (३) अष्टादश वातु :

(१) पञ्चस्कन्ध—स्कन्ध रूप से वह अमल नामरूपात्मक है। वह सत्य
 प्राचीन उपनिषदों से सिद्ध गया है, परन्तु कुछ ने इसके अर्थ को विविध परि

१ इहम्प का पेरबट्टस्सी—(Central Conception of Buddhism P 74-75.)

२ इहम्प महाविद्यालय मुद्रा (वी वि २११५) संयुक्तनिर्वाण ११।

वर्तित कर दिया है। 'रूप' जगत् के समस्त भूतों का सामान्य अधिवचन है। 'नाम', मन तथा मानसिक प्रवृत्तियों की साधारण सज्ञा है जिन्हें वेदना, सज्ञा, संस्कार तथा विज्ञानरूप से विभक्त करने पर हम चार स्कन्धों के रूप में पाते हैं। इस प्रकार नामरूप ही का विस्तृत विभाजन 'पञ्चस्कन्ध' है।

(२) द्वादश आयतन—वस्तुओं का यह विभाजन पहले की अपेक्षा कुछ विस्तृत है। 'आयतन' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है प्रवेशमार्ग, घुसने का द्वार (आय प्रवेण तनोतीति आयतनम्)। वस्तु का ज्ञान अकेले ही उत्पन्न नहीं हो सकता। उसे अन्य वस्तुओं की सहकारिता अपेक्षित है। इन्द्रियों की सहायता के बिना विषय का ज्ञान उदय नहीं हो सकता। अतः ज्ञानोत्पत्ति के द्वार भूत होने के कारण इन्द्रिय तथा सत्सम्बद्ध विषय को 'आयतन' शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। इन्द्रियों सत्या में ६ हैं तथा उनके विषय भी ६ हैं। इस प्रकार आयतनों की संख्या १२ है —

अध्यात्म-आयतन

बाह्य-आयतन

(भीतरी द्वार या इन्द्रियों)

(बाहरी द्वार या विषय)

(१) चक्षुरिन्द्रिय-आयतन

(७) रूप-आयतन (स्वरूप तथा वर्ण)

(२) श्रोत्र इन्द्रिय , ,

(८) शब्द , ,

(३) घ्राण , ,

(९) गन्ध , ,

(४) जिह्वा , ,

(१०) रस , ,

(५) स्पर्श इन्द्रिय

(११) स्पृष्टव्य , ,

(कायेन्द्रिय आयतन)

(६) बुद्धि इन्द्रिय

(१२) बाह्येन्द्रिय से अप्राप्य

(मन इन्द्रिय-आयतन)

विषय (धर्मायतन या धर्मा)

सर्वास्तिवादियों का कथन है कि उनके सिद्धान्त को भगवान् तथागत ने स्वयं प्रतिपादित किया। अपने उपदेश के समय उन्होंने स्वयं कहा कि समस्त वस्तुएँ विद्यमान हैं। जब उनसे आप्रश्न के साथ पूछा गया कि कौन सी वस्तुएं तब उन्होंने कहा—यही द्वादश आयतन। यह सर्वदा विद्यमान रहता है और इसे छोड़कर अन्य वस्तुएँ विद्यमान नहीं रहतीं। इस कथन का अर्थ यह है कि वस्तु की सत्ता के लिए यह आवश्यक है कि या तो वह पृथक् इन्द्रिय हो या

शान्ति की वस्तु है। उस समय 'संसार' का नाश हो जाता है (अर्थात्—निर्वाण) इस मान्यताओं को सूत्ररूप से इस प्रकार रख सकते हैं—**परमार्थ = नरकस्थ = क्षयिकत्व = संसृज्यत्व = अतीत्यसमुत्पन्नत्व = सात्म्य-अन्यत्वात् = सर्वज्ञेय-अन्यत्वात् = दुःख-मिदं = सत्त्व = निर्वाण**।

धर्मों का वर्गीकरण

इन धर्मों के अस्तित्व में वैयर्थियों को निरवाच है। इसीलिए उनकी सर्वास्ति-वादी संज्ञा प्राप्त है। वैयर्थियों के अनुसार वह मान्यताएँ अमर वस्तुएँ उत्पन्न हैं। इसकी स्वतन्त्र उत्पत्ति का अनुभव हमें अपने अत्यन्त इन के द्वारा प्रतिबन्ध में होता है। बहुत इन्द्रिय के द्वारा हम जाने का देखते हैं, देखने से जानते हैं कि वह क्या है। पाप जाने पर हम उसे जाने को काम में लाते हैं। वह वाणी काम के काम में जाता है आदि आदि। अतः सर्वत्रिकाकारिण्य^१ होने के कारण से यह पद नवार्थ है और इस नवार्थता का ज्ञान हमें इन्द्रियों के द्वारा अत्यन्त रूप से होता है। अतः अमर की स्वतन्त्र उत्पत्ति अत्यन्त कम है। वह वैयर्थियों का मुख्य मान्यता है। वह अमर भी दो प्रकार का है—बाह्य (बद आदि), आन्तर (दुःख दुःख आदि)। भूत तथा चित्त। इन दोनों प्रकार के अमर की उत्पत्ति स्वतन्त्र अर्थात् परस्पर-निरपेक्ष है।

अमर के मूलभूत वस्तुओं (धर्म) का विभाग वैयर्थियों में दो प्रकार से किया है—विषयीय तथा विषयगत। विषयीय विभाजन समझ की अपेक्षा से दोनों में प्राचीन है तथा अपेक्षानुसार उत्पत्ति भी है। स्वविरादिकों विषयीयता को भी वह मान्य है। कुछ में स्वयं इस विभाजन को अपनी वर्गीकरण अपेक्षाओं में धर्मीयता किया है^२ किन्तु इसकी प्राचीनता निर्यान्वित है। विषयीय विभाजन तीन प्रकारों से होता है—

(१) पञ्च स्कन्ध : (२) द्वारा आकृत : (३) अष्टादश बाहु।

(१) पञ्चस्कन्ध—स्मृत रूप से वह अमर 'सामकपात्मक' है। वह सर्व प्राचीन उपनिषदों से सिद्ध होता है, पण्डित कुछ में इसके धर्मों को विविध परि

१ इहम्ब का धारणा—(Central Conception of Buddhism. P 74-75)

२ इहम्ब यह्निदान सूत्र (दी वि २:१५) संकुलनित ११।

वर्तित कर दिया है। 'रूप' जगत् के समस्त भूतों का सामान्य अधिवचन है। 'नाम', मन तथा मानसिक प्रवृत्तियों की साधारण सज्ञा है जिन्हें वेदना, सज्ञा, स्कार तथा विज्ञानरूप से विभक्त करने पर हम चार स्कन्धों के रूप में पाते हैं। इस प्रकार नामरूप ही का विस्तृत विभाजन 'पञ्चस्कन्ध' है।

(२) द्वादश आयतन—वस्तुओं का यह विभाजन पहले की अपेक्षा कुछ विस्तृत है। 'आयतन' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है प्रवेशमार्ग, घुसने का द्वार (आयं प्रवेश तनोतीति आयतनम्)। वस्तु का ज्ञान अकेले ही उत्पन्न नहीं हो सकता। उसे अन्य वस्तुओं की सहकारिता अपेक्षित है। इन्द्रियों की सहायता के बिना विषय का ज्ञान उदय नहीं हो सकता। अतः ज्ञानोत्पत्ति के द्वार भूत होने के कारण इन्द्रिय तथा सत्सम्बद्ध विषय को 'आयतन' शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। इन्द्रियों सख्या में ६ हैं तथा उनके विषय भी ६ हैं। इस प्रकार आयतनों की सख्या १२ है —

अध्यात्म-आयतन

(भीतरी द्वार या इन्द्रियों)

(१) चक्षुरिन्द्रिय-आयतन

(२) श्रोत्र इन्द्रिय „

(३) घ्राण „ „

(४) जिह्वा „ „

(५) स्पर्श इन्द्रिय

(कायेन्द्रिय आयतन)

(६) बुद्धि इन्द्रिय

(मन इन्द्रिय-आयतन)

बाह्य-आयतन

(बाहरी द्वार या विषय)

(७) रूप-आयतन (स्वरूप तथा वर्ण)

(८) शब्द „

(९) गन्ध „

(१०) रस „

(११) स्पर्शव्य „

(१२) बाह्येन्द्रिय से अप्राप्त

विषय (धर्मायतन या धर्मा)

सर्वास्तिवादियों का कथन है कि उनके सिद्धान्त को भगवान् तथागत ने स्वयं प्रतिपादित किया। अपने उपदेश के समय उन्होंने स्वयं कहा कि समस्त वस्तुएँ विद्यमान हैं। जब उनसे आमह के साथ पूछा गया कि कौन सी वस्तुएँ ? तब उन्होंने कहा—यही द्वादश आयतन। यह सर्वदा विद्यमान रहता है और इसे छोड़कर अन्य वस्तुएँ विद्यमान नहीं रहतीं। इस कथन का अर्थ यह है कि वस्तु की सत्ता के लिए यह आवश्यक है कि या तो वह पृथक् इन्द्रिय हो या

पृथक् इन्द्रियप्रत्यक्ष विभक्त हो। यदि वह इन दोनों में से एक भी नहीं है तो उसकी उत्पत्ति मान्य नहीं—किस प्रकार आत्मा की उत्पत्ति को न तो इन्द्रिय है और न इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष विभव ही है। इस वर्गीकरण में पहले के ११ अस्तित्व ११ वर्गों के प्रतिनिधि हैं। अन्तिम आस्तित्व में योग ६४ वर्गों का अन्तर्भाव होता है। इसीलिए इसे धर्मावतन का वर्गों के नाम से पुकारते हैं।

(३) अष्टावस्था पातु—वर्गों का बाहुओं के रूप में यह विभाजन एक नवीन दृष्टिकोण से किया गया है। 'बाहु' शब्द नेत्रकण्ठाक्ष से लिया गया है। नेत्रकण्ठाक्ष के अनुसार इस शरीर में अनेक बाहुओं का अस्तित्व है, इसी प्रकार सुखदर्भ इस जगत् में अनेक बाहुओं की उत्पत्ति मानता है। अथवा 'बाहु' शब्द आभिषेक पदार्थों के लिए व्यवहृत होता है। जिस प्रकार जल से वस्तु बाहर निकलते जाते हैं उसी प्रकार सन्तानभूत जगत् के भिन्न-भिन्न अस्तित्वों का उपकरणों को 'बाहु' कहते हैं। किन्तु दृष्टियों के एकीकरण से दृष्टव्योक्तों का एक प्रवाह (सन्तान) सिद्ध होता है उसकी संज्ञा 'बाहु' है। बाहुओं की संज्ञा अत्यन्त ही किन्तु ६ इन्द्रियों ६ विषयों तथा ६ विज्ञानों का ग्रहण किया जाता है। इन्द्रिय तथा विषय तो वे ही हैं किन्तु वर्तमान 'आवतन' रूप से किया गया है। इन्द्रिय को विषय के साथ सम्पर्क में आने पर एक प्रकार का विविध ज्ञान (विज्ञान) उत्पन्न होता है जो इन्द्रिय-विषयों की संख्या के अनुसार ६ प्रकार का होता है। इस प्रकार अष्टावस्था पातु में १२ आस्तित्वों का समावेश होता है साथ ही साथ इस ६ विज्ञानों का भी बोध होता है—

६ इन्द्रियों

- (१) चक्षुर्पातु
- (२) श्रोत्रपातु
- (३) ग्राह्यपातु
- (४) विज्ञानपातु
- (५) आयपातु
- (६) मनोपातु

६ विषय

- (७) रसपातु
- (८) शब्दपातु
- (९) धर्मपातु
- (१०) रसपातु
- (११) स्पर्शपातु
- (१२) धर्मपातु

६ विज्ञान

- (१३) बाहुज ज्ञान (बाहुर्भिज्ञान पातु)
- (१४) आत्मज्ञान (भोज विज्ञान पातु)

- (१५) घ्राणज ज्ञान (घ्राण-विज्ञान धातु)
- (१६) रासन ज्ञान (जिह्वा विज्ञान धातु)
- (१७) स्पर्शज ज्ञान (काय-विज्ञान धातु)
- (१८) अनन्तर वस्तुओं का ज्ञान (मनोविज्ञान धातु)

इन धातुओं में १० धातु (१-५, ७-११) प्रत्येक केवल एक ही धर्म को धारण करते हैं। धर्मधातु (न० १२) में ६४ धर्मों का अन्तर्भाव है (४६ चैत, १४ चित्तविप्रयुक्त, ३ असंस्कृत तथा १ अविज्ञप्ति) चित्त वस्तुतः एक ही धर्म है, परन्तु इस विभाजन में वह सात रूप धारण करता है, क्योंकि वह व्यक्तित्व के स्वरूप-साधन में इन्द्रिय रूप (मनोधातु) से एक प्रकार तथा विज्ञानरूप से ६ प्रकार का होता है। विज्ञान वस्तुतः अभिन्न एक रूप होने पर भी अपने उदयको लक्ष्य कर पार्थक्य के लिए ६ प्रकार का ऊपर निर्दिष्ट किया गया है।

त्रैधातुक जगत् का परस्पर भेद

बुद्धधर्म में इस विश्व को तीन लोकों में विभक्त करते हैं। इसके लिए भी 'धातु' शब्द प्रयुक्त होता है, परन्तु ऊपर के विभाजन में 'धातु' शब्द भिन्नार्थक है, इसे कमी न, भूलना चाहिए। जगत् दो प्रकार के होते हैं—(१) भौतिक (रूप धातु) (२) अभौतिक (अरूपधातु)। भौतिकलोक दो प्रकार का होता है—वासना या कामना से युक्त लोक = काम धातु और कामनाहीन, विशुद्धभूत-निर्मित जगत् (निष्काम) रूप धातु। 'कायधातु' में जो जीव निवास करते हैं उनमें ये अठारहों धातु विद्यमान रहते हैं। 'रूपधातु' में जीव केवल चौदह धातुओं से ही युक्त रहता है। उसमें गन्ध धातु (सख्या ९) तथा रस धातु (सख्या १०), घ्राणविज्ञान धातु (सख्या १५) तथा जिह्वाविज्ञान धातु (सख्या १६) का अभाव रहता है। तात्पर्य है कि रूपधातु के जीवों में घ्राण तथा जिह्वा इन्द्रियों की सत्ता तो विद्यमान है, परन्तु वहाँ न तो गन्ध की सत्ता है, न रस की। अतएव तज्जन्य विज्ञानों का भी सुतरां अभाव है। 'अरूपधातु' भूत-निर्मित नहीं है। वहाँ उपर्युक्त अष्टादश धातुओं में केवल मनोधातु (सख्या ६), धर्मधातु (स० १२) तथा मनोविज्ञान धातु (स० १८) को ही एकमात्र सत्ता है। इन विभिन्न लोकों के निवासियों की विशेषता जानने के लिए इन विज्ञानधातुओं का परिचय आवश्यक है।

(क) विषयगत वर्गीकरण ।

अब बर्णों का विषयगत विभाजन आरम्भ किया जाता है । स्मृतिवादिओं ने बर्णों की संख्या ७५ मानी है । उनके पहले स्वधिरवादिओं ने १७ मानी थी । तथा इसके अनन्तर होनेवाले योगेश्वर ने पूरी पूरुष की मानी है । इन तीनों मन्त्रवाियों के अनुसार बर्ण के प्रथमतः दो बड़े विभाग हैं—संस्कृत और असंस्कृत बर्ण । 'संस्कृत' शब्द का प्रभाव यहाँ प्रयुक्त रूप में न होकर विशिष्ट कार्य में किया गया है । 'संस्कृत' का व्युत्पत्तिस्थान्य अर्थ है सम् = सम्मूय अन्वात्म्यमपेक्ष्य कृत्वा अन्विता इति संस्कृतम् अर्थात् आपस में मिलकर एक दूसरे की सहायता से उत्पन्न होनेवाले बर्ण । संस्कृत बर्ण हेतुप्रत्यय से उत्पन्न होते हैं । अतएव वे अस्वासी, अनिश्च यत्किञ्चित् तथा आद्य (रागदि बर्णों) से संबुद्ध होते हैं । इनके विपरीत बर्णों को 'असंस्कृत' कहते हैं जो हेतुप्रत्यय से उत्पन्न नहीं होते, अतएव स्वासी निश्च यत्किञ्चित् तथा अनात्म्य होते हैं^१ ।

शुद्धबर्ण आरम्भिक अक्षर में बर्णों का वर्गीकरण उत्तमी वैज्ञानिक रीति से यही किया गया था । इस वर्गीकरण में शिथिलता लक्षित होती है, परन्तु पिछले दार्शनिकों ने उसे कुछ सुविबुध बनाकर उनकी संख्या नियमित कर दी है । 'असंस्कृत' बर्ण का अन्तर्गत भेद नहीं है^२ परन्तु संस्कृत बर्णों के चार अन्तर्गत भेद वैज्ञानिकों ने किये हैं—(१) रूप (२) वित्त, (३) केतसिक तथा (४) वित्त-विप्रयुक्त । ये चारों भेद जोनाकार की भी सम्मत हैं । परन्तु स्वधिरवादिओं की अन्तिम प्रथम भाष्य नहीं है ।

(क) स्वधिरवादिओं के मत में रूप अर्थात् प्रकार का, वित्त यद्यपि भेद, केतसिक वाचन भेद का है । इन तीनों के अतिरिक्त विधान की कल्पना है जो असंस्कृतबर्ण का प्रतीक है । 'वित्तविप्रयुक्त' नामक चतुर्थ भेद की कल्पना नहीं है ।

१ पाठी अभिबर्ण के अनुसार बर्णों की संख्या ७२ ही ठहरती है । वित्त—१ केतसिक—५२ रूप—१८ तथा असंस्कृत—१=पूरी संख्या ७२ । यही पुस्तकों के अनुसार ऊपर की संख्या दी गई है ।

२. संस्कृत शब्दों का ।

(अभि केत ४१२)

३. इहम् अभि केत प्रथम कीदृशान् ४१७

(ख) सर्वास्तिवादियों का वर्गीकरण अभिधर्मकोश के ऊपर अवलम्बित है। धर्मों की संख्या इस मत में पचहत्तर नियत कर दी गई है—असंस्कृत धर्म तीन प्रकार, रूप इग्यारह, चित्त एक, चैतसिक छियालीस, चित्तविप्रयुक्त चौदह है।

(ग) विज्ञानवादियों का वर्गीकरण 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' के अनुसार है। धर्मों की संख्या पूरी एक सौ है जिनमें असंस्कृत धर्म की संख्या है छ, रूप इग्यारह, चित्त आठ, चैतसिक इक्यावन, चित्तविप्रयुक्त चौबीस है।

तुलनात्मक वर्गीकरण

धर्म	स्थविरवाद	सर्वास्तिवाद	योगाचार
असंस्कृत	१	३	६
रूप ^१	२८	११	११
चित्त ^२	८९	१	८
चैतसिक	५२	८६	५१
चित्तविप्रयुक्त	X	११	२४
कुल योग	१७०	७५	१००

इस परिच्छेद में हम सर्वास्तिवादियों के मतानुसार ७५ धर्मों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। तुलना के लिए स्थविरवादियों तथा विज्ञानवादियों के मतों का भी उल्लेख स्थान स्थान पर विभिन्नता दिखाने के लिए किया जायगा।

(१) रूप

रूप सर्वास्तिवादी मत में ११ प्रकार का होता है —

(१) चक्षुरिन्द्रिय, (२) श्रोत्र इन्द्रिय, (३) घ्राण इन्द्रिय, (४) जिह्वा इन्द्रिय, (५) काय इन्द्रिय, (६) रूप, (७) शब्द, (८) गन्ध, (९) रस, (१०) स्पृष्टव्य विषय, (११) अविज्ञप्ति।

रूप का अर्थ साधारण भाषा में 'भूत' है। रूप की व्युत्पत्ति है—रूप्यते

१ रूप १८ ही हैं। शेष की सत्ता औपाधिक है, अतः उनकी गणना यहाँ नहीं होती।

२ उपाधिभेद से चित्त की गणना ८९ अर्थोंवा १२१ है। किन्तु यथार्थ में चित्त १ ही है। अतः अभिधर्म में केवल ७२ ही पदार्थ हैं।

इति रूपम्—वह धर्म जो रूप धारण करे। रूप का अन्तर्भाव है सप्रतिबल। 'प्रतिब' का धर्म है रोचना। बीजधर्म के प्रत्यक्ष रूपधर्म एक समय में कितने स्थानों में प्रकट करता है वही स्थान दूसरे के द्वारा ग्रहण—नहीं किया जा सकता। रूपधर्म के अन्तरिक्षविहित विमानन पर रहते रहते ही स्पष्ट है कि इसमें जो प्रकार के पदार्थ प्रकट हैं—एक बाह्य—इन्द्रिय तथा दूसरे अन्तर्गत—अन्तः-विषय। इनके अन्तरिक्ष 'अधिष्ठिति' नामक विधिधर्म की भी गणना है।

सर्वास्तिवाद न्यायप्रसंगी दशम है क्योंकि हमारी इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त रूपधर्म का जो स्वरूप प्रकट होता है उसे वह स्वरूप तथा अर्थ मानता है। वह परमाणुओं की सत्ता मानता है। विषय ही परमाणुओं के पुनरुत्पन्न इन्द्रिय नहीं है, प्रत्यक्ष इन्द्रियों भी परमाणुजन्य हैं। जिसे हम साधारणतया 'नेत्र' के नाम से पुकारते हैं, वह वस्तुतः अन्तरिक्षविषय नहीं है। बहुत वस्तुतः अन्तरिक्ष पदार्थ है जिसकी सत्ता इस भौतिक नेत्र में विद्यमान है। नेत्र अनेक परमाणुओं का पुनः है। इसमें चारों महामूर्तों (पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु) के तथा चार इन्द्रियग्रहण विधियों के (सम्पर्क की साधारणतया अपेक्षा की जाती है) परमाणु सत्ता विद्यमान ही है। साव ही साव उसमें अन्तरिक्ष के तथा अन्तरिक्ष के भी परमाणुओं का अस्तित्व है। इस प्रकार नेत्र परमाणुओं का समष्टि है। ननुबन्धु में अन्तरिक्ष की स्थिति का विशदीकरण एक सुन्दर दृष्टान्त के सहारे किया है। जिस प्रकार आटे का धूर्त पानी की सहाय से ऊपर ठहरता रहता है उसी प्रकार अन्तरिक्ष के सूक्ष्म परमाणु नेत्र की कलापिका (पुच्छी) के ऊपर प्रकट रहते हैं। ननुबन्धु ने भी इसी प्रकार अपना मत अभिव्यक्त किया है। अन्तरिक्ष के विषय में ननुबन्धु का कथन है कि जैसे किसी वृक्ष की छाया छाया ही बनता है वैसे ही वह अपने रूप धारण करता है, इसी प्रकार वह परमाणु जिससे अन्तरिक्ष नहीं है मिरलत धारण करता है। प्राण-इन्द्रिय के परमाणु ननुबन्धु के भीतर रहते हैं। रस इन्द्रिय के परमाणु शिर के ऊपर रहते हैं और आन्तर में अर्धचन्द्र के रज के होते हैं। शब्द (स्पर्श) इन्द्रिय के परमाणु समस्त शरीर पर फैले हुए रहते हैं। शरीर में कितने परमाणु होते हैं कितनी ही ननु-इन्द्रिय के परमाणुओं की संख्या रहती है। शरीर के अनेक परमाणु के साथ-साथ स्वयं इन्द्रिय का कम से कम एक

परमाणु अवश्य विद्यमान रहता है। वसुबन्धु का कहना है कि इन काय-परमाणुओं का आकार द्वियों और पुरुषों के लिए एक ही समान नहीं रहता। इन्द्रिय के परमाणुओं की इतनी सूक्ष्म विवेचना बौद्ध आचार्यों की अपनी विशेषता है।

बौद्ध पण्डितों ने चक्षु तथा श्रोत्र को अन्य इन्द्रियों से ग्रहण शक्ति की दृष्टि से पृथक् स्थान दिया है। ये दोनों इन्द्रियाँ अपने विषयों को दूर से ही ग्रहण कर सकती हैं^१। इन दोनों में तेज इन्द्रिय चक्षु है जो दूर से इन्द्रियों के ही वर्ण को देख लेती है और तुरन्त चक्षु विज्ञान को उत्पन्न कर दो प्रकार देती है। चक्षु से कुछ न्यून श्रवण इन्द्रिय का स्थान है। घ्राण,

जिह्वा और काय इन्द्रियों पास से ही विषयों को ग्रहण करती हैं। इन इन्द्रियों की एक विशेषता^२ है कि ये अपने विषयों को उसी मात्रा में ग्रहण करती हैं जिनके परमाणु उनके परमाणु के बराबर हों। अगर विषय के परमाणु अधिक हों, तो पहले क्षण में ये इन्द्रियाँ उस विषय के उतने ही भाग को ग्रहण करेंगी और दूसरे क्षण में शेष भाग को ग्रहण करेंगी। परन्तु इन दोनों क्षणों में इतना कम अन्तर होता है कि साधारण प्रतीति यही होती है कि एक ही क्षण में पूरे वस्तु का ग्रहण किया गया है। चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों के लिए विषय की परिमित मात्रा का होना आवश्यक नहीं है। ये एक ही क्षण में विशाल तथा लघु दोनों प्रकार के वस्तुओं को ग्रहण कर लेती हैं। आँख बड़े से बड़े-पर्वत को तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म बाल के अप्रभाग को एक ही क्षण में देख सकती है तथा कान सूक्ष्म शब्द (जैसे मच्छरों की मनमनाहट) तथा स्थूल शब्द (जैसे मेघ के गर्जन) को एक ही क्षण में सुन सकता है। सर्वास्तिवादियों का यह विवेचन हमारे लिए बड़े महत्व का है^३।

६—रूप विषय

इन्द्रियों के विषयों का विशेष विवरण अभिधर्मकोष के प्रथम परिच्छेद में किया गया है। चक्षु का विषय 'रूप' है जो प्रधानतया दो प्रकार का होता है—

१ आसार्थान्यक्षिप्त श्रोत्राणि प्रयमन्यथा ।

२ धिणादिभिस्त्रिभिस्तुल्यविषयग्रहण मतम् । (अभि० को० १।४३)

३ यह विवेचन अभिधर्म-कोषभाष्य के आधार पर है। द्रष्टव्य (Macgovern-Manual of Buddhist Philosophy पृ० ११९-१२२)

वर्ग (रस) तथा संस्वान (आहारी)। संस्वान आठ प्रकार का होता है—
 दीर्घ इत्थ वर्तुल (पोसा), परिमण्डल (सुदृढमोक्ष) उच्चर, अक्षर तथा
 (सम आकार) विराट (विषम आकार)। वर्ग बारह प्रकार का होता है
 जिसमें पीठ पीठ छोड़ित अक्षर (शुभ) और प्रथम वर्ग है तथा मेघ
 (मेघ का रंग), मूष रज महिका (मूष की आकृति से मिलनेवाले मीठार का
 रंग), जम्पा आसप (सूर्य की कमर) आसोक (कमर का रंग प्रकाश),
 अन्वच्छर—अप्रमाण रंग है।

(७) आम्ब आठ प्रकार का होता है—(१) उपात महाम्बोक्त = इन
 शक्ति रक्तेवाले प्राणियों के द्वारा उत्पन्न। (२) अनुपातमहाम्बोक्त = इन
 शक्ति से हीन अपेक्षित पदार्थों के द्वारा उत्पन्न। (३) उत्पन्न = प्राणिक
 वर्तुल शब्द, (४) असत्पद = अनुसन्धति के अन्तर्गत अन्व आत्मक शब्द।
 प्रत्येक अम्ब और अम्बोक्त मेघ से आठ प्रकार का है।

(८) रस्य के बार प्रकार हैं—(१) सुग्ध (२) दुग्ध (३) उत्पन्न, (४)
 अनुत्पन्न। समान्य और विषमरस्य—ये दो प्रकार अन्व उपपन्न होते हैं जिसमें
 समान्य शरीर का पोषक होता है और विषमरस्य शरीर का पोषक नहीं होता।

(९) रस के १ प्रकार हैं—(१) मजुर (२) अमजुर (३) सवन (४) बहुर
 (५) कथ्य, (६) तिष्ठ।

(१०) स्पर्शरस्य = स्पर्श। अय इन्द्रिय से स्पर्श की प्रतीति होती है।
 यह ११ प्रकार का है—पृथ्वी, अप् तेज वायु-इन चार महाभूतों के स्पर्श तथा
 ७ भौतिक स्पर्श—इक्षणा (चिह्न), कर्षण (छर्चरा) लज्ज (इक्षणा)
 शुभ (भारी) शक्ति, शुभ्रा (भूत) तथा पिपासा (प्यास)। यह
 की बात है कि शक्ति, भूत प्यास की वपना स्पर्श के अन्तर्गत है। परन्तु
 समझना चाहिए कि ये नाम प्राणिमा के रस अम्बों के हैं जो तीन प्रकार के रस
 के परिणाम से उत्पन्न होते हैं।

(११) आधिपति—वर्ग का यह एक विशिष्ट प्रकार है। वर्ग दो प्रकार
 का होता है—(१) अतना तथा (२) येतनाअन्व। येतना का अर्थ माता का अर्थ है।

तथा 'चेतना जन्य' से अभिप्राय कायिक तथा वाचिक कर्म से है। चेतनाजन्य कर्म के दो प्रकार और हैं—विज्ञप्ति तथा अविज्ञप्ति^१।

'विज्ञप्ति' का अर्थ है—प्रकट कर्म तथा अविज्ञप्ति का अर्थ अप्रकट, अनभिप्रेत कर्म। कर्म का फल अवश्य होता है, कुछ कर्मों का फल अभिव्यक्त, प्रकट रहता है, परन्तु कुछ कर्मों का फल सद्यः अभिव्यक्त नहीं होता प्रत्युत वह कालान्तर में फल देता है। इन्हीं दूसरे प्रकार के कर्मों की सज्ञा 'अविज्ञप्ति' है। यह वस्तुतः कर्म न होकर कर्म का फल है, भौतिक न होकर नैतिक है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति किसी व्रत का अनुष्ठान करता है तो यह 'विज्ञप्ति कर्म' हुआ परन्तु इसके अनुष्ठान से उसका विज्ञान गूढ़रूप से शोभन बन जाता है। यह हुआ अविज्ञप्ति कर्म। इस प्रकार 'अविज्ञप्ति' वैशेषिकों के 'अदृष्ट' तथा मीमांसकों के 'अपूर्व' का बौद्ध प्रतिनिधि है। वैशेषिकों के मत में कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं जिनके कारण को हम भली भाँति नहीं जानते। इसके लिए 'अदृष्ट' कारण रहता है।

मीमांसक लोग 'अपूर्व' नामक नवीन पदार्थ की उत्पत्ति मानते हैं। सद्यः सम्पादित अनेक यज्ञ याग आज ही फल उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत वह 'अपूर्व' उत्पन्न करता है जो कालान्तर में उस कर्म के फल के प्रति कारण बनता है।

पूना 'अपूर्व' से सर्वथा साम्य रखती है। अविज्ञप्ति को रूप का अनुसा—१० कृत है। जिस प्रकार छाया पदार्थ के पीछे पीछे सदा चलती है। अविज्ञप्ति भी भौतिक कर्म का अनुसरण सर्वदा करती है। अतः वह अविज्ञप्ति तथ्य की सूचन सुबन्धु ने 'अविज्ञप्ति' के स्वरूप बतलाते उपदी है—

अचिन्तकस्यापि, योऽनुबन्ध शुभाशुभ ।

४६ गान्युपादाय सा ह्यविज्ञप्तिरुच्यते^२ ॥

इन घर्मों पर विचार के मत में रूपधर्म ११ ही माने जाते हैं, परन्तु स्थविर-घर्मों के अनुष्ठान से उनका सख्या २८ है, जिनमें ४ महाभूतों, ५ इन्द्रियों तथा ५ अणुमयविध कर्मों के भोजन, आकाश, चेष्टा, कथन, जन्म, स्थिति, हास मृत्यु

क—चित्तमहा-भिर्धर्मकोप का चतुर्थ कोशस्थान)।

में विद्यमान १।११। अविज्ञप्ति के भेद के लिए द्रष्टव्य—

ना—अनु

(अभि० कोष ४।१३-२५)

आदि की सम्मति है। इस वर्णिकरण में निम्नवत्प्रकार नहीं है। इसीलिए उपरि-
वादिओं ने कुछ वर्णों को विततिप्रमुख वर्णों के सम्मर्जित रखकर अन्य वर्णों की
गणना में अपेक्षा की है।

२—चित्त

मिथ्या किसी प्रकार में बीजों के अन्तर्भाव की पर्याप्त समीक्षा की जाए
है। बीज प्रत्यक्ष रूप तत्त्व के वर्णन करने में समीचीन नहीं मान्य होते कि इस
अवस्था में आत्मा बाधक स्वामी मित्य पर्याप्त नहीं है, वस्तुओं का प्रत्यक्ष कोई
स्वतन्त्र पर्याप्त नहीं है, वह केवल हैतु और प्रत्यक्ष के परस्पर मिश्रण से उत्पन्न
होता है। साधारण रूप से चित्ते इस 'बीज' कहते हैं, बीज होय उच्छेद के लिए
चित्त शब्द का प्रयोग करते हैं। चित्त की सत्ता समीचीन है जब तक इन्द्रिय
तथा प्रत्यक्ष विषयों के परस्पर वास्तविकता का अस्तित्व है। ज्योंही इन्द्रियों तथा
विषयों के परस्पर वास्तविकता का अस्तित्व है त्योंही 'चित्त' की भी
समाप्ति हो जाती है। वह प्रत्यक्ष केवल स्वचिरवादिओं तथा स्वचिरवादिओं की
ही मान्य नहीं है अपितु योगाचार मत में भी चित्त मित्य, स्वाधी, स्वतन्त्र
पर्याप्त विद्येय नहीं है। इस मत में चित्त हो निःसंशय एकमात्र परम तत्त्व
है परन्तु इससे पर भी उच्चरी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। प्रत्यक्ष चित्त प्रमाण
सर्वदा परिचित होता है और कार्य-कारण के नियम तत्त्व (४) का
कारण करता रहता है।

बीज वर्णन में चित्त मय तथा विज्ञान समामाश्रित माने जाते हैं। चित्त के
प्रत्यक्ष के लिए कारण भी है। मय की स्वरूपी बीज प्रमाणों के स्वार्थ
में बनना आती है। मा' का अर्थ है मापना, जोचना, कि सत्ता (इन्द्रिय)
में निश्चय करना। अतः जब हमें चित्त के निश्चयार्थक प्रमाण है। वह
पर प्रमाणता देती रहती है तब हम 'मय' का प्रयोग करते हैं। परमाण्विक
दर्शनों की अपेक्षा पुष्टता शब्द है क्योंकि प्रमाण पावो 'तु' गीत अर्थ के प्रमाण
की अपेक्षा 'विज्ञान' का बहुजन्य प्रमाण मिलता है। चित्त
जब प्रकट होता है तब उगती लंका 'विज्ञान' है (चिन्ते ६। यमो हो प्रमाण
विज्ञानम्)। चित्त का अर्थ है—(चिन्ते) वस्तु का व्यापार्य या
का निश्चयार्थक तत्त्व। चित्त वस्तुतः एक ही मय है पर
मिथ्या के कारण वह निश्चयार्थक प्रमाण का होता है— मयि च ॥ १॥

(१) मनस्—षष्ठ इन्द्रिय के रूप में विज्ञान का अस्तित्व । मन के द्वारा हम बाह्य इन्द्रियों से अगोचर पदार्थों को या अमूर्त पदार्थों को ग्रहण करते हैं । मनोविज्ञान के उदय होने से पूर्व क्षण का यह प्रतीक है ।

(२) चक्षुर्विज्ञान—वही आलोचन ज्ञान जब वह चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा सम्बद्ध होता है ।

(३) श्रोत्रविज्ञान

वही आलोचन ज्ञान जब श्रोत्रादि

(४) घ्राण विज्ञान

इन्द्रियों से सम्बद्ध होता है, तब उसकी

(५) जिह्वा-विज्ञान

ये विभिन्न सज्ञायें होती हैं ।

(६) काय विज्ञान

(७) मनोविज्ञान—विना इन्द्रियों की सहायता से ही जब अमूर्त, पदार्थों का आलोचन ज्ञान होता है, तब उसकी सज्ञा 'मनोविज्ञान' होती है ।

(३) चैतधर्म

चित्त से घनिष्ठरूप से सम्बन्ध रखने के कारण इन्हें 'चित्तसंप्रयुक्त धर्म' भी कहते हैं । इनकी संख्या ४६ है जो नीचे के ६ प्रकारों में विभक्त किये जाते हैं—

—१० चित्तमहाभूमिक धर्म ।

॥—१० कुशलमहाभूमिक धर्म ।

— ६ क्लेशमहाभूमिक धर्म ।

है— २ अकुशलमहाभूमिकधर्म ।

न्यो—१० उपक्लेशभूमिक धर्म ।

३—८ अनियमितभूमिक धर्म ।

४६

इन धर्मों पर विचार करने से प्रतीत होगा कि कुछ मानसिक व्यापार शोभन के अनुष्ठान से सम्बन्ध रखते हैं, कतिपय अशोभन कर्मों के और कतिपय त्रिविध कर्मों के अनुष्ठान से ।

क—चित्तमहाभूमिकधर्म—साधारण मानसिक धर्म हैं जो विज्ञान के प्रभु में विद्यमान रहते हैं । ये धर्म संख्या में दश हैं—

ना—अनुभूति (सुख, दुःख, न सुख न दुःख)

॥—नाम ।

१ चेतना^१—अव्यक्त (चित्तप्रत्ययः) ।

४ कम्प—अभीष्ट वस्तु की अभिलाषा (अभिप्रेत वस्तुवि अभिलाषा) ।

५ स्पर्श—विषय तथा इन्द्रियों का प्रथम सम्बन्ध ।

१ प्रज्ञा—मति विवेक विवेक द्वारा संशयों वशों का पूरा पूरा दूरकरण होता है (केन संशयों इव यमाः पुण्यान्वयं प्रविशन्ते) ।

७ स्थिति—स्मरण (अतोऽप्रमोक्षः) ।

८ मनसिधर—अवधान ।

९ अभिमोक्ष—वस्तु की धारणा (आत्मव्यक्त्यं गुणतोऽवधारणम्) ।

१० समाधि—चित्त की एकग्रता (देव चित्तं प्रवन्धेन एकग्रस्तम्बने कर्तते) ।

तुलना—स्वविरहादियों तथा विज्ञानवादियों ने प्रथमतः इन वशों में ही प्रथम विचार किया है—सामान्य और विशेष । स्वविरहादियों का वर्गीकरण विशेष पुच्छिष्ठ तथा अमरक नहीं है, बरन्तु विज्ञानवादियों का विवेचन वशों की अपेक्षा समुचित तथा कम है ।

स्वविरहादयस्तु सम्मत—सूची—११ वश ।

७ सामान्य वश— { स्पर्श विज्ञा, संज्ञा चेतन्य एकग्रता
अनसुधर तथा अविवेकित्तव (बीजनी शक्ति) ।

१ विशेष वश— { विवेक, विचार अभिमोक्ष
बीज प्रीति कम्प ।

विज्ञानवादियों का वर्गीकरण—१ वश

५ सामान्य वश—अवधारण स्पर्श केवला संज्ञा, चेतना ।

५ विशेष वश—कम्प, अभिमोक्ष स्थिति समाधि और मति ।

क—कुशाग्रमहाभूमिक सम्प—बस योग्य नैतिक संस्कार जो मले वशों के वस्तुगत के प्रतिक्षण में निश्चालन रहते हैं—

(१) अज्ञा—चित्तकी निमुक्ति (२) अप्रमाण—योग्य वशों में जागरूकता (कुतलना वशोंका प्रतिबन्धविशेषणम्) (३) अवधि—चित्त की लक्ष्य (४) अपेक्षा—चित्त की समग्र प्रतिबुद्ध वस्तु से प्रभावित न होना (चित्तस्य समग्र

१ आधुनिक न्यायविज्ञान में प्रथम तीनो वार्ते Affection, Cognition तथा Volition के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

यथोगात् चिपं प्रनायोगं वर्तते) (५) ही—अपने नयों के हेतु लज्जा (६) अपप्रपा—दूरतों के पापों की ओर लज्जा (७) क्षमाग—त्यागभाव (८) अद्वेष—मैत्री (९) अहिंसा—हिंसा न पहुँचाना (१०) मार्ग—शुभमार्ग में उल्हास ।

१ तुलना—विज्ञानवादियों ने उन दस धर्मों को माना है, परन्तु 'अमोह' नामक नया धर्म इनमें जोड़ दिया है । 'अग्निधर्मरूप' के अनुसार यह 'अमोह' मति के ही सदृश है । अतः इनकी नयी गणना नहीं की गई है । स्थितिरवादियों ने दस धर्मों में २५ धर्मों को स्वीकार किया है ।

ग—लेशमहाभूमिक धर्म—युरे पापों के विज्ञान में सम्बद्ध ६ धर्म—

१ मोह (= अनिष्टा)—अज्ञान, प्रज्ञा (४ ६) से विपरीत धर्म, इस समार का मूल कारण । २ प्रमाद = अनावधानता, अप्रमाद (स २) का विपरीत धर्म । ३ कौसीय = कुशल कार्य में अनुत्साह, आलस्य ४ अथाद्वय = श्रद्धा का अभाव ५ सत्यान = अकर्मण्यता ६ औद्धत्य = सुख तथा क्रोध में मदा लगा रहना (चेतनोऽनुपशम)

ये छहो धर्म नितान्त अशोभन परिणाम पैदा करते हैं, परन्तु कभी कभी अन्तिम निर्वाण उत्पन्न करने के लिए ये अव्याकृत (फल में उदामीन) भी रहते हैं । सत्कायदृष्टि उत्पन्न करते हैं अर्थात् आत्मा की मत्ता में विश्वास उत्पन्न करते हैं । अतः मित्तष्ट हैं ।

घ—अकुशलमहाभूमिक धर्म—२

ये दोनों धर्म सदैव बुरा फल उत्पन्न करते हैं । अतः ये अकुशल हैं—

१ आहोक्थ—अपने ही कुर्मों पर लज्जा का अभाव (हियोऽभाव)

२ अनपत्रता—निन्दनीय क्रमों से भय न करना (अवय्ये सद्भिर्गहिंते भया-दर्शित्वम्) ।

ङ--उपक्लेशभूमिक धर्म—दस परिमित रहनेवाले वलेश—उत्पादक । ये हैं—

१ क्रोध—गुस्सा करना । २ मक्ष—छल या दम्भ । ३ मात्सर्य—डाह ।

४ ईर्ष्या—घृणा । ५ प्रदास—युरे वस्तुओं को ग्राह्य मानना (सावधवस्तुपरामर्श) ।

६ विहिंसा—कष्ट पहुँचाना । ७ उपनाह—मैत्री को तोड़ना, शत्रुता, बद्धवैरभाव ।

८ माया—छल । ९ शाठ्य—शठता । १० मद—आत्मसम्मान से प्रसन्नता ।

ये वसों धर्म विस्तृत मातृ है ; ये मोह या अविद्या के द्वारा सदा सम्भव रहते हैं । अतः ये इन के द्वारा दानों का स्रष्टा (इच्छित) हैं, समाधि के द्वारा नहीं (भावनाहीन नहीं हैं) । अतः इनका प्रभाव व्यापक नहीं माना जाय- परीतमूमिक अर्थात् सुख भूमि वाले माने जाते हैं ।

४—अनियतमूमिकधर्म—ये धर्म पूर्ण धर्मों से भिन्न हैं । इनकी प्रतीति भी भूमि मिश्रित नहीं है—

१ औष्ठ्य—जोड़, पचासाप । २ मित्र (मित्र) = विस्मृति—परक विरा । ३ मित्र—अन्यथा—परक विरा की दशा । ४ मित्र—विश्व । ५ रम्य—प्रेम । ६ द्वेष—वृथा । ७ माल—अपने सुखों के निषेध में शोभन होने की भावना अस्मिता धर्मस्थ । ८ विविधिरसा—अन्यथा सम्यक् ।

इन धर्मों में अस्मिता धर्म धर्म—रम्य द्वेष माल और विविधिरसा—बार बसेरा माने गये हैं । पाँचवा बसेरा मोह है जिसकी धर्मना बसेराधर्ममूमिक धर्मों में प्रथम की गई है ।

४—विचित्रियुक्त धर्म—(१७)

इन धर्मों का न तो औष्ठिक धर्मों में समावेश होता है न चैतन्यधर्मों में । अतः इन्हें 'रम्य-विचित्रियुक्त' करते हैं । इसीलिए इन धर्मों का प्रथम धर्म माना जाता है ।

१ प्रति—धर्मों को सम्यक् रूप में नियमित रखने वाली शक्ति ।

२ अतिप्रति—प्रति का विरोधी धर्म ।

३ विचित्र-सम्यक्ता = प्राप्ति में समानता उत्पन्न करनेवाला धर्म । यह चैतन्यधर्मों के सामान्य का प्रतिनिधि है ।

४ अतिप्रति—यह शक्ति को प्रयोग धर्मों के अतिप्रति अतः चैतन्यधर्मों के सामान्य में परिणत कर देती है ।

५ अतिप्रति समापति—मानस प्रकृत अतः इनके द्वारा समाधि की दशा उत्पन्न की जाय ।

६ मित्र समापति—यह शक्ति को चैतन्य को बन्ध कर विरोध उत्पन्न करती है ।

७ अतिप्रति—जिस प्रकार मानस धर्मों के सम्यक् अतः शक्ति का प्रयोग करते हैं वह इसके विरुद्ध माने के समय की सुक्ति करती है, अतः अतिप्रति धर्म के समय

की शक्ति जो मृत्यु की सूचना देती है—जीवित रहने की शक्ति ।

८ जाति—जन्म । ९ स्थिति—जीवित रहना । १० जरा—बुढ़ापा, हास ।

११ आनत्यता—नाश । १२ नाम काय = पद । १३ पद-काय = वाक्य ।

१४ व्यञ्जन-काय = वर्ण ।

विप्रयुक्त धर्म के विषय में बौद्ध दार्शनिकों को महती विप्रतिपत्ति है । स्थविर-वादियों ने इसकी उपेक्षा की है । इस वर्ग को वे अग्रीकर नहीं करते । सर्वास्ति-वादियों ने ही इन्हें महत्त्व प्रदान किया है तथा इनकी स्वतन्त्र स्थिति मानने में वे ही अप्रगण्य हैं । सौत्रान्तिकों ने इस वर्ग का खण्डन बड़े ऊहापोह के साथ किया है । सर्वास्तिवादियों ने अपने पक्ष की पुष्टि विशेष सतर्कता से की है । योगाचारमत इस विषय में सौत्रान्तिकों के ही अनुरूप है । वे इन्हें नवीन स्वतन्त्र धर्म मानने के लिए उद्यत नहीं हैं प्रत्युत इन्हें मानस व्यापार के ही अन्तर्गत मानते हैं । तौ भी इन लोगों ने इनकी अलग गणना की है । उपर के १४ धर्म इन्हें सम्मत हैं ही, साथ ही साथ १० धर्मों की नवीन कल्पना कर वे विप्रयुक्तधर्म की सख्या २४ मानते हैं ।

योगाचारमत-सम्मत गणना

योगाचारमत में पूर्वोक्त १४ धर्म मान्य हैं । नवीन १० धर्म निम्नलिखित हैं—

१ प्रवृत्ति—ससार । २ एवभागीय—व्यक्तित्व । ३ प्रत्यनुबन्ध—परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध । ४ जवन्य—परिवर्तन । ५ अनुक्रम—क्रमशः स्थिति । ६ देश-स्थान । ७ काल—समय । ८ सख्या—गणना । ९ सामग्री—परस्पर सम-वाय । १० भेद—पृथक् स्थिति ।

४—असंस्कृत धर्म

इस शब्द की व्याख्या करते समय हमने दिखलाया है कि ये धर्म हेतु-प्रत्यय उत्पन्न न होने के कारण स्थायी तथा नित्य होते हैं । मलों (आस्रव) के प्रसर्पक से नितान्त विरहित होने के कारण ये अनास्रव (विशुद्ध) तथा सत्य मार्ग के द्योतक माने जाते हैं ।

स्थविरवादियों की कल्पना में असंस्कृत धर्म एक ही है और वह है निर्वाण^१ ।

१ अभिधम्मपिटक—छठा परिच्छेद, अन्तिम भाग (प्रो० कौशाम्बी का सटीक संस्करण पृ० १२४-१२५)

निर्माण का अर्थ है सुम्मा, आग का दीपक का जलते जलते सुम्न आना । एष्य के कारण सामरूप (विज्ञान तथा भौतिक तत्त्व) जीवन-प्रवाह का रूप धारण कर सर्वांग प्रवाहित होते रहते हैं । इस प्रवाह का अन्तस्त निष्पन्न ही निर्माण है । त्रिन अविद्या राक्षस्य आदि के कारण इस जीवन-सन्तान की सत्ता कभी पूर्ण है जब कसोटों के निरोध का समुच्छेद होने पर निर्माण का उत्पन्न होता है । यह इसी जीवन में उपशम्य हो सकता है या शरीरपात होने पर उत्पन्न होता है । इसीलिए यह दो प्रकार का होता है—‘सोपधियोप’ और ‘मिदपधियोप’ । जब सोप सोपधियोप को सामान्य संस्कृत, कुराव बतलाते हैं और ‘मिदपधियोप’ को अन्तस्त अर्चस्कृत तथा अन्तस्त बतलाते हैं, परन्तु वस्तुतः दोनों ही अमात्य (विद्युद) अर्चस्कृत तथा अन्तस्त हैं^१ । आद्यों (मत्तों) के जीवन होने पर भी जो अर्हत् जीवित रहते हैं उन्हें पञ्चसम्य प्रयुक्त अनेक विज्ञान रोष रहते हैं । अतः उनके निर्माण का नाम है—सोपधियोप^२ । परन्तु शरीर-पात होने पर संयोजन (बन्धन) के क्षय के साथ-साथ समस्त उपधियोप दूर हो जाती हैं । इसे मिदपधियोप^३ निर्माण कहते हैं । इन दोनों निर्माणों में बड़ी अन्तर है या जीवमृत्ति और विदेहमृत्ति में है । निर्माण सबसे उत्तम धर्म है । इसीलिए इसे अमृत (अमृति फल से रहित), अमृत (अमृत रहित), अमृत (सोपी तर) पद बतलाया गया है^४ ।

निर्माण को धर्म मानने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह जीवन का निरोध नहीं माना आना का प्रयुक्त यह भावतत्त्व बतलाना की ।

सर्वास्तिवद्विद्वों ने अर्चस्कृत धर्म का तीन प्रकार का माना है—(१) आचम्य (२) प्रतिसंख्यानिरोध (३) अचरितिकानिरोध ।

(१) आचम्य—आचम्य का अर्थ अमृतमृत्यु में अमाहति शब्द के द्वारा दिया है— तत्राचम्य आमाहति (कोष ११५) आमाहति का अर्थ है कि आचम्य व ल वृत्तों का आचम्य करता है व अमृत धर्मों के द्वारा आहृत होता है । किसी

१ विभाष के मत के लिए इहम्—(इतिवचन हिस्कारिकन कर्तारान् भाग १ (१११०) पृ. १९ ४५)

२ अमृतमृत्युवर्णन, अर्चस्कृतमृत्युवर्णन ।

विष्णुवर्णन भाष्यनिर्णय वानमुद्रा महेश्वरी ॥ (अमिपमृत्युवर्णन १११)

भी रूप को अपने में प्रवेश करने के समय यह रोकता नहीं। आकाश धर्म है तथा नित्य अपरिवर्तनशील असंस्कृत धर्म है। इससे इसे भावात्मक पदार्थ मानना उचित है। यह शून्य स्थान नहीं है, न भूत या भौतिक पदार्थों का निषेध रूप है। स्थविरवादियों ने आकाश को महाभूतों से उत्पन्न धर्मों में माना है, परन्तु सर्वास्तिवादियों ने इसे बहुत ही ऊँचा स्थान दिया है। वे आकाश को दो प्रकार का मानते हैं—एक तो दिक् का तात्पर्यवाची है और दूसरा ईथर-सर्वव्यापी सूक्ष्म वायु-का पर्यायवाची। दोनों में महान् अन्तर है। एक दृश्य, सास्त्र तथा संस्कृत है, तो दूसरा इससे विपरीत। शंकराचार्य के खण्डन से^१ प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में वैभाषिक लोग आकाश को अवस्तु अथवा आवरणभाव मात्र मानते थे। इसीलिए वे आकाश का भावत्व प्रतिपादन करने के लिए प्रवृत्त हुए थे। परन्तु अभिधर्मकोष से अवलोकन के वह भाव पदार्थ ही प्रतीत होता है। यशोमित्र के कथन^२ से सिद्ध होता है कि आवरणाभाव वैभाषिक मत में आकाश का लिंग है, स्वरूप नहीं। वैभाषिक लोग भावरूप मानते हैं। इसीलिए कमलशील ने 'तत्त्व-प्रहपजिका' में उन्हें बौद्ध मानने में सकोच दिखलाया है।

(२) प्रतिसंख्यानिरोध—'प्रतिसंख्या' का अर्थ है प्रज्ञा या ज्ञान। प्रज्ञा के द्वारा उत्पन्न सास्त्र धर्मों का पृथक्-पृथक् वियोग^३। यदि प्रज्ञा के उदय होने पर किसी सास्त्रधर्म के विषय में राग या ममता का सर्वथा परित्याग किया जाय, तो उस धर्म के लिए 'प्रतिसंख्यानिरोध' का उदय होता है। जैसे सत्कायदृष्टि समस्त क्लेशों की जननी है, अतएव ज्ञान के द्वारा इस भावना का सर्वथा निरोध कर देना इस असंस्कृत धर्म का स्वरूप है। वसुवन्धु ने इस विषय पर विचार किया है कि एक संयोजन के निरोध करने से समग्र बन्धनों का निरोध हो जाता है या नहीं? उत्तर है—नहीं। संयोजनों का निरोध एक एक करके करना ही

१ शाकरभाष्य २।२।

२ तदनावरणस्वभावमाकाशम् । तद् अप्रत्यक्विषयत्वादस्य धर्मानावृत्त्या अनुमीयते, न तु आवरणाभावमात्रम् । अतएव च व्याख्यायते यत्र रूपस्य गतिरिति । (अभिधर्मकोष व्याख्या १।५।५)

(प्रो० वोजिहारा का संस्करण, टोकियो, १९३२)

३ प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक्-पृथक् । (अभि० को० १।६)

पड़ेगा। अन्ततः समग्र वर्गवर्गों का मात्रा अवधार्यमाणी है। इसी निरोध के अन्तर्गत निर्वाण' का समावेष्ट किया जाता है।

(३) अप्रतिषंख्याननिरोध—जिना प्रज्ञा का ही निरोध। वही पूर्वनिर्दिष्ट निरोध जिना प्रज्ञा के ही स्वात्मविक संज्ञि से जब उत्पन्न होता है। जब इसे 'अप्रतिषंख्याननिरोध' की संज्ञा प्राप्त होती है। किन्तु हेतुप्रसवों के कारण यह धर्म उत्पन्न होता है उन्हें ही बुर कर देने से यह धर्म स्वभावतः निवृत्त हो जाता है। जैसे इन्धन के अभाव में आग का नुकुल्य। इस निरोध की निरोधता यह है कि यह निवृत्त धर्म अभिन्न में पुनः उत्पन्न नहीं होता। 'प्रतिषंख्याननिरोध' में 'अमरप्रसव इत्यत्र' उत्पन्न होता है। अर्थात् समस्त मर्तों के शीघ्र होने का ही शब्द उत्पन्न होता है। अभिन्न में उसकी उत्पत्ति की संभावना अभी ही रहती है। परन्तु इस 'अप्रतिषंख्याननिरोध' का फल 'अमृतप्राप्ति' इत्यत्र है। अभिन्न में शम्पादि वस्तुओं की कर्मवर्ष उत्पत्ति नहीं होती जिससे प्रज्ञा की मन्त्रक से चरा के लिए सुखिनाम बर सेना है।

ये तीनों धर्म स्वतन्त्र हैं तथा भिन्न हैं। अतः एक से अधिक हेतुप्रसव विरहित निरव पदार्थों की उत्पत्ति मानने से वैमर्शिकों को इस नानाधर्माधी बह सक्ते हैं।

कोपाकारमत्त में असंस्तुतधर्मों की संख्या टीका इत से पुण्नी है। तीन धर्म तो वे ही पूर्वनिर्दिष्ट हैं। अतीत धर्मों में वे हैं—(४) अवन (५) संज्ञा-वैद्वान्-मिराव तथा (६) ठवता। इन विषय का छात्रात् सम्बन्ध विज्ञानवर्षिकों की परमार्थ की कल्पना से है। अतः प्रसंगानुसार इतका निरोध विवरण आगे प्रस्तुत किया जायगा।

शाला

शाला बौद्ध शागनिष्ठ के लिए निगमता विचार का विषय रहा है। जिस २ बौद्ध सम्प्रदायों को इस विषय में विभिन्न धारणा रही है। शोकात्मिकों की दृष्टि में वात्मान का ही वास्तविक सम्पत्ति है। भूतचान को और मरिच्यमान को मत्त निगमता तथा वास्तविक है। विमर्शप्रकाशियों का कल्पन है कि वात्मान धर्म तथा अतः विषय में जिस धर्मों के फल अभी तक उत्पन्न नहीं हुए हैं वे ही शोका वशात् सम्पन्न गर हैं। वे मरिच्यमान का अन्तिम नहीं मानने तथा उन अन्तिम विषय का भी अन्तिम नहीं मानने विग्रह्य कल्पना वन

उत्पन्न कर दिया है। काल के विषय में इस प्रकार 'विभाग' मानने के कारण सम्भवतः यह सम्प्रदाय 'विभज्यवादी' नाम से अभिहित किया जाता है। सर्वास्तिवादियों का काल-विषयक सिद्धान्त अपने नाम के अनुरूप ही है। उनके मत में समग्र धर्म त्रिकाल स्थायी होते हैं। वर्तमान (प्रत्युत्पन्न), भूत (अतीत) तथा भविष्य (अनागत)—इन तीनों कालों की वास्तव सत्ता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के निमित्त वसुवन्धु ने चार युक्तियों प्रदर्शित की हैं^१।

(क) तदुक्ते—भगवान् बुद्ध ने संयुक्तागम (३।१४) में तीनों कालों की सत्ता का उपदेश दिया है। 'रूपमनित्य अतीतम् अनागतं पुनर्वादं प्रत्युत्पन्नस्य'। रूप अनित्य होता है, अतीत और अनागत होता है, वर्तमान के लिए कहना ही क्या है ?

(ख) द्वयात्—विज्ञान दो हेतुओं से उत्पन्न होता है—इन्द्रिय तथा विषय से। चतुर्विज्ञान चक्षुरिन्द्रिय तथा रूप से उत्पन्न होता है, श्रोत्रविज्ञान श्रोत्र तथा शब्द से, मनोविज्ञान मन तथा धर्म से। यदि अतीत और अनागत धर्म न हों तो मनोविज्ञान दो वस्तुओं से कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

(ग) सद्धिषयात्—विज्ञान के लिए विषय की सत्ता होने से। विज्ञान किसी आलम्बन—विषय—को लेकर ही प्रवृत्त होता है यदि अतीत तथा भविष्य वस्तुओं का अभाव हो, तो विज्ञान निरालम्बन (निर्विषय) हो जायेगा।

(घ) फलात्—फल उत्पन्न होने से। फलकी उत्पत्ति के समय विपाक का कारण अतीत हो जाता है, अतीतकर्मों का फल वर्तमान में उपलब्ध होता है। यदि अतीत का अस्तित्व नहीं है, तो फल का उत्पाद ही सिद्ध नहीं हो सकता। अतः सर्वास्तिवादियों की दृष्टि में अतीत अनागत की सत्ता उतनी ही वास्तविक है, जितनी वर्तमान की।

इस युक्ति को सौत्रान्तिक मानने के लिए तैयार रहें हैं। सौत्रान्तिकों की दृष्टि में वैभाषिकों का पूर्वोक्त सिद्धान्त ब्राह्मणों की नित्यस्थिति के सिद्धान्त के

^१ अध्वकास्ते तदुक्ते द्वयात् सद्धिषयात् फलात् तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मतः ।

अवस्थ ही सिद्ध होता है। वस्तु तो वही बनी रहती है वरन् सौत्रान्तिकों समय के साथ उसमें अन्तर उत्पन्न हो जाता है। यह तो तर्कियों का विरोध का साधकभाह है। सौत्रान्तिक मत में जब क्रियाकारिण उस उसके अभिवर्तन का बाह—इन तीनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। वे लोग वैमायिकों की इस दुष्टि का विरोध करते हैं कि अतीत कार्य वर्तमानकासिक काल के उत्पादन में समर्थ होते हैं। दोनों का समामेक प्रपञ्च फल उत्पन्न करते हैं। ऐसी दशा में अतीत और वर्तमान का भेद ही किमूलक होगा? वस्तु तथा क्रियाकारिण में यदि अन्तर मात्रा मात्रा ही, क्या कल्प है कि वह क्रियाकारिण को किसी काल में उत्पन्न की जाती है दूसरे मत में कल्प हो जाती है। अतीत के कृत्यों से वर्तमानकासिक काल उत्पन्न नहीं होते, प्रकृत उन कृत्यों के जो संस्कार अवशिष्ट रहते हैं वन्हीं से नवीन कृत्यों का उद्भव होता है। अतः वह अत-सिद्धांत सौत्रान्तिकों को मान्य नहीं है।

वैमायिकों के चार मत

वैमायिक मत के चार प्रवाल भाषाओं के वास्तविक विभिन्न मतों का संक्षेप बभ्रुवन्त ने अभिवर्तनोप में किया है (५१६)।—

(१) अक्षुप्त कर्मजात—आत्मान्तरात्मक।

कर्मजात के मत में अतीत प्रकृत्यन्त तथा अनागत में मात्र (सत्त्व) की विपत्ति रहती है। जब अनागत वस्तु अपने अनागत मात्र को छोड़कर वर्तमान में आती है तो वह वर्तमान मात्र को स्वीकृत कर लेती है। उस क्षण में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, वह तो जो का त्यों बना रहता है। उदात्त, जब वह वही बन जाता है तब उसके मात्र में परिवर्तन हो जाता है। उदात्त मात्र मित्र हो जाते हैं, परन्तु गुणपदार्थ में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

(२) अक्षुप्त बोध—सत्त्वान्तरात्मक।

अक्षुप्त बोध का कथन है कि अतीत वस्तु अतीत लक्षण से कुछ होती है, परन्तु वह वर्तमान तथा अतिव्यक्त लक्षण का परिवर्तन कभी नहीं करती। तभी प्रकार वर्तमान पदार्थ वर्तमान लक्षण से कुछ होने पर भी अतीत तथा अनागत लक्षण से विरहित नहीं होता। जिस प्रकार एक ध्वनि में अन्तर का कभी दूसरी

सुन्दरियों के अनुराग से रहित नहीं होता। यद्यपि वह एक ही कामिनी से प्रेम रखता है, तथापि अन्य स्त्रियों से प्रेम करने की योग्यता को वह छोड़ नहीं वैदता।

(३) भदन्त वसुमित्र—अवस्थाऽन्यथात्ववाद ।

तीनों कालों में भेद अवस्था के परिवर्तन से ही होता है। यहाँ 'अवस्था' से अभिप्राय कर्म से है। यदि कोई वस्तु कर्म उत्पन्न कर चुकी, तो वह अतीत हो गई। यदि कर्म कर रही है तो वर्तमान है और यदि कर्म का आरम्भ अभी नहीं है तो वह भविष्य है। अतः धर्मों में अवस्थाकृत ही भेद होता है, द्रव्य से नहीं।

(४) भदन्त बुद्धदेव—अन्यथान्यथात्व ।

भिन्न भिन्न क्षणों के अनुरोध से धर्मों में कालकी कल्पना होती है। वर्तमान तथा भविष्य को अपेक्षा से ही किसी वस्तु की सज्ञा 'अतीत' होती है। अतीत तथा वर्तमान की अपेक्षा से वस्तु अनागत कहलाती है। जैसे एक ही स्त्री पुत्री, भार्या तथा माता की सज्ञा प्राप्त करती है। पिता की दृष्टि से वही पुत्री होती है, पति की अपेक्षा से वह भार्या है और पुत्र की अपेक्षा से वही माता कहलाती है। वह है वस्तुतः एक ही परन्तु अपेक्षाकृत ही उसके नाम में विभेद होता है।

ये आचार्य मौलिक कल्पना रखते थे। अतः इनके मत का उल्लेख वसुबन्धु को करना पड़ा है। इन चारों मतों में तीसरा मत वैभाषिकों को मान्य है—वसुमित्र का 'अवस्थान्यथात्ववाद' ही सुन्दरतम है, क्योंकि यह क्रिया के द्वारा कालकी व्यवस्था करता है। धर्मत्राता का मत साख्यों के मत के अनुरूप है। घोषक की कल्पना में एक ही समय में वस्तु में तीनों काल के लक्षण उपस्थित रहते हैं जो असम्भव सा प्रतीत होता है। बुद्धदेव का भी मत भ्रान्त ही है, क्योंकि इनकी दृष्टि में एक ही समय तीनों काल उपस्थित रहते हैं। अतः सुव्यवस्थित होने से वसुमित्रकी युक्ति वैभाषिकों को सर्वथा मान्य है^१।



सौत्रान्तिक

नीलपीतादिभिश्चित्रैर्वुद्ध्याकारैरिहान्तरैः ।
सौत्रान्तिकमते नित्य बाह्यार्थस्त्वनुमीयते ॥

(सर्व-सिद्धान्त-संग्रह 'पृ० १३)

षोडश परिच्छेद

(क) ऐतिहासिक विवरण

सर्वास्तिवादियों के वैभाषिक सम्प्रदाय के इतिहास तथा सिद्धान्तों का परिचय गत परिच्छेद में दिया गया है । सौत्रान्तिक मत भी सर्वास्तिवादियों की दूसरी प्रसिद्ध शाखा थी जिसके इतिहास तथा सिद्धान्त का प्रतिपादन इस परिच्छेद का विषय है । ऐतिहासिक सामग्री की कमी के कारण इस सम्प्रदाय के उदय और अभ्युदय की कथा अभी तक एक विषम पहेली बनी हुई है । इस सम्प्रदाय के आचार्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ—जिसमें इनका सिद्धान्त भलीभाँति प्रतिपादित हो—अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है । इतर बौद्ध सम्प्रदाय के ग्रन्थों में तथा बौद्धेतर जैन तथा ब्राह्मण दार्शनिकों की पुस्तकों में इस मत का वर्णन पूर्वपक्ष के रूप में निर्दिष्ट मिलता है । इन्हीं निर्देशों को एकत्र कर इस सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है ।

‘सौत्रान्तिक’ नामकरण का कारण यह है कि ये लोग सूत्र (सूत्रान्त) को ही बुद्धमत की समीक्षा के लिए प्रामाणिक मानते थे^१ । वैभाषिक लोग अभिधर्म की ‘विभाषा टीका’ को ही सर्वतोमान्य मानते थे, परन्तु इस मतवादी दार्शनिक लोग ‘अभिधर्म्म पिटक’ को भी बुद्ध-वचन नहीं मानते, विभाषा की तो कथा ही अलग है । तथागत के आध्यात्मिक उपदेश ‘सुत्तपिटक’ के ही कतिपय सूत्रों (सूत्रान्तों) में संनिविष्ट हैं । अभिधर्म बुद्धवचन न होने से भ्रान्त है, परन्तु

१ यशोमित्र का कथन है—‘क सौत्रान्तिकार्थ । ये सूत्रप्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिका’—स्फुटार्था पृ० १२ (रूम का संस्कारण १९१२) । शास्त्र से अभिप्राय ‘अभिधर्म’ से है और सूत्र से तात्पर्य ‘सूत्रपिटक’ से है । इस पर यशोमित्र की आशंका है कि तब त्रिपिटक की व्यवस्था किस प्रकार होगी ? इसका उत्तर यही है कि अर्थविनिश्चय आदि अनेक सूत्र ऐसे हैं जिनमें धर्म का वर्णन है । ये ही अभिधर्म के प्रतीक हैं । इस प्रकार सूत्रपिटक ही सौत्रान्तिकों की दृष्टि में अभिधर्म पिटक का भी काम करता है । नैष दोष सूत्रविशेषा एव अर्थविनिश्चयादयोऽभिधर्मसंज्ञा येषु धर्मलक्षण वर्ण्यते । (स्फुटार्था पृ० १२)

सुत्रान्त बुद्ध की वास्तविक शिक्षाओं के आधार होने से सर्वथा अभ्रान्त तथा प्रामाणिक है। इसी कारण वे 'सुत्रान्तिक' नाम से अभिहित किये गये हैं।

आचार्य १

(१) कुमारल्लाह—इस मत के प्रतिष्ठापक आचार्यों का ही नाम तक परिचय मिलता है। इस मत के प्रतिष्ठापक का नाम कुमारल्लाह है^१। वेवसाय ने इन्हें 'सुत्रान्तिक मत' का संस्थापक बताया है। वे उस विद्या के मित्र ही थे। यहाँ से वे बस्तात कम्यदेश में जाने गये जहाँ के राजा ने इन्हें रहने के लिए अपने आराधक का ही एक समान्य भेष दिया। कुमारल्लाह ने यहाँ रहकर अपने ग्रन्थ की रचना की थी। बीबी परिश्रमक से उस मत को ब्रह्म का यहाँ से रह करती थी। अरबबाय देश और मार्गार्थन के साथ बार प्रकाशमान सुबों में इसकी गणना की गई है। इससे इनके विपुल प्रमाण तथा आलोचक विपुल का वलकिमिद परिचय मिल सकता है। इनके ग्रन्थ में महाराज बनिष्क का जन्मेष्ट अनीत ब्रह्म के व्यक्ति के रूप में किया गया है। अतः इनका समग्र बनिष्क के उक्त पीढ़े पड़ता है। वे सम्भवतः मार्गार्थन (द्वितीय शतक) के समकालीन थे।

इनके ग्रन्थ का एक संश्लेषण का सूत्रों को ग्रन्थान से मिले हुए इस्त-विस्तिन पुस्तकों में उपलब्ध हुआ है जिसे उन्होंने बड़े परिश्रम से सम्पादित कर प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ का पूरा भाग इसकी पुष्पिका प्रकाश में किया गया है—'कल्पनामंडलिका दशमस्त पंक्ति (अर्थात् दशमस्त का सारांश का बनिष्क का नाम से प्रकाशित किया गया है)।

अपमानमणीका के स्थान पर इसका नाम 'कल्पनामंडलिका' भी मिलता है। यानी माया में अनामिक नाम का प्रयोग उपलब्ध होता है जो महामपि अनामिक का जनि माया का है परन्तु उस कम्यदेश का इस ग्रन्थ से प्रकृत बगलानी है कि राजा ग्रन्थ एक ही है। अतः यह कि विद्वानों की सम्मति है कि बीमरेष्ट में इसका नाम गुरु प्रकृत का नाम दिया उद्देश्य अगुह ही दिया गया है। यहाँ

१ इस आचार्य का संबंध नाम 'कुमारल्लाह' का है। इसका पूरा प्रमाण इनके ग्रन्थ की पृष्ठ में मिलता है। इस तक इसका नाम कुमारल्लाह (या कुमार लब्ध) नाम बतलाया जाय या वह नाममात्र अगुह संस्कृत-ग्रन्थ के कारण था।

इसका नाम ही 'सूत्रालकार' है, न इसके प्रणेता अश्वघोष हैं। परन्तु अन्य विद्वान् अभी तक इस मत पर दृढ़ हैं कि अश्वघोष की रचना कोई 'सूत्रालकार' अवश्य है, जिसके अनुकरण पर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। जो कुछ हो, उपलब्ध 'कल्पनामण्डितिका' आचार्य कुमारलात ही की रचना है। इसके अनेक प्रमाण ग्रन्थ की आन्तरिक परीक्षा से मिलते हैं^१।

यह ग्रन्थ जातक तथा अवदान के समान बुद्धधर्म की शिक्षा देनेवाली धार्मिक तथा मनोरञ्जक आख्यायिकाओं का सरस संग्रह है। कथायें अस्सी हैं। भाषा विशुद्ध साहित्यिक संस्कृत है जिसमें गद्य-पद्य का विपुल मिश्रण विषय है। कथायें गद्य में हैं, परन्तु स्थान-स्थान पर आर्या, वसन्तति-लका आदि छन्दों में सरस श्लोकों का घुट है। ग्रन्थ की अनेक कहानियाँ सर्वास्तिवादियों के 'विनयपिटक' से संग्रहीत हैं। ग्रन्थकार का सर्वास्तिवादी आचार्यों के प्रति पूज्य बुद्धि रखना उनके मत के नितान्त अनुरूप है। इस ग्रन्थ में आरम्भ में बुद्धधर्म की कोई मान्य शिक्षा दी गई है जिसे स्फुट करने के लिए गद्यात्मक कथा दी गई है। इन कथाओं में बुद्धभक्ति तथा बुद्धपूजन को विशेष महत्त्व दिया गया है। अतः ग्रन्थकार का महायान के प्रति आदर विशेष रूप से लक्षित होता है। किसी जन्म में व्याघ्र के भय से 'नमो बुद्धाय' इस मन्त्र के उच्चारण करने से एक व्यक्ति को उस जन्म में मुक्त होने की घटना का वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से किया गया है। इस ग्रन्थ का महत्त्व केवल साहित्यिक ही नहीं है, अपितु सांस्कृतिक भी है। उस समय के समाज का उज्ज्वल चित्र इन धार्मिक कथाओं के भीतर से प्रकट हो रहा है। यह कम मूल्य तथा महत्त्व की बात नहीं है।

(२) श्रीलाभ—कुमारलात के सौत्रान्तिकमतानुयायी शिष्य श्रीलाभ थे^२।

१ द्रष्टव्य Winternitz—History of Indian Literature Vol II PP 267—69, Keith—History of Sanskrit Literature (Preface) PP 8—10

२ कुमारलात के एक दूसरे शिष्य का पता चीनी ग्रन्थों से चलता है। इनका नाम हरिचर्मा था जिन्होंने 'सत्यसिद्धि' सम्प्रदाय की स्थापना चीन देश में की थी। हरिचर्मा-रचित इस सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थ 'सत्यसिद्धिशाल' का कुमारजीव

युद्ध के समान इनके भी मत का विरोध परिवर्धन हुआ जाता है। वे बात 'निर्वाण' के विषय में इनके विशिष्ट मत का उत्प्रेक्ष्य बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है (जिसका उत्प्रेक्ष्य हमने किया था)। इन्होंने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ 'सौत्रान्तिक विमोक्ष' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसका पता हमें 'सुद्ध नी' ग्रन्थों से मिलता है। ये बड़े प्रतिभामयानी दार्शनिक प्रतीत होते हैं। इन्होंने अपने बौद्ध सिद्धान्तों की वर्णना कर एक गया ही मार्ग बताया^१।

(३) अर्धजात तथा (४) बुद्धदेव—ये दोनों आचार्य सौत्रान्तिक मत धारी थे। इनके समस्त सिद्धान्त से बड़े ही हम परिकट हैं और न इनकी रचना से। अभिबर्धन के ये बौद्धग्रन्थों में इनके अन्तर्-विषयक मतों का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः ये निश्चय ही बौद्धग्रन्थों से पूर्वकालीन थे। यह उत्प्रेक्ष्य इनके धारण तथा प्रमाणों का सूचक है।

(५) यशोमित्र—ये भी सौत्रान्तिक मत के ही माननेवाले आचार्य थे। यह इन्होंने स्वयं स्वीकार किया है (पृ. १२)। इनकी महत्त्वपूर्ण रचना है—अभिबर्धन के विरुद्ध व्याख्या 'सुद्धनी'। यह टीका ग्रन्थ बौद्ध धर्म का एक उत्प्रेक्ष्य एक है जिसकी प्रकृति से अनेक व्याख्या तथा सुद्धनीय सिद्धान्तों का विरोध ही हुआ है। यशोमित्र के पहले भी पुनर्मति^१ यशोमित्र तथा अन्य व्याख्याकारों ने इस कोरा की व्याख्या लिखी थी, परन्तु ये प्राचीन टीकाओं का अन्त—अन्तर्गत हैं। यह टीका करिष्य के साथ साथ भाष्य की भी टीका है, परन्तु बौद्धग्रन्थों का यह भाष्य मूलतः संस्कृत में उपलब्ध होने पर भी अभी तक

(४१४) इत बौद्धग्रन्थों का भी भी में उपलब्ध है। इनका समय सुद्धनीय शतक का मध्यकाल माना जा सकता है। ये बौद्धग्रन्थों के समकालीन माने जाते हैं। इस धर्म का मुख्य सिद्धान्त 'सर्वधर्मरक्षण' है। ये सोच फलस्वरूपक मत के अन्तर्गत के साथ साथ धर्मों की भी अनित्यता मानते थे। अर्थात् बुद्ध ने धर्म के साथ वे धर्मरक्षण के पक्षपाती थे। परन्तु अन्य सिद्धान्त इतिहास के ही थे। अतः 'सर्वधर्मरक्षण' सम्प्रदाय हीनवादी के अन्तर्गत होकर भी धर्मवाद का समर्थक था। इहम्मा यातायाती लोगन—Systems of Buddhist Thought (Pp 172—185)

१ इनके मत के लिए इहम्मा (सुद्धनी पृ. १२)

अप्रकाशित है। अतः 'स्फुटार्थ' की अनेक घातें अस्फुट ही रह जाती हैं। यह ग्रन्थ बड़ा अनमोल है। इसी की महायता से कोप का रहस्योद्घाटन होता है। प्राचीन मतों के उल्लेख के साथ साथ यह अनेक ज्ञातव्य ऐतिहासिक घृत्तों से परिपूर्ण है^१।

सौत्रान्तिकों की उत्पत्ति वैभाषिकों के अनन्तर प्रतीत होती है, क्योंकि इनके प्रधान सिद्धान्त वैभाषिक ग्रन्थों की वृत्तियों में ही यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। वसुवन्धु ने अभिधर्मकोप की कारिका में शुद्ध वैभाषिक मत का प्रतिपादन किया है, परन्तु कोप के भाष्य से कतिपय सिद्धान्तों में दोषोद्घाटन कर उनका पर्याप्त खण्डन किया है। ये खण्डन सौत्रान्तिक दृष्टि-चिन्दु में ही किये गये प्रतीत होते हैं। हमने पहले ही दिखलाया है कि इस खण्डन के कारण ही सघमद्र ने—जो कट्टर वैभाषिक थे—अपने ग्रन्थों में वसुवन्धु के मत की विरुद्ध आलोचना की है। परन्तु सौत्रान्तिक मतानुयायी यशोमित्र ने इनके समर्थन में अपनी 'स्फुटार्थ वृत्ति' लिखी है। यही कारण है कि दोनों मतों के सिद्धान्त साथ साथ उल्लिखित मिलते हैं।

सौत्रान्तिकों का विचित्र इतिहास चीनी ग्रन्थों की सहायता से थोड़ा बहुत मिलता है। हुएनसांग के पट्ट शिष्यों में से एक शिष्य का नाम सौत्रान्तिक 'कूइकी' था। इनकी रचना 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' की टीका है। उपसम्प्रदाय इसके आधार पर सौत्रान्तिकों के अन्तर्गत तीन सम्प्रदायों का पता हमें चलता है—

(१) कुमारलात—मूलाचार्य के नाम से विख्यात थे तथा उनके प्रधान शिष्य 'मूलसौत्रान्तिक' कहलाते थे। प्रतीत होता है कि कुमारलात के शिष्यों में उनके मुख्य सिद्धान्त को लेकर गहरा मतभेद था। श्रीलात उनके शार्थान्तिक शिष्य होने पर नवीन मतवाद को लेकर गुरु से अलग हो गये थे। श्रीलात के शिष्य गण कुमारलात के सिद्धान्तानुयायियों को 'शार्थान्तिक' नाम से पुकारते थे। कुमारलात को 'दृष्टान्त पक्ति' के रचयिता होने के कारण 'दार्थान्तिक' नाम से अभिहित करना युक्तियुक्त ही है। "

१ इसके दो संस्करण हैं—(१) लेनिनग्राद का संस्करण नागरी में है। परन्तु प्रधूरा है (२) जापान का संस्करण रोमनलिपि में पूरा ग्रन्थ।

(२) भीष्मात—के शिष्य अपने को केवल सौत्रान्तिक मानते थे । भीष्मात का यह सम्प्रदाय कद कद में पूर्ण से मिश्र था । ये लोग अपने को सिद्ध सिद्धान्त के अनुयायी होने से 'सौत्रान्तिक' नाम से पुकारते थे । इन्होंने अपने प्रतिपक्षियों की स्यादि 'वार्त्तान्तिक' की भी को सम्भवतः अनादर सूचित करती है ।

(१) एक तीसरा सम्प्रदाय भी था जिसकी कोई विविष्ट संज्ञा न थी ।

इस कथन पर ध्यान देना आवश्यक है । बीस सम्प्रदाय में प्रत्यक्ष तथा भुक्ति में एक को महत्त्व देने वाले साम्प्रदायिकों की कमी न थी । कुछ लोग प्रत्यक्ष को महत्त्व देते थे पर अन्य लोग बुद्ध के द्वारा प्रचलित सिद्धान्त (भुक्ति) को समधिक आदर देने को उद्यत थे । प्राज्ञान वार्त्तान्तिकों में भी ऐसा मतवाद बोल पड़ता है । प्रत्यक्ष तथा भुक्ति के अनुयायी भिन्न २ हुआ करते थे । प्रत्यक्ष की वृत्ति उन्हा है—वृत्ति । वृत्ति वा दृष्टान्त का महत्त्व देने वाले आत्माध के शिष्य वार्त्तान्तिक कहलाते और केवल भुक्ति सूत्र वा सूत्रान्त को ही आमाधिक मानने वाले लोग सौत्रान्तिक नाम से अभिहित किये गये । परन्तु दोनों ही एक ही मूलसम्प्रदाय—वार्त्तान्तिक की दो विभिन्न अवस्था अनेक तन्त्रों में समान शाखायें थी । एक अवस्था यह भी ज्ञान पड़ता है कि वार्त्तान्तिक लोग दृष्टान्त आत्मिक अवस्था अवधान को वार्त्तिक मूल ग्रन्थों का अर्थ मानते थे परन्तु सौत्रान्तिकों की वृत्ति में इन ग्रन्थों को इतना प्राधान्य नहीं दिला जाता था । वार्त्तान्तिक तथा सौत्रान्तिक के विभिन्न मतवाद विस्तृत अध्ययन तथा भजन के विहित आवश्यक विषय हैं । छाया की के व लोग से इनकी विरीष अवगती हर्ष नहीं है ।

(२) सिद्धान्त

सत्ता के विषय में सौत्रान्तिक लोग वार्त्तान्तिकों हैं अर्थात् उनकी वृत्ति में वार्त्तों की सत्ता माननीय है । ये केवल चित्त (वा चिन्मय) की ही सत्ता नहीं मानते प्राकृत वास्तव पदार्थों को भी सत्ता स्वीकार करते हैं । अनेक प्रमाणों के बल पर ये विज्ञानवाद का सम्पन्न कर अपने मत की प्रतिष्ठा करते हैं ।

विज्ञानवादिका की यह भावना है कि विज्ञान ही एकमात्र सत्ता है बाप

पदार्थ की सत्ता मानना भ्रान्ति तथा कल्पना पर आश्रित है। इस पर सौत्रान्तिकों का आक्षेप है कि यदि बाह्य पदार्थ की सत्ता न मानी जायगी, तो १-बाह्यार्थ उनकी कल्पनिक स्थिति की भी समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती। विज्ञानवादियों का कहना है कि भ्रान्ति के कारण ही विज्ञान बाह्य पदार्थों के समान प्रतीत होता है। यह साम्य की प्रतीति तभी मयुक्तिक है जब बाह्य पदार्थ वस्तुतः विद्यमान हों, नहीं तो जिस प्रकार 'बन्ध्यापुत्र के समान' कहना निरर्थक है, उसी प्रकार अविद्यमान 'बाह्य पदार्थों के समान' बतलाना भी अर्थग्राह्य है।

विज्ञान तथा बाह्य वस्तु की समकालिक प्रतीति दोनों की एकता बतलाती है, यह कथन भी यथार्थ नहीं। क्योंकि आरम्भ से ही जब हम घट का प्रत्यक्ष करते हैं, तब घट की प्रतीति बाह्य पदार्थ के रूप में होती है तथा विज्ञान अनन्तर रूप में प्रतीत होता है। लोक-व्यवहार बतलाता है कि ज्ञान के विषय तथा ज्ञान के फल में अन्तर होता है^१। घट के प्रतीतिकाल में घट प्रत्यक्ष का विषय है तथा उसका फल अनुव्यवसाय (मैं घटज्ञान वाला हूँ—ऐसी प्रतीति) पीछे होती है। अतः विज्ञान तथा विषय का पार्थक्य मानना न्यायसंगत है। यदि विषय और विषयी की अभेद कल्पना मानी जाय, तो 'मैं घट हूँ' यह प्रतीति होनी चाहिए। विषयी है—अह (मैं) और विषय है घट। दोनों की एक रूप में अभिन्न प्रतीति होगी, परन्तु लोक में ऐसा कभी नहीं होता। अतः घट को विज्ञान से पृथक् मानना चाहिए। यदि समग्र पदार्थ विज्ञानरूप ही हों, तो इनमें परस्पर भेद किम प्रकार माना जायगा। घड़ा कपड़े से भिन्न है, परन्तु विज्ञानवाद में तो एक विज्ञान के स्वरूप होने पर उन्हें एकाकार होना चाहिए। अतः सौत्रान्तिक मत में बाह्यजगत् की सत्ता उतनी ही प्रामाणिक और अभ्रान्त है जितनी भ्रान्तर जगत् की—विज्ञान की। इस सिद्धान्त में प्रतिपादन में सौत्रान्तिक वैभाषिकों के अनुरूप ही हैं। परन्तु बाह्यार्थ की प्रतीति के विषय में उनका विशिष्ट मत है।

(१) वैभाषिक लोग बाह्य-अर्थ का प्रत्यय मानते हैं। दोषरहित इन्द्रियों के द्वारा बाह्य-अर्थ की जैसी प्रतीति हमें होती है वह वैसा ही है, परन्तु सौत्रान्तिकों

का इस पर आशेष है। जब समय पदार्थ अस्मिन् है तब किसी वात्स्याय की भी वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। जिस अंग में स्मिन् अनुमेयता वस्तु के साथ हमारी इन्द्रियों का सम्पर्क होता है उस अंग में वह वस्तु प्रथम अंग में उत्पन्न होकर अतीत के धर्म में लक्ष्य पड़ रही है। केवल तत्त्वत्वसिद्धि ही रहता है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों की तत्त्व पौष्टि आदिक विप्र विप्र के पद पर स्थित होते हैं। अब वर का प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है उसी को वित्त देखता है और उसके द्वारा वह उसके उत्पत्तिक बाहरी पदार्थों का अनुमान करता है^१। अतः वाद्य अर्थ की सत्ता प्रत्यक्ष गम्य न होकर अनुमान गम्य है यही सौत्रास्तिकवादियों का सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त है।

(५) ब्रह्म के विषय में वे स्वतः ग्रहणाधीन हैं। इनका कहना है कि जिस प्रकार प्रदीप अपने को स्वयं जगता है उसी प्रकार ब्रह्म भी अपना चक्षुष्य आप ही आप करता है। इसी का अर्थ है 'स्वसंक्षिति' या 'संक्षिप्त'। यह सिद्धान्त सिद्धांतवादियों को सम्मत है। इनमें कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि सौत्रास्तिकों के अनेक सिद्धान्त सिद्धांतवादियों ने ग्रहण कर लिया है।

(६) बाहरी वस्तु विद्यमान अवश्य रहती है (वस्तु सत्) परन्तु सौत्रास्तिकों में वह मतमेव की बात है कि उसके कोई अकार होता है या नहीं। कुछ लोगों का कहना है कि बाह्य वस्तुओं में स्वयं अथवा आकार होता है। कुछ दार्शनिकों की सम्मति में वस्तु का अकार बुद्धि के द्वारा विहित किया जाता है। बुद्धि ही अकार को पदार्थ में प्रतिबिम्ब करती है। तीसरे प्रकार के मत में ऊपर सिद्धि दोनों मतों का सम्मिश्रण किया गया है। उसके अनुसार वस्तु का आकार सम्भवतः होता है।

(७) परमाणुवाद के विषय में भी सौत्रास्तिकों ने अपना एक विशिष्ट मत बना रखा है। उनका कहना है कि परमाणुओं में किसी प्रकार के पारस्परिक स्पर्श का अभाव होता है। स्पर्श सन्धी पदार्थों में होता है जो अत्यन्त ही सूक्ष्म होते हैं। लक्ष्मी और हस्त का स्पर्श होता है क्योंकि दोनों सात्वत पदार्थ हैं।

१ नीलपीठविमिश्रिर्बुद्ध्याकारैरिहन्तरेः।

सौत्रास्तिकमतैः सिद्धं बाह्यार्थस्त्वुदीक्यते ॥ (सर्वसिद्धान्तसंग्रह ५ ११)।

परमाणु निरवयव पदार्थ है। अतः एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ स्पर्श नहीं हो सकता। यदि यह स्पर्श होगा तो दोनों में तादात्म्य हो जायगा, जिससे अनेक परमाणुओं के सघात होने पर भी उनका परिमाण अधिक न हो सकेगा। अतः परमाणु में स्पर्श मानना उचित नहीं है। परमाणु के बीच में कोई अन्तर नहीं होता। अतः वे अन्तरहीन पदार्थ हैं।

(५) विनाश का कोई हेतु नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही विनाश धर्मशील है। यह अनित्य नहीं है बल्कि क्षणिक है। उत्पाद का अर्थ है अभूत्वा भाव (अर्थात् सत्ता धारण न करने के अनन्तर अन्तर स्थिति)। पुद्गल (आत्मा) तथा आकाश सत्ताहीन पदार्थ हैं। वस्तुतः सत्य नहीं हैं। क्रिया—वस्तु तथा क्रिया काल में किंचित्मात्र भी अन्तर नहीं है। वस्तु असत्य से उत्पन्न होती है। एक क्षण तक अवस्थान धारण करती है और फिर लीन हो जाती है। तब भूत तथा भविष्य की सत्ता क्यों मानी जाय ?

(६) वैभाषिक रूप को दो प्रकार का मानते हैं^१। (१) वर्ण (रंग) तथा (२) सस्थान (आकृति)। परन्तु सौत्रान्तिक रूप से वर्ण का ही अर्थ लेते हैं। सस्थान को उसमें सम्मिलित नहीं करते। यही दोनों में अन्तर है।

(७) प्रत्येक वस्तु दुःख उत्पन्न करने वाली है। यहाँ तक कि सुख और वेदना भी दुःख ही उत्पन्न करती हैं। इसलिए सौत्रान्तिक लोगों के मत में समस्त पदार्थ दुःखमय हैं।

(८) इनके मत में अतीत (भूत) तथा अनागत (भविष्य) दोनों शून्य हैं^२। वर्तमान ही काल सत्य है। काल के विषय में इस प्रकार वैभाषिकों से इनका पर्याप्त मतभेद है। वैभाषिक लोग भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों काल के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। परन्तु सौत्रान्तिक मत में वर्तमान काल की ही सत्ता मानी जाती है।

(९) निर्वाण के विषय में सौत्रान्तिक मत के आचार्य श्रीलब्ध का एक विशिष्ट मत था कि 'प्रतिसत्यानिरोध' तथा 'अप्रतिसत्यानिरोध' में किसी प्रकार

१ रूप द्विधा विंशतिधा (अभिघर्मकोप १।१०)

२ तथा सौत्रान्तिकमतेऽतीतानागत शून्यमन्यदशून्यम् ।

का अन्तर नहीं है। प्रतिषेधान्निरोध का अर्थ है अज्ञानिबन्धन भविकलेरात्तर पति अर्थात् अज्ञा के कारण भविक में उत्पन्न होने वाले समस्त क्लेशों का न होना। अप्रतिषेधान्निरोध का अर्थ है क्लेशविमुक्तिमूलक बुद्धिउत्पत्ति अर्थात् क्लेशों के मिहता हो जाने पर बुद्ध का उत्पन्न न होना। क्लेशों की निवृत्ति के कारण ही बुद्ध अर्थात् तत्त्व की अनुपत्ति अवलम्बित है। अतः क्लेश का उत्पन्न न होना संसार के उत्पन्न न होने का कारण है। मीमांस्य की विचार के विषय में यही कल्पना है।

(१०) धर्मों का वर्गीकरण—सौत्रास्तिक मत के अनुसार धर्मों का एक महीन वर्गीकरण है। यहाँ वैसाविक होय ७५ धर्म मानते हैं और विज्ञानधर्मी पूरे १ धर्म मानते हैं यहाँ सौत्रास्तिक केवल ४३ धर्म स्वीकार करते हैं। यह वर्गीकरण साधारणतया उपलब्ध नहीं होता। सौभाग्यवश तामिल देश के अरुण श्रीप्रियान्वास (१२७५-१२९५ ई) द्वारा लिखित 'शिवश्रमसिद्धिचर' नामक तामिल ग्रन्थ में यह वर्गीकरण उपलब्ध होता है^१। प्रमाण दो प्रकार का है—प्रकरण और अनुमान। इनके विषय सौत्रास्तिकों के अनुसार ४ प्रकार के हैं—(१) रूप (२) अरूप (३) निर्माण (४) व्यवहार। रूप दो प्रकार का होता है—उत्पन्न और उपपन्न जो प्रत्येक ४ प्रकार का होता है। उत्पन्न के अन्तर्गत धूमनी अतः तैल तथा कणु की गणना है तथा उपपन्न में स्वतन्त्र आकर्षण गति तथा लपटा इन चार धर्मों की गणना है। अरूप भी दो प्रकार का होता है—चित्त और धर्म। निर्माण दो प्रकार का है—छोपनि और निहपनि। व्यवहार भी दो प्रकार का होता है—सत्य और असत्य। इस सामान्य वर्णन के अनन्तर ४३ धर्मों का वर्गीकरण इस तरह है—

(१) रूप = ८ (४ उत्पन्न + ४ उपपन्न)।

(२) विद्या = १ (कुछ कुछ न कुछ न कुछ)।

(३) सत्ता = १ (५ इन्द्रियों तथा १ चित्त)।

(४) विज्ञान = १ (कणु ओष, ज्ञान, रस, वाय तथा धन

—इन इन्द्रियों के विज्ञान।

(५) संस्कार = २ (१ कुशल + १ अकुशल)।

(ग) सर्वास्तिवाद का समीक्षण

सर्वास्तिवादियों के सिद्धान्तों की समीक्षा अनेक आचार्यों ने की है। वादरा-
ण ने ब्रह्मसूत्र के तर्कपाठ (२।२) में इसकी बड़ी मार्मिक आलोचना की है।

शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में इस समीक्षा की युक्तियों का बड़ा
सघात- ही भव्य प्रदर्शन किया है। अवैद दार्शनिकों ने अपनी लैंगली
निरास बौद्धमत के सबसे दुर्बल अंश पर रखी है। वह दुर्बल अंश है
सघातवाद। सर्वास्तिवादियों की दृष्टि में परमाणुओं के सघात
से भूतभौतिक जगत् का निर्माण होता है और पञ्चस्कन्धों से आन्तर जगत्
(चित्त-चैत) की रचना होती है। भूत तथा चित्त दोनों सघातमात्र हैं। भूत
परमाणुओं का सघात है और चित्त पञ्चस्कन्धाधीन होने से सघात है। सबसे
बड़ी समस्या है इन समुदायों की सिद्धि। चेतन पदार्थों का संघात-मेलन युक्ति-
युक्त है, परन्तु यहाँ समुदायी द्रव्य (अणु तथा सज्ञा) अचेतन हैं। ऐसी परि-
स्थिति में समुदाय की सिद्धि नहीं बन सकती। चित्त अथवा विज्ञान इस सघात
का कारण नहीं माना जा सकता। देह होने पर विज्ञान का उदय होता है और
विज्ञान के कारण देहात्मक सघात उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में देह विज्ञान पर

अवलम्बित रहता है और विज्ञान देह पर। फलतः अन्योन्या-
चेतन श्रय दोष से दूषित होने से यह पक्ष समीचीन नहीं है जा स्वय
संहर्ता का स्थिर संघातकर्ता की सत्ता बुद्धधर्म में मान्य नहीं है जो स्वयं चेतन
अभाव होता हुआ इन अचेतनों को एक साथ संयुक्त कर देता। चेतन-
कर्ता के अभाव में परमाणुओं के सघात होने की प्रवृत्ति निरपेक्ष
है अर्थात् बिना किसी अपेक्षा (आवश्यकता) के ही ये समुदायी प्रवृत्ति उत्पन्न
करते हैं, तब तो इस प्रवृत्ति के कभी न बन्द होने की आपत्ति उठ खड़ी होती
है। साधारण नियम तो यही है कि कोई भी प्रवृत्ति किसी अपेक्षा के लिए होती
है। प्रवृत्ति का कर्ता चेतन होता है। जब तक उसे उसकी आवश्यकता बनी
रहती है तब तक वह कार्य में प्रवृत्त रहता है। अपेक्षा की समाप्ति के साथ ही
प्रवृत्ति का भी विराम हो जाता है। परन्तु अचेतनों के लिए अपेक्षा कैसी ? अतः
सर्वास्तिवादी मत में प्रवृत्ति के कहीं भी समाप्त होने का अवसर ही नहीं आवेगा,
जो व्यवहार से नितान्त विरुद्ध है।

विज्ञानवादी यह कहते हैं कि वास्तव विज्ञान (समस्त विज्ञानों का सम्मिश्र) इस सहाय का कर्ता हो सकता है। पर अरब यह है कि यह वास्तवविज्ञान सन्तान

सन्तानियों से मिश्र हो ना अभिन्न ? मिश्र होकर वह स्थिर है

आत्म्य या शक्ति ? यदि वह स्थिर मामा अभ्यमा तो केवलज्ञानसार कल्याण
विज्ञान की की अभ्यमा नहीं हो सकती। अतः आत्मविज्ञान को शक्ति
समीक्षा मानना पड़ेगा। ऐसी दशा में वह प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं कर सकता।

शक्ति वस्तु केवल एक ही व्यापार करती है और वह व्यापार उत्पन्न होता है। (जानते) इसके आतिरिक्त वह शक्ति होने से कर ही बना सकती है। अभिन्न होने पर भी वह परमाणुओं में सहाय नहीं पैदा कर सकती, क्योंकि वह स्वयं सत्यमात्र स्वाधी है। प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए तो अभ्यमा में स्थिति मानना पड़ेगा जो सिद्धान्त से विमुख पड़ेगा।

परमाणुओं को शक्ति होने से इनका सन्तान कबमपि सिद्ध नहीं हो सकता। परमाणुओं का केवल परमाणुशक्ति के अधीन है। अवयव परमाणु में क्रिया

शक्ति होने से क्रिया से पूर्वस्थान में परमाणु को रहना चाहिए। क्रिया के
परमाणु आभव होने से जिस क्षण में क्रिया हो उस क्षण में परमाणु की
में सहाय अवस्थिति अपेक्षित है। इसी प्रकार केवल के क्षण में भी पर
असंभव धातुओं का अवस्थान आवश्यक है। यदि केवल का आभव ही
 न होना तो केवलरूप प्रवृत्ति हो कैसे उत्पन्न होगी ? प्रवृत्ति

ऐसी परिस्थिति में परमाणुओं का अवस्थान अवैक क्षणों तक होना आवश्यक है। परंतु शक्तिवादी बौद्धों की दृष्टि में ऐसी स्थिति सम्भव नहीं है। अतः शक्ति परमाणुओं में स्थिर परमाणुओं से साध्य केवल नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह है कि परमाणुओं के शक्ति होने से तथा संबन्धकर्ता किसी स्थिर चेतन के आभव होने से सहाय नहीं हो सकता।

१ 'शक्तिवाद्भ्युपगमाच्च निर्वाणस्य प्रवृत्त्युपपत्ते' शांकरभाष्य ।
 'शक्तिस्य ब्रह्मातिरिक्त्यापारो गतिरुत्पत्त्य परमाण्वादिवैकल्या प्रवृत्ति-
 रनुपपन्ना शक्तिकल्पमात्रादित्यर्था ।'

[illegible]

भागवद्गीता

कोई कारण उपयुक्त नहीं जान पड़ता। अतः अभिक्खाद के मानने के कारण संसार के भंग होने का प्रथम उपस्थित होय। मोक्ष सिद्धान्त को भी इससे यह पट पड़ा पहुँचता है। बुद्धवर्म योश-प्राप्ति के लिये आध्यात्मिक मार्ग का विधान करता है। परन्तु कर्मफल के अधिक होने पर मोक्ष की प्राप्ति ही सुतराँ असंभव है। तब निर्वाण की प्राप्ति के लिये मार्ग के उपदेश करने से काम ही क्या होगा।

स्मृति-भय भी अभिक्खाद के निराकरण के लिये एक प्रबल व्यावहारिक प्रमाण है। लोगों के अनुभव से हम जानते हैं कि स्मरण करने वाला तथा अनुभव करने वाला एक ही व्यक्ति होना चाहिए। पश्चात् का स्मरण नहीं स्मृति की कला है जिसने उसका अनुभव किया है। मधुरा के पेड़ा खाने का व्यवस्था के बाद का अनुभव नहीं व्यक्ति कर सकता है जिसने कभी उसका आस्वाद किया ही। परन्तु अभिक्खाद के मानने पर यह व्यवस्था ठीक नहीं समझी। क्योंकि किसी वस्तु को आज स्मरण करनेवाला देवदत्त अत्यन्तकालिक (आज के छात्र) सम्बन्ध रखता है और अतः उसका अनुभव करनेवाला देवदत्त पूर्व-दिन-कालिक सम्बन्ध रखता है। देवदत्त ने वस्तु अनुभव किया और आज वह वस्तु स्मरण करता है। अभिक्खाद के मानने से अनुभव करनेवाला तथा स्मरण करनेवाला देवदत्त में एकता सिद्ध नहीं हुई। जिस देवदत्त ने अनुभव किया वह तो अतीत के धर्म में विलीन हो गया और जो देवदत्त इसका स्मरण कर रहा है वह वर्तमान काल में विद्यमान है। दोनों की मिथता स्पष्ट है। ऐसी वस्तु में स्मृति जैसे लोकप्रसिद्ध वास्तव व्यापार की व्यवस्था ही नहीं की जा सकती। अतः लौकिक तथा शास्त्रीय उभय दृष्टियों से अभिक्खाद तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता^१।

अभिक्खाद के आशीकार करने से धार्मिक विषयों में भ्रष्टाचार अवस्था बल जादेवी इस बात का स्पष्ट प्रतिपादन अत्यन्तमय मे व्यावहारिकी में बड़े ही जुनते

१ इसलिये इतने लोगों के सहारा रहने पर हमेशा मे सविनयता व मानने वाल बौद्ध को ठीक ही महासाहसिक कहा है।

कृतप्रचारणकृतकर्ममोक्षमार्गमोक्षस्मृतिमन्त्राचार।

उपेक्ष साक्षर सचमन्त्रमिच्छावहो महासाहसिक-वरस्ते न

(अयोग्यपक्षेद्वारिका' इलाक १८)

शब्दों में किया है। उनका कहना है कि जब फल भोगने के लिये आत्मा ही नहीं है तो स्वर्ग की प्राप्ति के लिये चैत्य की पूजा करने से क्या लाभ? जब ससार क्षणिक है तो अनेक वर्षों तक रहने वाले तथा युग युग तक जीनेवाले विहारों को बनाने की क्या आवश्यकता है। जब सब कुछ शून्य है तब गुरु को दक्षिणा देने का उपदेश देने से क्या लाभ? सच तो यह है कि बौद्धों का चरित्र अत्यन्त श्रद्धालु है तथा यह दम्भ को पराकाष्ठा है—

‘नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनं,
ससारा क्षणिका युगस्थितिभृतश्चैते विहारा कृता ।
सर्वं शून्यमिदं वसुनि गुरवे देहीति चादिश्यते,
बौद्धानां चरितं किमन्यदियती दम्भस्य भूमिः परा ॥’

(न्यायमञ्जरी, पृ० ३९)

योगाचार

(विज्ञानवाद)

‘चित्त प्रवर्तते चित्त चित्तमेव विमुच्यते ।
चित्त हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते ॥’

(लकावतारसूत्र गाथा १८५)

सप्तदश परिच्छेद

विज्ञानवाद के आचार्य

योगाचार मत बौद्धदर्शन के विकास का एक महत्त्वपूर्ण अंग समझा जाता है। इसकी दार्शनिक दृष्टि शुद्ध-प्रत्ययवाद (आइडियलीज्म) की है। आध्यात्मिक

सिद्धान्त के कारण यह विज्ञानवाद कहलाता है और धार्मिक तथा

नामकरण व्यावहारिक दृष्टि से इसका नाम 'योगाचार' है। ऐतिहासिक दृष्टि

से योगाचार की उत्पत्ति माध्यमिकों के प्रतिवाद स्वरूप में हुई।

माध्यमिक लोग जगत् के समस्त पदार्थों को शून्य मानते हैं। इसी के प्रतिवाद में इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। इस सम्प्रदाय का कहना है कि जिसे बुद्धि के

द्वारा जगत् के पदार्थ असत्य प्रतीत हो रहे हैं, कम से कम उस बुद्धि को तो सत्य

मानना ही पड़ेगा। इसीलिए यह सम्प्रदाय 'विज्ञान' (चित्त, मन, बुद्धि) को

एकमात्र सत्य पदार्थ मानता है। इस सम्प्रदाय की छत्रछाया में बौद्धन्याय का

जन्म हुआ। इस मत के अनुयायी भिक्षुओं ने बौद्ध-न्याय का खूब ही अनुशीलन

किया। इसके बड़े-बड़े आचार्य लोगों ने विज्ञान को ही परमार्थ सिद्ध करने के

लिए बड़ी ही उच्चकोटि की आध्यात्मिक पुस्तकें लिखीं। ये पुस्तकें भारत के बाहर

चीनदेश में खूब फैली और वहाँ की आध्यात्मिक चिन्ता को खूब अग्रसर किया।

इसी योगाचार मत का पहले इतिहास प्रस्तुत किया जायगा और इसके अनन्तर दार्शनिक सिद्धान्त का वर्णन होगा।

१-मैत्रेयनाथ—विज्ञानवाद को शुद्ध दार्शनिक प्रतिष्ठा देने वाले आर्य असंग को कौन नहीं जानता? इनके ऐसा उच्चकोटि का विद्वान् बौद्ध दर्शन के इतिहास में विरला ही होगा। अब तक विद्वानों की यही धारणा रही है कि आर्य असंग ही विज्ञानवाद के संस्थापक थे। परन्तु आजकल के नवीन अनुसंधान ने इस धारणा को भ्रान्त प्रमाणित कर दिया है। बौद्धों की परम्परा से पता चलता है कि तुषित स्वर्ग में भविष्य बुद्ध मैत्रेय की कृपा से असंग को अनेक ग्रन्थों की स्फूर्ति प्राप्त हुई। इस परम्परा में ऐतिहासिक तथ्य का बीज प्रतीत होता है। मैत्रेय या मैत्रेयनाथ स्वयं ऐतिहासिक व्यक्ति थे, जिन्होंने योगाचार की स्थापना की और असंग को इस मत की दीक्षा दी। अतः मैत्रेयनाथ को ही विज्ञानवाद का प्रतिष्ठापक मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है।

आर्थे मैत्रेय ने अनेक ग्रन्थों की रचना संस्कृत में की। परन्तु कुछ है कि एक, दो ग्रन्थों को छोड़कर इनके ग्रन्थों का परिचय मूल संस्कृत में न मिलकर तिब्बतीय और चीनी अनुवादों से ही मिलता है। बौद्ध-सौम्य विद्वान् हस्तोप ने अपने 'बौद्धधर्म के इतिहास' में इनके नाम से पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

(१) महायान सूत्रार्थकार—एतत् परिच्छेदों में (कारिका ग्रन्थ के रूप में)

(२)—धर्माधर्मता विमर्श—

(३)—महायान-उत्तर-तन्त्र—

मूल संस्कृत में अनुपलब्ध,
तिब्बती अनुवाद प्राप्त।

४—अभ्यास विमर्श या अभ्यास विमर्श।

यह ग्रन्थ कारिका रूप में या किसी विस्तृत व्याख्या आचार्य वज्रवन्धु ने की। इस भाष्य की टीका वज्रवन्धु के प्रमुख शिष्य आचार्य स्तिरमति ने की। चीनाम्ब से कुछ कारिकाओं मूल संस्कृत में भी उपलब्ध हुई हैं^१।

(५) अमिसमपालकारिका—इस ग्रन्थ का पूरा नाम अमिसमपालाकारिकापरमितावरोधराज है। इस ग्रन्थ का विषय है प्रज्ञापारमिता का वर्णन आचार्य बल माता का वर्णन जिसके द्वारा कुछ विधानों की प्रप्ति करते हैं। विधानों के सिद्धान्त के प्रतिपादन में यह ग्रन्थ अद्वितीय माना जाता है। इस ग्रन्थ में आठ परिच्छेद हैं जिसमें ७ विषयों का वर्णन है। इस ग्रन्थ की महत्ता का परिचय इसी बात से लग सकता है कि इसकी संस्कृत तथा तिब्बती भाषा में सिन्धी गई २१ टीकाएँ उपलब्ध हैं। कारिकाओं के अत्यन्त संश्लिष्ट होने के कारण से यह ग्रन्थ अत्यन्त कठिन है। संस्कृत में लिखी गई इस ग्रन्थ की प्रसिद्ध टीकाएँ ये हैं (१) आर्य विमुक्तयेन—जो वज्रवन्धु के साम्राट् शिष्य थे—की लिखी हुई टीका। (२) मरुत विमुक्तयेन ने आर्य विमुक्तयेन के शिष्य थे (१ वीं शताब्दी)। (३) आचार्य हरिमद्र (अर्थात् शताब्दी) इनकी टीका का नाम है 'अमिसमपालकारिकाटीका'। तिब्बतीय परम्परा के अनुसार आर्य विमुक्तयेन और

१ इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद का तिब्बतीय भाषा में पुनर्निर्माण कर रिपुरोधर भट्टाचार्य तथा डा. गुलाब कनकना आरिभट्ट। गौरीगढ़ पृ. २४ (१९२२) में छपवाया है। इस ग्रन्थ का पूरा अनुवाद डा. अरविन्द ने अंग्रेजी में किया है—(बिहारी विद्या बुद्धि का १ लभिनमस (नया) १९२२)

हरिभद्र पारमिता के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता और विवेचक माने जाते हैं^१। सौभाग्यवश यह आलोक मूल सस्कृत में उपलब्ध है तथा प्रकाशित भी हुआ है^२। यह ग्रन्थ 'अभिसमयालंकार' पर टीका होने के अतिरिक्त 'अष्टसाहसिका प्रज्ञापारमिता' पर भी टीका है। तिब्बत में इस ग्रन्थका गाढ अध्ययन तथा अनुशीलन आज भी होता है। योगाचार के धार्मिक रहस्यवाद की जानकारी के लिए यह ग्रन्थ नितान्त उपादेय है। डा० तुशी को आर्य विमुक्तसेन की व्याख्या का कतिपय अंश भी प्राप्त हुआ है।

२ आर्य असंग—

योगाचार सम्प्रदाय के सबसे प्रसिद्ध आचार्य आर्य असंग मैत्रेयनाथ के शिष्य थे। इस शिष्य ने अपने ग्रन्थों से इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली कि विद्वानों ने भी इनके गुरु के अस्तित्व को भुला दिया। इनका व्यापक पाण्डित्य तथा अलौकिक व्यक्तित्व इनके ग्रन्थों में सर्वत्र परिलक्षित होता है। इनका पूरा नाम 'वसुवन्धु असंग' था। ये आचार्य वसुवन्धु के ज्येष्ठ भ्राता थे। सम्राट् समुद्रगुप्त के समय (४ वीं शताब्दी) में इनका आविर्भाव हुआ था। विज्ञानवाद की प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा तथा प्रभुत्व के प्रधान कारण आर्य असंग ही थे। अपने अनुज वसुवन्धु को वैमायिक मत से हटा कर योगाचार मत में दीक्षित करने का सारा श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इनके ग्रन्थों का विशेष पता चीनी भाषा में किये गये अनुवादों से ही चलता है।

(१) महायान सम्परिग्रह—इस ग्रन्थ में महायान के सिद्धान्त सक्षेप रूप से वर्णित हैं। यह ग्रन्थ मूल सस्कृत में नहीं मिलता परन्तु इसके तीन चीनी अनुवाद उपलब्ध हैं।—(१) बुद्धशान्तकृत—५३१ ई० (२) परमार्थ—५६३ ई० (३) ह्येन्साङ्गकृत—६५० ई०। इस ग्रन्थ की दो टीकाओं का पता

१ इस ग्रन्थ का सस्कृत मूल संस्करण 'चिब्लोथिका बुद्धिका' न० २३ (१९२९ ई०) में डा० चेरवास्की के सम्पादकत्व में निकला है तथा इसकी समीक्षा डा० ओवेरमिलर ने 'Analysis of Abhisamayalankara of Maitreya' नाम से निकाला है। दृष्टव्य (कनकता थोरियन्टल सीरीज न० २७)

२ गा० ओ० सी० में डा० तुशी के सम्पादकत्व में प्रकाशित।

कहा है जिसमें सबसे प्रसिद्ध टीका व्याख्यान बसुधन्वु श्री बी बिर्से के टीका अनुसार चीनी भाषा में उपलब्ध है^१।

(२) प्रकरण आर्यभाषा—योगाचार के व्यावहारिक तथा वैदिक रूप की व्याख्या । हेन्साङ ने इसका चीनी भाषा में अनुवाद एगारह परिच्छेदों में किया है ।

(३) योगाचार भूमिशालक—यह ग्रन्थ क्या विशालग्रन्थ है जिसमें योगाचार के सत्यमार्ग का प्रामाणिक विस्तृत वर्णन है । विज्ञानवाद की 'योगाचार' के नाम से पुकारने का कारण यही ग्रन्थ है । इसका केवल एक छोटा अष्टा संस्करण में प्रकाशित है । सौमाम्बरा यह पूरा विस्तृत ग्रन्थ संस्कृत में राज्ञाष्टा संस्करण के प्रत्यक्ष से उपलब्ध हो गया है । इसके परिच्छेदों का नाम 'भूमि' है । ग्रन्थ के १० भूमियों के नाम ये हैं—(१) विद्वान् भूमि (२) मनोभूमि (३) चक्षितर्क-चक्षिणा भूमि (४) चक्षितर्क विचारमात्रा भूमि (५) चक्षितर्कचक्षिणा भूमि (६) समाहिता भूमि (७) अचमाहिता भूमि (८) चक्षितन्त्र भूमि (९) अक्षितन्त्र भूमि (१०) भुक्तमयी भूमि (११) चिन्तमयी भूमि (१२) भावग्रामयी भूमि (१३) श्रवक भूमि (१४) श्रवकभुक्त भूमि (१५) बोधिसत्त्वभूमि (१६) सोपविष्टा भूमि तथा (१७) निरुपविष्टा भूमि । इस ग्रन्थ में विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का विशद विवेचन है^२ ।

(४) महायान सूत्रालंकार—अर्थ का यह ग्रन्थ विद्वानों में विशेष प्रसिद्ध है । मूल संस्करण में इसका प्रकाशन भी बहुत पहिले हुआ था । इसमें २१ अधिप्यार (परिच्छेद) हैं । कारिका मैत्रयनाथ की है परन्तु व्याख्या अरुण की । विज्ञानवाद का यह मिलान्त मौक्तिक ग्रन्थ है जिसमें महायान—सूत्रों का सार अर्थ संक्षिप्त किया गया है^३ ।

१ इस ग्रन्थ के विशेष विवरण के लिये देखिये—

P. H. Mukharji—Indian Literature in China and the Far East P 228—29

२ ग्रन्थ की विस्तृत विषय सूची के लिए ग्रन्थ—राजुल—दर्शन विवरण पृ ७ ५-७१४ ।

३ का सिल्वी लेवी के द्वारा १९१९ में पेरिस से प्रकाशित तथा रॉबर्ट में अनुवादित ।

३ आचार्य वसुवन्धु—

वसुवन्धु का परिचय पहिले दिया जा चुका है। जीवन के अन्तिम काल में अपने ज्येष्ठ श्रोता आर्य असंग के समर्ग में आकर इन्होंने योगाचार मत को ग्रहण कर लिया था। सुनते हैं कि अपने पूर्व जीवन में लिखित महायान को निन्दा को स्मरण कर इन्हें इतनी ग्लानि हुई कि ये अपनी जीभ को काटने पर तुल गये थे परन्तु आर्य असंग के समझाने पर इन्होंने महायान सम्प्रदाय की सेवा करने का भार उठाया और पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थों की रचना कर विज्ञानवाद के भण्डार को भर दिया। इनके महायान सम्बन्धी ग्रन्थ ये हैं—

(१)—सद्धर्म पुण्डरीक की टीका—५०८ ई० से लेकर ५३५ ई० के बीच चीनी भाषा में अनुवादित।

(२)—महापरिनिर्वाणसूत्र की टीका—चीनी अनुवाद ही उपलब्ध है।

(३)—वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता की टीका—इसका अनुवाद ३८६ ई० से ५३४ के बीच चीनी भाषा में अनुवादित।

(४)—विज्ञप्ति मात्रतासिद्धि—यह विज्ञानवाद की सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक व्याख्या है। इसके दो पाठ (Recension) उपलब्ध हैं (१) विंशिका (२) त्रिशिका। विंशिका में २० कारिकाएँ हैं जिसके ऊपर वसुवन्धु ने स्वयं भाष्य लिखा है। त्रिशिका में तीस कारिकाएँ हैं जिसके ऊपर इनके शिष्य स्थिरमति ने भाष्य लिखा है^१। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' का चीनी भाषा में अनुवाद हेन्साङ्ग ने किया था जो आज भी उपलब्ध है। राहुल सांकृत्यायन ने इस ग्रन्थ के कुछ अंश का अनुवाद चीनी से संस्कृत में किया है^२।

४ आचार्य स्थिरमति—

आचार्य स्थिरमति वसुवन्धु के शिष्य हैं। उनके चारों शिष्यों में आप ही उनके पट्ट शिष्य माने जाते हैं। इन्होंने अपने गुरुके ग्रन्थों पर महत्त्वपूर्ण व्याख्या लिखी हैं। इस प्रकार आचार्य वसुवन्धु के गूढ़ अभिप्रायों को समझाने के लिए स्थिरमति ने व्याख्या रचकर आदर्श शिष्य का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया

१ इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत संस्करण डा० सिलवन लेवी ने पेरिस (१९२५) से निकाला है जिसमें विंशिका तथा त्रिशिका पर लिखे भाष्य भी सम्मिलित हैं।

२ Journal of Behar & Orissa Research Society,

है। आप चौकी शताब्दी के अन्त में विद्यमान थे। इसके निम्नलिखित ग्रन्थों का पता चलता है जिसका अनुवाद तिब्बती भाषा में अथवा भी उपलब्ध है :—

(१) काश्यपपरिचर्य टीका—तिब्बतीय अनुवाद के साथ इसका चौकी अनुवाद भी मिलता है।

(२) सूत्रार्थकारवृत्तिभाष्य—यह ग्रन्थ वसुबन्धु की सूत्रार्थवृत्ति की विस्तृत व्याख्या है। इस ग्रन्थ को तिब्बत क्षेत्री ने सम्पादित कर प्रकाशित किया है।

(३) त्रिशिका भाष्य—वसुबन्धु की 'त्रिशिका' के ऊपर यह एक महत्वपूर्ण भाष्य है। इस ग्रन्थ के मूल संस्कृत को तिब्बत क्षेत्री ने नेपाल से कोस विजयता है तथा प्रेरकशक्त में अनुवाद करके प्रकाशित किया है।

(४) पञ्चस्कन्धप्रकरण समाख्य।

(५) अमिधर्मकोप भाष्यवृत्ति—यह ग्रन्थ वसुबन्धु के अमिधर्मकोप के भाष्य के ऊपर टीका है। इसका संस्कृत मूल नहीं मिलता परन्तु तिब्बती भाषा में इसका अनुवाद आज भी उपलब्ध है।

(६) मूलभाष्यमिक कारिका वृत्ति—यह बताता है कि यह भाष्य अमार्जुन के प्रसिद्ध ग्रन्थ की टीका है।

(७) मध्यमस्तविभागसूत्रभाष्यटीका—आचार्य मैत्रेय 'मध्यमस्तविभाग' नामक गुप्तसिद्ध ग्रन्थ लिखा था। उसी पर वसुबन्धु ने अपना भाष्य लिखा। इस ग्रन्थ में आचार्य के मूल सिद्धान्तों का विस्तृत स्पष्टीकरण है। इसी भाष्य के ऊपर स्वामि ने यह टीका बनाई है जो इसके सब ग्रन्थों से अधिक महत्वपूर्ण माना जाती है। आचार्य के गूढ़ सिद्धान्तों को समझने के लिए यह टीका नितान्त उपयोगी है^१।

१ इस ग्रन्थ का तिब्बतीय अनुवाद ही आत का परम्पु वं विजयेपर महाराज तथा का तुरी ने तिब्बतीय अनुवाद से इस ग्रन्थ का संस्कृत में पुनर्निर्माण किया है जिसका प्रथम भाग कलकत्ता कोरिबन्धन सौरीय (मे २४) में हुआ है। इस पूरे ग्रन्थ का अनुवाद का वेरणास्की ने चंपरनी में किया है। इसका पु भाग २ वास्की १९११। यह अनुवाद इस अठिग ग्रन्थ की सम्पन्न के लिए निगन्त उपयोगी है।

५ दिङ्नाग—इनका जन्म काष्ठी के पास सिंहवक्र नामक ग्राम में, एक ब्राह्मण के घर हुआ था। आपके 'नागदत्त' नामक प्रथम गुरु वात्सीपुत्रीय मत के एक प्रसिद्ध पण्डित थे। इन्होंने आपको बौद्धधर्म में दीक्षित किया, इसके पश्चात् आप आचार्य वसुबन्धु के शिष्य हुए। निमन्त्रण पाकर आप नालन्दा महाविहार में गए जहाँ पर आपने सुदुर्जय नामक ब्राह्मण तार्किक को शास्त्रार्थ में हराया। शास्त्रार्थ करने के लिए आप उड़ीसा और महाराष्ट्र में भ्रमण किया करते थे। आप अधिकतर उड़ीसा में रहा करते थे। आप तन्त्र-मन्त्रों के भी विशेष ज्ञाता थे। तिब्बतीय ऐतिहासिक लामा तारानाथ ने इनके विषय में लिखा है कि एक बार उड़ीसा के राजा के अर्थ-सचिव भद्रपालित—जिसे दिङ्नाग ने बौद्धधर्म में दीक्षित किया था—के उद्यान में हरीतकी वृक्ष की एक शाखा के विलकुल सूख जाने पर दिङ्नाग ने मन्त्र द्वारा उसे सात ही दिनों के अन्दर फिर से हरा-भरा कर दिया। इस प्रकार बौद्धधर्म में सारी शक्तियों को लगाकर उन्होंने अपने धर्म की अनुपम सेवा की। अन्त में ये उड़ीसा के एक जंगल में निर्वाण-पद में लीन हो गए। ये वसुबन्धु के पट्टशिष्यों में से थे, अतः इनका समय ईसा की चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्ध तथा पाँचवी शताब्दी का पूर्वार्ध (३४५ ई०-४२५ ई०) है।

(१) प्रमाण समुच्चय—इनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह संस्कृत में अनुष्टुप छन्दों में लिखा गया था। परन्तु बड़े दुःख की बात है कि इसका संस्कृतमूल उपलब्ध नहीं है। हेमचर्मा नामक एक भारतीय पण्डित ने एक तिब्बतीय विद्वान् के सहयोग से इस ग्रन्थ का तिब्बतीय भाषा में अनुवाद किया था। इस ग्रन्थ में ६ परिच्छेद हैं जिनमें न्यायशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों का विशद प्रतिपादन है। इनका विषय-क्रम यों है—(१) प्रत्यक्ष (२) स्वार्थानुमान (३) परार्थानुमान (४) हेतुद्वयान्त (५) अपोह (६) जाति।

(२) प्रमाण समुच्चयवृत्ति—यह पहले ग्रन्थ की व्याख्या है। इसका संस्कृत मूल नहीं मिलता, परन्तु तिब्बतीय अनुवाद उपलब्ध है।

(३) न्याय-प्रवेश—आचार्य दिङ्नाग का यही एक ग्रन्थ है जो मूल संस्कृत में उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थ के रचयिता के सम्वन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ लोग इसे दिङ्नाग के शिष्य 'शकरस्वामी' की रचना वतलाते

हैं। परन्तु वास्तव में यह विज्ञापन की ही कृति है। इसमें सन्देह करने का तनिक भी स्थान नहीं है^१।

(५) हेतुचक्राहमस—इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'हेतुचक्रनिर्णय' है। इसमें नव प्रकार के हेतुओं का संक्षिप्त वर्णन है। जब तक इस ग्रन्थ का सिम्बलीय अनुवाद ही मिलता था परन्तु दुर्भाग्यवश वर्तमान में इस ग्रन्थ का संस्कृत में पुनर्निर्माण किया है। इसके देखने से पता लगता है कि 'बोरो' नामक स्वामी के 'बोरोचक्र' नामक किसी विद्वान् ने जिह्वा वर्ममोक्ष की सहाय्य से सिम्बलीय भाषा में इसका अनुवाद किया था।

(६) प्रमाणशास्त्रस्यप्रवेश—इसके अनुवाद सिम्बली तथा चीनी भाषा में मिलते हैं। (७) आत्मस्मरण परीक्षा (८) आत्मस्मरणपरीक्षा वृत्ति—यह आत्मस्मरण परीक्षा की शीघ्र है। (९) भिक्कु परीक्षा—इसके संस्कृत मूल का पता नहीं है परन्तु सिम्बली भाषा में इसका अनुवाद मिलता है। (१०) मर्मप्रज्ञापवृत्ति—यह दिग्गन्ध के शुद्ध आचार्य गुरुवन्दु के 'अभिनिर्म कोश' की शीघ्र है। संस्कृत मूल का पता नहीं है। सिम्बलीय अनुवाद मिलता है।

बौद्ध स्वामी की प्रत्यक्षस्थिति करने में दिग्गन्ध का बड़ा हाथ है। इसके पहिले चीनम तथा बरतमान में पर्याप्ततुल्य के दिग्गन्ध 'पञ्चमनव नाम' का जन्म किया था। परन्तु इस मत का सम्बन्ध करके दिग्गन्ध न यह दिग्गन्ध है कि चीन ही जन्मों से काम बल सकता है। अतएव अनुमान के को लगान चीनम तथा वास्तविकता से दिग्गन्ध से उभयतः सम्बन्ध दिग्गन्ध से करने अभिनिर्म के द्वारा किया है कि शास्त्र शास्त्रिक सहायक का दिग्गन्ध के सिद्धान्तों का सम्बन्ध करने के दिग्गन्ध 'न्यायचक्र' जैसे शीघ्र ग्रन्थ की रचना करनी पड़ी। मीमांसक—मूर्धन्य कुमारिल मठ के भी दिग्गन्ध की रचनाओं का बड़े विस्तार के साथ 'रसोक्त-वार्तिक' में सम्बन्ध किया है। शास्त्र शास्त्रिकों के द्वारा दिग्गन्ध नये इस ग्रन्थ का सम्बन्ध को देखकर हम देखी आसीकिक गहरा की असीकिकिता प्राप्त सकते हैं। दिग्गन्ध बौद्धन्याय के निराल प्रतिपादक हैं जिन्होंने दिग्गन्ध के समर्थन के लिये अभिनिर्म

१ यह ग्रन्थ गानकशास्त्र आदिनिर्मल शीरीय (पृ १८) में प्रचलित हुआ है जिसका सम्पादन आचार्य ए. बी. गुप्त ने किया है। इस ग्रन्थ का सिम्बलीय भाषा में भी अनुवाद मिलता है जो गानकशास्त्र शीरीय १९ में दिया है।

सिद्धान्तों की उद्भावना कर बौद्धन्याय को स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित किया।

(६) शंकर स्वामी—चीन-देशीय ग्रन्थों से पता चलता है कि शंकर स्वामी दिङ्नाग के शिष्य थे। डा० विद्याभूषण उन्हें दक्षिण भारत का निवासी बताते हैं। चीनी त्रिपिटक के अनुसार शंकर स्वामी ने 'हेतुविद्यान्यायप्रवेश-शास्त्र' या 'न्यायप्रवेशतर्कशास्त्र' नामक बौद्ध न्याय ग्रन्थ बनाया था जिसका चीनी भाषा में अनुवाद ह्वेनसांग ने ६४७ ई० में किया था। इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है कि यह ग्रन्थ दिङ्नागरचित 'न्याय-प्रवेश' से भिन्न है या नहीं। डा० कीथ तथा डा० तुशी 'न्यायप्रवेश' को दिङ्नाग की रचना न मानकर शंकर स्वामी की रचना मानते हैं।

(७) धर्मपाल—धर्मपाल काश्मी (आन्ध्रदेश) के रहने वाले थे। ये उस देश के एक बड़े मंत्री के ज्येष्ठ पुत्र थे। लङ्कपन से ही ये बड़े चतुर थे। एक बार उस देश के राजा और रानी इनसे इतने प्रसन्न हुए कि उन लोगों ने इन्हें एक बहुत बड़े भोज में आमन्त्रित किया। उसी दिन सायंकाल को इनका हृदय सासारिक विषयों से इतना उद्धिग्न हुआ कि इन्होंने बौद्ध-भिक्षु का वस्त्र धारण कर सासार को छोड़ दिया। ये बड़े उत्साह के साथ विद्याध्ययन में लग गये और अपने समय के गम्भीर विद्वान् बन गए। दक्षिण से ये नालन्दा में आए और यहीं पर नालन्दा महाविहार के कुलपति के पद पर प्रतिष्ठित हुए। ह्वेनसांग के गुरु शीलभद्र धर्मपाल के शिष्य थे। जब यह विद्वान् चीनी यात्री नालन्दा में बौद्ध दर्शन का अध्ययन कर रहा था उस समय धर्मपाल ही वहाँ के अध्यक्ष थे। योगाचार मत के उत्कृष्ट आचार्यों में उनकी गणना की जाती थी। माध्यमिक मत के व्याख्याकार चन्द्रकीर्ति इन्हीं के शिष्यों में से थे।

इनके ग्रन्थ—(१) आलम्बन-प्रत्ययध्यान-शास्त्र-व्याख्या, (२) विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धिव्याख्या, (३) शतशास्त्रव्याख्या—यह ग्रन्थ माध्यमिक आचार्य आर्यदेव के शतशास्त्र की उत्कृष्ट व्याख्या है। इसका अनुवाद ह्वेनसांग ने चीनी भाषा में ६५२ ई० किया था। यह विचित्र सी बात है कि ह्वेनसांग ने योगाचार मत के ही ग्रन्थों का अनुवाद किया। केवल यही ग्रन्थ ऐसा है जो माध्यमिक मत से सम्बन्ध रखता है^१।

(८) धर्मकीर्ति—धर्मकीर्ति अपने समय के ही तर्कनिष्ठा धार्मिक व संशुद्ध सभ्यता निराला कीर्तिप्राप्ता भारत के धार्मिक गगन में उड़ा ही चढ़ाती रहेगी । इसकी अत्यधिक प्रतिभा की प्रशंसा प्रतिपत्ती धार्मिकों में भी सुखरूप से की है । बसन्त सर (१ ई) के न्यायमन्त्ररी में धर्मकीर्ति से सिद्धान्तों का तीव्र आलोचक होने पर भी, इनको 'सुनिपुणबुद्धि' तथा इनके प्रबल को 'अव-हमिमववीर' माना है^१ ।

इनका जन्म बोलबेरा के 'तिस्मरार्' नामक ग्राम में एक साधक कुल में हुआ था । तिस्मरारी परम्परा के अनुसार इनके पिता का नाम 'प्रेस्नन्' था । ये कुमारिसमूह के मयिनेय (गुरुवा) बतलाये जाते हैं । परन्तु इस बात के सत्य होने में बहुत शक्यता है । धर्मकीर्ति ने कुमारिस के सिद्धान्त का अध्ययन तथा कुमारिस के धर्मकीर्ति के सिद्धान्तों का अध्ययन किया है । इससे ज्ञात पकटा है कि दोनों समकालीन थे । धर्मकीर्ति की प्रतिभा कहीं निराला थी । ब्राह्मण-धर्मों का अध्ययन करने के लिए इन्होंने कुमारिस के घर शिक का पद ग्रहण किया, ऐसा ज्ञात जाता है । गुरुवा के पीछेपरि धर्मप्राप्त के शिष्य बन कर वे मित्र-संग में प्रविष्ट हुए । विश्वास की शिष्य-परम्परा के आधार पर ईश्वरदेव से इन्होंने बौद्धत्व का अध्ययन किया । बीबी बाजी इतिहास के अपने ग्रन्थ में धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है । इससे सिद्ध है कि १७१ ई से पूर्व ये अवश्य वर्तमान थे । धर्मप्राप्त के शिष्य शक्तिमत् गुरुवा के इस समय प्रभाव आधार से जब होखाइ नहीं अध्ययन के लिये आया था । धर्मप्राप्त के शिष्य होने से धर्मकीर्ति का समय १२५ ई के आसपास प्रतिष्ठित होता है ।

ग्रन्थ—धर्मकीर्ति के ग्रन्थ बौद्ध ग्रन्थ-शास्त्र पर हैं । इनकी संख्या मन है जिसमें सप्त मूल ग्रन्थ है और दो अपने ही ग्रन्थों पर इनकी की लिखी हुई कृतियाँ हैं ।

(१) प्रमाणवार्तिक—इस ग्रन्थ का परिमाण लगभग १५ श्लोक है । धर्मकीर्ति का कहीं संप्रोद्ध ग्रन्थ है जिसमें बौद्ध न्याय का परिष्कृत रूप विद्वानों के सामने आता है । यह ग्रन्थ-रत्न अब तक मूल संस्करण में अधस्त का परम्प

१ इति सुनिपुणबुद्धिर्लक्षणं वपुःश्रमा परशुपक्ष्मपीरं विर्मये बालवपुः ।

अथ सतिपादिम्या वेदितं विसिद्धम् ; अहमिमववीरं जीमसो धर्मकीर्तिः ॥

राहुल सांकृत्यायन ने बड़े परिश्रम से तिब्बत से इसकी खोज करके, प्राप्त कर प्रकाशित किया है। इसके ऊपर ग्रन्थकार ने स्वयं अपनी टीका लिखी थी। इसके अतिरिक्त दश और टीकायें तिब्बती भाषा तथा संस्कृत में मिलती हैं^१ जिसमें केवल मनोरथनन्दी की वृत्ति ही अब तक प्रकाशित हुई है। इस ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं। पहिले में स्वार्थानुमान, दूसरे में प्रमाणसिद्धि, तीसरे में प्रत्यक्षप्रमाण और चौथे में परार्थानुमान का वर्णन है।

(२) प्रमाण विनिश्चय—इसका ग्रन्थ परिमाण १३४० श्लोक है। यह मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं है।

(३) न्यायविन्दु—धर्मकीर्ति का यही सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। बौद्ध न्याय इसका विषय है। ग्रन्थ सूत्र रूप में है। इसके ऊपर धर्मोत्तराचार्य की टीका (काशी संस्कृत सीरिज सख्या २२) प्रकाशित है। इस ग्रन्थ में तीन परिच्छेद हैं। पहिले परिच्छेद में प्रमाण के लक्षण तथा प्रत्यक्ष के भेदों का वर्णन है। दूसरे परिच्छेद में अनुमान के दो प्रकार—स्वार्थ और परार्थ का वर्णन है। साथ ही साथ हेत्वाभास का भी वर्णन है। तृतीय परिच्छेद में परार्थानुमान का विषय है तथा तत्सम्बद्ध अनेक विषयों का विवरण है।

(४) सम्बन्ध परीक्षा—यह बहुत ही छोटा ग्रन्थ है। इसके ऊपर धर्मकीर्ति ने स्वयं वृत्ति लिखी थी जो मूल ग्रन्थ के साथ तिब्बतीय अनुवाद में आज भी उपलब्ध है।

(५) हेतुविन्दु—यह न्यायपरक ग्रन्थ परिमाण में न्यायविन्दु से बड़कर है। यह संस्कृत में उपलब्ध है परन्तु अभी तक छपा नहीं है।

(६) वादन्याय—यह वाद-विषयक ग्रन्थ है।

(७) सन्तानान्तर-सिद्धि—यह छोटा ग्रन्थ है जिसमें ७२ सूत्र हैं। मन सन्तान के परे भी दूसरी दूसरी मन सन्तानें (सन्तानान्तर) है, इसमें ग्रन्थकार ने यह सिद्ध किया है तथा अन्त में दिखलाया है कि किस प्रकार ये मनोविज्ञान के सन्तान दृश्य जगत् की उत्पत्ति करते हैं।

धर्मकीर्ति की शिष्य परम्परा बड़ी लम्बी है जिसके अन्तर्भुक्त होने वाले पण्डितों ने बौद्धदर्शन का अपने ग्रन्थों की सहायता से विशेष प्रचार तथा प्रसार किया परन्तु स्थानाभाव से इन ग्रन्थकारों का परिचय यहाँ नहीं दिया जा सकता।



अष्टावश्या परिच्छेद दार्शनिक सिद्धान्त

सौमन्यिक मत के पर्यालोचन के अवसर पर हमने उनका दार्शनिक दृष्टि से परिचय प्राप्त किया है। उनके मत में पाञ्च पदार्थ की सत्ता ज्ञान के द्वारा अनुभव है। इमें पाञ्चत्व की प्रतीति होती है। अतः हमें वास्तव समीक्षा की सत्ता का अनुमान होता है। इसलिये ज्ञान के द्वारा ही वायु पदार्थों के अस्तित्व का परिचय हमें मिलता है। विज्ञानवादी इस मत से एक उभय कक्ष कर कहता है कि यदि वास्तव की सत्ता ज्ञान पर अवलम्बित है तो ज्ञान ही वास्तव सत्ता है। विज्ञान का निश्चय ही एकमात्र परमार्थ है। अणु के पदार्थ तो वस्तुता मायाभरीविषय के समान निस्वभाव तथा स्वयं के समान विरुद्धात्मक हैं। जिसे हम पाञ्च पदार्थों के नाम से अभिहित करते हैं, उसका विरलेक्षण करें तो वहाँ शोक से देखे गये रंग-रस-स्पर्श का एक-व्यवस्था-विच्छेदना आदि गुण ही मिलते हैं। इनके अतिरिक्त किसी वस्तु स्वभाव का परिचय हमें नहीं मिलता। अनेक वस्तु के देखने पर हमें नीला पीला रंग तथा लंबाई, चौड़ाई, गहराई आदि को छोड़कर केवल रूप—भौतिकतत्त्व—विकारा नहीं पड़ता। वायु पदार्थ का ज्ञान हमें कबमपि हो नहीं सकता। यदि वायु पदार्थ अणुरूप है तो उसका ज्ञान नहीं हो सकता। यदि वह अणु-रूप है (अर्थात् अनेक परमाणुओं के संघात से बना हुआ है) तोही उसका ज्ञान असम्भव है। क्योंकि अणुरूप पदार्थों के अनेक अंग-अवयव का (अणुसंघात का) एक-कालिक ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता। ऐसी दशा में हम वास्तव की सत्ता किस प्रकार मान सकते हैं? सत्ता केवल एक ही पदार्थ की है और वह पदार्थ विज्ञान है।

वायु पदार्थों के अभाव में हम उनकी सत्ता नहीं मान सकते। प्रतिदिन का जीवन हमें बतलाता है कि अनुभव का हम कबमपि प्रतिवेक नहीं कर सकते। 'हम जानते हैं' इस पदमा का स्तरस्फार कोई भी नहीं कर सकता। अतः ज्ञान है—वही वास्तव सत्ता है। विज्ञानवादी विद्वान् अत्यन्तवादी है। उसकी दृष्टि में भौतिक पदार्थ विनाश अविद्य है निराल ही वास्तवपदार्थ के अभाव में भी अन्य पदार्थ

है। विज्ञान अपनी सत्ता के लिए कोई अवलम्बन नहीं चाहता। वही अवलम्बन के बिना ही सिद्ध है। इसी कारण विज्ञानवादी को 'निरालम्बनवादी' की सहा प्राप्त है।

माध्यमिकों का शून्यवाद विज्ञानवादी की दृष्टि में नितान्त हेय सिद्धान्त है। जब हम किसी पदार्थ के विषय में सोच सकते हैं—प्रतिवादी के अभिप्राय को समझकर उसकी युक्तियों का खण्डन करते हैं—तब हमें बाध्य होकर शून्यवाद को तिलाञ्जलि देनी पड़ती है। माध्यमिक को लेखित कर योगाचार का कथन है कि 'यदि तुम्हारा सर्वशून्यता का सिद्धान्त मान्य ठहराया जाय, तो शून्य ही तुम्हारे लिए सत्यता के माप की कसौटी होगा। तब दूसरे वादी के साथ वाद करने का अधिकार तुम्हें कथमपि नहीं हो सकता'। प्रमाण के भावात्मक होने पर ही वाद विवाद के लिए अवकाश है। शून्य को प्रमाण मानने पर शास्त्रार्थ की कसौटी ही क्या मानी जायगी जिससे द्वार जीत की व्यवस्था की जा सकेगी। ऐसी दशा में तुम किस प्रकार अपने पक्ष को स्थापित कर सकते हो या पर-पक्ष में दूषण लगा सकते हो^१? भावात्मक नियामक के अभाव में यही दशा गले पतित होगी। अतः इस विज्ञान की सत्ता शून्यवादियों को भी माननी ही पड़ेगी; नहीं तो पूरा तर्कशास्त्र असिद्ध हो जायेगा। शून्यवादिया ने स्वयं अपने पक्ष की पुष्टि में तर्क तथा युक्ति का आश्रय लिया है और इनके लिए उन्होंने तर्कशास्त्र का विशेष ऊहापोह किया है। परन्तु विज्ञान के अस्तित्व को न मानने पर—यह शून्यवादियों का पूरा उद्योग बालू की भीत के समान भूतलशायी हो जायेगा। अतः विज्ञान (= चित्त) की ही सत्ता वास्तविक है।

इस विषय में 'लंकावतारसूत्र' का स्पष्ट कथन है—

चित्त वर्तते चित्त चित्तमेव विमुच्यते ।

चित्त हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुच्यते ॥

चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है। चित्त को छोड़कर दूसरी वस्तु उत्पन्न नहीं होती और न उसका नाश होता है। चित्त ही

१ त्वयोक्तसर्वशून्यत्वे प्रमाण शून्यमेव ते ।

अतो वादेऽधिकारस्ते न परेणोपपद्यते ॥

२ स्वपक्षस्थापनं तद्वत् परपक्षस्य दूषणम् ।

कथं करोत्यत्र भवान् विपरीतं वदेन्न किम् ॥ (सर्वसिद्धान्तसंग्रह पृ० १२)

एकमात्र तत्त्व है। बसुबन्धु ने भी 'विद्युतिमात्रता सिद्धि' में इसी तत्त्व का बड़ा ही मार्मिक निवेदन प्रस्तुत किया है।

। 'विज्ञान' के अन्य पदार्थ हैं—चित्त, मन तथा निश्चयि^१। किसी निश्चिद्विषय की प्रभावदा माधुर्य इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। चेतन किन्ना से सम्बन्ध होने से वह चित्त कहलाता है, अन्धविज्ञान करने से बड़ी 'मन' है तथा किन्नों के प्रज्ञान करने में कारणभूत होने से बड़ी 'निश्चयि' पर वाच्य होता है—

चित्तमात्रयविज्ञानं मनो बन्धन्यनात्मकम् ।

गृह्णाति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते ॥

।

(संज्ञाव्याख्यान, पृ. १२)

साक्षात्कार धर्म में तथा बोधान्तर धर्मों में चित्त की ही एकमात्र सत्ता का प्रतिपादन बड़े ही व्यक्तित्व के साथ किया गया है। इस विषय में चित्तने हेतु प्रत्यक्ष से व्यक्तित्व संसृष्ट पदार्थ हैं, उनका न तो आत्मत्व है और न कोई आत्मत्व वेने जाता ही है। वे निश्चित रूप से चित्त—मात्र हैं—चित्त के चित्त विविध बान्धन परित्यक्त है^२। साधारण जन कारणों को चित्त स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं, परन्तु वह केवल व्यवहार के लिए सत्ता (प्रवृत्ति सत्ता) के रूप में कहा किना गया है; वह वास्तव इन्द्रिय (इन्द्रिय सत्ता) कबमपि नहीं है। वह पञ्च इन्द्रियों का समुदाय माना जाता है परन्तु स्वतन्त्र स्वयं सत्ता—रूप है, इन्द्रिय रूप से उनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती^३। इस कथन में न तो शक विद्यमान है, न शक्यता। चित्त को छोड़कर कोई भी पदार्थ सत्ता नहीं है। परमार्थ को माना धर्मों से पुनरावृत्त होता है। तत्त्वता शून्यता, विचार्य बर्धन, सब उसी परम तत्त्व के परावर्तनी नाम हैं। चित्त (आत्मविज्ञान) की ही तत्त्वता के माय से पुनरावृत्ति है^४। अतः बोधान्तर का परिमित्वित सत्ता नहीं है^५—

हरयते न विद्यते बाह्य चित्तं चित्तं हि हरयते ।

वहभोगप्रसिद्धान् चित्तमात्रं यथाम्बहम् ॥

१ चित्तं मनस्य विज्ञानं सत्ता बोधवर्जिता

विशेषवर्मेता प्रज्ञा भावना न विनात्मना ॥

(संज्ञाव्याख्यान १४)

२ संज्ञाव्याख्यान १२५

३ बड़ी १२७

४ संज्ञाव्याख्यान १२१

५ बड़ी १२३

अर्थात् बाहरी दृश्य जगत् विल्कुल विद्यमान नहीं है। चित्त एकाकार है। परन्तु वही इस जगत् में विचित्र रूपों से दीख पड़ता है। कभी वह देह के रूप में और कभी भोग (वस्तुओं के उपभोग) के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, अतः चित्त ही की वास्तव में सत्ता है। जगत् उसीका परिणाम है।

चित्त ही द्विविध रूप से प्रतीयमान होता है^१—(१) ग्राह्य-विषय, (२) ग्राहक—विषयी, ग्रहण करनेवाली वस्तु की उपलब्धि के समय तीन पदार्थ उपस्थित होते हैं—एक तो वह जिसका ग्रहण किया जाता है (विषय, चित्त के घट-पट), दूसरा वह जो उक्त वस्तु का ग्रहण करता है (विषयी, द्विविध कर्ता) और तीसरी वस्तु है इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध या ग्रहण। रूप ग्राह्य-ग्राहक ग्रहण अथवा ज्ञेय-ज्ञाता ज्ञान—यह त्रिपुटी सर्वत्र विद्यमान रहती है। साधारण दृष्टि से यहाँ तीन वस्तुओं की सत्ता है, परन्तु ये तीनों ही एकाकार बुद्धि या विज्ञान या चित्त के परिणाम हैं जो वास्तविक न होकर काल्पनिक हैं। भ्रान्त दृष्टि वाला व्यक्ति ही अभिन्न बुद्धि में इस त्रिपुटी की कल्पना कर उसे भेदवती बनाता है^२। विज्ञान का स्वरूप एक ही है, भिन्न भिन्न नहीं। योगाचार विज्ञानाद्वैतवादी हैं। उनकी दृष्टि पूरी अद्वैतवाद की है, परन्तु प्रतिमान—प्रतिभासित होनेवाले पदार्थों की भिन्नता तथा बहुलता के कारण एकाकार बुद्धि बहुल के समान प्रतीत होती है। बुद्धि में इस प्रतिमान के कारण किसी प्रकार का भेद उत्पन्न नहीं होता^३। इस विषय में योगाचारी विद्वान् प्रमदा का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। एक ही प्रमदा के शरीर को सन्यासी शव समझता है, कामुक कामिनी जानता है तथा कुत्ता उसे भक्ष्य मानता है। परन्तु वस्तु एक ही है। केवल कल्पनाओं के कारण वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न प्रतीत होती है। वाला के समान ही बुद्धि की दशा है। एक होने

१ चित्तमात्रं न दृश्योऽस्ति, द्विधा चित्तं हि दृश्यते ।

ग्राह्याग्राहकभावेन शाश्वतोच्छेदवर्जितम् ॥ (लकावतार ३।६५)

२ अविभागो हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।

ग्राह्याग्राहकसवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥ (सं. सि० सं० पृ० १२)

३ बुद्धिस्वरूपमेकं हि वस्त्वस्ति परमार्थतः ।

प्रतिमानस्य नानात्वाच्च चैकत्वं विहन्यते ॥ (सं. सि० सं० ४।२।६)

पर जो वह माना प्रतिमास्थि होती है। कर्मा-कर्म विपक्ष-विपक्षी वह सब स्वयं है।

विज्ञान के प्रमेद

विज्ञान का स्वरूप एक अमिश्र आकार का है परन्तु व्यवस्थामेद से यह आठ प्रकार का माना जाता है । (१) बभ्रुविज्ञान (२) धातु-विज्ञान (३) प्राण-विज्ञान (४) बिना विज्ञान (५) काम विज्ञान (६) मनोविज्ञान (७) क्रिष्ट मनोविज्ञान (८) आलय विज्ञान । इनमें आदिम सप्त विज्ञानों को प्रकृति विज्ञान कहते हैं जो आत्मन्य विज्ञान से ही उत्पन्न होती हैं तथा उची में बिलौन हो जाते हैं ।

(१) — चक्षुषिप्राग

अवृत्ति विज्ञान में चतुर्विधता के लक्षण तथा स्वभाव का विवरण अर्थात् 'मोसाबार गूमि' में दिया है। चतु के सहारे ही जो विज्ञान प्राप्त होता है वह चतुर्विज्ञान कहलाता है। इन विज्ञान के तीन आधाय हैं—

(१) यशु-बौ विज्ञान के शास्त्र शास्त्र अस्तित्व में आता है और शास्त्र ही मान्य बिलौन होता है । अतः शास्त्र सर्वदा होने के कारण यशु सर्वभू आश्रय है ।

(२) मन जो इस विधान की श्रुतियों का पीछे का भय बनता है । मन समस्तमन्त्र का भय है ।

[illegible]

(२) मन्त्रोपनिषद्

कह जाय कि जिन है । जिन कन कौर जिन काहे काय है । गुरुद्वय

बीजों को धारण करने वाला जो आलय-विज्ञान है वही चित्त है। मन वह है जो अविद्या, अभिमान, अपने को कर्ता मानना तथा विषय की तृष्णा इन चार क्लेशों से युक्त रहता है। विज्ञान वह है जो कि आलम्बन की क्रिया में उपस्थित होता है। मनोविज्ञान का आश्रय स्वयं मन है। यह समनन्तर आश्रय है क्योंकि श्रोत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होनेवाले विज्ञान के अनन्तर वही इन विज्ञानों का आश्रय बनता है। इसीलिये मन को 'समनन्तर' आश्रय कहते हैं। बीज आश्रय तो स्वयं आलय-विज्ञान ही है। इस विज्ञान का विषय पाँचों इन्द्रियों के पाँचों विज्ञान हैं जिन्हें साधारण भाषा में 'धर्म' कहा जाता है। मन के महायकों में मनस्कार, वेदना, सङ्गा, स्मृति, प्रज्ञा, श्रद्धा, रागद्वेष, ईर्ष्या आदि चैत्तिक (चित्त-सम्बन्धी) धर्म हैं। मन के वैशेषिक कर्म नाना प्रकार के हैं जिनमें विषय की कल्पना, विषय का चिन्तन, उन्माद, निद्रा, जागना, मूर्च्छित होना, मूर्च्छा से उठना, कायिक-वाचिक-कर्मों का करना, शरीर छोड़ना (च्युति) तथा शरीर में आना (उत्पत्ति) आदि हैं। अलग ने मन की च्युति तथा उत्पत्ति के विषय में भी बहुत सी ऐसी सूक्ष्म वस्तुओं का विवेचन किया है जो आजकल के जीव-विज्ञान तथा मानस-शास्त्र (मनोविज्ञान) की दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण तथा विवेचनीय है।

(३) क्लिष्ट मनोविज्ञान—

यह सप्तम विज्ञान है। यह विज्ञान तथा आलय विज्ञान—दोनों विज्ञानवादी दार्शनिकों के सूक्ष्म मनस्तत्त्व के विवेचन के परिणाम हैं। सर्वास्तिवादियों ने विज्ञान की विवेचना ६ प्रकारों की स्वीकृत की है, परन्तु योगाचार-मतानुयायी पण्डितों ने दो नवीन विज्ञानों को जोड़कर विज्ञानों की सख्या आठ मानी है। षष्ठ तथा सप्तम विज्ञान 'मनोविज्ञान' का अमिष अभिधान धारण करते हैं, परन्तु उनके स्वरूप तथा कार्य में पर्याप्त विभिन्नता विद्यमान है। षष्ठ विज्ञान 'मनन' की साधारण प्रक्रिया का निर्वाहक है। षष्ठ इन्द्रिय विज्ञानों के द्वारा जो विचार या प्रत्यय उसके सामने उपस्थित किया जाता है, उसका वह मनन करता है, परन्तु वह यह विमर्श नहीं करता कि कौन से प्रत्यय आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं और कौन अनात्मा से। 'परिच्छेद' (विवेचन) का यह सप्तम व्यापार सप्तम विज्ञान का अपना विशिष्ट कार्य है। वह सदा इस कार्य में व्यापृत रहता

है बाहे प्राणी निश्चित है बाहे वह किसी कारण से चेतमाहीन हो गया हो। वह मनोविज्ञान छात्रों के 'आह्वार' का प्रतिनिधि है। यह आह्व (आत्म) विज्ञान के साथ उसी प्रकार सम्बन्ध रखता है जिस प्रकार ईश्वर के साथ ब्रह्म के मिला मिल हिस्से। मनोविज्ञान का विषय 'आत्म विज्ञान' का स्वरूप होता है। यह विज्ञान अपनी आन्त रूपका के सहारे आत्मविज्ञान को अपरिवर्तनशील जीव समझ बैठता है। आत्म विज्ञान सत्त परितर्कशील होने से जीव से मिला है परन्तु अहंकारमिश्रणी यह सत्त विज्ञान सत्त से ही आत्मा मानने के लिए आग्रह करता है। इसके सहस्रक (साधियों) में निम्नलिखित चैतन्य बर्णों की व्यवस्था की जाती है—५ सामान्य चित्तवर्ग प्रज्ञा सोम मोह, ज्ञान अज्ञान इति (अज्ञान किसी वस्तु के विषय में मिथ्या ज्ञान), स्वप्न, औद्यम, औद्यम (आत्म), सुविस्मृति (विस्मरण), अर्धप्रज्ञा (अज्ञान) तथा विशेष (चित्त का इच्छा-अवस्था)। इस मनोविज्ञान की प्रमाणें हीत उपेक्षा की होती है। उपेक्षा का अर्थ है व कुशल व अकुशल, अपितु उत्पन्नता की हीत। यह उपेक्षा ही प्रकार की होती है—आहत (अभी हुई) उपेक्षा तथा अमाहत उपेक्षा। 'आहत उपेक्षा' की प्रभावता इस सत्त विज्ञान में रहती है। विद्युत् आह्वार कोटक उत्पन्न होने के कारण वह निर्वाण का अवरोध करता है। रूपका का अर्थ-तक छात्रात्म्य है तब तक निर्वाण का विद्युत् प्रकाश इयाही इति के सामने उपस्थित नहीं होता। 'अह' की रूपका माता-परीक्षित के समान प्राम्ति उत्पन्न करती है। प्राणी वास्तविकता से लेकर अज्ञानता तक माता अज्ञान-मोह, विचार तथा आराक्षा के विरोध को धारण करता हुआ सत्त परितर्कित होता रहता है। अज्ञान 'अह' को अपरिवर्तनशीलबलताया मन्ता है जहाँ विद्यमान है जिसकी जीव की अर्थ। पूर्व मनोविज्ञान से पार्श्वन विद्यमान के लिए इसे द्विष्ट (कष्टोपेक्षित वृत्त) मनोविज्ञान की छा की गई है। विद्या का वह द्विष्ट परितर्क माता जाता है।

(५) आहत विज्ञान—

योगाचारमत में 'आहत विज्ञान' की रूपका समयिक महत्त्व रहती है।

१ इहम्—विज्ञानमात्रासिद्धि पृ २२-२४।

“ तथाभित्त प्रवर्तते।

तदात्मन मनो माय विज्ञानं व्यवस्थाप्यम्। (निर्दिष्ट, परिच्छ ५)

अन्य दार्शनिकों ने विज्ञानवादियों पर इस सिद्धान्त के कारण बड़ा आरोप किया है, परन्तु विज्ञानवादियों ने इस स्वामीष्ट सिद्धान्त की रक्षा के लिए बड़ी अच्छी युक्तियों का प्रदर्शन किया है। 'आलय-विज्ञान' वह तत्त्व है जिसमें जगत् के समग्र धर्मों के बीज निहित रहते हैं, उत्पन्न होते हैं तथा पुनः विलीन हो जाते हैं। इसी को आधुनिक मनोवैज्ञानिक 'सबकानशस माइन्ड' कहते हैं^१। वस्तुतः यह 'आत्मा' का विज्ञानवादी प्रतिनिधि माना जाता है यद्यपि दोनों कल्पनाओं में साम्य होते हुए भी विशेष वैषम्य है। इस विज्ञान को 'आलय' शब्द के द्वारा अभिहित किये जाने के (आचार्य स्थिरमति के अनुसार) तीन कारण हैं—

(क) 'आलय' का अर्थ है स्थान। जितने क्लेशोत्पादक धर्मों के बीज हैं उनका यह स्थान है। ये बीज इसी में इकट्ठे किये गये रहते हैं। कालान्तर में विज्ञान रूप से बाहर आकर जगत् के व्यवहार का निर्वाह करते हैं।

(ख) इसी विज्ञान से विश्व के समग्र धर्म (= पदार्थ) उत्पन्न होते हैं। अतः समस्त धर्म कार्य रूप से सम्बद्ध रहते हैं। इसीलिये उनका नाम 'आलय' (लय होने का स्थान) है।

(ग) यही विज्ञान सब धर्मों का कारण है। अतः कारण-रूप से सब धर्मों में अनुस्यूत होने के कारण से भी यह 'आलय' कहा जाता है। इन व्युत्पत्तियों के समर्थन में स्थिरमति ने 'अभिधर्मसूत्र' की निम्नलिखित गाथा को उद्धृत किया है^२—

सर्वधर्मा हि आलीना विज्ञाने तेषु तत्तथा ।

अन्योन्यफलभावेन हेतुभावेन सर्वदा ॥

अर्थात् विश्व के समस्त धर्म फलरूप होने से इस विज्ञान में आलीन (सम्बद्ध) होते हैं तथा यह आलयविज्ञान भी उन धर्मों के साथ सर्वदा हेतु होने से सम्बद्ध रहता है, अर्थात् जगत् के समस्त पदार्थों की उत्पत्ति इसी विज्ञान से होती है। यह विज्ञान हेतुरूप है तथा समग्र धर्म फलरूप हैं।

१ Subconscious Mind.

२ तत्र सर्वसाक्लेकिकधर्मबीजस्थानत्वाद् आलयः । आलयः स्थानमिति पर्यायौ । अथवा आलीयन्ते उपनिवध्यन्तेऽस्मिन् सर्वधर्माः कार्यभावेन । यद्वाऽऽलीयते उपनिवध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेषु इत्यालयः । (त्रिशिका भाष्य पृ० १८)

३. मध्यान्तविभाग पृ० २८ ।

आत्मविज्ञान में अन्तर्निहित बौद्धों का फल वर्तमान संसार के रूप में स्थापित होते हैं। प्रथम संसार तथा उसका जो अनुभव सत् विद्वानों के द्वारा हमें प्राप्त होता है वे सब इन्हीं पूर्ववासीन यों से उत्पन्न होते हैं और वर्तमान संसारों तथा अनुभवों से भये-बने बौद्धों की उत्पत्ति होती है जो अविज्ञान में पीड़ित हैं वे आत्म विज्ञान में अपने को अन्तर्निहित करते हैं।

आत्मविज्ञान का स्वरूप समुद्र के स्थान्त से इदम्बधम् किमा वा सम्यग् है। इसा के मध्ये में समुद्र में—दूरी माफ़ी रहती है—वे सदा अपनी सीमा विप्रेक्षणा करती हैं—कभी विराम नहीं लेती। इसी प्रकार 'आत्म-विज्ञान' में भी विप्रेक्षणा समुद्र के मध्ये में विप्रेक्षणा विज्ञान-विज्ञान का कभी तरी उठती है, एसा स्वस्मान होकर अपना अंत विज्ञान स्वरूप करती है और कभी उच्छेद बारण नहीं करती। आत्मविज्ञान

समुद्रस्वभाव है, निरन्तर वरुण का प्रतिनिधि है तथा विज्ञान (सत्-विप्रेक्षणा) तरंगों के प्रतीक हैं। जिस प्रकार समुद्र और तरंगों में भेद नहीं है उसी प्रकार आत्मविज्ञान तथा अन्य सत्विषय विज्ञान विप्रेक्षणा से भिन्न नहीं हैं। अकार्य समुद्र में भी आत्मविज्ञान की कृति बड़ के श्रेष्ठ (बाद) के समान प्रतीक है। जिस प्रकार समुद्र में लवण, वायु, योग्य आदि वस्तु पदार्थों की जीवित हुआ एसा सभी वस्तु आकाश है, तभी प्रकार यह विज्ञान भी अन्य अनेक कर्मों की शक्ति से, अत्यन्त रूपों, संज्ञा, विज्ञान आदि वस्तुओं की जीवित हुआ समुद्र बड़ा, अत्यन्त है। जब तक यह संसार है तब तक 'आत्मविज्ञान' का विराम नहीं। यह इस अत्यन्त के प्रमाण है जो अनन्तर के से आगे बढ़ता जाता है, बड़ा होता अत्यन्त ही शक्ति।

यह 'आत्मविज्ञान' अत्यन्त अत्यन्त विज्ञान, आत्म विज्ञान है, परन्तु दोनों में स्पष्ट अन्तर भी विद्यमान है जिसकी अन्तर्दृष्टि, कहीं की वा उठती। अत्यन्त

१. तादा अद्वैतत्वं पञ्चप्रकारैरिति।

२. अत्यन्तत्वात् प्रवर्तते अनुपपन्नत्वात् न निवर्तते ॥ १

३. आत्मविज्ञानात् विज्ञान-विप्रेक्षणा-प्रतीकः।

४. विप्रेक्षणा-विज्ञान-प्रतीकः ॥ २. (सं. सू. २१९, ३)

५. तब करीब अत्यन्त-वत्। (विप्रेक्षणा का ४ सू. २१९९)

अपरिवर्तनशील रहता है—सदा एकाकार, एकरस, परन्तु 'आलय-
आलय-विज्ञान = विज्ञान परिवर्तनशील होता है। अन्य विज्ञान क्रियाशील हैं या
आत्मा अपना व्यापार बन्द कर दें, परन्तु यह 'आलय विज्ञान' विज्ञान
 का सन्तत प्रवाह बनाये रखता है। इसकी चैतन्य धारा कभी
 उपशान्त नहीं होती। यह प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहता है,
 परन्तु यह समष्टि चैतन्य का प्रतीक है।

इसके साथ सम्बद्ध सहायक चैत धर्म पाँच माने गये हैं—(१) मनस्कार
 (चित्त की विषय की ओर एकाग्रता), (२) स्पर्श (इन्द्रिय तथा विषय के साथ
 विज्ञान का सम्पर्क), (३) वेदना (सुख-दुःख की भावना),
आलय-विज्ञान के (४) सङ्गा (किसी वस्तु का नाम), (५) चेतना (मन की वह
 चैतधर्म [चेतना चित्ताभिसंस्कारो मनसश्चेष्टा। यस्यां सत्यात्मात्मन्येनं
 प्रति चेतसः प्रयन्द इव भवति, अयम्कान्तवशाद् अयं प्रत्यन्द-
 वत्—स्थिरमति] जो वेदना 'आलयविज्ञान' के साथ सहायक धर्म है, वह
 उपेक्षा भाव है जो अनिवृत्त तथा अव्याकृत माना जाता है। यह उपेक्षा (तट-
 स्थता की भावना—न सुख, न दुःख की दशा) मनोभूमि में विद्यमान रहने वाले
 आगन्तुक उपक्लेशों से ढकी नहीं रहती। अतः वह प्राणियों को निर्वाण तक
 पहुँचाने में समर्थ होती है। जिस विज्ञान का यह विश्व विजृम्भणमात्र माना गया
 है वह यही आलयविज्ञान है।

पदार्थ समीक्षा—

योगाचारमतवादी आचार्यों ने विश्व के समग्र धर्मों (पदार्थों) का वर्गीकरण
 विशेष रूप से किया है। धर्मों के दो प्रधान विभाग हैं—संस्कृत और असं-
 स्कृत। संस्कृतधर्म वे हैं जो हेतुप्रत्यय-जन्य हैं—जो किसी कारण तथा सहायक
 कारण से उत्पन्न होकर अपनी स्थिति प्राप्ति करते हैं। असंस्कृतधर्म हेतुप्रत्यय-
 जन्य न होकर स्वतः सिद्ध हैं। उनकी स्थिति किसी कारण पर अवलम्बित नहीं
 होती। इन दोनों के अन्तर्गत अनेक अवान्तर वर्ग हैं। संस्कृतधर्मों के चार
 अवान्तर विभाग हैं जिनकी गणना तथा संख्या इस प्रकार है—

(४) संस्कृतवर्म = ४१—(१) रूपवर्म = ११ (२) मित = ८ (३) के-
सिक = ५१ (४) वित्तविप्रसूत = २४ ।

(५) असंस्कृतवर्म = १ । इन समग्र वर्मों की संख्या पूरी एक शत है ।
संस्कृतवर्मों के विस्तृत वर्णन के लिए यहाँ पर्याप्त स्थान नहीं है । अतः असंस्कृत-
वर्मों के वर्णन से ही सन्तोष करना पड़ता है ।

असंस्कृतवर्म ९ हैं—(१) अकथ्य (२) अभिसंस्वानिरोध (३) अपरि-
संस्वानिरोध (४) अकथ्य, (५) अकथ्यनिरोध तथा (६) तथ्यता । इनमें प्रथम
तीन वर्म सर्वास्तिवर्गियों की कथ्यता के अनुसार ही हैं । इष्टम वर्म पिच्छे
परिच्छेद में हो जाने से इसकी पुनरावृत्ति आवश्यक है । शेषी वर्मों की व्याख्या
संक्षेप में की जाती है—

(४) अकथ्य—इस शब्द का अर्थ है उपेक्षा । उपेक्षा से अभिप्राय कुछ
वा वृत्त्य की मान्यता का सर्वथा निरस्तार है । निदानवादिनों के अनुसार 'अकथ्य'
को दया का सभी सामान्यार होता है । जब कुछ और कुछ उत्पन्न नहीं होते ।
बहु कथ्यव्यक्त में देखप्रयोगों की अनवस्थिति के समान की मान्यता स्थिति है ।

(५) संस्था-विद्वन्-निरोध—

बहु दया तब प्राप्त होती है जब दोषी-निरोध—समाप्ति में प्रवेश करता है—
और संस्था तथा वेदना के मान्यता वर्मों को निश्चय अपने दया में कर लेता है ।
इन प्रथम पाँच असंस्कृत वर्मों को स्वतन्त्र मानना उचित नहीं है । क्योंकि तथ्यता
के परिणाम से वे मिश्र मिश्र रूप हैं । 'तथ्यता' ही इस विषय में परिणाम कारण
करती है और ये पाँचो वर्म इसी के आश्रित विचारमान हैं ।

(६) तथ्यता—

'तथ्यता' का अर्थ है 'तथा' (वैसी वस्तु हो वसी तरह की स्थिति) का भजन ।
यही निदानवादिया का परमतत्त्व है । विषय के समग्र वर्मों का मित्य स्वीकी वर्म
तथ्यता ही है । 'तथ्यता' का अर्थ है अनिच्छावृत्त्य का अर्थ बहु पदार्थ जिसमें द्विती,
प्रथम का विचार व उत्पन्न हो । विचार हेतुप्रत्ययजन्य होता है । अतः 'तथ्यता' के
असंस्कृत वर्म होने के कारण अनिच्छाही इत्यादि सामान्यिक है । इसी सामान्यता के मूल

१ तथ्यता आनन्तर्यवैकल्या । x x x मित्य सर्वस्मिन् कालेऽसंस्कृत-
त्वात् विविच्यते । (मन्वान्त विभाग पृ ४१)

कोटि, अनिमित्त, परमार्थ और धर्मधातु पर्यायवाची शब्द हैं। भूत = सत्य + अविपरीत पदार्थ, कोटि = अन्त। इसके अतिरिक्त दूसरा ज्ञेय पदार्थ नहीं है अतः इसे भूतकोटि (सत्य वस्तुओं का पर्यवसान) कहते हैं^१। सब निमित्तों से विहीन होने के कारण यह अनिमित्त कहलाता है। यह लोकोत्तर ज्ञान के द्वारा साक्षात्कृत तत्त्व है—अतः परमार्थ है। यह आर्यधर्मों का सम्यक् दृष्टि, सम्यक् व्यायाम आदि श्रेष्ठ धर्मों का कारण (धातु) है—अतः इसकी सज्ञा 'धर्मधातु' है^२। इस तत्त्व का शब्दों के द्वारा यथार्थ-निरूपण नहीं हो सकता है। समस्त कल्पनाओं से विरहित होने से यही परिनिपन्न शब्द के द्वारा भी वाच्य होता है। आर्य असग ने निम्न-लिखित कारिका में जिस परमार्थ का निरूपण किया है वह तत्त्व यही 'तथता' है—

न सन्न न चासन्न तथा न चान्यथा न जायते व्येति न चावहीयते ।
न वर्धते नापि विशुध्यते पुनर्विशुध्यते तत्परमार्थलक्षणम् ॥

सत्ता-मीमांसा

योगाचार मत में सत्ता माध्यमिक मत के समान ही दो प्रकार की मानी जाती है—(१) पारमार्थिक और (२) व्यावहारिक। व्यावहारिक सत्ता को विज्ञान-

१ भूत सत्यमविपरीतमित्यर्थ। कोटि पर्यन्त। यत् परेणान्यत् ज्ञेय नास्ति अतो भूतकोटि भूतपर्यन्त। (स्थिरमति की टीका, मध्यान्तविभाग पृ० ४१)

२ यही 'तथता' 'भूत-तथता' के नाम से भी अभिहित होती है। अश्वघोष ने 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' में इस तत्त्व का विशेष तथा विशद प्रतिपादन किया है। ये अश्वघोष, कवि अश्वघोष से अभिन्न माने जाते हैं, परन्तु 'तथता' का इतना विस्तार इतना पहले होना संशयास्पद है। 'तथता' विज्ञानवादी तत्त्व है। परन्तु अश्वघोष को विज्ञानवादी मानना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। वैभाषिकमत के ग्रन्थों की रचना के लिए जो संगीति बुलाई गई थी उसका कार्य अश्वघोष की अध्यक्षता तथा सहायता से ही सम्पन्न हुआ। अतः ये सर्वास्तिवादी ही थे। तिब्बत में कई ग्रन्थों की पुष्पिका में इन्हें सर्वास्तिवादी स्पष्ट कहा गया है। इनके मत के लिये द्रष्टव्य Yamakami Sogen-Systems of Buddhist Thought (Chapter VII pp 252-267)

बाही आचार्य की भाषों में विमल करते हैं—(१) परिनिर्णयत सत्ता और (२) परतन्त्र सत्ता। अद्वैत वैशान्तिवियों के समान ही विद्वान्बाहियों का कथन है कि अणु का समस्त व्यवहार आरोप या उपचार के ऊपर अवलम्बित रहता है। वस्तु में अवस्तु के आरोप को अवधारण करते हैं—जैसे रज्जु में सर्प का आरोप। इस दृष्टान्त में सर्प का आरोप मित्रा है क्योंकि रज्जु से ही सर्प में हमें तबिले परिस्थिति में इस भ्रान्ति का निराकरण हो जाता है और रज्जु का रज्जुत्व हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। यहाँ सर्प की भ्रान्ति का ज्ञान परिनिर्णयित है। रज्जु की सत्ता परतन्त्र शब्द से अभिहित हो जाती है। वह वस्तु जिससे रज्जु बनकर तैयार हुई है परिनिर्णय सत्ता कहलायेगी।

संक्षेपतः सूत्र में भी परमार्थ और संज्ञा का भेद दिखता है। परमार्थ माध्यमिक ग्रन्थों में इस विषय का विवेचन है तथा सूत्र में विवेचन इस ग्रन्थ में नहीं मिलता। संज्ञा-छन्द (व्यवहारिक सत्य) परि संक्षेपतः कल्पित तथा परतन्त्र सत्ता स्वयम्भ के साथ सदा सम्बन्ध रहता सूत्र में है। इस दोनों प्रकार के ज्ञान होने के बाद ही परिनिर्णय ज्ञान विविध होता है। परमार्थ सत्य का सम्बन्ध इसी सत्य से है। परमार्थ सत्ता का ही नामान्तर 'भूतकोटि' है। संज्ञा सत्ता का प्रतिनिधित्वमान है। संज्ञा का कार्य है बुद्धि, जो दो प्रकार की मानी जाती है—

(१) प्रविचय बुद्धि और (२) प्रतिज्ञापिका बुद्धि। प्रविचय बुद्धि से परार्थों के अर्थार्थ रूप का ग्रहण किया जाता है। शून्यवादिनों के समान ही सब परार्थ सत्ता अणु अणु वस्तु बौद्धियों से सदा मुक्त रहते हैं^१। संक्षेपतः सूत्र का स्पष्ट कथन है कि बुद्धि से परार्थों की विवेचना करने पर उनका कोई भी स्वयम्भ ज्ञानमोक्ष नहीं होता। इसीलिये निम्न के समस्त परार्थों को लक्षणहीन (अव्यभिचार्य) तथा स्वयम्भहीन (निस्वयम्भ) मानना ही पड़ता है^२। वस्तु-तत्त्व का वह विवेचन प्रविचय बुद्धि का कार्य है।

१ संक्षेपतः सूत्र पृ. १२२।

२ बुद्ध्या विवेक्यमावासी स्वयम्भो नावकास्ते।

लम्भादव्यभिचार्यस्य विस्वभावाच्च हेतुतः॥

प्रतिष्ठापिका बुद्धि से भेद-प्रपञ्च आभासित होता है तथा अमत् पदार्थ सत् रूप से प्रतीत होता है। इस प्रतिष्ठापन व्यापार को 'समारोप' कहते हैं। लक्षण, इष्ट, हेतु और भाव—इन चारों का आरोप होता है। सारांश यह प्रतिष्ठापिका है कि जो लक्षण या भाव वस्तु में स्वयं उपस्थित न हो उसकी बुद्धि कल्पना करना प्रतिष्ठापन कहलाता है। लोक-व्यवहार के मूल में यही प्रतिष्ठापन व्यवहार सदा प्रवृत्त रहता है। इस प्रतिष्ठापिका बुद्धि का अतिक्रमण करना योगी जन का प्रधान कार्य है। बिना इसके अतिक्रमण किये हुए वह द्वन्द्वातीत नहीं हो सकता और निर्वाण की पदवी को प्राप्त नहीं कर सकता। परिकल्पित तथा परतन्त्र सत्य में परस्पर भेद है। परिकल्पित केवल निर्मूल कल्पनामात्र है। परन्तु परतन्त्र वास्तव सत्य सापेक्ष है।

परतन्त्र उतना दूषणीय नहीं होता। परन्तु परिकल्पित सत्य भ्रान्ति का कारण है। परतन्त्र शब्द का ही अर्थ है दूसरे के ऊपर अवलम्बित होने वाला। इसका तात्पर्य यह है कि परतन्त्र सत्ता स्वयं उत्पन्न नहीं होती परतन्त्रसत्ता अपितु हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होती है। परिकल्पित लक्षण में ग्राह्य ग्राहक भाव का स्पष्ट उदय होता है परन्तु भेद की कल्पना नितान्त भ्रान्त है।

ग्राहक भाव और ग्राह्य भाव दोनों ही परिकल्पित हैं, क्योंकि विज्ञान एकाकार रहता है, उसमें न तो ग्राहकत्व है और न ग्राह्यत्व है। जब तक यह ससार है तब तक यह द्विविध कल्पना चलती रहती है। जिस समय ये दोनों भाव निवृत्त हो जाते हैं उस समय की अवस्था परिनिष्पन्न लक्षण कही जाती है। परतन्त्र सदा परिकल्पित लक्षण के साथ मिश्रित होकर हमारे सामने उपस्थित होता है। जिस समय उसका यह मिश्रण समाप्त हो जाता है और वह अपने विशुद्ध रूप में प्रतीत होने लगता है वही उसकी परिनिष्पन्नावस्था है। अतः इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये कल्पना को सदा के लिये विराम देना चाहिये। बिना कल्पना के उपशम हुए परमार्थ तत्त्व की प्रतीति कथंमपि नहीं होती।

आचार्य असेग ने महायान सूत्रालंकार में सत्य के इन तीन प्रकारों का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है —१—परिकल्पित सत्ता वह है जिसमें किसी वस्तु का नाम या अर्थ अथवा नाम का प्रयोग सकल्प के द्वारा किया

आज' । २—परतन्त्र्य सत्ता वह है जिसमें आग्र और सत्ता के आग्र के तीनों लक्षण अपना के ऊपर अवलम्बित हों । आग्र के विषय में तीन भेद आसंभ ने स्वीकार किये हैं (क) पदमास (शब्द) आसंभका (ग) अर्थास (अर्थ) (ग) देशमास (शरीर) । आग्र के अर्थ भी तीन भेद होते हैं—(क) सम (ख) उद्ग्रह (अनुग्रह) आदि पाँच इन्द्रिय विज्ञान), (ग) विकल्प । आग्र और आग्र के ये तीनों भेद जिस अर्थवा में उत्पन्न होते हैं उस अर्थवा की सत्ता परतन्त्र्य सत्ता कही जाती है^१ ।

३—परिनिर्णय वस्तु वह है जो मात्र और अभाव से उत्पन्न प्रकार उत्पन्न है जिस प्रकार दोनों के मिश्रित रूप से । वह कुछ और कुछ की अभाव से उत्पन्न होता है^२ । इसी का दूसरा नाम 'तत्त्व' है जिसमें आग्र कर दोषों पर मर्यादा कुछ तत्त्व (तत्त्व को प्राप्त होनेवाला व्यक्ति) के नाम से प्रसिद्ध हुए । वह परमार्थ अद्वैतरूप है । इसके स्वरूप का वर्णन करते समय आचार्य आसंभ का कहना है कि वह परमवर्ण पाँच प्रकार से वर्णित रूप हैं—आद्य-अद्य, तत्ता-अद्यता, अन्त-मरन्त, अद्य-अद्य, अद्य-अद्य—इन पाँचों अर्थवाओं से वह सत्ता उत्पन्न होता है । एक दूसरे अर्थ में आसंभ की उक्ति है कि बोधित्व समस्त शब्दों (शब्दों के अपने स्वरूप को जानने वाला) तभी कहा जा सकता है जब वह शब्दों के इन त्रिविध प्रकारों से अतीतों परित्यक्त हो जाता है । शब्दों के तीन प्रकार हैं —

१ अथा नामाधर्मस्व अन्तः प्रकृतत्वात् च वा ।

आसंभप्रतिमितं हि परिकल्पितव्यम् ॥ (महाभाष्य सूत्रार्थकार ११।२९)

२ त्रिविधं त्रिविधमात्रोऽग्रहणव्यवहारः ।

अमृतपरिच्छयो हि परतन्त्र्य सत्तवत् ॥ (बौ ११।४)

३ अमृतमवस्था वा च अन्तःप्रकृतत्वात् ।

अन्तःप्रकृतत्वात् अथ परिनिर्णयव्यवहारः ॥ (बौ ११।४९)

४ न सत्ता न वासत्ता तत्ता न वासत्ता न अन्तःप्रकृतत्वात् न वासत्ता ।

न वर्णते नापि निरुप्यते पुनः निरुप्यते तत्परमार्थव्यवहारः ॥

(पृ ५१९)

(क) अभावशून्यता—अभाव का अर्थ उन लक्षणों से हीन होने का है जिनको हम साधारण कल्पना में किसी वस्तु के साथ सम्बद्ध मानते हैं (परिकल्पित) ।

(ख) तथाभावशून्यता—वस्तु का जो स्वरूप हम साधारणतया मानते हैं वह नितान्त असत्य है । जिसे हम साधारण भाषा में घट नाम से पुकारते हैं उसका कोई भी वास्तविक स्वरूप नहीं (परतन्त्र) ।

(ग) प्रकृतिशून्यता—स्वभाव से ही समग्र पदार्थ शून्यरूप हैं (परिनिष्पन्न) । सम्यक्सम्बोधि का उदय तभी हो सकता है जब बोधिसत्त्व इन त्रिविध सत्यों के ज्ञान से सम्पन्न होता है^१ ।

आचार्यों के उपरिनिर्दिष्ट मतों के अनुशीलन करने से स्पष्ट है कि योगाचार-मत में सत्य तीन प्रकार का होता है^२ । माध्यमिकों की द्विविध सत्यता के साथ इनकी तुलना इस प्रकार की जाती है—

माध्यमिक

योगाचार

(१) सृष्टि सत्य { परिकल्पित
परतन्त्र

(२) परमार्थ सत्य = परिनिष्पन्न ।

परिकल्पित सत्य वह है जो प्रत्ययजन्य हो, कल्पना के द्वारा जिसका स्वरूप आरोपित किया गया हो तथा सच्चा रूप हमारी दृष्टि से अगोचर हो^३ ।

‘परतन्त्र’ हेतुप्रत्ययजन्य होने से दूसरे पर आश्रित रहता है, जैसे लौकिक प्रत्यक्ष से गोचर घट पटादि पदार्थ । ये सृष्टिका, कुम्भकारादि के संयोग से उत्पन्न होते हैं । अतः इनका स्वविशिष्ट रूप नहीं होता । ‘परिनिष्पन्न’ सच्चा अद्वैत वस्तु

१ अभावशून्यतां ज्ञात्वा तथा-भावस्य शून्यताम् ।

प्रकृत्या शून्यतां ज्ञात्वा शून्यज्ञ इति कथ्यते ॥ (म० सू० १४।३४)

सत्ता का विवेचन वसुवन्धु ने भी विज्ञप्तिमातृतासिद्धि में विशेष रूप से किया है । देखिये—(त्रिशिका पृ० ३९-४२)

२ कल्पितं परतन्त्रञ्च परिनिष्पन्न एव च ।

अर्थादभूतकल्पाच्च द्रव्याभावाच्च कथ्यते ॥ (मैत्रेयनाथ)

३ कल्पित, अत्ययोत्पन्नोऽनभिलाष्यश्च सर्वथा ।

परतन्त्रस्वभावो हि शुद्धलौकिकगोचर ॥

का ज्ञान है। परिनिष्पन्न का ही दूसरा नाम तथा परमार्थ धारि है^१। इस प्रकार विज्ञानवादी पक्षा व्योत्पत्ती है।

(ग) समीक्षा

विज्ञानवाद को समीक्षा करने बौद्ध सम्प्रदायों ने भी की है परन्तु इसकी मार्मिक तथा व्यापक समीक्षा प्राग्जन दशविज्ञों ने की है, विशेषतः कुमारिष्ठ भट्ट तथा आचार्य शंकर ने। बादरायण से तर्कवाद (महासूत्र २।२) में धर्म की स्थिति से अपने मतभेद का प्रदर्शन किया है जिसका भाष्य लिखते समग्र शंकराचार्य ने यहाँ विस्तार के साथ विज्ञानवाद की मौलिक गारणियों का वर्णन किया है^२। शम्भर भाष्य में निराकम्बनवाद का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है^३ परन्तु भट्ट कुमारिष्ठ ने दशोक्तार्थिक में बड़े विस्तार तथा ठीक कुशलता से योगाचार के मतों को व्यपगच्छों को आन्तर्हिद किया है^४। मेधाविक्रम में वाचस्पति मिथ वचन्तमह तथा उद्वगताचार्य का वर्णन बड़ा ही मौलिक तथा मार्मिक है। स्वामात्रय से संक्षिप्त समीक्षा से ही यहाँ सन्तोष किया गया है।

(१) कुमारिष्ठ का मत

विज्ञानवाद धर्मवादियों के समान ही द्विविध सत्यता का पक्षपाती है—संज्ञित सत्य तथा परमार्थ सत्य। कुमारिष्ठ का आक्षेप संज्ञितसत्य की गारणा पर है। संज्ञित सत्य को सत्य मानकर भी उसे मिथ्या माना जाता है, वह तिरस्कात तर्क की कसौटी पर नहीं ठिक ठकता। जब संज्ञित का ही धर्म मिथ्या है तब वह सत्य का प्रचार किस प्रकार हो सकती है? यदि वह सत्यस्व है तो उसे मिथ्या कैसे माना जावेगा? 'संज्ञितसत्य' की व्यपगच्छा ही विशेषी होने से स्पष्ट है। यदि कहा जाय कि धर्मार्थ और परमार्थ में 'असत्य' सामान्य धर्म है तो वह धर्म विरुद्ध है जैसे वृद्ध और गृह में 'वृद्धत्व' सामान्य धर्म। वृद्धत्व का केवल वृद्ध में ही है सिंह में नहीं। तब इसे दोनों वस्तुओं का सामान्य धर्म कैसे स्वीकार किया जाय?

१ कल्पिमेव स्वभारित तस्य वचन्तमहता ।

स्वमाकः परिनिष्पन्नाप्रविकल्पानुमीचारा ॥ (मध्यन्तविमल ५ १६)

२ महासूत्र भाष्य २।२

३ अष्टम्य भीमसाधु १।११५

४ दशोक्तार्थिक ५ २१०-२१० (बौद्धमा संस्करण कयी)

यथार्थ ज्ञात तो यह है कि जिस वस्तु का अभाय है, वह सदा अविद्यमान है ।
‘संवृतिसत्य’ और जो वस्तु सत्य है, वह परमार्थतः सत्य है । अतः सत्य पृथक्
की भ्रान्त है और मिथ्या अलग है । एक ही साथ दोनों का ममेला खड़ा
धारणा करना कथमपि उचित नहीं है । इसलिए सत्य एक ही प्रकार का
 होता है—परमार्थ सत्यरूप में । ‘संवृति सत्य’ की कल्पना कर
 उसे द्विविध रूप का मानना भ्रान्तिमान है^१ ।

विज्ञानवाद जगत् को सावृतिक सत्य मानता है । जगत् के समस्त पदार्थ
 मृगमरीचिका तथा गन्धर्वनगर के अनुरूप मायिक हैं । जाग्रत् पदार्थ भी स्वप्न
 में अनुभूत पदार्थ के सदृश ही काल्पनिक, सत्ताहीन, निराधार
स्वप्नका तथा भ्रान्त है । यह सिद्धान्त-यथार्थवादी मीमांसकों के आक्षेप का
रहस्य प्रधान विषय है । शावर भाष्य में जाग्रत् तथा स्वप्न का पार्य्यय
 स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है । स्वप्न में विपर्यय का ज्ञान
 अनुभव सिद्ध है । स्वप्न दशा में मनुष्य नाना प्रकार की वस्तुओं का (घोड़ा,
 हाथी, राजपाट, भोग, विलास आदि) अनुभव करता है, परन्तु निद्राभङ्ग होने पर
 जाग्रत् अवस्था में आते ही ये वस्तुयें अतीत के गर्भ में विलीन हो जाती हैं । न
 घोड़ा ही रहता है, न हाथी ही । शय्या पर लेटा हुआ प्राणी उसी दशा में अपने
 को पड़ा पाता है । अतः इस विपर्यय ज्ञान (विपरीत वस्तु के ज्ञान) से स्वप्न को
 मिथ्या कहा जाता है । परन्तु जाग्रत्-दशा का ज्ञान समानरूप से बना रहता है ।
 कभी उसका विपर्यय ज्ञान नहीं पैदा होता । अतः जाग्रत् को स्वप्न के प्रत्यय के
 समान निरालम्ब मानना कथमपि न्यायसिद्ध नहीं है^२ । कुमारिल ने इस आपेक्ष
 को नवीन तर्क से पुष्ट किया है । प्रतियोगी के दृष्ट होने पर जाग्रत् ज्ञान को मिथ्या

१ तस्माद् यन्नास्ति नास्त्येव यस्त्वस्ति परमार्थतः । ।

तत्सत्यमन्यन्मिथ्येति न सत्यद्वयकल्पना ॥ १० ॥

(श्लोकवार्तिक-पृ० २१९)

२ स्वप्ने विपर्ययदर्शनात् । अविपर्ययाच्चेतरस्मिन् । तत्सामान्यादितरत्रापि
 भविष्यतीति चेत् × × × सनिद्रस्य मनसो दौर्बल्यान्निद्रा मिथ्याभावस्य
 हेतुः । स्वप्नादौ स्वप्नान्ते च सुषुप्तस्याभाव एव ।

(शावर भाष्य, १.१५, पृ० ३०)

कहा जा सकता है। स्वप्न का प्रतिबोधी अनुभव से सिद्ध है, परन्तु

आमत् स्वप्न का प्रतिबोधी नहीं अनुभूत नहीं होता। किन्तु हम
पदार्थों की प्रत्यक्ष स्तम्भ देखते हैं वह सदा स्तम्भ ही रहता है। कभी
सदा अपना स्वरूप बदलकर किसी ऐसे पदार्थ के रूप में हमारे सामने
नहीं आता। अतः प्रतिबोधी के न बौद्ध पक्षने से हम आमत् स्वप्न

को मिथ्या नहीं मान सकते^१। इसके अन्तर में योगाचार का समाधान है कि बोधियों
की बुद्धि प्रतिबोधी होती है अर्थात् बोधी लोग अपने अतीतिक स्वप्न के सारे
आमत् स्वप्न के मिथ्यात्व का अनुभव करते हैं। परन्तु उन्मत्तित इस ठीक की
सत्यता को स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं—एक कल्प में कोई बोधी
नहीं ऐसा मना जिसकी बुद्धि में स्वप्न का ज्ञान मिथ्या सिद्ध हो। बोधी को अस्वा
को प्राप्त करनेवाले मालों की दशा क्या होगी। इसे मैं नहीं समझता^२। 'बोधी
की बुद्धि बाधबुद्धि होती है' इसका तो कोई उदाहरण मिलता नहीं। परन्तु हमारी
बुद्धि की जो यह प्रतीति है कि जो अनुभूत है वह मिथ्यात्व है (जो पक्षों से
विपरीत) इसके लिए उदाहरणों की कमी नहीं है^३।

स्वप्न की परीक्षा मतवाली है कि स्वप्न का ज्ञान विरासम्भन है नहीं। स्वप्न
प्रत्यय में भी बाह्य आसम्भन उपस्थित रहता है। दैरान्तर या कालान्तर में जिस
बाह्य वस्तु का अनुभव किया जाता है वही स्वप्न में स्मृतिक्रम से
स्वप्न ज्ञान उपस्थित होती है कि मात्तों वर्तमान देश तथा वर्तमानकाल में
का आधार वह निराश्रित हो। स्वप्न की स्मृति केवल इस कल्प की अन्त-
बाधों पर ही अस्तमित नहीं रहती, अतः वह कालान्तर में
अनुभूत पदार्थों पर भी आधारित रहती है। अतः स्वप्न का बाह्य आसम्भन
अपरम रहता है^४। आमत् स्वप्न में भान्ति के लिए भी बाह्य आसम्भन मिथ्यात्व

१ शक्तिकार्तिक विरासम्भनशब्द श्लोक ८८-९।

२ इस कल्पमें वैवाचिक तत्त्वउपस्थितते।

बोम्भनस्वापत्तावां तु न विद्या किं मनिष्यति ॥ (वही श्लोक ९४)

३ वही (श्लोक ९५-९६)

४ स्वप्नप्रतिप्रत्यये बाधर्ष सर्वथा नहि मेष्यते,
सर्वमासम्भन बाधर्ष दैराघनाम्भनप्रथमम्।

रहता ही है। भिन्न भिन्न स्थानों पर अनुभूत पदार्थों के एकीकरण से भ्रान्ति उत्पन्न होती है। उस भ्रान्ति के लिए भी भौतिक आधार अवश्यमेव विद्यमान रहता है। जल का अनुभव हमने अनेक बार किया है तथा सूर्य के किरणों से सन्तप्त घालुका राशि का भी हमने प्रत्यक्ष किया है। इन दोनों घटनाओं को एक साथ मिलाने से मृग-मरीचिका^१ का उदय होता है। अतः भ्रान्ति नाम देकर जिसे हम निराधार समझते हैं वह भी निराधार नहीं है। उसके लिये भी आधार—आलम्बन है। अतः ज्ञान को निरालम्बन मानना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता है।

योगाचार मत में विज्ञान में भिन्नता की प्रतीति होती है। कुमारिल का पूछना है कि अद्वैत विज्ञान में भेद कैसे उत्पन्न हुआ^२। वासना भेद से यह विज्ञान-भेद सम्पन्न होता है, यह ठीक नहीं। वासनाभेद का कारण क्या ज्ञान की है^३। यदि ज्ञानभेद इसका कारण हो, तो अन्योन्याश्रय दोष विचित्रता उपस्थित होता है—वासना के भेद से विज्ञानभेद तथा विज्ञान का प्रश्न के भेद से वासनाभेद। फलतः विज्ञान में परस्पर भेद समझाया नहीं जा सकता। ज्ञान नितान्त निर्मल है। अतः उसमें स्वतः भी भेद नहीं हो सकता^४। वासना की कल्पना मानकर विज्ञानवादी अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। एक क्षण के लिए वासना का अस्तित्व मान भी लिया जाय, तो वासना प्राहक (ज्ञाता) में भेद उत्पन्न कर सकती है, परन्तु प्राह्य (ज्ञेय, विषय) में भेद क्योंकि उत्पन्न होगा^५। विषय—घट, पट आदि—विज्ञान के ही रूप माने जाते हैं, तब घटा वज्र से भिन्न कैसे हुआ^६। छोड़ा हाथी से अलग कैसे हुआ^७। एकाकार विज्ञान के रूप होने से उनमें समता होनी चाहिए, विषमता नहीं। वासनाजन्य यह विषयभेद है, यह कथन प्रमाणभूत नहीं है, क्योंकि यह बात

जन्मन्येकत्र वा भिन्ने तथा कालान्तरेऽपि वा,

तद्देशो वाऽन्यदेशो वा स्वप्नज्ञानस्य गोधर ॥ (वही, श्लोक १०७, १०८)

१ पूर्वानुभूततोय च रश्मित्तोषर तथा ।

मृगतोयस्य विज्ञाने कारणत्वेन कल्प्यते ॥ (वही, श्लोक १११)

२ वही (श्लोक १७८-१७९) - - -

३ कुर्यात् प्राहकभेद सा प्राह्यभेदस्तु किं कृत ।

- सवित्या जायमाना हि सृष्टिमात्र करोत्यसौ ॥ (वही, १८१)

वासना' के स्वरूप से विरोधी है। वासना है वना ! पूर्ण अनुमत्त से उत्पन्न संस्कार मिश्रित (पूर्वानुमत्तवर्धित-संस्कारों वासना)। एक वह केवल स्मृति उत्पन्न कर सकती है। अतः वासना विषय की निम्नता को अस्वीकारि सिद्ध नहीं कर सकती।

विज्ञान के सर्गिक होने से तथा उसके ज्ञान के पीछे उसकी सत्ता के किसी भी बिंदु के न मिलने से वास्तव (वासना जिसमें उत्पन्न की जाय) तथा वास्तव (वासना का उत्पादक शून्य) में परस्पर एक-दूसरे में अन्तर्भाव वासना का नहीं होता^१। एक दोनों में 'वासना' कैसे सिद्ध होगी ? 'वासना' का अर्थ वास्तव का भौतिक अर्थ है किसी वस्तु में वास्तव का संक्रमण (जैसे कपड़े को फूल से वासना)। वह तभी सम्भव है जब दोनों पदार्थों की एकतात्मिक स्थिति हो। बीजमय में पूर्वजन्म की वासना उत्तरजन्म में संक्रमित होती है। परन्तु यह सम्भव कैसे हो सकता है ? पूर्वजन्म के होने पर उत्तरजन्म है अनुत्पन्न और उत्तरजन्म की स्थिति होने पर पूर्वजन्म विनाश हो गया है। फलतः दोनों शब्द के सम्बन्ध अस्त्वान न होने से वासना सिद्ध नहीं हो सकती। सर्गिक होने के कारण दोनों का व्यापार भी परस्पर नहीं हो सकता। जो वस्तु स्वयं नष्ट ही रही है वह नष्ट होनेवाली दूसरी वस्तु के द्वारा कैसे सर्गित की जा सकती है ? साथ ही अधिक उनकी स्थिति मात्रा पर ही यह सम्भव हो सकता है ? मूल आरोप तो जाता की सत्य न मानने पर है। वासना को स्वयं अधिक ठोड़ी उसका कोई न कोई विश्व स्वामी व्यापार मानना पड़ेगा। तभी उसका संक्रमण हो सकता है। व्यापार की सत्ता रहने पर ही वासना का संक्रमण सम्भवना जा सकता है। शोक में देखा जाता है कि सत्ता के रंग से फूल को लीजने पर उसका फल भी उसी रंग का होता है। वहाँ सत्ता सत्ता के अन्वय फूल से फल में सञ्चालित होती है। अतः संक्रमण के लिए व्यापार रहता है^२।

१ अतिक्रिये न विनाश विनाशो न विरत्यये ।

वास्तववाचकशोध्यमसाहित्याद्य वासना ॥ (बहो, श्लोक १६२)

२ अस्तु त्वमस्मिन्नी इत्यत्र अस्तम्यापि न पुन्यते
त त्वं वासनावाचो वासनापि स एव वा ।

इत्युक्ते बीजप्रज्ञापर्यवसायापुपटिष्यते

तत्पुन्यते अस्मिन् फले अस्तम्यामपि ॥ (बहो, श्लोक १६३-४)

परन्तु विज्ञानवाद में स्थायी ज्ञाता के न रहने से वासना का संक्रमण ही कैसे हो सकता है ? फलतः 'वासना' मानकर जगत् के पदार्थों की भिन्नता सिद्ध नहीं की जा सकती ।

२—विज्ञानवाद के विषय में आचार्य शंकर

शंकराचार्य ने विज्ञानवाद के सिद्धान्तों की मोमासा बड़ी मार्मिकता के साथ की है । वाद्यार्थ की सत्ता का अनिपेक्ष करते समय योगाचार की युक्तियों का खण्डन बड़ी तर्ककुशलता के साथ किया है । प्रत्येक वाद्यार्थ की वाद्यार्थ की अनुभूति में वाद्यपदार्थ की प्रतीति होती है, इसका अपलम्ब उपलब्धि कथमपि नहीं किया जा सकता । घट का ज्ञान करते समय विषय-रूप से घट उपस्थित हो ही जाता है । जिसकी साक्षात् उपलब्धि हो रही है उसका अभाव कैसे माना जा सकता है ? उपलब्धि होने पर उस वस्तु का अभाव मानना उसी प्रकार विरुद्ध होगा जिस प्रकार भोजन कर तृप्त होनेवाला व्यक्ति यह कहे कि न तो मैंने भोजन किया है और न मुझे तृप्ति हुई है । जिसकी साक्षात् प्रतीति होती है उसको असत्य बतलाना तर्क तथा सत्य दोनों का गला घोटना है । साधारण लौकिक अनुभव बतलाता है कि घट, पट आदि पदार्थ ज्ञान से अतिरिक्त बाहरी रूप में विद्यमान रहते हैं । विज्ञानवादी भी इस तथ्य को अनगीकृत नहीं कर सकता । वह कहता है कि विज्ञान बाहरी पदार्थ के समान प्रतीत होता है । यह समानता की धारणा तभी सिद्ध हो सकती है जब बाहरी वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता हो^१ । विज्ञान घट के समान प्रतीत होता है—इसका तात्पर्य यह है कि घट भी विज्ञान से अतिरिक्त है तथा सत्तावान है । कोई भी यह नहीं कहता कि देवदत्त, बन्ध्यापुत्र के समान प्रकाशित होता है, क्योंकि बन्ध्यापुत्र नितान्त असत्य पदार्थ है । असत् पदार्थ के साथ सादृश्य धारण करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा । अतः विज्ञानवादी को भी अपने मत से ही वाद्यार्थ की सत्यता मानना नितान्त युक्ति-युक्त है ।

१ यदन्तर्ह्येयरूप तद् बहिर्विदवभासते इति । तेषां सर्वलोकप्रसिद्धा बहिरवभासमाना सविद प्रतिलभमाना प्रत्याख्यातुकामाश्च वाद्यमर्थं बहिर्वदिति वत्कार कुर्वन्ति । (ब्रह्मसूत्र २।२।२८ शांकरभाष्य)

अर्थ तथा सत्ता ज्ञान सदा भिन्न होते हैं। वट तथा वट-ज्ञान एक ही वस्तु नहीं है। 'वट का ज्ञान' तथा 'वट का ज्ञान'—यहाँ ज्ञान की एकता बची हुई है,

परन्तु विरीचक रूप से वट तथा वट की मिश्रता है। शुद्ध गान्ध

अर्थ-ज्ञान और कृष्ण गान्ध—यहाँ मोक्ष में कोई भेद नहीं, विरीचक रूप की मिश्रता शुद्धता तथा कृष्णता में ही भेद विद्यमान है। अतः अर्थ तथा ज्ञान का भेद स्पष्ट है। दोनों को एक-अक्षर (बैते विज्ञानवादी कहते हैं) नहीं माना जा सकता।

स्वप्न और जागरित का अन्तर

बाह्यार्थ का विरस्मर करने वाले विज्ञानवादी को जागरित दशा में बहुत मूलमान पराजो को सत्ताहीन मानना पड़ता है। जब उसकी दृष्टि में स्वप्न में आह्वित वस्तु और जागरित दशा में वस्तुमूलक वस्तु में किसी अक्षर का भेद नहीं है। परन्तु दोनों वस्तुओं में इतना स्पष्ट वैषम्य होता पड़ता है कि दोनों को एक माना नहीं जा सकता। वैषम्य क्या है? बाह्य तथा बाह्य का अन्तः स्वप्न की वस्तु जाग्रते पर बाधित हो जाती है। स्वप्न में किसी में ऐसा कि वा बड़े भारी जन-समुदाय में आत्मज्ञान के दशा का। परन्तु जाग्रते पर वह अपने के छोटी चारपाई पर आकेछे सुषणाप लेते हुए पड़ा है। व तो जन-समुदाय में वह है, व उसने कोसने के लिए मुँह खोला है। जब उसे निद्रा के कारण अपने चित के स्थाय होने की आशंका का उसे पता चलता है। वहाँ जाग्रते पर स्वप्न के वस्तुमूलक का सब बाध (विरोध) उपस्थित होता है। जागरित में तो ऐसा कभी भी नहीं होता। जाग्रते दशा की वस्तुमूलक वस्तुएँ (वट वट, जम्बो तथा बीमांसा) किसी भी दशा में बाधित नहीं होती हैं। अतः जागरित ज्ञान को स्वप्न के समान कहना बड़ी भारी भूल है। यदि दोनों एक समान हो होते तो स्वप्न में कोई पर अक्षर कभी से प्रकाश होने वाला व्यक्ति जाग्रते पर अपने को प्रत्यक्ष में पाता। परन्तु ऐसी वटका कभी नहीं मिलती होती।

१ वचनं हि मयति स्वप्नजागरितयोः। किं पुनर्वचनम्? बाधनाबाधिति मूलाः। बाधते हि स्वप्नोपसम्भ वस्तु प्रतिबुद्धत्वं मिथ्या 'मनोपसम्भो महात्मन बाधनाम इति। नैव जागरितोपसम्भ वस्तु स्वप्नवद्विषयं कस्यापि स्वप्नस्यापि बाधते।

(शङ्करभाष्य २।१।२९)

स्वप्न = स्मृति ; जागरित = उपलब्धि :—

स्वप्न और जागरित के ज्ञान में स्वरूप का भी भेद है । स्वप्नज्ञान स्मृति है और जागरित ज्ञान उपलब्धि (सद्य प्रतीत अनुभव) है । स्मरण और अनुभव का भेद इतना स्पष्ट है कि साधारण व्यक्ति भी इसे जानता है । फोमल चित्त पिता कहता है कि मैं अपने प्रिय कनिष्ठ पुत्र का स्मरण करता हूँ, परन्तु पता नहीं । पाने के लिए व्याकुल हूँ, पर मिलता नहीं । स्मरण में तो कोई रुकावट नहीं । जितना चाहिए उतना स्मरण कीजिए । अतः भिन्न होने से जागरित ज्ञान को स्वप्न ज्ञान के समान मिथ्या मानना तर्क तथा लोक की भूयसी अवहेलना है^१ ।

विज्ञानवाद के सामने एक विकट समस्या है—विज्ञान में विचित्रता की उत्पत्ति किस प्रकार से होती है ? हम बाह्य अर्थ की विचित्रता को कारण नहीं मान सकते, क्योंकि बाह्य अर्थ तो स्वयं असिद्ध है । अतः वासना की विचित्रता को कारण माना जाता है । परन्तु 'वासना' की स्थिति के ही लिए उपयुक्त प्रमाण नहीं मिलता^२ । अर्थ की उपलब्धि (प्राप्ति) के कारण नाना प्रकार की वासनायें होती हैं, परन्तु जब अर्थ ही नहीं, तब उसके ज्ञान से उत्पन्न वासना की कल्पना करना ही अनुचित है । 'वासना' में विचित्रता किस कारण से होगी ? अर्थ विवित्र होते हैं । अतः उनकी उपलब्धि के अनन्तर वासना भी विचित्र होती है । परन्तु विज्ञानवाद में यह उत्तर ठीक नहीं । एक बात ध्यान देने की है कि वासना सस्कार-विशेष है और सस्कार बिना आश्रय के टिक नहीं सकता । लोक का अनुभव इस बात का साक्षी है, परन्तु बौद्धमत में वासना का कोई आश्रय नहीं । 'आलयविज्ञान' को इस कार्य के लिए हम उपयुक्त नहीं पाते, क्योंकि क्षणिक होने से उसका स्वरूप अनिश्चित है । अतः प्रवृत्ति-विज्ञान के समान ही वह वासना का अधिष्ठान नहीं हो सकता । अधिष्ठान चाहिए कोई सर्वार्थदर्शी, नित्य, त्रिकालस्थायी, कूटस्थ, पदार्थ । 'आलयविज्ञान' को नित्य कूटस्थ माना जायगा, जो उसकी स्थितरूपता

१ अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम् । उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम् ।

स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्र स्मरामि नोपलभे, उपलब्धमिच्छामीति (वही) ।

होने पर पिछान्त की छानि होनी। अतः वाप्य होकर 'वाप्य' की समस्त अनिर्धारित रह जाती है^१।

ऐसी विरुद्ध परिस्थिति में अणु की सत्ता को हेतु मान्य तथा केवल विरुद्ध की सत्ता में विरुद्ध करना तर्क की महती अपेक्षना है।

आत्मा की पञ्च स्कन्धात्मक मानने से निर्वाण को महती छानि पहुँचती है। जिस स्कन्ध-पञ्चक से पुण्य-संसार का अर्थन भ्रिया वह तो अतीत की वस्तु बन गया। ऐसी दशा में निर्वाण तथा उसके अपेक्षा को स्वर्णत वासना को सिद्ध हो जायेगी। इस वैयर्थ्य को दूर करने के लिये बौद्धों ने विषय में वासना का अस्तित्व स्वीकार किया है। जिस प्रकार इन्हीं ही हेमबन्धु मोती की माताओं की मलिका को एक साथ मिलकर गूँवने के का मत लिये सुत की अपरमयछा छूटी है, उसी प्रकार जिसमिन्न होने वाले अर्थों में उत्पन्न होनेवाले ज्ञान की, एक दृष्ट में बौद्धों वाली समस्त-वस्तु (ज्ञान का प्रवाह) का काम वासना है। पूर्ण ज्ञान से उत्तर-अस्तित्व ज्ञान में उत्पन्न शक्ति को बौद्ध लोग वासना कहते हैं^२। यहाँ विज्ञानों के अनेक आक्षेप हैं। प्रथम वासना का अस्त्वन्तति के साथ ठीक-ठीक सम्बन्ध नहीं समझा और वासना निर्दिष्ट ही अस्त्वन्तति है। शब्द-व्यवहार में वासना का भौतिक अर्थ किसी वस्तु में गन्ध के संक्रमण से है। यह समी संभव है जब इतना और स्वादी आहार हा। स्वादी वस्तु के विद्यमान रहने पर पृथग् (कस्तूरी) के द्वारा उसे वासित करना सुविशुद्ध है। परन्तु बौद्धमत में पञ्चस्कन्धों के अस्तित्व होने से वासना के लिये कीम पदार्थ आहार बनेगा। ऐसी दशा में वासना की वासना समीचीन नहीं अस्त्वन्तति होती। इसलिये वासना की अपेक्षा से अस्त्वन्तति को वास्तविक छानि से हम कहाँ कहाँ नहीं सकते। अतः हम वासना की अपेक्षा को बौद्ध दर्शन में आम्बयिक नहीं मान सकते।

१ शास्त्रमन्त्र २।२।३७

२ अस्त्वन्तति पूर्णज्ञानवन्तितासुतरात्वात् अस्त्वन्ततिः।

(स्वाभावमन्त्र, श्लोक १९)

हेमबन्धु ने तथा उसके टीकाकार अस्त्वन्तति के स्वाभावमन्त्र में वासना का विस्तृत वर्णन किया है। देखिये—(स्वाभावमन्त्र, श्लोक १९ की टीका)

इतना खण्डन होने पर भी विज्ञानवाद की विशिष्टता के स्वीकार से हम पराङ्मुख नहीं हो सकते। विज्ञानवाद की दार्शनिक दृष्टि विषयीगत प्रत्ययवाद की है। इसने यथार्थवाद की त्रुटियों को दिखलाकर विद्वानों की दृष्टि प्रत्ययवाद की सत्यता की ओर आकृष्ट की। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका उदय शून्यवादी माध्यमिकों के अनन्तर हुआ। शून्यवादियों ने जगत् की सत्ता को शून्य मानकर दर्शन में तर्क तथा प्रमाण के लिए कोई स्थान ही निर्दिष्ट नहीं किया। शून्य की प्रतीति के लिए प्रातिभ ज्ञान को आवश्यक बतलाकर शून्यवादियों ने साधारण जनता को तर्क तथा युक्तिवाद के अध्ययन से विमुख बना दिया था, परन्तु विज्ञानवादियों ने विज्ञान के गौरव को विद्वानों के सामने प्रतिष्ठित किया। माध्यमिक काल में न्याय-शास्त्र की प्रतिष्ठा करने का समग्र श्रेय इन्हीं विज्ञानवादी आचार्यों को प्राप्त है। 'आलयविज्ञान' की नवीन कल्पना कर इन्होंने जगत् के मूल में किसी तत्त्व को खोज निकालने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्होंने अपने बौद्धधर्म के अनुराग के कारण उसे अपरिवर्तनशील मानने से स्पष्ट अनङ्गीकार कर दिया। फलतः 'तथता' तथा 'आलयविज्ञान' दोनों की कल्पना नितान्त धुँधली ही रह गई है। अन्य दार्शनिकों के आक्षेपों का लक्ष्य यही कल्पना रही है, परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि विज्ञानवाद ने वसुवन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति जैसे प्रकाण्ड पण्डितों को जन्म दिया जिनकी मौलिक कल्पनायें प्रत्येक युग में विद्वानों के आदर तथा आश्चर्य का विषय बनी रहेंगी। बौद्ध न्यायशास्त्र का अभ्युदय विज्ञानवाद की महती देन है।



माध्यमिक (शून्यवाद)

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्षते ।
सा प्रक्षप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ॥

(नागार्जुन—माध्यमिक धारिका २४।१८)

उन्नीसवाँ परिच्छेद

ऐतिहासिक विवरण

माध्यमिक मत बुद्धदर्शन का चूडान्त विकास माना जाता है। इसका मूल भगवान् तथागत की शिक्षाओं में ही निहित है। यह सिद्धान्त नितान्त प्राचीन है। आचार्य नागार्जुन के साथ इस मत का धनिष्ठ सम्बन्ध होने का कारण यह है कि उन्होंने इस मत की विपुल तार्किक विवेचन की। 'प्रज्ञापारमिता सूत्रों' में इस मत का विस्तृत विवेचन पहले ही से किया गया था। नागार्जुन ने इस मत की पुष्टि के लिए 'माध्यमिक कारिका' की रचना की जो माध्यमिकों के सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए सर्वप्रधान ग्रन्थरत्न है। बुद्ध के 'मध्यम मार्ग' के अनुयायी होने के कारण ही इस मत का यह नामकरण है। बुद्ध ने नैतिक जीवन में दो अन्तों को—अखण्ड तापस जीवन तथा सौम्य भोगविलास को—छोड़कर बीच के मार्ग का अवलम्बन किया। तत्त्वविवेचन में शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद के दोनों एकांगी मतों का परिहार कर अपने 'मध्यम मत' का ग्रहण किया। बुद्ध के 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त को विकसित कर 'शून्यवाद' की प्रतिष्ठा की गई है। अतः बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित मध्यम मार्ग के दृढ़ पक्षपाती होने के कारण यह मत 'माध्यमिक' सज्ञा से अभिहित किया जाता है तथा 'शून्य' को परमार्थ मानने से 'शून्यवादी' कहा जाता है। प्रकाण्ड तार्किकों ने अपने ग्रन्थ लिखकर इस मत का प्रतिपादन किया। इन आचार्यों के संक्षिप्त परिचय के अनन्तर इस मत में दार्शनिक तथ्यों का वर्णन किया जायेगा।

माध्यमिक साहित्य का विकास बौद्ध पण्डितों की तार्किक बुद्धि का चरम परिचायक है। शून्यता का सिद्धान्त प्रज्ञापारमिता, रत्नकरण्ड आदि सूत्रों में उपलब्ध होने के कारण प्राचीन है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। परन्तु प्रमाणों के द्वारा शून्यता के सिद्धान्त को प्रमाणित करने का सारा श्रेय आचार्य नागार्जुन को है। इन्होंने माध्यमिक कारिका लिखकर अपनी प्रौढ़ तार्किक शक्ति, अलौकिक प्रतिभा तथा असामान्य पाण्डित्य का पूर्ण परिचय दिया है। इस जगत् की समस्त धारणाओं को तर्क की कसौटी पर कस कर निराधार तथा निर्मूल उद्धोषित करना आचार्य नागार्जुन का ही कार्य था। इनके साक्षात् शिष्य आर्यदेव ने गुरु के भाव

को प्रकट करने के लिये ग्रन्थ रचया की और शून्यता के सिद्धान्त का स्वीकरण किया। यह विष्णु की द्वितीय शताब्दी की पट्टा है। तीसरी और चौथी सदी में कोई विशिष्ट सिद्धान्त नहीं पैदा हुआ। पाँचवीं शताब्दी में विज्ञानवाद का प्रारम्भ रहा। छठी शताब्दी में व्याप्यमिक मत का एक प्रकार से पुनरुत्थान हुआ। दक्षिण भारत में इस मत का बोलबाला था। इस समय की महापण्डितों ने शून्यवाद के सिद्धान्त को अप्रसार किया। एक नए आचार्य मध्य का मातृपियेक विनका कर्म क्षेत्र बनीया था और दूसरे में आचार्य बुद्धपाक्षित को भारत के पश्चिमी प्रदेश बलमी (गुजरात) में अपना प्रचार करने के। इन दोनों आचार्यों की दार्शनिक रुचि में भेद है। बुद्धपाक्षित ने शून्यता की भावना के लिये समस्त तर्क की विन्दा की है। उनकी रुचि में शून्यता का इस केवल प्रतिम-कण्ट के ही हो सकता है। इस सम्प्रदाय का नाम हुआ 'व्याप्यमिक प्रसङ्गिक'। उक्त आचार्य मध्य बड़े ही निपुण तार्किक थे। उन्होंने तथा उनके अनुयायियों ने मातृपियेक के प्रथम तर्कों को समझने के लिये स्वतन्त्र तर्क की सहायता की। इसलिये इस सम्प्रदाय का नाम हुआ 'माध्यमिक स्वातन्त्रिक'। इसका प्रभाव तथा प्रचार पहले सम्प्रदाय की अपेक्षा बड़ी अधिक हुआ। सप्तम शताब्दी में आचार्य कान्धर्षीति ने शून्यता के सिद्धान्त का बरम विमल किया। वे दोनों मतों के ज्ञान-कार ने परस्पर स्वयं ने बुद्धिपाक्षित के सम्प्रदाय के इस अनुयायी थे। अपनी भावना से उन्होंने मध्य के सम्प्रदाय के प्रभुत्व को उखाड़ दिया। वे शून्यवाद के माननीय माध्यकार माने जाते हैं तथा सिम्बल, मयोसिवा और अन्य विन देशों में शून्यवाद का प्रचार है। यहाँ सर्वत्र इसका गौरव अनुपम समझा जाता है। ७

शून्यवादी आचार्यगण

(१) आचार्य मातृपियेक—

वे ही शून्यवाद के प्रतिपादक आचार्य हैं। इनका जन्म विहर्म (बलर) में एक ब्राह्मण के घर हुआ था। इसके जीवनचरित के विवरण में पण्डितिक महाविश्व प्रसिद्ध हैं विनका उसकेच सुस्तोत्र ने अपने इतिहास में किया है। उन्होंने ब्राह्मणों के ग्रन्थों का समीर अध्ययन किया था। किन्तु बलने पर बौद्ध ग्रन्थों का भी अनुशीलन उन्होंने उसी समीरता के साथ किया। वे विरोध-आपस्त पर रहते थे जो तब समय तन्त्रमन्त्र के लिये बड़ा प्रसिद्ध था। वे वैद्यक तथा रक्तम राज के

भी आचार्य बतलाये जाते हैं। अलौकिक कल्पना, अगाध विद्वत्ता तथा प्रगाढ़ तान्त्रिकता के कारण इनकी विपुल कीर्ति भारत के दार्शनिक जगत् में सदा अधुण्यवनी रहेगी। ये आन्ध्र राजा गौतमीपुत्र यक्षधरी (१६६-१९६ ई०) के समकालिक माने जाते हैं।

नागार्जुन के नाम से ऐसे तो बहुत से ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं परन्तु नीचे लिखे ग्रन्थ इनकी वास्तविक कृतियाँ प्रतीत होती हैं —

१ माध्यमिक कारिका—आचार्य की यही प्रधान रचना है। इसका दूसरा नाम 'माध्यमिक शास्त्र' भी है जिसमें २७ प्रकरण हैं। इसकी महत्त्वशाली वृत्तियों में भव्यकृत 'प्रज्ञा प्रदीप' तथा चन्द्रकीर्ति विरचित 'प्रसन्नपदा' प्रसिद्ध है^१।

२ युक्ति षष्टिका—इसके कतिपय श्लोक बौद्ध ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं।

३ प्रमाण विध्वंसन—{ इन दोनों ग्रन्थों का विषय तर्कशास्त्र है। प्रमाण

४ उपाय कौशल्य—{ का खण्डन तीसरे ग्रन्थ का विषय है और प्रतिवादी के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिये जाति, निग्रहस्थान आदि साधनों का वर्णन चौथे ग्रन्थ में किया गया है। ये अन्तिम तीनों ग्रन्थ मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं हैं।

५—विग्रह व्यावर्तनी^२—इस ग्रन्थ में शून्यता का खण्डन करनेवाली युक्तियों की निःसारता दिखलाकर शून्यवाद का मण्डन किया गया है। इसमें ७२ कारिकाएँ हैं। आरम्भ की २० कारिकाओं में शून्यवाद के विरोधियों का पूर्वपक्ष है तथा अन्तिम ५२ कारिकाओं में उत्तर पक्ष प्रतिपादित किया गया है।

६ सुहृल्लोख—इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत उपलब्ध नहीं होता। केवल तिब्बती अनुवाद मिलता है। इसमें नागार्जुन ने अपने सुहृद् यक्षधरी शातवाहन को परमार्थ तथा व्यवहार की शिक्षा दी है।

७ चतुस्तव—यह चार स्तोत्रों का संग्रह है जिनके नाम ये हैं—निरुपमस्तव, अचिन्त्यस्तव, लोकातीतस्तव तथा परमार्थस्तव। इनमें आदि और अन्त वाले

१ 'प्रसन्नपदा' के साथ 'माध्यमिक कारिका' विब्लोथिका बुद्धिका सीरिज न० ४ में प्रकाशित हुई है।

२ विहार की शोध पत्रिका भाग २३ में राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित तथा डा० नुशी द्वारा Pre-Dignag logic में अनूदित।

स्तोत्र ही मूल संस्कृत में उपलब्ध हुये हैं। अन्य हो का केवल लिखती अनुभूति मिलता है। ये बड़े ही समशील हैं।

२ आर्यदेव (२०० ई०—२२४ ई०)—

चन्द्रकीर्ति के बचनानुसार ये सिद्धपुर के राजा के पुत्र थे। इस सिद्धपुर को इस समय सिद्ध द्वीप मानते हैं और कुछ विद्वान् इसे उत्तर भारत में स्थित बताते हैं। आचार्य मायातुल्य का शिष्य बनकर इन्होंने समग्र विश्वभौतिका आस्तिक और नास्तिक समस्त दर्शनों का अध्ययन किया। तुस्तेन ने इसके जीवन को एक अतीतिक पठना का उल्लेख किया है। मातुषेड नामक किसी ब्राह्मण पण्डित को हरने के लिये नातुल्य के मित्रों ने दीर्घार्थ से मायार्जुन को बुलाया। इन्होंने इस कार्य के लिये अपने शिष्य आर्यदेव को भेजा। रास्ते में किसी वृद्ध देवता के भौंफने पर आर्यदेव ने अपनी एक बाँध समर्पित कर दी। नामन्त्रा पहुँचने पर इसका एकछ देकर जब मातुषेड ने इनका उपहास किया तब इन्होंने वह दर्प के साथ कहा कि जिस परमार्थ को संवर सम्पन्न तब मैत्रों से नहीं देना चाहते जिसे हम अपनी हथार बाँटेंगे से भी छाड़ना नहीं कर सकते उसी तरह की इस एकछ मित्र ने प्रत्यक्ष किया है। अन्त में इन्होंने उस ब्राह्मण पण्डित को हर कर बीरदर्प में वीर्यवर्धित किया। इस कथानक से यह प्रतीत होता है कि वे अपने व कर्मों के कारणों के नाम से भी प्रसिद्ध थे। संव ४५ ई के आसपास कुमारजीव ने इनके जीवन चरित का चौथी भाग में अनुवाद किया। इससे पता चलता है कि जंगल में जब वे व्यायामस्थ थे तब इनके हाथ परमस्त किए गये किसी पण्डित के शिष्य से इनका वय कर दिया।

प्रश्न

तुस्तेन के अनुसार इनके शिष्यों की संख्या दस है जिनमें प्रथम आर्यदेव शुम्भाना के प्रतिपादक में सिद्ध भय हैं और अन्य आर्यदेव सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हैं।

१ शुम्भाना—हिंदी आर्यदेव भाग २ पृ ११०—११।

साधक—हिंदी आर्यदेव बुध्दिक भाग २ पृ १८९—१९१।

२ विमलमिदु—हिंदी आर्यदेव बुध्दिक भाग २ पृ १९१—१९२।

(भाग २ पृ १९१—१९२)

१ चतुःशतक । २ माध्यमिकद्वस्तवालप्रकरण । ३ स्वखित प्रमथनयुक्तिहेतु-
सिद्धि । ४ ज्ञानसारसमुच्चय । ५ चर्यामेलायन प्रदीप । ६ चित्तावरणविशोधन ।
७ चतुः पीठ तन्त्रराज । ८ चतुः पीठ साधन । ९ ज्ञानढाकिनी साधन ।
१० एकहुम पञ्जिका ।

(१) चतुःशतक—इस ग्रन्थ में सोलह अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में २५ कारिकाएँ हैं । धर्मपाल और चन्द्रकीर्ति ने इस पर टीकाएँ लिखी थीं जिनमें धर्मपाल की वृत्ति के साथ इस ग्रन्थ के उत्तरार्ध को हेन्साङ्ग ने (६५० ई०) चीनी भाषा में अनुवाद किया था । चीनी भाषा में इस ग्रन्थ को 'शतशास्त्रवैपुल्य' कहते हैं । चन्द्रकीर्ति की वृत्ति तिब्बतीय अनुवाद में पूरी मिलती है । मूल सस्कृत में इसका कुछ ही अंश मिलता है । प्रथम दो शतकों का धर्मशासन शतक (बौद्धधर्म का शास्त्रीय प्रतिपादन) तथा अन्तिम शतकद्वय को विग्रह शतक (परमत खण्डन) कहते हैं । यह ग्रन्थ 'माध्यमिक कारिका' के समान ही शून्यवाद का मूल ग्रन्थ है^१ ।

(२) चित्तविशुद्धिप्रकरण^२—बुस्तोन ने अपने इतिहास में इस ग्रन्थ का नाम 'चित्तावरण विशोधन' लिखा है । इस ग्रन्थ में ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड का भी खण्डन है । इसमें बहुत सी तान्त्रिक बातें हैं । बार और राशियों के नाम मिलने से विद्वानों को सन्देह है कि यह प्राचीन आर्यदेव की कृति न होकर किसी नवीन आर्यदेव की रचना है ।

(३) द्वस्तवालप्रकरण या मुष्टि प्रकरण—इस ग्रन्थ को डा० टामस ने चीनी और तिब्बतीय अनुवादों के आधार से सस्कृत में पुनः अनूदित कर प्रकाशित किया है^३ । यह ग्रन्थ बहुत ही छोटा है । इसमें केवल छः कारिकाएँ हैं ।

१ 'चतुःशतक' के मूल सस्कृत के कतिपय अंशों का संस्करण हरप्रसाद शास्त्री ने Memoirs of the Asiatic Society of Bengal के खण्ड ३ सख्या ८ पृ० ४४९-५१४ कलकत्ता १९१४ प्रकाशित किया है । ग्रन्थ के उत्तरार्ध को विधुशेखर शास्त्री ने तिब्बतीय अनुवाद से सस्कृत में पुनः अनूदित कर विश्व-भारती सीरिज नं० २ में प्रकाशित किया है ।

२ हरप्रसाद शास्त्री J A S. B (1898) P 175

३ टामस J R A S. (1918) P 267.

आदि की ५ कारिकाओं में अणु के मानिक रूप का वर्णन है। अन्तिम कारिका में परमार्थ का मिरूपण है। दिग्वाय ने इन कारिकाओं पर व्याख्या लिखी जो जिसके कारण यह ग्रन्थ दिग्वाय की छलितों में ही सम्मिलित किया जाता है।

३ स्वधिर बुद्धपाक्षित—

ये पक्षिणी शताब्दी के आरम्भ में हुए थे। आप महात्मावसम्प्रदाय के प्रमाण-मूल आचार्यों में से हैं। नागार्जुन की माध्यमिक कारिका के ऊपर उनकी ही लिखी 'अनुत्पन्ना नामक व्याख्या का जो अनुवाद आत्मकत सिद्धतीय भाषा में मिलता है उसके अन्त में माध्यमिक दर्शन के व्याख्याता अठ आचार्यों के नाम पाये जाते हैं। स्वधिर बुद्धपाक्षित भी उनमें से एक हैं। इन्होंने नागार्जुन की माध्यमिक कारिका के ऊपर एक बड़ी-बड़ी पुस्तिका लिखी है जिसका मूल संस्कृत रूप अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। बुद्धपाक्षित आधुनिक मत के अनुयायक माने जाते हैं। इस मत का सिद्धान्त यह है कि आपने मत का सम्प्रसारण करने के लिए शास्त्रों में बिपक्षी के ऐसे तर्कबुद्ध प्रत्येक पक्षों की विचार उत्तर देने से बचने के लिये स्वयं ही परस्पर विरोधी प्रमाणित हो जायें तथा यह अनुसृतस्वरूप बनकर प्रकाशित हो जायें। इनके इस न्याय सिद्धान्त को मानने वाले अनेक सिद्ध भी हुए। इनकी प्रसिद्धि इसी कारण है।

४ भाष विवेक—

बीजा लोको में इसका नाम 'भा विवेक' लिखा है। इसी का नाम अन्य भी था। इन तीनों नामों से इसकी उपसिद्धि है। वे बीजव्यास में स्वार्तम मत के अनुयायक थे। इस मत के अनुयाय माध्यमिक सिद्धान्तों की उक्त प्रमाणित करने के लिए स्वार्तम प्रमाणों को लेकर बिपक्षी को प्रकाशित करता जाहिए। इनके नाम से अनेक ग्रन्थ मिलती हैं जिसका सिद्धतीय का बीजा व्यास में केवल अनुवाद ही मिलता है। मूल संस्कृत भाषा की अभी तक कहीं प्राप्ति नहीं हुई है। इनके ग्रन्थों के नाम ये हैं—

(१) माध्यमिककारिकाव्याख्या—इस ग्रन्थ में नागार्जुन के ग्रन्थ की व्याख्या की गई है। इसका सिद्धतीय अनुवाद ही मिलता है।

१ इसका सिद्धतीय अनुवाद का सम्पादन का कावेजर ने किया है। ग्रन्थ बुद्धसम्प्रदायी भाग १६।

(२) मध्यमहृदयकारिका—डा० विद्याभूषण ने इसके नाम से इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है । सम्भवत यह माध्यमिक दर्शन पर कोई मौलिक ग्रन्थ होगा ।

(३) मध्यमार्थ संग्रह—इस ग्रन्थ का तिब्बतीय भाषा में अनुवाद मिलता है ।

(४) हस्तरत्न या करमणि—इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद मिलता है । इसमें इस आचार्य ने यह सिद्ध किया है कि वस्तुओं का वास्तविक रूप, जिसे 'तथता' या 'धर्मता' कहते हैं, सत्ताविहीन है । इसी प्रकार इसमें आत्मा को भी मिथ्या सिद्ध किया गया है । :-

५ चन्द्रकीर्ति—

छठीं शताब्दी में चन्द्रकीर्ति ही माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रतिनिधि थे । तारानाथ के कथनानुसार ये दक्षिण भारत के समन्त नामक किसी स्थान में पैदा हुए थे । लड़कपन में ये बड़े बुद्धिमान् थे । आपने भिक्षु बन कर अति शीघ्र समस्त पिटकों का ज्ञान प्राप्त कर लिया । बुद्धपालित तथा भावविवेक के प्रसिद्ध शिष्य कमलबुद्धि नामक आचार्य से इन्होंने नागार्जुन के समस्त ग्रन्थों का अध्ययन किया था । पीछे आप धर्मपाल के भी शिष्य थे । महायान दर्शन में आप ने प्रगाढ़ विद्वत्ता प्राप्त की । अध्ययन समाप्त करने पर इन्होंने नालन्दा महाविहार में अध्यापक का पद स्वीकार किया । योगाचार सम्प्रदाय के विख्यात आचार्य चन्द्रगोमिन् के साथ इनकी बड़ी स्पर्धा थी । ये प्रासंगिक मत के प्रधान प्रतिनिधि थे ।

(१) माध्यमिकाघटार—इसका तिब्बतीय अनुवाद मिलता है । यह एक मौलिक ग्रन्थ है जिसमें 'शून्यवाद' की विशद व्याख्या की गई है ।

(२) प्रसन्नपदा—यह नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' की सुप्रसिद्ध टीका है जो मूल संस्कृत में उपलब्ध हुई है तथा प्रकाशित हुई है । यह टीका बड़ी ही प्रामाणिक मानी जाती है । इसका गद्य दार्शनिक होते हुए भी अत्यन्त सरस है तथा प्रसाद-गुण विशिष्ट और गम्भीर है । इसके बिना नागार्जुन का भाव समझना कठिन है । :-

(३) चतुःशतक टीका—यह ग्रन्थ आर्यदेव से चतुःशतक नामक ग्रन्थ की व्याख्या है । 'चतुःशतक' तथा इस टीका का कुछ ही आरम्भिक भाग मूल

संस्कृत में मिलता है जिसे का० हरप्रसाद शास्त्री ने सम्पादित किया है^१ । इस निष्कर्षपर शास्त्री ने ८ वीं १६ परिच्छेदों का मूल तथा व्याख्या सिम्बरीय प्रकाशक से पुनः संस्कृत में निर्माण किया है । भाष्यमय सिद्धांतों के स्पष्टीकरण के लिए सुन्दर व्याख्यान तथा उदाहरणों के कारण यह ग्रन्थ विद्यार्थ महत्वपूर्ण माना जाता है ।

६ ध्यातिवैयर्थ्य—

पारम्पर्य के अनुसार ये ध्यातिवैयर्थ्य (कर्ममान ध्यातिवैयर्थ्य) के विषय राजा कल्याणवर्म के पुत्र थे । राजा देवी के प्रोत्साहन से इन्होंने राजसिंहासन छोड़कर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया । इन्होंने बौद्ध धर्म की शिक्षा मठानों की श्रुतिध्याना से प्राप्त की । नागम्बा विहार के सर्वश्रेष्ठ पण्डित बजरेव इन्के बौद्ध गुरु थे । वे बजरेव धर्मपूत के अनन्तर नागम्बा के पीठस्थविर हुए । बुद्धोपनिषद् में इनके महत्वपूर्ण कर्मों का विवरण विस्तार-पूर्वक दिया है^२ ।

इसके तीन ग्रन्थों के नाम उपलब्ध होते हैं—(१) ध्याति-समुच्चय (२) ध्याति-समुच्चय (३) बोधिसत्त्वचर । ये तीनों ग्रन्थ महाजन के व्यापार और नीति का वर्णन बड़े विस्तार के साथ करते हैं ।

(१) ध्याति-समुच्चय—महाजन के व्यापार तथा बोधिसत्त्व के व्यापार को समझने के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही अधिक उपयोगी है । इस ग्रन्थ में केवल २६ व्यापारों हैं तथा इन्हीं की विस्तृत व्याख्या में ग्रन्थकार ने अनेक महान्त ग्रन्थों के उद्धरण किये हैं जो ग्रन्थ अत्यन्त विशुद्ध विस्तृत हो गये हैं । महाजन साहित्य के विस्तार की जानकारी के लिए इसका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है । इस ग्रन्थ में १९ परिच्छेद हैं जिनमें बोधिसत्त्व के कर्मों का स्वरूप व्यापार तथा विनय का बड़ा ही साफ पट्ट प्रामाणिक विवरण है^३ ।

१ Memoirs of Asiatic Society of Bengal Part, III, No. 8. PP 410 Calcutta 1914.

२ विरचमाष्टी सीरीज नं २ कलकत्ता १९११ ।

३ बुद्धोपनिषद्—विही प्र १९१-१९६ ।

४ डा. सी. वेण्कट ने Dibliotheca Buddhica संख्या १ (१९२६) में इसका संस्करण कर उसे निकाला है तथा Indian Text Series (London 18२२) में इसका र्थमयी प्रकाशक बजरेव द्वारा किया है । इस ग्रन्थ का १९१-

(२) बोधिसत्त्व-विवरण^१—इस ग्रन्थ का विषय भी 'शिक्षासमुच्चय' के समान ही बोधिसत्त्व की चर्या है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये बोधिसत्त्व को जिन-जिन साधनों का ग्रहण करना पड़ता है उन पर पारमिताओं का विशद और प्रामाणिक विवेचन इस ग्रन्थ की महती विशेषता है। यह ग्रन्थ नव परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें अन्तिम प्रकरण शून्यवाद के रहस्य जानने के लिये विशेष महत्व रखता है। बहुत पहिले ही इस ग्रन्थ का तिब्बतीय अनुवाद हो गया था। इस ग्रन्थ की जन-प्रियता का यही प्रमाण है कि इसके ऊपर संस्कृत में कम से कम नव टीकायें लिखी गयी थी जो मूल में उपलब्ध न होकर, तिब्बतीय भाषा में अनुवाद रूप में आज भी उपलब्ध हैं।

७ शान्तरक्षित (अष्टम शतक) —

ये स्वतन्त्र माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य थे। ये नालान्दा विहार के प्रधान पीठस्थविर थे। तिब्बत के तत्कालीन राजा के निमन्त्रण पर वे वहाँ गये और सम्मे नामक विहार की स्थापना ७४९ ई० में की। यह तिब्बत का सबसे पहिला बौद्धविहार है। ये वहाँ १३ वर्ष तक रहे और ७६२ ई० में निर्वाण प्राप्त कर गये। इनका केवल एक ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है और वह है—

(१) तत्त्व संग्रह^२—इसमें ग्रन्थकार ने अपनी दृष्टि से ब्राह्मण तथा बौद्धों के अन्य सम्प्रदायों का बड़े विस्तार से खण्डन किया है। इनके शिष्य कमलशील ने इस ग्रन्थ की टीका लिखी है जिसके पढ़ने से यह पता चलता है कि ग्रन्थकार ८३८ ई० के बीच में तिब्बतीय भाषा में अनुवाद हुआ था। ग्रन्थ की भूमिका में सम्पादक (बैण्डल) ने इस ग्रन्थ का सारांश भी दिया है।

१ डा० पुर्से ने इस ग्रन्थ का सम्पादन Bibliotheca Indica, Calcutta (१९०१-१४) में किया है। इन्होंने इसका फ्रेंच अनुवाद भी किया। वारनेट ने अग्रेजी में, स्मिथ ने जर्मन भाषा में तथा तुशी ने इटालियन भाषा में इस ग्रन्थ-रत्न का अनुवाद किया है।

२ यह ग्रन्थ गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बडौदा न० ३०, ३१ में प० कृष्णमाचार्य के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने बौद्ध आचार्यों का विस्तृत ऐतिहासिक परिचय दिया है। इसका अग्रेजी अनुवाद डा० गगनाथ झा ने किया है जो वहीं से प्रकाशित हुआ है।

ने बहुमित्र धर्मज्ञात बोधक, संवम्भ बहुबन्धु, दिङ्नाम धीर धर्मक्षिति के
 ग्रीव बौद्धाचार्यों के मत पर आशेष किया है। ब्राह्मण दर्शनों में सांख्य स्वयं
 तथा मीमांसा का भी पर्याप्त ज्ञापन है। यह ज्ञान शान्तरसिंह के व्यापक पाश्चात्य
 तथा भौतिक प्रतिभा का पर्याप्त परिचायक है।

सिद्धान्त

(क) ज्ञानमीमांसा

नागार्जुन ने अपनी सर्वश्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा अज्ञान की सभी धार्मिक व्याप्ति
 की है। उन्होंने अपना मत सिद्ध करने के लिए बुद्धियों का एक मञ्चोहर म्णु
 कहाकर दिया है। नागार्जुन का कथन है कि वह जगत् धार्मिक है। स्वप्न में वह
 पदार्थों की सत्ता के समान ही जगत् के समस्त पदार्थों की सत्ता अभिव्यक्ति है।
 जगत् और स्वप्न में कोई अन्तर नहीं है। जगत् ही हमें स्वप्न देखते हैं।
 जिस हम ठोस जगत् के ज्ञान से पुच्छरते हैं उसका विरोध करने पर कोई भी
 तर्क अवशिष्ट नहीं रहता। केवल व्यवहार के निमित्त जगत् की सत्ता मान्यता
 है। विरह व्यावहारिकरूपेण ही सत्य है, पारमार्थिकरूपेण नहीं। यह जगत् जगत्
 है। अस्तित्व सम्बन्धों का समुच्चयमान है। जिस प्रकार पदार्थों की गुणों को
 कोचकर, स्वच्छ सत्ता नहीं होती वही प्रकार वह जगत् भी सम्बन्धों का संघात-
 मान है। इस जगत् में शुद्ध और दुष्क, ज्ञान और मोक्ष उत्पाद और अज्ञान
 प्रति और विराम वेद और अज्ञान—जिसी धारणाओं मान्य हैं वे केवल जगत्कर्तव्य
 हैं—निर्मूल, निराधार जगत्कर्तव्य हैं जिन्हें मानकों ने अपने व्यवहार की सिद्धि
 के लिए कहा कर रखा है। परन्तु लौकिक इति से विरोध करने पर वे केवल
 असत्य सिद्ध होती हैं। तर्क का प्रयोग करते ही जगत् की भीत के समान जगत्
 का यह निरास व्यापार भूतलशाली होकर दिव्य-मिथ हो जाता है। परन्तु फिर
 भी व्यवहार के निमित्त हमें इसे कहा करना पड़ता है। इस सिद्धान्तों का विशेषण
 की सूक्ष्मता के साथ नागार्जुन ने 'माध्यमिक करिका' में किया है। इस बुद्धियों
 का धार्मिक प्रदर्शन नहीं किया जा रहा है।

सत्ता परीक्षा—

सत्ता की मीमांसा करने पर माध्यमिक जगत्कर्तव्य इस परिचाय पर पहुँचते हैं
 कि वह शून्य-रूप है। निदानादिकों का निदान या निदान परमसत्य नहीं है।

चित्त की सत्ता प्रमाणों से सिद्ध नहीं की जा सकती । समग्र जगत् स्वभाव-शून्य है, चित्त के अस्तित्व का पता ही हम कैसे लग सकता है ? यदि कहा जाय कि चित्त ही अपने को देखने की क्रिया स्वयं करेगा, तो यह विश्वसनीय नहीं । क्योंकि भगवान् बुद्ध का यह स्पष्ट कथन है — नहि चित्तं चित्तं पश्यति = चित्त चित्त को देखता नहीं । सूतीक्ष्ण भी असिधारा जिस प्रकार अपने को काटने में समर्थ नहीं होती, उसी प्रकार चित्त अपने को देख नहीं सकता^१ । वेद्य, वेदक और वेदने—ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान—ये तीन वस्तुएँ पृथक्-पृथक् हैं । एक ही वस्तु (ज्ञान) त्रिस्वभाव कैसे हो सकता है ? इस विषय में आर्यरत्नचूडसूत्र की यह उक्ति^२ ध्यान देने योग्य है—चित्त की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है । आलम्बन होने पर चित्त उत्पन्न होता है । तो क्या आलम्बन भिन्न है और चित्त भिन्न है ? यदि आलम्बन और चित्त को भिन्न-भिन्न मानें तो दो चित्त होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा जो विज्ञानाद्वयवाद के विरुद्ध पड़ेगा । यदि आलम्बन और चित्त की अभिन्नता मानी जाय, तो चित्त चित्त को देख नहीं सकता । उसी तलवार से क्या वही तलवार काटी जा सकती है ? क्या उसी अंगुली के अग्रभाग से वही अग्रभाग कभी छुआ जा सकता है ? अतः चित्त न तो आलम्बन से भिन्न सिद्ध हो सकता है और न अभिन्न । आलम्बन के अभाव में चित्त की उत्पत्ति संभव नहीं है^३ ।

विज्ञानवादी इसके उत्तर में चित्त की स्वप्रकाशयता का सिद्धान्त लाते हैं । उनका कथन है कि जिस प्रकार घट, पट आदि पदार्थों को प्रकाशित करते समय दीपक अपने आपको भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार चित्त अपने को प्रकाशित करेगा । परन्तु यह पक्ष ठीक नहीं । प्रकाशन का अर्थ है—विद्यमान आवरण का अपनयन (विद्यमानस्यावरणस्यापनयनं प्रकाशनम्) । घटपटादि वस्तुओं की स्थिति पूर्व काल से है । अतः उनके आवरण का अपनयन न्याय-प्राप्त है; परन्तु चित्त की पूर्वस्थिति है नहीं । तब उसका प्रकाशन किस प्रकार सम्भव हो सकता है^३ ।

१ उक्तं च लोकतार्थेन चित्तं चित्तं न पश्यति ।

न चिच्छिनन्ति यथाऽत्मानमसिधारा तथा मन ॥ (बोधि० ९।१७)

२ बोधिचर्या० पृ० ३९२-३९३ ।

३ आत्मभावं यथा दीपः सप्रकाशयतीति चेत् ।

नैव प्रकाशयते दीपो यस्मात् तमसा घृतः ॥ (बोधि० ६।१८)

‘दोषक प्रकथित होता है’—इसका अर्थ हमें ज्ञान के द्वारा होता है। ‘उत्तम प्रकथन बुद्धि प्रकथित होती है’ इसका अर्थ कि जिस प्रकार कहा सकता है। बुद्धि प्रकथन रूप हो या अप्रकथन रूप हो यदि कोई उसका वर्णन करे तो उसका अर्थ मान्य हो। परन्तु उसका वर्णन न होने पर उसकी अर्थ कि जिस प्रकार वर्णन करने की शक्ति—बुद्धि की शक्ति के समान। बुद्धि की शक्ति जब अस्तित्व में तब उसकी शक्ति तो प्रकथन अस्तित्व है। उसी प्रकार जब बुद्धि की शक्ति ही अस्तित्व है तब उसके स्वप्रकथन या परप्रकथन की कल्पना निराधार अस्तित्व है^१। अतः विज्ञान की कल्पना प्रमाणों के द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती। कल्पन के समस्त पदार्थ निःस्वभाव हैं। विज्ञान भी उसी प्रकार निःस्वभाव है। शून्य ही परम उत्तम है। अतः विज्ञान की अर्थ कल्पना मान्य नहीं है।

कारणवाद—

कारण-कारण के नियम पर चलता है और दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों का इसकी अर्थ में बड़ा विश्वास है। परन्तु बौद्धार्थ की समझ इस कल्पना की सम्बन्धित करती है। कारण-कारण की स्वतन्त्र-कल्पना हम नहीं कर सकते। कोई भी पदार्थ कारण की ओरकर नहीं रह सकता और न कारण ही कार्य से प्रकट कभी दृष्टिगोचर होता है। कार्य के बिना कारण की अर्थ नहीं माननी जा सकती और न कारण के बिना कार्य की अर्थ अर्थपूर्ण की जा सकती है। कारण-कारण की कल्पना सापेक्षिक है। अतः असत्य है तथा विरोधाभासी है। बौद्धार्थ में उत्पत्ति और विनाश की कल्पना का प्रत्यक्ष परिच्छेद अथा २१ में परिच्छेद में समझाया नहीं मार्मिकता से किया है। हमारा कहना है कि पदार्थ न तो स्वतः उत्पन्न होते हैं, न वृद्धि की सहायता से उत्पन्न होते हैं (परत्वा), न दोषों से न अद्वैत से। इसमें से किसी भी प्रकार से भावों की उत्पत्ति प्रमाणों के द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती—

न स्वतो नापि परतो न ह्यग्रा माप्यद्वयत ।

उत्पत्ता जातु विद्यन्त मागा कथम केचन^२ ॥

१ प्रकथन अप्रकथन या कहा गया न कैवल्य ।

बौद्धार्थद्वैतशेष कथ्यमानाति सा मुखा ॥ (बोधि ११२६)

२ मार्मिक कारण १२

उत्पाद के अभाव में विनाश सिद्ध नहीं होता । यदि विभव (विनाश) तथा सम्भव (उत्पत्ति) इस जगत् में होते तो वे एक दूसरे के साथ रह सकते या एक दूसरे के बिना ही विद्यमान रह सकते । विभव (विनाश) सम्भव के बिना कैसे उत्पन्न हो सकता है ? जब तक किसी पदार्थ का जन्म ही नहीं हुआ तब तक उसके विनाशकी चर्चा करना नितान्त अयोग्य है^१ । अतः विभव सम्भव के बिना नहीं रह सकता । सम्भव के साथ भी विभव नहीं रह सकता, क्योंकि ये भावनायें आपस में विरुद्ध हैं । ऐसी दशा में जिस प्रकार जन्म और मरण एक ही समय में विद्यमान नहीं रह सकते, उसी प्रकार उत्पत्ति और विनाश जैसे विरुद्ध पदार्थ भी तुल्य काल में स्थित नहीं रह सकते^२ । इस परीक्षा का निष्कर्ष यह निकला कि विभव सम्भव के बिना न तो टिक सकता है और न साथ ही विद्यमान रह सकता है । ऐसा ही दोष सम्भव की विभव के बिना स्थिति तथा सह-स्थिति में भी वर्तमान है । अतः उत्पत्ति और नाश की कल्पना प्रमाणतः सिद्ध नहीं की जा सकती ।

इसी कारण नागार्जुन के मत में 'परिणाम' नामक कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती । आचार्य ने इसकी समीक्षा अपने ग्रन्थ के १३ वें प्रकरण (सत्कार परीक्षा) में घड़े अच्छे ढंग से की है । साधारण भाषा में हम कहते हैं कि युवक वृद्ध होता है तथा दूध दधि बनता है, परन्तु क्या वस्तुतः यह बात होती है । युवा जीर्ण हो नहीं सकता, क्योंकि युवा में एक ही साथ यौवन तथा जीर्णता जैसे विरोधी धर्म रह नहीं सकते । किसी पुरुष को हम यौवन के कारण 'युवा' कहते हैं । तब युवक वृद्ध क्योंकर हो सकता है ? जीर्ण को जरायुक्त बतलाना ठीक नहीं ! जो स्वयं बुद्धा है, वह भला फिर जीर्ण कैसे होगा^३ ? यह कल्पना ही अनावश्यक होने से व्यर्थ है । हम कहते हैं कि दूध दही बन जाता है, परन्तु यह कथमपि प्रमाण-युक्त नहीं । क्षीरावस्था को छोड़कर दध्यवस्था का धारण परिणाम या परिवर्तन

१ भविष्यति कथं नाम विभवः सम्भवे विना ।

विनैव जन्ममरणं विभवो नोद्भव विना ॥ (माध्य० का० २११२)

२ सम्भवेनैव विभवः कथं सह भविष्यति ।

न जन्ममरणं चैव तुल्यकालं हि विद्यते ॥ (माध्यमिक कारिका २११३)

३ तस्यैव नान्यथाभावो नाप्यन्यस्यैव युज्यते ।

युवा न जीयते यस्माद् यस्माज्जीर्णो न जीर्यते ॥ (मा० का० १३१५)

नष्टकरेगा। जब हीराण्यस्त्रा का परिणाम ही कर दिया गया है, तब यह कैसे कहा जाय कि हीर हवि बनता है। जब हीर है, तब 'हविर्मात्र विद्यमान नहीं। पशुत-किसी असम्भव पदार्थ को हवि बनने का प्रसङ्ग उपस्थित होना'। यदि वस्तु का कोई अपना स्वभाव हा हा वह परिवर्तित हो परन्तु व्यापकिक मत में, यह वस्तु निम्नमात्र है। अतः परिवर्तन को कल्पना भी कपोलकल्पित होने में निवृत्त विन्यत है। इस प्रकार कर्ष-क्षरण मात्र उत्पाद-विधाय परिणाम अवि नरस्वर-सम्बद्ध वारम्भों का वास्तविकता को हवि से कोई भी मुख्य नहीं है।

शान्तिदेव^१ 'वे बोधिवर्षावधाय के लक्ष्य परिच्छेद (प्रज्ञापारमिता) में 'अपार्तुव की प्रवृत्ति का अस्तित्व कर वस्तु को सर्वथा अज्ञात (अस्तित्व) तथा अवि-कृत (अविच्छेद) सिद्ध किया है'। अज्ञात की भाँति सत्त्व-प्राप्ति से ही विद्यमान है वा अज्ञातों से उत्पन्न की जाती है। 'यदि वस्तु का नाम विद्यमान है, तो हेतु का क्या प्रयोजन। छिद्र वस्तु के उत्पन्न करने के लिए हेतु का आशय व्यर्थ है। यदि नाम अविद्यमान है, तो भी हेतु का आशय निष्प्रयोजन है क्योंकि अविद्यमान वस्तु का उत्पन्न कल्पना सम्भव नहीं है। अतएव वहीमे पर निवृत्त हो नहीं सकता। अतः—

अजातमनिकुलं च तस्मात् सर्वमिदं जगत् ॥ (११५) ।

स्वभाव-परीक्षा—

२ २ जगत् के वस्तुओं की विवेचना है कि वे किसी हेतु से उत्पन्न होते हैं। ऐसी वस्तु में उन्हें स्वतन्त्र सत्त्व प्राप्त कैसे माया का सङ्ग है। जिन हेतुओं के बिना किसी वस्तु की स्थिति अस्मत्कृत है, उनके इच्छे ही वह पदार्थ नष्ट हो जाता है। ऐसी विषय परिस्थिति में वस्तु की वस्तुओं को प्रतिबिम्ब-समान मानना ही व्यावर्ज्य है^३। 'बुद्धिचर्च' में आचार्य नामार्जुन की स्पष्ट उक्ति है—

१ तस्य वेदम्बुवाम्बुव हीरमेव मदेह हवि ।

हीराण्यस्त्रा कल्पसिद्ध हविर्मात्रो अविम्यति ॥ (माध्यमिक भा १११)

२ बोधिवर्षा पृ ५४४—५४८ ।

३ हेतुवर्धनो केव तदभावात् सम्यक् ।

कर्ष नाम व तै स्पष्ट प्रतिबिम्बवत्ता पश्य ॥

यह आचार्य नामार्जुन का ही वचन है जो माध्य० इति पृ ४११ तथा

हेतुतः सम्भवो यस्य स्थितिर्न प्रत्ययैर्विना ।

विगमः प्रत्ययाभावात् सोऽस्तीत्यवगतः कथम् ॥

आशय है कि जिसकी उत्पत्ति कारण से होती है, जिसकी स्थिति विना प्रत्ययों (सहायक कारणों) के नहीं होती, प्रत्यय के अभाव में जिसका नाश होता है, वह पदार्थ 'अस्ति'—विद्यमान हैं, यह कैसे जाना जा सकता है ? आशय है कि पदार्थ की तीनों अवस्थाएँ—उत्पाद, स्थिति और भग पराश्रित हैं । जो दूसरे पर अवलम्बित रहता है वह कथमपि सत्ताधारी नहीं हो सकता । जगत् के छोटे से लेकर बड़े, सूक्ष्म से लेकर स्थूल समस्त पदार्थों में यह विशिष्टता पाई जाती है । अतः इन पदार्थों को कथमपि सत्तात्मक नहीं माना जा सकता । ये पदार्थ गन्धर्व-नगर, मृगमरीचिका, प्रतिबिम्बकल्प होने से नितरा मायिक हैं ।

इन पदार्थों का अपना स्वतन्त्र भाव (या स्वरूप) कोई भी सिद्ध नहीं होता । लोक में उसी को 'स्वभाव' (अपना भाव, अपना रूप) कहते हैं जो कृतक न हो, जिसकी उत्पत्ति किसी कारण से न हो, जैसे अग्नि की उष्णता^१ । यह उष्णता अग्नि के लिए स्वाभाविक धर्म है, परन्तु जल के लिए कृतक है । अतः उष्णता अग्नि का स्वभाव है, जल का नहीं । इस युक्ति से साधारण-जन वस्तुओं के 'स्वभाव' में परम श्रद्धा रखते हैं । परन्तु नागार्जुन का कहना है कि यह सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता । अग्नि की उष्णता क्या कारण-निरपेक्ष है ? वह तो मणि, इन्धन, आदित्य के समागम से तथा अरणि से घर्षण से उत्पन्न होती है । उष्णता अग्नि को छोड़कर पृथक् रूप से अवस्थित

बोधि० पञ्चिका पृ० ५८३ में उद्धृत है । शान्तिदेव ने इस भाव को अपने ग्रन्थ में इस प्रकार प्रकट किया है—

यदन्यसन्निधानेन दृष्टं न तदभावत ।

प्रतिबिम्बे समे तस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कथम् ॥ (बोधिचर्या ९।१४५) -

१ अकृत्रिम-स्वभावो हि निरपेक्ष परत्र च । १५।२

इह स्वो भाव स्वभाव इति यस्य पदार्थस्य यदात्मीय रूपं तत्तस्य

स्वभाव व्यपदिश्यते । किं च कस्यात्मीयं यद् यस्य अकृत्रिमम् ।

(प्रसन्नपदा पृ० ३६२-६३)

नहीं रह सकती। अतः अग्नि की उत्पत्ति हेतु-अस्व-बन्ध है, अतः कृत्तक अग्नित्व है। उसे अग्नि का स्वभाव बतलाना तर्क की अपेक्षितता करता है। लोक की प्रसिद्धि तर्कहीन बातों की उक्ति पर अग्रहित होने से विद्वानों के लिए मान्य नहीं है। जब वस्तु का स्वभाव नहीं है तब इसमें परमाण्व की भी कल्पना म्यात्म्य नहीं है। स्वभाव तथा परमाण्व के अभाव में 'अव्य' की भी उत्पत्ति नहीं और अभाव की भी उत्पत्ति नहीं होती। अतः माध्यमिकों के मत में की 'विद्वान्' स्वभाव परमाण्व भाव तथा अभाव की कल्पना वस्तुओं के विषय में करते हैं वे परमाण्व के क्षय से बहुत दूर हैं—

स्यभावा परमाण्वं च भाव्यं आभावाभेदं च ।

ये परयन्ति न परयन्ति ते तर्कं सुखरासने ॥ (१५५१)

द्रव्यपरीक्षा—

आधारभूत जगत् में द्रव्यों की उत्पत्ति सभी जगत् ही परम्परा परीक्षा करने पर द्रव्य की कल्पना भी अत्यन्त कल्पना के समान हमें किसी बरिचाम पर नहीं पहुँचती। बिसे हम द्रव्य कहते हैं वह वस्तुतः है ही क्या? हम आधार अग्नि गुणों का समुदायमात्र। नील रंग, विभिन्न प्रकार तथा अस्पर्श के अतिरिक्त बड़ की स्थिति क्या है? बड़े के विरलेपन करने पर वे ही गुण हमारी दृष्टि में आते हैं। अतः द्रव्य की खोज करने पर हम गुणों पर जा पहुँचते हैं और गुणों की परीक्षा हमें द्रव्य तक का नहीं करती है। हमें पता नहीं चलता कि द्रव्य और गुण—दोनों में मुख्य कौन है और असुख्य कौन है? दोनों एकाग्र होते हैं वा भिन्न? बाणभुन ने समीक्षा बुद्धि से दोनों की कल्पना की आपेक्षिकी बतलाना है। रंग विद्यमान, दृश्य, माध्य स्पर्श आदि गुण आत्मन्तर परार्थ हैं। हमारी स्थिति इसीलिए है कि हमारी दृष्टियों की उत्पत्ति है। अर्थ के बिना न रंग है और न ध्वनि के बिना शब्द। अतः वे अपने से भिन्न तथा बाहरी हेतुओं पर अवलम्बित हैं। हमारी स्तम्भ पर नहीं है, वे दृष्टियों पर अवलम्बित रहते हैं। इस प्रकार गुण प्रतीति का अभाव मात्र है। अतः भिन्न पदार्थों में वे गुण विद्यमान रहते हैं वे भी आभासमात्र हैं। हम समझते हैं कि हम द्रव्यों का हाव सम्पादन करते हैं, परन्तु वस्तुतः हम गुणों के समुदाय पर अवलम्ब करते हैं। वास्तव द्रव्य

के स्वभाव से हम कभी भी परिचित नहीं हुए और न हो ही सकते हैं, क्योंकि वस्तुओं का जो स्वयं सच्चा परमार्थ रूप है वह ज्ञान तथा वचन दोनों से अतीत की वस्तु है। उसका ज्ञान तो प्रातिम चक्षु के सहारे ही भाग्यशाली योगियों को हो सकता है।

वह साधारण अनुभव के भीतर कभी आ नहीं सकता। जो स्वरूप हमारे अनुभवगोचर होता है वह केवल गुणों को ही लेकर है। हम यह भी नहीं जानते कि किसी पदार्थ में वस इतने ही गिने हुए गुणों की स्थिति है, इससे अधिक नहीं है। ऐसी वस्तुस्थिति में द्रव्य वह संयोजक पदार्थ है जो गुणों का एक साथ जुटाये रहता है जिससे वे आपस में एक दूसरे का विरोध न करें—एक दूसरे को रगड़-कर नष्ट न कर दें। अतः द्रव्य एक सवन्धमात्र है, अन्य कुछ नहीं। ऐसी दशा में द्रव्य गुणों का एक अमूर्त सम्बन्ध है। और जैसे पहले दिखलाया गया है जितने ससर्ग हैं वे सब अनित्य और असिद्ध हैं। सुतरां द्रव्य प्रमाणतः सिद्ध नहीं किया जा सकता। द्रव्य और गुण की कल्पना परस्पर सापेक्षिकी है—एक दूसरे पर अपनी स्थिति के लिए अवलम्बित रहता है। ऐसी दशा में इनकी स्वतन्त्र सत्ता मानना तर्क का तिरस्कार करना है। यह हुई पारमार्थिक धिवेचना। व्यवहार की सिद्धि के लिए हम द्रव्यों की कल्पना गुणों के सचय रूप में मान सकते हैं। क्योंकि यह निश्चित बात है कि ये गुण—रंग, आकार आदि किसी मूलभूत आधार को छोड़कर किसी स्थान पर स्वयं अवस्थित नहीं रह सकते। इस प्रकार नागार्जुन ने द्रव्य के पारमार्थिक रूप का निषेध करके भी इसके व्यावहारिक रूप का अप-लाप नहीं किया है।

जाति—

जिसे 'जाति' के नाम से हम पुकारते हैं, उसका स्वरूप क्या है? क्या जाति उन पदार्थों से भिन्न होती है जिनमें इसका निवास रहता है या अभिन्न? नागार्जुन ने जाति की नितान्त असत्ता सिद्ध की है। जगत् का ज्ञान वस्तु के सामान्य रूप को लेकर प्रवृत्त नहीं होता, प्रत्युत दूसरी वस्तु से उसकी विशिष्टता को स्वीकार कर ही वह आगे बढ़ता है। गाय किसे कहते हैं? उसी को जो न तो घोड़ा हो और न हाथी हो। गाय का जो अपना रूप है वह तो ज्ञान के अतीत की वस्तु है, उसे हम कथमपि जान नहीं सकते। गाय के विषय में हम इतना ही जानते हैं

कि वह एक पशुविशेष है जो बोधा और हानि से मित है। सम्मार्थ का विचार करते समय विद्वान् अस्त के बीज पशुओं में इसे ही 'अपीह' की संज्ञा दी है जिसका शास्त्रीय उदाहरण है—'तद्विदरेतरत्न' अर्थात् उस पदार्थ से मित वस्तु से मिश्रण का होना। बोधा वस्तु है जो उससे मित होने वाले (पाप हानि, छद्म आदि) वस्तुओं से मित हो। अतः स्वयं अस्तत्वात्मक है। तब गोत्र और अस्त वर्म उत्पन्न। उस वर्म के द्वारा हम किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं कर सकते। अतः 'सामान्य' का ज्ञान अशुद्ध है। किसी भी वस्तु के स्वरूप से हम परिचित हो ही नहीं सकते। नान्यद्वय के अनुमत्त की भीमांशा हमें इसी परिचय पर पहुँचाती है कि समस्त द्रव्यों का सामान्य तथा मिश्रित रूप ज्ञान के लिए अयोग्य है। हम उन्हें कभी नहीं जान सकते।

संसर्गविचार—

यह अथ संसर्ग का सम्बन्ध का समुदायमात्र है। परन्तु परीक्षा करने पर यह संसर्ग भी विशुद्ध अस्तत्वात् प्रतीय होता है। इन्द्रियों तथा विषयों के साथ संसर्ग होने पर तत्तत् विविध विज्ञान उत्पन्न होती है। वस्तु का रूप के साथ सम्बन्ध होने पर 'बहुविज्ञान' उत्पन्न होता है, परन्तु यह संसर्ग ठिठ नहीं होता। संसर्ग जब वस्तुओं में होता है जो एक दूसरे से छूचू हों। पर से पर का सम्बन्ध सभी प्रमाण पुरस्सर है जब से दोनों छूचू हों परन्तु ये छूचू तो नहीं हैं। पर को विविध मानकर (प्रतीय) पर छूचू है और पर की अपेक्षा से पर अस्त वस्तु प्रतीय होता है। सर्वमान्य विद्वान् यह है कि जो वस्तु जिस विविध से उत्पन्न होती है वह उससे छूचू हो नहीं सकती जैसे बीज और अंडुर^१। बीज के कारण अंडुर की उत्पत्ति होती है। अतः बीज से अंडुर मित पदार्थ नहीं है। इसी विद्वान् के अनुसार पर पर से छूचू नहीं है। तब इन दोनों में संसर्ग हो ही कैसे सकता है। संसर्ग का नहीं स्वभाव है। संसर्ग की वस्तुता की इस प्रकार अशुद्ध होने पर अस्त की धारणा भी सर्वथा निरुपलब्ध होती है।

१ अम्बरम्बत् प्रतीत्यन्वयान्तराद्वैतम्बत्ता।

वदन्तीत्यत्र यं वदुः सत्त्वतादम्बन्तोऽप्यप्यते ॥ (भाष्य का १४५)

२ अतीत्य अथ नानि न हि तत्परं तरेष तत्।

यं अम्बरपि तत् तन्मात्राभिधानं नापि सादृश्यम् ॥ (भाष्य का १४६)

गति परीक्षा —

नागार्जुन ने लोकसिद्ध गमनागमन क्रिया की वही कड़ी आलोचना की है (द्वितीय प्रकरण)। लोक में हमारी प्रतीति होती है कि देवदत्त 'क' से चलकर 'ख' तक पहुँच जाता है। परन्तु विचार करने पर यह प्रतीति वास्तविक नहीं सिद्ध होती। कोई भी व्यक्ति एक समय में दो स्थानों में विद्यमान नहीं रह सकता। 'क' से 'ख' तक चलने का अर्थ यह हुआ कि वह एक काल में दोनों स्थानों पर विद्यमान रहता है जो साधारण रीत्या असंभव है। आचार्य की उक्ति है।

गतं न गम्यते तावद्गत नैव गम्यते ।

गतागत-विनिर्मुक्त गम्यमान न गम्यते ॥ (२।१)

जो मार्ग गमन के द्वारा पार कर दिया गया है उसे हम 'गम्यते' (वह पार किया जा रहा है) नहीं कह सकते। 'गम्यते' वर्तमान कालिक क्रिया है जो भूत पदार्थ के विषय में नहीं प्रयुक्त हो सकती। जो मार्ग के अभी चलने को है वह उसके लिए भी गम्यते नहीं कह सकते। मार्ग के दो ही भाग हो सकते हैं— एक वह जिसे हम पार कर चुके (गत) और दूसरा वह जिसे अभी भविष्य में पार करना है (अगत)। इन दोनों को छोड़कर तीसरा भाग नहीं जिस पर चला जाय। भूत तथा भविष्य मार्ग के लिए 'गम्यते' का प्रयोग ही नहीं हो सकता और इन्हें छोड़कर मार्ग का तीसरा भाग नहीं जिस पर चला जाय। फलतः 'गमन' की क्रिया असिद्ध हो जाती है। गमन के असिद्ध होते ही गमनकर्ता भी असिद्ध हो जाता है। कर्ता की क्रिया कल्पना के साथ सम्बद्ध रहती है। जब क्रिया ही असिद्ध है तब कर्ता की असिद्धि स्वाभाविक है। गमन के समान ही स्थिति की कल्पना निराधार है। स्थिति किसके विषय में प्रयुक्त की जा सकती है—गन्ता (गमनकर्ता) के विषय में या अगन्ता के विषय में ? गमन करने वाला खड़ा होता है, यह कल्पना विरोधी होने से त्याज्य है। गमन स्थिति की विरुद्ध क्रिया है। अतः गमन का कर्ता विरोधी क्रिया (स्थिति) का कर्ता हो नहीं सकता। 'अगन्ता खड़ा होता है'—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो व्यक्ति गमन ही नहीं करता वह तो स्वयं-स्थित है। फिर उसे खड़ा होने की आवश्यकता ही क्योंकर होगी ? अतः अगन्ता का भी अवस्थान उचित नहीं। इन दोनों को छोड़कर तीसरा व्यक्ति कौन है जो स्थिति करेगा। फलतः कर्ता के

युक्ति^१ यह है कि विद्यमान ही व्यक्ति उपादान का ग्रहण करता है। विद्यमान देवदत्त धन का सग्रह करता है, अविद्यमान बन्ध्यापुत्र नहीं। अतः विद्यमान होने पर ही पुद्गल दर्शन, श्रवणादि क्रियाओं का ग्रहण करेगा, अविद्यमान नहीं।^२ इस पर नागार्जुन का आक्षेप है कि दर्शनादि से पूर्व विद्यमान आत्मा का ज्ञान हमें किस प्रकार होगा? आत्मा और दर्शनादि क्रियाओं का परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध है। यदि दर्शनादि के बिना ही आत्मा की स्थिति हो, तो इन क्रियाओं की भी स्थिति आत्मा के बिना हो जायेगी^३।

‘समग्र दर्शन, श्रवण, वेदन आदि क्रियाओं से पूर्व हम किसी भी वस्तु (आत्मा) का अस्तित्व नहीं मानते जिसकी ग्रहण के लिए किसी अन्य पदार्थ की आवश्यकता हो, प्रत्युत हम प्रत्येक दर्शनादि क्रिया से पूर्व आत्मा का अस्तित्व मानते हैं’—प्रतिवादी के इस तर्क के उत्तर में नागार्जुन का कहना है कि यदि आत्मा समग्र दर्शनादि से पूर्व नहीं स्वीकृत किया जायगा, तो वह एक भी दर्शनादि से पूर्व सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि जो वस्तु सर्व पदार्थों से पूर्व नहीं होती, वह एक-एक पदार्थ से पूर्व नहीं होती जैसे सिकता में तेल। समग्र सिकता (वालू) से तेल उत्पन्न नहीं होता—ऐसी दशा में एक-एक भी सिकता से तेल उत्पन्न नहीं होता^४। दर्शन श्रवणादि जिस महाभूतों से उत्पन्न होते हैं उन महाभूतों में भी आत्मा विद्यमान नहीं है^५। निष्कर्ष यह है कि इन दर्शनादि क्रियाओं से पूर्व आत्मा के अस्तित्व का परिचय हमें प्राप्त नहीं है। इनके साथ भी आत्मा विद्यमान नहीं रहता क्योंकि सहभाव उन्हीं पदार्थों का सम्भव है जिनकी पृथक् पृथक् सिद्धि हो, परन्तु सापेक्ष होने से आत्मा दर्शनादि क्रियाओं से पृथक् सिद्ध नहीं

१ कथं ह्यविद्यमानस्य दर्शनादि भविष्यति ।

भावस्य तस्मात् प्रागेभ्य सोऽस्तिभावो व्यवस्थित ॥ (१।२)

२ विनापि दर्शनादीनि यदि चासौ व्यवस्थित ।

अमून्यपि भविष्यन्ति विना तेन न सशय ॥ (१।४)

३ सर्वेभ्यो दर्शनादिभ्यो यदि पूर्वो न विद्यते ।

एकैकस्मात् कथं पूर्वो दर्शनादे स युज्यते ॥-(माध्य० १।७)

४ दर्शनश्रवणादीनि वेदनादीनि चाप्यय ।

भवन्ति येभ्यस्तेष्वेव भूतेष्वपि न विद्यते ॥ (माध्य० १।१०)

है। ऐसी दशा में दोनों का सम्बन्ध असम्भव है। पुनश्च आत्मा दर्शनादि क्रियाओं के पश्चात् उत्तरकाल में भी विद्यमान नहीं रहता, क्योंकि दर्शनादि क्रियात्मक हैं वे कर्ता को अपेक्षा रखते हैं^१। यदि स्वतन्त्र रूप से ही दर्शन-आदि क्रियायें सम्पन्न होने लगे तो कर्तात्मक से आत्मा के मानने की आवश्यकता ही नहीं सी होगी। इस प्रकार परीक्षण के फल को मायार्तुव के एक सुन्दर कारिका (१।१२) में अभिव्यक्त किया है—

प्राक् च यो दर्शनादिभ्यः साम्प्रत चोद्यमेव च ।

न विद्यतेऽस्ति नास्तीति विमुक्तस्तत्र कल्पना ॥ १

साध्यमिक कारिका के १८ वें प्रकरण में व्याचार्च ने पुनः इस महत्वपूर्ण कल्पना की विपुल समीक्षा की है। साधारण रीति से पञ्चस्वम्—रूप, रस, वेदना, संस्कार तथा धिक्छान—को आत्मा वतसाया जाता है, परन्तु वह उचित नहीं। क्योंकि स्वप्नों को उत्पत्ति तथा निमित्त होती है। तदात्मक होने से आत्मा भी उत्पन्न तथा व्यक्त का भ्रमन बन जायगा। स्वप्न उपादान है। आत्मा उपादान है। क्या उपपत्त्य तथा उपादान—प्रत्यक्ष तथा ग्राहक—कभी एक सिद्ध हो सकते हैं? नहीं तो ऐसी दशा में आत्मा को हृन्वात्मक कैसे स्वीकार किया जाय^२। यदि आत्मा को स्वप्नों से अविच्छिन्न मानें तो वह स्वप्नसमूह (स्वप्नों के द्वारा समित) न होना। अतः स्थिति विषय है—इस आत्मा को न तो स्वप्नों से अभिन्न मान सकते हैं और न भिन्न^३। आत्मा के अस्तित्व होने पर आरम्भिक उपादान (पञ्चस्वम्) की भी सिद्धि नहीं हो सकती। फिर इन दोनों के संश्लेष होने पर अमृताहीन तथा अहङ्कार-रहित बोधी को सिद्ध किस प्रकार हो सकती है। फलतः आत्मा की कल्पना गिराकार तथा निर्मूल है।

कुछ लोग आत्मा को कर्ता मानते हैं। मायार्तुव की सम्मति में कर्ता और

१ यदि हि पूर्व दर्शनादीनि स्युः उत्तरकालमात्रा स्नात् तदाभीमूर्त्तं सम्मयेत् ।
न नैवमर्तुत्वम् कर्मनोऽसिद्धत्वात् । (प्रत्यक्षपक्षा पृ १११)

२ न बोधादानमेवात्मा व्येति तत् सङ्गवेति च ।

कर्म हि बोधोपादानमुपादात्ता मविच्छति ॥ (भाष्य का २७३)

३ अत्मा स्वप्नो यदि भवेत्तुद्वयवयवमायं भवेत् ।

स्वप्नोऽप्योऽप्यो यदि भवेत् भवेत्स्वप्नसमूहः ॥ (भाष्यमिक का १८११)

कर्म की भावना भी निःसार है (अष्टम परिच्छेद)। क्रिया करने वाले व्यक्ति को कर्ता कहते हैं। वह यदि विद्यमान है, तो क्रिया कर नहीं सकता। क्रिया के कारण ही उसे कारक सज्ञा प्राप्त हुई है। ऐसी दशा में उसे दूसरी क्रिया करने की आवश्यकता ही नहीं है। तब कर्म की स्थिति बिना कारक के किस प्रकार मानी जाय ?

सद्भूतस्य क्रिया नास्ति, कर्म च स्यादकर्तृकम्^१।

परस्पर सापेक्ष होने से क्रिया, कारक तथा कर्म की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जा सकती। क्रिया के असम्भवे होने से धर्माधर्म विद्यमान नहीं रह सकते। जब देवदत्त अहिंसादि क्रिया का सम्पादन करता है, तब वह धर्माभागी बनता है। जब क्रिया ही असिद्ध बन गई, तब धर्म का असिद्ध होना सुतरा निश्चित है। धर्म और अधर्म के असम्भवे में उनके फल—सुगति और दुर्गति—का अभाव होगा। जब फल ही विद्यमान नहीं होता, तब स्वर्ग या मोक्ष के लिए विहित मार्ग ही व्यर्थ है^२। बुद्ध प्रदर्शित मार्ग स्वर्ग की ओर ले जाता है या निर्वाण की ओर। स्वर्ग मोक्ष के अभाव में कौन व्यक्ति ऐसा मूढ़ होगा जो मार्ग का अवलम्बन कर अपना जीवन व्यर्थ बितायेगा। नागार्जुन के तर्क के आगे आर्यसत्त्यों का भी अस्तित्व मायिक है। इस प्रकार आत्मा की कल्पना कथमपि मान्य नहीं है। इस विशाल तार्किक समीक्षण का परिणाम आचार्य नागार्जुन ने वही ही सुन्दर रीति से इस कारिका में प्रतिपादित किया है—

आत्मेत्यपि प्रज्ञापितमनात्मेत्यपि देशितम्।

बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्॥

—(माध्यमिक कारिका १८।६)

कर्मफल-परीक्षा—

कर्म का सिद्धान्त वैदिक धर्म के समान बौद्धधर्म को भी सम्मत है। जो कर्म किया जाता है, उसका फल अवश्य होता है। परन्तु परीक्षा करने पर यह तथ्य प्रमाणित नहीं होता। कर्म का फल सद्यः न होकर कालान्तर में सम्पन्न होता है।

१ माध्यमिक कारिका ८।२

२ धर्माधर्मों न विद्येते क्रियादीनामसम्भवे।

धर्मे चासत्यधर्मे च फलं तज्ज न विद्यते॥

यदि फल के विना एक कर्म रिक्त है तो वह निरर्थक हो जायगा। यदि निरर्थक एक उद्योग होता न मानकर उसे निरावश्यकता माना जाय तो अविद्यमान कर्म किस प्रकार फल उत्पन्न कर सकता है? यदि कर्म की प्रकृति स्वयम्भूत होती जाय तो निमित्तबोध वह सम्भव हो जायगा। परन्तु वस्तुतः वह ऐसा है नहीं। कर्म नहीं है जिसे स्वतन्त्र कर्ता अपनी क्रिया के द्वारा अभीष्टतम समस्त (कर्तृ-रहिततत्त्व) कर्म-प्राप्ति (1911-12) अर्थात् सम्पादन करे। सामान्य होने पर उसे क्रिया के साधन सम्बन्ध कैसे माना जायगा? क्योंकि जो वस्तु सम्भव होती है, वह कृत्य (क्रिया के द्वारा निष्पन्न) नहीं होती। यदि कर्म अस्तित्व होमा, तो बिना क्रिये ही फल की प्राप्ति होने लगेगी (आश्चर्यपूर्ण)। फलतः निर्वाण की इच्छा रखने वाला भी यदि बिना ब्रह्मचर्य का निर्वाह क्रिये ही अपने को कुण्डलिन मानने लगेगा। अतः न तो वस्तु में कर्म विद्यमान है न हमारा फल—योगी कल्पनायें केवल व्यवहार की सिद्धि के लिए हैं।

ज्ञान-परीक्षा—

ज्ञान के स्वरूप के विचार करने पर वह भी मान्य प्रकार के विरोधों से परिपूर्ण प्रतीत होता है। इन्द्रियों १ है—चक्षुः श्रवण ग्राह्य रस स्पर्श और मन जिनके इन्द्रियादि १ प्रकार के विषय हैं। इन विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है, परन्तु वस्तुतः वह आत्मत मान्य है तथ्य बात नहीं है। उदाहरण के लिए बहुत का प्रश्न कीजिए। बहुत जब अपने को ही नहीं देखती है तब अन्य वस्तु (रूप) को क्योंकि देख सकती है। अग्नि का प्रकाश नहीं दिया का उदाहरण। जिस प्रकार अग्नि अपने को तो नहीं जलाता केवल अन्य पदार्थ (इन्धन आदि) को जलाता है, उसी तरह बहुत भी अपने आपके चक्षुः

१ फले तसि न माहात्मा न स्वर्गाद्योपपद्यते।

मार्गः सर्वविद्यानां न वैश्वकर्मा प्रसज्यते ॥

(भाष्यमिदं धारिण ४१५-१)

२ विज्ञात्वापाकघनाच्छेदं कर्म तद्विच्छेदमिवान्।

निबद्धं चेत् किमर्थं सत् किं एव अवशिष्यति ॥

(भाष्यमिदं धारिण १७१)

३ भाष्यमिदं धारिण १७१२-२३।

में असमर्थ होने पर भी रूप के प्रकाश में समर्थ होगा^१। परन्तु यह कथन एक मौलिक भ्रान्ति पर अवलम्बित है। गति के समान 'जलाना' क्रिया तो स्वयं असिद्ध है। अतः उसका दृष्टान्त देखकर चक्षु के दर्शन की घटना पुष्ट नहीं की जा सकती, क्योंकि 'दर्शन' क्रिया भी गति तथा स्थिति के समान निर्मूल कल्पना-मात्र है। जो वस्तु दृष्ट है, उसके लिए 'वह देखी जाती है (दृश्यते) यह वर्तमानकालिक प्रयोग नहीं कर सकते और जो वस्तु अदृष्ट है, उसके लिए भी 'दृश्यते' का प्रयोग अनुपयुक्त है। वस्तु दो ही प्रकार की हो सकती है—दृष्ट और अदृष्ट। इन दोनों के अतिरिक्त दृश्यमान वस्तु की सत्ता हो ही नहीं सकती^२। दर्शन क्रिया के अभाव में उसका कोई भी कर्ता सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कर्ता विद्यमान भी रहे, तो वह अपना दर्शन नहीं कर सकता^३। तब वह अन्य वस्तुओं का दर्शन किस प्रकार कर सकेगा ?

दर्शन की अपेक्षा कर या निरपेक्ष भाव से द्रष्टा की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि द्रष्टा सिद्ध है तो उसे दर्शन क्रिया की अपेक्षा ही किसके लिए होगी ? यदि द्रष्टा असिद्ध है, तो भी वन्ध्या के पुत्र के समान वह दर्शन की अपेक्षा नहीं करेगा। द्रष्टा तथा दर्शन परस्पर सापेक्षिक कल्पनाएँ हैं। अतः द्रष्टा को दर्शन से निरपेक्षभाव से स्थित मानना भी न्यायसंगत नहीं है। फलतः द्रष्टा का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। अतः द्रष्टा के अभाव में द्रष्टव्य (विषय) तथा दर्शन का अभाव सुतरां असिद्ध है^४। सच्ची बात तो यह है कि रूप की सत्ता पर चक्षु अवलम्बित है और चक्षु की सत्ता पर रूप। नील, पीत, हरित आदि रंगों की कल्पना से हम चक्षु का अनुमान करते हैं और चक्षु की स्थिति नील पीतादि रंगों का ज्ञान होता है। 'जिस प्रकार माता-पिता के कारण पुत्र का जन्म होता है, उसी प्रकार चक्षु और रूप को निमित्त मानकर चक्षुर्विज्ञान की

१ माध्यमिक कारिका ३।१-३।

२ न दृष्टं दृश्यते तावत् अदृष्ट नैव दृश्यते।

दृष्टादृष्टविनिर्मुक्तं दृश्यमानं न दृश्यते ॥ (पृ० ११४)

३ माध्यमिक कारिका ३।५

४ माध्यमिक का० ३।६

१६ ली०

उत्पत्ति होती है^१। अतः ब्रह्मा के अस्तित्व में ब्रह्मण्य तथा दर्शन विद्यमान नहीं हैं। तब मित्राण की कल्पना कैसे सिद्ध होगी? बौद्ध इस किसी वस्तु को देख रहे हैं वह वैसी ही है, इसका पता हमें क्योंकि बतलाता है। एक ही वस्तु को मित्र-मित्र सोय मित्र-मित्र आकर आ देखकर बतलाते हैं। दर्शन के समान ही अन्य अनेक ज्ञान की वस्तु है। इसलिए ज्ञान की वस्तु ही धर्म का अन्त है—आत्मज्ञान की सुखियों का यही परिणाम है।

आर्षे आत्मज्ञान की तर्क-समीक्षा का आश्रित परिणाम ऊपर दिया गया है। आत्मज्ञान की मीमांसावृत्ति निरान्त अग्रगण्य है। उन्होंने जगत् की उत्पत्ति मूल कारणों की नीति ही छोड़ बतली है। वह तर्कवृत्ति कृपाण की वात के समान टीका है। इसके सामने जो विषय आ जाता है उसे विज्ञ-मित्र का कहने में उन्हें निरुत्तर नहीं लगता। कुछ-कुछ अति-स्मृति, पैरा-वात आत्मा-अनात्मा, इन्द्र-गुण वातव पदार्थों का अतन्त्रित अस्तित्व मानकर वह लोक व्यवहार बतलाता है। उनकी सत्ता में संशय ही नहीं विज्ञानवादी बना है, प्रभुत्व अग्रगण्य, ग्रीक सुखियों से उनका आर्थिक व्यवहार कर दिया गया है। आत्मज्ञान के इस विषय तर्क-वृत्ति का यही परिणाम है कि यह जगत् आभासमान है। जगत् के पदार्थों में अस्तित्व मानना स्वप्न के मोहों से क्षुधा शान्त करना है वा मरीचिक के जल से आली पिपासा बुझाना है। अतः-अतः वात पर पड़े हुए वात के बूँद देखने में मोती के समान लगते हैं। परन्तु सूर्य की उब किरण के पड़ते ही वे विनीत हो जाते हैं। जगत् के पदार्थों की वस्तु टीका इसी प्रकार है। वे साधारण दृष्टि से देखने में सत्य तथा अविद्यमान प्रतीत होते हैं परन्तु गर्भ का प्रकोप करते ही वे स्वभाव शून्य होकर अनस्तित्व में मिल जाते हैं। आत्म-गुण की समोपा का सबसे बड़ा फल यही है कि अस्तित्व ही एकमात्र सत्य है। अतः अनिर्विण्णवृत्ति है।

(१) सत्तामीमांसा

माध्यमिक के मत में सत्य का प्रकर का होता है—(१) सांख्यिक सत्य (= अविविधविन आन्तरिक सत्य) (२) कार्यात्मिक सत्य (= प्रवृत्तिवित

१ अतः आत्मज्ञान की वस्तु: पुत्रार्थमात्र।

बहुलके प्रतीकसुखी विज्ञानसम्पदा ॥ (भाष्य का ३।०)

सत्य)। आर्य नागार्जुन के मत में तथागत ने उन दोनों सत्तों को लक्ष्य करके ही धर्म का उपदेश किया है—कुछ उपदेशों में ध्यावहारिक सत्य का वर्णन है और किन्हीं शिक्षाओं में पारमार्थिक सत्य का। अतः माध्यमिकों का यह द्विविध सत्य का सिद्धान्त अभिनव न होकर भगवान् बुद्ध के उपदेशों पर आश्रित है।

सांस्कृतिक सत्य यह है जो संवृति के द्वारा उत्पन्न हो। 'संवृति' शब्द की व्याख्या तीन प्रकार से की गई है—

(१) 'संवृति' शब्द का अर्थ है 'अविद्या' जो सत्य वस्तु के ऊपर आवरण डाल देती है^१। इसके अविद्या, मोह तथा विपर्यास पर्यायवाची शब्द हैं। प्रज्ञा-करमणि का कहना है कि अविद्या अविद्यमान वस्तु का स्वरूप अन्य वस्तु पर आरोपित कर देती है जिससे उसका सच्चा स्वरूप हमारी दृष्टि से अगोचर होता है। 'आर्यशास्त्रिस्तम्बसूत्र' को अविद्या का यही अर्थ अभीष्ट है—तत्त्वेऽप्रतिपत्तिं मिथ्या प्रतिपत्तिरज्ञानं अविद्या। अविद्या का स्वरूप आवरणात्मक है—

अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते ।

अविद्या जायमानेव कामलातङ्कवृत्तिवत् ॥

आशय है कि जिस प्रकार कामला (पाण्डु) रोग होने पर रोगी श्वेत वस्तु के रूप को छिपा देता है और उसके ऊपर पीत रंग को आरोपित कर देता है, उसी प्रकार अविद्या भूत के सच्चे स्वरूप को आवरण कर अविद्यमान रूप को आरोपित कर देती है। इस प्रकार आवरण करने का हेतु 'संवृति' का अर्थ हुआ अविद्या।

(२) 'संवृति' का अर्थ है हेतुप्रत्यय के द्वारा उत्पन्न वस्तु का रूप (प्रतीत्य-समुत्पन्न वस्तुरूप संवृतिरुच्यते पृ० ३५२)। सत्य पदार्थ अपनी सत्ता के लिए

१ द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।

लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥

(माध्यमिकवृत्ति ४९२, बोधिवर्था ३६१)

२ सन्नयत आश्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणाद् आवृतं प्रकाशनाच्चानयेति संवृतिः । अविद्या। तत्समपदार्थस्वरूपारोपिका स्वभावदर्शनावरणात्मिका च सती संवृतिरुपपद्यते—बोधि० पञ्जिका पृ० ३५२

किन्ती कारण से उत्पन्न नहीं होता है । अतः कारण से उत्पन्न होने वाला लौकिक वस्तु 'सांस्कृतिक' कहा जायेगा ।

(१) 'संस्कृति' से सब विषयों या सामग्रियों से अभिप्राय है जो साधारणतया मनुष्यों के द्वारा प्रदत्त किये तथा प्रत्यक्ष के रूप में अनुभवित रहते हैं । कप, शस्त्र आदिसे परमार्थ सत्य नहीं मानना चाहिए क्योंकि ये लोक के द्वारा एक ही प्रकार से प्रदत्त किये जाते हैं । इन्द्रियों के द्वारा जो वस्तु प्रदत्त की जाती है वह वास्तविक होती तो अमर के समान मूर्त तत्त्व बन जाते और 'सत्य' की शोच के लिए निदानों का कबमपि आवश्यक नहीं होता । प्रत्याकारमति ने भी के शरीर को उदाहरण के रूप में दिया है । वह निरन्तर प्रसूति है, परन्तु इसमें आसक्ति रखनेवाले अमृत के लिए वह परम पवित्र तथा शुद्धि प्रदीप्त होता है ।

'संस्कृति' के दो प्रकार—

'सांस्कृतिक उत्पत्ति' का अर्थ हुआ अविद्या का मोह के द्वारा उत्पन्नित सांस्कृतिक सत्य जिसे अद्वैत वेदान्त में 'म्यातद्भारिक सत्य' कहते हैं । यह सत्य ही प्रकार का होता है—(१) लोक संस्कृति तथा (२) अलोक संस्कृति । 'लोक संस्कृति' वह है जिसे साधारण जन समाज स्तर कहकर मानता है जैसे बटपयस्त्रि पदार्थ । 'अलोक संस्कृति' इससे भिन्न होती है जिसे कतिपय मनुष्य (जैसे ब्राह्मण लोग) ही ग्रहण कर सकते हैं समझ नहीं, जैसे शंख का पीतरंग । प्रत्याकारमति ने इन ही क्रमशः (१) तत्त्वसंस्कृति तथा (२) मिथ्यासंस्कृति को उल्टा भी है । तत्त्वसंस्कृति का अर्थ है किंचित् कारण से उत्पन्न तथा शोचयित इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध वस्तु-रूप (नील वीर्यदि)—यह लोक से सत्य है । 'मिथ्यासंस्कृति' भी किंचित्-प्रत्यक्ष-वस्तु होती है परन्तु वह शोच-यित इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध होती जैसे माया, मातृविद्या प्रतिबिम्ब आदि । यह लोक से भी मिथ्या है । शोचयित से प्रथम संस्कृति सत्य है और दूसरी अमान्य परन्तु दोनों को रजि में समान कहा है अर्थात् देव है । परमार्थ सत्य इससे भिन्न पदार्थ है । 'आर्जव सत्यों' की विवेचना करते समय ब्रह्मकाधार का मत है कि ब्रह्म एतद्वत् तथा मार्ग सत्य संस्कृति-

१. प्रत्यक्षमपि क्वादि अविद्याया न प्रमाणात् ।

अनुपपन्नं हि शुद्ध्यादि प्रतिबिम्बितं सा मुखा ॥ (बोधिसूत्र ५५१)

२. बोधिसूत्र ५५१ ।

सत्य के अन्तर्गत आते हैं तथा केवल निरोध (निर्वाण) सत्य अकेला ही परमार्थ के भीतर आता है । अप्राप्त होने पर भी सद्युति का हम तिरस्कार नहीं कर सकते क्योंकि व्यवहार—सत्य में रहकर ही परमार्थ की देशना की जाती है । अतः परमार्थ के लिए व्यवहार उपादेय है—

व्यवहारमनादृत्य परमार्थो न देश्यते ।

परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥

‘आदिशान्त’—

माध्यमिक प्रश्नों में जगत् के पदार्थों के लिए ‘आदिशान्त’ तथा ‘नित्यशान्त’ शब्दों का प्रयोग किया गया है । शान्त का अर्थ है स्वभावरहित, विशिष्ट सत्ता से विहीन । नागार्जुन की उक्ति इस विषय में नितान्त स्पष्ट है—

प्रतीत्य यद्यद् भवति, तत्तच्छान्त स्वभावतः ।

तस्मादुत्पद्यमानं च शान्तमुत्पत्तिरेव तु^१ ॥

आशय है कि जो जो वस्तु किसी अन्य वस्तु के निमित्त से (प्रतीत्य) उत्पन्न होती है, वह दोनों स्वभाव से ही शान्त, स्वभावहीन, होते हैं । चन्द्रकीर्ति की व्याख्या है कि जो पदार्थ विद्यमान रहता है वह अपना अनपायी (न नष्ट होनेवाला) स्वभाव अवश्य धारण करता है और विद्यमान होने के कारण वह किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता और न किसी कारण से उत्पन्न ही होता है (यो हि पदार्थो विद्यमानः स सस्वभावः स्वेनात्मना स्व स्वभावमनपायिन विमर्ति । स सविद्यमानत्वान्नैवान्यत् किञ्चिदपेक्षते नाप्युत्पद्यते—प्रसन्नपदा^२) । परन्तु जगत् के पदार्थों में इस नियम का उपयोग दृष्टिगोचर नहीं होता । वस्तुओं का अपना रूप बदलता रहता है । आज मिट्टी है, तो कल घड़ा और परसों प्याला । उत्पत्ति भी पदार्थों की हमारे जीवन के प्रतिदिन की चिरपरिचित घटना है । ऐसी दशा में पदार्थों को स्वभावसम्पन्न किस प्रकार माना जा सकता है ? अतः बाध्य होकर हमें जगत् की वस्तुओं को निःस्वभाव या शान्त मानना पड़ता है । कार्य और कारण, घट और मिट्टी, अंकुर और बीज दोनों स्वभावहीन हैं—अतः

१ माध्यमिक कारिका ७।१६

२ माध्यमिक श्रुति पृ० १६०

शान्त हैं^१। कार्य कारण की व्यपका करना तो वास्तव में का केव है। वस्तुस्थिति से परिचय रखनेवाला कोई भी व्यक्ति जगत् को उत्पन्न नहीं मान सकता। इस प्रश्न में शान्ति देव ने आग्रार्जुन के उत्तर-मित्रेक करिक की वही निस्तुत व्याख्या की है^२। वस्तुतः संसार की ही पूर्वा कोटि (कारण भाग) विद्यमान नहीं है। प्रकृत जगत् के समस्त पदार्थों की वही दृश्य है^३। इसलिए हेतुप्रत्ययजनित पदार्थों को शून्यवादी व्याख्यान स्वभाव-हीन (शान्त) मानते हैं^४।

जगत् व्यपका का निरुद्ध निश्चय है। वैराग्य संकल्प के बल पर हम संसार के नाश प्रखर के पदार्थों की उत्पत्ति तथा स्थिति मान बैठते हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्तर अपनी निरुद्धन शक्ति के कारण छद्म छद्म की आकृतियों को पैदा करता है उसी प्रकार जगत् के पदार्थों की उत्पत्ति है।

हम बाद की वस्तुओं को वे ही शेष वस्तु-प्रिया मानते हैं जिसके ऊपर बाद का अपार रहता है, परन्तु जो व्यक्तर हम वस्तुओं के सर्वत्र रूप से परिचित रहता है वह हमारी भाव में वही पड़ता। जगत् की वस्तुओं को वे ही शेष सत्य मानते हैं जिसके ऊपर अभिरा का प्रकट रहता है। वह प्राकृतिकों की बात हुई परन्तु भीमोजन को सत्य से परिचित होते हैं जगत् की मायिकता में कभी

१ यथा तु यत्प्रतीत्य बोधकत्वं कारणं भवति अङ्गुलम्यं कार्यं तत्त्वोभयमपि शान्तं स्वभावविरहितं प्रतीत्यसमुत्पन्नम् । (भाष्यमिश्र इति पृ. १६)

२ बोधिकां पृ. ३५५-३५७

३ पूर्वा न विद्यते कोटिः संसारत्वं न केवम् ।

सर्वेषामपि भवानां पूर्वा कोटो न विद्यते ॥ (भाष्य का ११७)

४ उत्पन्न पदार्थों के लिए 'शान्त' वा 'आदिशान्त' शब्द का प्रयोग विज्ञान वाली तथा वैदन्त ग्रन्थों में भी मिलता है—

निन्वभाषतया सिद्धा उत्तरोत्तरनिम्नता ।

अनुत्पादोऽभिविरोधरणादिशान्तिः परिनिर्वाणः ॥ (महाबोधुत्पत्तिपर ११५१)

आदिशान्ता अनुत्पन्ना प्रहरेव न निर्वाणः ।

ब्रह्मो विज्ञा नाय । ब्रह्मव्यवर्तने ॥ (भार्यारत्न मेघ सूत्र)

आदिशान्ता अनुत्पन्ना प्रहरेव निर्वाणः ।

अने बर्माः सत्तामिन्ना अर्थ शान्तं निशारम् ॥ (सौव्याय करिका ४११)

बद्ध नहीं होते' । 'अज्ञानियों की दशां उन व्यक्तियों के समान है जो यक्ष का अत्यन्त भयकर रूप स्वयं बनाते हैं और उसे देखकर भयभीत होते हैं', आर्य नागार्जुन का यह दृष्टान्त जगत् के सामान्य लोगों की मनोवृत्ति का सच्चा निदर्शन है^२—

यथा चित्रकरो रूपं यत्तस्यातिभयंकरम् ।

समोलिख्य स्वयं भीतं संसारेऽप्यबुधस्तथा ॥

कल्पना पञ्च के समान है । जिस प्रकार दलदल में चलने वाला बालक उसमें अपने को डुबा देता है और उससे फिर निकलने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार जगत् के प्राणी कल्पनापक में अपने को इस प्रकार डुबा देते हैं कि फिर उससे निकलने की शक्ति उनमें नहीं रहती^३ । योगी का काम है कि वह स्वयं प्रज्ञा के द्वारा जगत् के मायिक रूप का साक्षात्कार करे और संसार से हटकर निर्वाण के लिए प्रस्थान करे । इसका एकमात्र उपाय है—परमार्थसत्य का ज्ञान ।

परमार्थ सत्य—

वस्तु को उसके यथार्थ रूप में अवलोकन करने वाले आर्यों का सत्य सांस्कृतिक सत्य से नितान्त भिन्न है । वस्तु का अकृत्रिम स्वरूप ही परमार्थ है जिसके ज्ञान से सृष्टिजन्य समस्त क्लेशों का अपहरण सम्पन्न होता है । परमार्थ है धर्म-नैरात्म्य अर्थात् सर्व धर्मों (साधारणतया भूतों) की निःस्वभावता । इसके ही शून्यता, तथता (तथे का भाव, वैसा ही होना), भूतकोटि (सत्य अवसान) और धर्मघातु (वस्तुओं की समप्रतीति) पर्याय हैं^४ । समस्त प्रतीत्यसमुत्पन्न

१ बोधिचर्या० १।३, पञ्जिका पृ० ३६८-३८० ।

२ महायानविंशक, श्लोक ८ । यह श्लोक 'आश्चर्यचर्याचय' की टीका में उद्धृत है । द्रष्टव्य—बौद्धगान ओ दोहा पृ० ६ ।

३. स्वयं चलन् यथा पद्मे बालः कश्चिन्निमज्जति ।

निमग्ना, कल्पनापके सत्त्वास्तत उद्गमाक्षमा ॥

(महायानविंशक श्लोक ११)

४ सर्वधर्मिणा निःस्वभावता, शून्यता, तथता भूतकोटिं धर्मघातुरिति पर्याया । सर्वस्य हि प्रतीत्यसमुत्पन्नस्य पदार्थस्य निःस्वभावता पारमार्थिक रूपम् ॥

(बोधिचर्या० पृ० ३५४)

पदार्थों की स्वभावहीनता ही पारमार्थिक रूप है। जगत् के समस्त पदार्थ हेतु-प्रत्यय के उत्पन्न होते हैं—अतः उनका अपना कोई निश्चित रूप नहीं होता। वही निस्स्वभावता या शुन्यता पारमार्थिक रूप है। आकाश के कमलानुसार निर्माण ही परमार्थतत्त्व है। इसमें विपरीतता विपक्ष कर्ता तथा कर्म का किसी प्रकार की विरोधता नहीं होती। इसीलिए ब्रह्मकर्मसिद्धि में परमार्थतत्त्व को 'सर्व-व्यवहारसमविकल्प'—समस्त व्यवहारों से अतीत—निर्विरोध असमुत्पन्न अनि-पक्ष, अभिव्येय और अभिवान्य से विरहित तथा ज्ञेय का ज्ञान निमित्त बतलाया है^१। सृष्टि का कार्य है बुद्धि। अतः बुद्धि के द्वारा जिस जिस तत्त्व का ग्रहण होता है वह समस्त व्यवहारिक (सांस्कृतिक) तत्त्व है। परमार्थतत्त्व बुद्धि के द्वारा ग्रहण नहीं है। बुद्धि किसी विरोध को सहन करके ही बस्तु के ग्रहण में प्रवृत्त होती है। विरोध-हीन होने से बुद्धि के द्वारा परमार्थ ग्रहण कैसे हो सकता है ?

परमार्थतत्त्व धैर्यरूप है। बुद्धि के द्वारा उत्तरी देखा नहीं हो सकता। देखा जा सकने का ही होती है जो शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाय। परमतत्त्व न तो शब्द का विषय है और न वस्तु का गौरव है। शब्द और मन—दोनों उस तत्त्व तक पहुँच नहीं सकते। इसीलिए परमार्थ शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता^२। अपने ही अज्ञान से उस तत्त्व की अनुमृति की जाती है—अतः वह 'अज्ञातम वेदनीय' है। जब शब्द उस तत्त्व तक पहुँच नहीं सकता तब तत्त्व उपदेश किस प्रकार दिया जा सकता है ? उपदेश शब्द के द्वारा होना है। अतः शब्दातीत तत्त्व उपदेशातीत है^३। शान्तिदेव के भक्त्यनुसार वह तत्त्व ज्ञान के प्रविशान्यको को (जैसे वाक्या, अनुसन्धि वसेरा) सर्वना अनुसृति करने पर ही प्राप्त हो सकता है। 'पितृपुत्र समागमसूत्र'^४ में तत्त्व को द्विप्रकारक बतलाकर परमार्थ को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न, अभिवेक, अभिवेक, अभिवेक, अभिवेक, अभिवेक, अभिवेक बतलाया गया है। वह न ज्ञान न

१ बोधिसूत्र पृष्ठ १६६।

२ विद्वत्तममिपत्तम् विद्वत्त वित्तमोचरे।

अनुसृति विद्वत्त द्वि निर्वाणमिदं परमं ॥ (भाष्यमिदं भा १८१०)

३ बुद्धिर्नास्तीति न ज्ञानात्मा अभिव्यक्तिरिति वेदितव्यम् । १८१६

४ बोधिसूत्र पृष्ठ १६०

अलाभ, न सुख, न दुःख, न यश, न अयश, न रूप, न अरूप है । इस प्रकार परमार्थसत्य का वर्णन प्रतिषेधमुखेन ही हो सकता है, विधिमुखेन नहीं^१ ।

व्यवहार की उपयोगिता—

माध्यमिकों का यह पक्ष हीनयानियों की दृष्टि में नितान्त गर्हणीय है । आक्षेप का बीज यह है कि जब परमार्थ शब्दतः अवर्णनीय है और व्यवहार सत्य जादू के चलते-फिरते रूपों की तरह अममात्र है, तब स्कन्ध, आयतनादि तत्त्वों के उपदेश देने की सार्थकता किस प्रकार प्रमाणित की जाती है ? इस आक्षेप का उत्तर नागार्जुन के शब्दों में यह है^२—

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते ।

परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥

आशय यह है कि व्यवहार का आश्रय लिये बिना परमार्थ का उपदेश हो नहीं सकता और परमार्थ की प्राप्ति के बिना निर्वाण नहीं मिल सकता । इस सारगर्भित कथन का अर्थ यह है कि साधारण मानवों की बुद्धि व्यवहार में इतनी अधिक सलग्न है कि उन्हें परमार्थ का लौकिक वस्तुओं की दृष्टि से ही उपदेश दिया जा सकता है । जिन संकेतों से उनका आजन्म परिचय है, उन्हीं संकेतों की भाषा में परमार्थ को वे समझ सकते हैं । अतः व्यवहार का सर्वथा उपयोग है । इसी का प्रतिपादन चन्द्रकीर्ति के 'माध्यमिकावतार' (६।८०) में इस प्रकार किया है—उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम्^३ । 'पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' इसी सिद्धान्त को पुष्ट करती है—न च सुभूते संस्कृतव्यतिरेकेण असंस्कृतं शक्यं प्रज्ञापयितुम् अर्थात् संस्कृत (व्यवहार) के बिना असंस्कृत (परमार्थ) का प्रज्ञापन शक्य नहीं है ।

व्यवहार के वर्णन का एक और भी कारण है । यह निश्चित है कि परमार्थ की व्याख्या शब्दों तथा संकेतों का आश्रय लेकर नहीं की जा सकती परन्तु उसकी

१ तदेतदार्थानामेव स्वसविदितस्वभावतया प्रत्यात्मवेद्य परमार्थसत्यम् ।

(बोधि० पृ० ३६७)

२ माध्यमिक कारिका २४।१० । इस श्लोक को प्रज्ञाकरमति ने बोधिचर्या की पञ्जिका में (पृ० ३६५) उद्धृत किया है ।

३ बोधि० पञ्जिका पृ० ३७२ ।

व्याख्या करना आवश्यक है। ऐसी दशा में एक ही उपाय है और वह अपने व्यावहारिक विषयों का निरोध है। परमार्थ तत्त्व अर्थात्पर (बुद्धि के व्यापार को को अतिवृत्त करने वाला), अधिपक्ष (ज्ञान की कल्पना के बहुर), सर्वप्रपञ्च-निनिर्मुक्त (सब प्रकार के बर्तनों से मुक्त), कल्पना-समतिवृत्त (बुद्धि-बुद्धि), अस्ति-वास्ति, मिथ्य-अमिथ्य आदि समस्त संकल्पों से विरहित) है तब उसका उपदेश किस प्रकार दूसरे को दिया जा सकता है? अतः लौकिक बर्तों का प्रथमतः उस पर आरोप किया व्यवसा। अन्तर इस आरोप का परिहार किया जायगा। तब परमतत्त्व के स्वरूप का ज्ञान अवग्राह्य हो सकता है। इस तत्त्व का प्रतिपादन इस सुप्रसिद्ध श्लोक में है—

अनन्तरस्यावस्यस्य मुक्तिं का देशाना च का।

भूयते दूरयते आपि समारोपादनसुर॥

अनन्तरित तत्त्व का अर्थ किसे प्रकार हो सकता है? एक ही उपाय है समारोप—समारोप के द्वारा ही अनन्तर का अर्थ तथा उपदेश सम्भव हो सकता है। व्यावहार का परमार्थ के लिए वही विरोध उपयोग है।

वेदान्त की व्याप्यारोपविधि से तुलना—

अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म के उपदेश का भी वही प्रकार माना जाता है। ब्रह्म स्वयं निष्प्रपञ्च है। परन्तु बिना प्रपञ्च का सहारा मिले उसकी व्याख्या हो नहीं सकती। इसी विधि का नाम है—व्याप्यारोप और अपवाद। व्याप्यारोपवाक्यान्वी निष्प्रपञ्च प्रपञ्च्यते। 'व्याप्यारोप' का अर्थ निष्प्रपञ्च ब्रह्म में ब्रह्म का आरोप कर देना है और अपवाद विधि' से आरोपित वस्तु का ब्रह्म से एक-एक कर निराकरण करना होता है। अन्तर्गत के ऊपर अन्तर्गत शरीर का आरोप किया जाना है कि वह सब व्यावहारिक शरीर ही है—परन्तु तदनन्तर पुच्छित से अन्तर्गत का अन्तर्गत प्राचमय मयीमय निदानमय तथा अन्तर्गतमय—एक हीको कोटों से व्यतिरिक्त तथा स्वतः स्वयं और कारण शरीरों से पूरक विद कर एक वस्तु के स्वरूप का बोध कराया है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त में परमार्थ के प्रतिपादन के लिए याविक व्यावहार का अर्थात्पर निदानमय आवश्यक है। अद्वैतवेदान्त की वह व्यावहारिकता वही प्राचमिक तथा शुद्ध व्यावहारिक है^१।

१ इसी पदार्थ का प्रयोग बीजदर्शन में व्याप्यारोप के द्वारा करने के

शून्यवाद

‘शून्य का अर्थ—

माध्यमिक लोग इसी परमार्थसत्य को शून्य के नाम से पुकारते हैं। इसीलिए इन आचार्यों का मत शून्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इस शून्यवाद के तात्त्विक स्वरूप के निरूपण करने में विद्वानों में सातिशय वैमत्य उपलब्ध होता है। हीनयानी आचार्य तथा ब्राह्मण-जैन विद्वानों ने ‘शून्य’ शब्द का अर्थ सर्वत्र सकल ‘सत्ता का निषेध’ या ‘अभाव’ ही किया है। इसका कारण इस शब्द का लोकव्यवहार में प्रसिद्ध अर्थ है, परन्तु माध्यमिक आचार्यों के मौलिक ग्रन्थों के अनुशीलन से इसका ‘नास्ति’ तथा ‘अभाव’ रूप अर्थ सिद्ध नहीं होता। किसी भी पदार्थ के स्वरूप निर्णय में चार ही कोटियों का प्रयोग सन्भाव्य प्रतीत होता है—अस्ति (विद्यमान है), नास्ति (विद्यमान नहीं है), तदुभयं (अस्ति और नास्ति एक साथ) नौभयं (न च अस्ति, न च नास्ति—‘अस्ति’ और ‘नास्ति’ इस द्विविध कल्पना का निषेध)। इन कोटियों का सम्बन्ध सासारिक पदार्थ से है, परन्तु परमार्थ मनोवाणी से अगोचर होने के कारण नितरां अनिर्वाच्य है। इन चतुर्विध कोटियों की सहायता से उसका निर्वचन—वर्णन या लक्षण—कथमपि नहीं किया जा सकता। सविशेष वस्तु का निर्वचन होता है। निर्विशेष वस्तु कथमपि निर्वचन का विषय नहीं हो सकती। इसी कारण अनिर्वचनीयता की सूचना देने के

लिए किया जाता है। मान लीजिए कि ‘ $k^2 + 2k = 24$ ’ इस समीकरण में हमें अज्ञात ‘ k ’ का मूल्य निर्धारित करना है। तब प्रथमतः दोनों ओर १ संख्या जोड़ देते हैं और अन्त में इस संख्या को निकाल देते हैं। अर्थात् जो जोड़ा गया था वही अन्त में ले लिया गया। अतः संख्या में कोई अनन्तर नहीं हुआ। बीज-गणित की पद्धति से इस समीकरण का रूप इस प्रकार होगा—

$$(k^2 + 2k) + 1 = 24 + 1$$

$$(k + 1)^2 = (5)^2$$

$$\therefore k + 1 = 5$$

$$\therefore (k + 1) - 1 = 5 - 1$$

$$\therefore k = 4$$

मोक्षोपयोगी साधनों की खोज में यहीं पर विराम करना उचित नहीं है। कर्म तथा क्लेशों की सत्ता संकल्पों के कारण है। शुभ सकल्प से 'राग' का, अशुभ सकल्प से द्वेष का तथा विपर्यास के संकल्प से मोह का उदय होता है। इसीलिए सूत्र में भगवान् बुद्ध की गाथा है कि हे काम ! मैं तुम्हारे मूल को जानता हूँ। तुम्हारा मूल संकल्प है। अब मैं तुम्हारा सकल्प ही न करूँगा जिससे तुम्हारी उत्पत्ति न होगी। सकल्प का कारण प्रपञ्च है। प्रपञ्च का अर्थ है ज्ञान-ज्ञेय, वाच्य-वाचक, घट-पट, स्त्री-पुरुष, लाभालाभ, सुख दुःख आदि विचार। इस प्रपञ्च का निरोध शून्यता—सर्वधर्म नैरात्य ज्ञान—में होता है। अतः शून्यता मोक्षोपयोगिनी है। वस्तु की उपलब्धि होने पर प्रपञ्च का जन्म है और तदुपरान्त संकल्पों के द्वारा वह कर्म क्लेशों को उत्पन्न करता है जिसने प्राणी ससार के आवागमन में मटकता रहता है। परन्तु वस्तु की अनुपलब्धि होने पर सब अनर्थों के मूल प्रपञ्च का जन्म ही नहीं होता। जैसे जगत् में वन्ध्या की पुत्री के अभाव होने से कोई भी कामुक उसके रूप-लावण्य के विषय में प्रपञ्च (विचार) न करेगा, न सकल्प ही करेगा और न राग के वन्धन में डालकर अपने को सदा क्लेश का भाजन बनावेगा। ठीक इसी प्रकार शून्यता के ज्ञान से योगी को सद्यः निर्वाण प्राप्ति होती है। इसीलिए सब प्रपञ्चों से निवृत्ति उत्पन्न करने के कारण शून्यता ही निर्वाण है। नागार्जुन ने इस कारण शून्यता को आध्यात्मिकता के लिए इतना महत्त्व प्रदान किया है—

कर्मक्लेशक्षयान्मोक्षं कर्मक्लेशा विकल्पतः ।

ते प्रपञ्चात् प्रपञ्चस्तु शून्यताया निरुध्यते^१ ॥

आचार्य आर्यदेव ने 'चतुःशतक' में दो वस्तुओं को ही बौद्धधर्म में गौरव प्रदान किया है—(१) अहिंसारूपी धर्म को और (२) शून्यतारूपी निर्वाण को^२। मानव-जीवन के लिए शून्यता की उपादेयता दिखलाते समय चन्द्रकीर्ति ने आर्यदेव के मत की विस्तृत व्याख्या की है^३। अतः 'शून्यता' का ज्ञान नितान्त उपादेय है।

१ माध्यमिक कारिका १८।५

२ धर्म समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागता ।

शून्यतामेव निर्वाण केवल तदिहोभयम् ॥ (चतुःशतक १२।२३)

३ तदेवमशेषप्रपञ्चोपशमशिवलक्षणा शून्यतामागम्य यस्मादशेषकल्पना-जाल-

शून्य का लक्षण—

शून्यता की इसी उपयोगिता बतलाकर भागवतुर्व ने शून्य का लक्षण एक नहीं ही सुन्दर करिका^१ में एकत्र किया है—

अपरमत्पयं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम् ।

निर्विकल्पमनानात्ममेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ॥

शून्य के लक्षण इस प्रकार दिये जा सकते हैं —

(१) यह अपरमत्पय है अर्थात् एक के द्वारा दूसरे को इसका उपदेश नहीं किया जा सकता । प्रत्येक प्राणी को इस लक्षण की अस्तुमूर्ति स्वयं अपने आप करानी चाहिए (प्रत्यात्मवेद्य) । प्राणों के उपदेश के अन्वय से इस लक्षण का ज्ञान कबयपि नहीं हो सकता, क्योंकि प्राणों का लक्षणप्रतिपादन 'समारोप' के द्वारा ही होता है ।

(२) यह शान्त है अर्थात् समानरहित है ।

(३) यह प्रपञ्चों के द्वारा कभी प्रपञ्चित नहीं होता है । यहाँ 'प्रपञ्च' का अर्थ है राज्य, क्योंकि यह अर्थ को प्रपञ्चित (प्रकथित) करता है^२ । 'शून्य' के अर्थ का प्रतिपादन किसी भी राज्य के द्वारा नहीं किया जा सकता । इसीलिए यह 'अस्तम्य' तथा 'अनन्तर' लक्षण कहा गया है ।

(४) यह निर्विकल्प है । 'विकल्प' का अर्थ है वित्तप्रकार अर्थात् वित्त का वस्तुतः वित्त का व्यापार होना । शून्यता वित्त-व्यापार के अन्तर्गत नहीं आती । वित्त इस लक्षण को विचार नहीं सकता । इसीलिए सूत्रकार का कथन है—वित्त परमार्थस्वरूप में ज्ञान का प्रकार नहीं है, यहाँ अक्षरों का प्रकार कैसे होमा ? (अर्थात् यह लक्षण अक्षरेय तथा अक्षर्य है) ।

प्रपञ्चविधयो भवति । प्रपञ्चविधमात्रं विज्ञपतिर्हृतिः । विज्ञपतिज्ञायाः कार्येणकर्म-
बोधेयमिहृतिः । कार्यबोधेयमिहृत्या ज्ञममिहृतिः । तस्यात् शून्यतेन सर्वप्रपञ्चमिहृति-
लक्षणत्वमिहर्वाचमुच्यते । (माध्यमिक इति पृ १५१)

१ माध्यमिक करिका १८१९

२ प्रपञ्चो हि वाक् प्रपञ्चवत्पर्यायमिति कृत्वा वाग्विभक्त्यादृतमित्यर्थः ॥

(माध्यमिक इति पृ १७१)

३ परमार्थस्वरूपं कथमयं ? यत्र ज्ञानस्याप्यप्रकारः ।

कः पुनर्वाचोऽप्रपञ्चमिति ॥

(माध्यमिक इति पृ १७४)

(५) अनानार्थ है अर्थात् नाना अर्थों से विरहित है । जिसके विषय में धर्मों की उत्पत्ति मानी जाती है, वह वस्तु नानार्थ होती है । वस्तुतः सब धर्मों का उत्पाद नहीं होता । अतः यह तत्त्व नानार्थ रहित है (नात्र किञ्चित् परमार्थतो नानाकरणं तत् । कस्मादेतोः ? परमार्थतोऽत्यन्तानुत्पादत्वात् सर्वधर्माणाम्—आर्यसत्यद्वयावतार सूत्र^१)

शून्य का इस प्रकार स्वभाव है समग्र प्रपञ्च की निवृत्ति । वस्तुतः वह भाव पदार्थ है, अभाव नहीं है । जिस प्रकार इस तत्त्व का प्रतिपादन नागार्जुन ने किया है वह प्रकार निषेधात्मक भले हो, परन्तु शून्य तत्त्व अभावात्मक कथमपि नहीं है । जगत् के मूल में विद्यमान होने वाला यह भाव पदार्थ है । शून्यता ही ही प्रतीत्य समुत्पाद है—

यः प्रत्ययसमुत्पादः शून्यता तां प्रचक्ष्महे ।

सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ॥

इसीलिए शून्य तत्त्व को प्रचुर प्रशंसा 'अनवतप्तहृदापसकमण सूत्र' में दृष्टिगोचर होती है । इस सूत्र का कथन है कि जो वस्तु (कार्य) हेतुप्रत्ययों के संयोग से उत्पन्न होती है (अर्थात् सापेक्षिक रूप से पैदा होती है), वह वस्तु सचमुच (स्वभावतः) उत्पन्न नहीं होती । जो प्रत्यायाधीन है वही 'शून्य' कहलाता है । शून्यता का ज्ञाता ही प्रमादरहित है । इस तत्त्व से अनभिज्ञ पुरुष प्रमाद में, आन्ति में, पड़े हुए है^२ ।

शून्यवाद की सिद्धि—

शून्यवाद के निराकरण के निमित्त पूर्वपक्ष ने अनेक युक्तियों प्रदर्शित की हैं । इन्हीं का विशेष खण्डन नागार्जुन ने अपने 'विप्रह-व्यावर्तिनी' में विस्तार के साथ किया है । आचार्य का प्रधान लक्ष्य तर्क के सहारे ही शून्यवाद के विरोधियों का सुखमुदण करना है । इस लक्ष्य की सिद्धि में वे पर्याप्त मात्रा में सफल हुए हैं ।

पूर्वपक्ष—(१) वस्तुसार का निषेध (=शून्यवाद) ठीक नहीं है, क्योंकि (१)

१ माध्यमिक वृत्ति पृ० ३७५

२ यः प्रत्ययैर्जीवति स ह्यजातो नो तस्य उत्पादो सभावतोऽस्ती ।

यः प्रत्यायाधीनु स शून्य उक्तो यः शून्यतो जानति सोऽप्रमत्त ॥

(माध्यमिक वृत्ति पृ० २३६)

जिन शब्दों को पुष्टि के तीर से प्रयोग किया जायगा वे भी शून्य—बचर-ही होंगे, (ii) यदि नहीं, तो दुम्हारी पहिचान बात कि सब वस्तुएँ शून्य हैं बख्त खदेसी, (iii) शून्यता को सिद्ध करने के प्रमाण का नितास्त अभाव है।

(२) सभी वस्तुओं को वास्तविक मानना चाहिए, क्योंकि (i) अण्डो-बुरे के मेर को सभी स्वीकार करते हैं, (ii) अस्तित्व वस्तु का नाम नहीं मिलता परन्तु बचत के समस्त पदार्थों का नाम मिलता है, (iii) वास्तविक पदार्थ का निवेद्य पुष्टिबुद्ध नहीं, (iv) प्रतिवेद्य को भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

बचरपक्ष—

इस पक्ष का बख्त नासातुंय वे इस पुष्टिओं के बच पर इस प्रकार किया है। बचरपक्ष—(१) जिन प्रमाणों के बच पर अर्थों की वास्तविकता सिद्ध की जा रही है, इन्हीं प्रमाणों को हम कमप्रति सिद्ध नहीं कर सकते प्रमाण बचरे प्रमाणों के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसी दशा में वह प्रमाण न होकर प्रमेय हो जायगा (ii) न प्रमाण अर्थों के समाज स्वतन्त्र-अप्रकार होते हैं (iii) प्रमेयों के द्वारा भी उनकी सिद्धि नहीं हो सकती। प्रमेय तो अपनी सिद्धि के लिए बरतना है, अतः वह प्रमाणों की सिद्धि क्यों कर सकेगा? यदि करेगा तो प्रमाण ही बनना प्रमेय तो रह नहीं सकता। (iv) न अक्षय्य—संयोग से—प्रमाण सिद्ध हो सकते हैं। अतः प्रमाणत्व के ऊपर नासातुंय का वह कारणमिष्ठ मत है—

नैव स्वतः प्रसिद्धिर्न परस्परतः प्रमापैर्वा।

मवति न च प्रमेयैर्न बाध्यकस्मात् प्रमाणानाम् ॥

(निमहम्पावर्तनी चरिका ५२)

(२) सबों को असत्य शून्यत्व है। (i) वह अण्डो-बुरे की प्रथमा के सिद्ध नहीं है। यह मानना ही अस्तिवस्तुत्व के कारण ही है। यदि वह बात न मानी जाय प्रत्युत अण्डो-बुरे का मेर स्वतः परमार्थ कथन माना जाय तो वह अक्षय्य एकरस है। इसे अक्षय्य अर्थों के अस्तित्व के द्वारा कमप्रति परिचित नहीं किया जा सकता। (ii) शून्यता होने पर भी नाम होता है। नाम की अक्षय्यता स्वयं व्यक्त नहीं होकर अक्षय्य है। जो पदार्थ सब स्थिर तथा अनिवार्य हो उनीना नाम होना को असत्य होता, इसका नाम न होना—वह अक्षय्य नितास्त नितास्त है।

इस प्रकार 'विग्रह व्यावर्तन' में शून्यवाद का मौलिक समर्थन है। 'प्रमाण विध्वंसन' में नागार्जुन ने प्रमाणवाद का लोपकार खण्डन किया है। परन्तु यह खण्डन परमार्थ दृष्टि से किया गया है। व्यावहारिक जीवन में इसकी सत्यता सर्वथा माननीय है। परन्तु प्रमाणों का खण्डन आचार्य ने इतनी प्रवृत्तता के साथ किया कि मिथुनी राताब्धियों में यह भाष्यमय नव वस्तुस्थितिपोषक होने के स्थान पर सर्वविध्वंसक नास्तिकवाद बन गया। इस ग्रन्थ में गौतम के न्यायसूत्र के समान ही प्रमाणों, प्रमेय आदि घटारह पदार्थों का संक्षिप्त वर्णन है। 'उपाय कौशल्य' में शास्त्रार्थ में प्रतिपक्षी पर विजय पाने के लिए जाति, निग्रहान्यास आदि वस्तुओं का संक्षिप्त विवरण है। इन ग्रन्थों की रचना से स्पष्ट है कि बौद्ध न्याय का आरम्भ आचार्य नागार्जुन से ही चलता युज्यमान है।

शून्यता के प्रकार—

शून्यता के वास्तव स्वरूप की प्रपत्ति के लिए महायान ग्रन्थों में शून्यता के विभिन्न प्रकारों का विशद वर्णन मिलता है। 'महाप्रज्ञा पारमिता' के द्वेन च्यांग द्वारा विरचित चौथी अनुवाद में शून्यता के अठारह प्रकार वर्णित हैं। परन्तु 'पञ्चविंशति साहस्रिका उद्भा पारमिता' के अनुसार हरिन्द्र के 'अमिसमयातंकरा-लोक' में शून्यता के बीस प्रकार वर्णित हैं। इन प्रकारों के अध्ययन से शून्यता का दार्शनिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है जिसका निर्माण श्री उपलब्धि के निमित्त बोधि-जन के लिए अन्तःकरण निदान आवश्यक है। शून्यता का यह ज्ञान बोधिसत्त्व के 'अवतार' के अन्तर्गत होता है। शून्यता के २० प्रकार निम्नलिखित हैं :—

(१) अत्यान्त-शून्यता—(नौदरो वस्तुओं की शून्यता)। 'अध्यात्म' से अन्तेन्द्रिय = विज्ञानों से है। इसे शून्य वस्तुत्व की अवस्था यह है कि हमारे मानस क्रिया से मूल में उच्च न्यायिक 'आत्म' नामक कोई पदार्थ नहीं है। हान-यन्त्रों का अन्तर्भाव इसी शून्यता का द्योतक है।

(२) पञ्चविंशत-शून्यता—बाहरी वस्तुओं की शून्यता। इन्द्रियों के विषय-

१. ग्रन्थ Dr. Suzuki—Essays in Zen Buddhism (Third series) pp. 222—227.

२. ग्रन्थ Dr. Obermiller का है Indian Historical Quarterly Vol IX, 1953 pp. 176—187.

रूप रस स्पर्श आदि-स्वभावशून्य हैं। जिस प्रकार हमारा अस्तित्वका स्वरूप शून्य होने से अवास्तव है उसी प्रकार वायु जगत् के भी मूल में कोई अस्तित्व नहीं है। 'अध्यात्म शून्यता' तो हीनशक्तियों का असीद्ध सिद्धान्त था, परन्तु बौद्धी बस्तुओं (या वस्तुओं) को स्वरूप शून्य बतलाना महाशक्तियों की मौलिक सूत्र है।

(३) अध्यात्म-अद्विधा-शून्यता—इस साधारणतया भीतरी और बाहरी बस्तुओं में भेद करते हैं परन्तु यह भेद भी अस्तित्व नहीं है। वह भिन्न-अस्तित्व-प्रसूत है। स्थान परिवर्तन करने पर जो वायु है वही आन्वन्तर बल वायु है और जो आन्वन्तर है, वह वायु हो जाता है। इसी तत्त्व की सूचना इस प्रकार में दी गई है।

(४) शून्यता-शून्यता—दर्शकों की शून्यता सिद्ध होने पर हमारे हृदय में निश्चय हो जाता है कि यह शून्यता वास्तव पदार्थ है या हमारे प्रयत्नों के द्वारा प्राप्त कोई वायु पदार्थ है। परन्तु इस विचार को दूर करना इस प्रकार का बहस है। 'शून्यता' भी पदार्थ नहीं है। उसकी भी शून्यता परमतात्त्व है।

(५) महाशून्यता—विद्या की शून्यता। इस विद्याओं का व्यवहार अल्पता-प्रसूत है। दिव्य की अल्पता अनेकविध है। पूर्व-परिचय परस्पर का निमित्त सावधान कल्पित किये गये हैं। इसकी शून्यता मानना अप्रयुक्त है। विद्या के महाशक्तिशाली के कारण वह शून्यता 'महान् विरोध' से सन्निविष्ट की जाती है।

(६) परमार्थ शून्यता—'परमार्थ' से अधिग्रह निर्माण के हैं। निर्माण सांसारिक प्रयत्न से निर्णायकता है। अतः निर्माण के स्वरूप से शून्य होने पर निर्माण भी शून्य पदार्थ है।

(७) संसृष्ट-शून्यता—'संसृष्ट' का अर्थ है निमित्त-प्रयत्न से अल्पता पदार्थ। विषय-वस्तु जगत् के अस्तित्व का प्रमाण, रूप-वस्तु और अल्पता का सन्निविष्ट माना जाता है। इन जगत् के उत्पत्ति पदार्थ स्वरूप के शून्य हैं। हमारा यही ध्येय है कि जगत् के भीतरी तथा बाहरी समस्त बस्तुओं शून्यत्व है।

(८) असंसृष्ट-शून्यता—संसृष्ट पदार्थ अल्पता-प्रसूत, विनाश-प्रसूत अल्पता पदार्थ से पुनः उत्पन्न है परन्तु अनुनाह तथा अनिष्टान भी नाशमात्र (प्रवृत्ति) है। इसकी अल्पता अनेकविध है। 'संसृष्ट' के विरोधी रूप से 'असंसृष्ट' की गई है। इसकी अल्पता शक्तिशाली, निराश्रय अतः शून्य है।

(१) अत्यन्त-शून्यता—प्रत्येक 'अन्त' स्वभावशून्य होता है। शाश्वत (नित्यता) एक अन्त है और उच्छेद (विनाश) दूसरा अन्त है। इन दोनों अन्तों के बीच में ऐसी कोई वस्तु विद्यमान नहीं है जो इनमें अन्तर घटलावे। अतः इनका भी अपना कोई स्वरूप नहीं है। अत्यन्त शून्यता से अर्थ है विलकुल शून्यता से अर्थात् 'शून्यता-शून्यता' का ही यह दूसरा प्रकार है।

(१०) अनवराग्न-शून्यता—आरम्भ, मध्य और अन्त इन तीनों की कल्पना सापेक्षिक है। अतः इनका अपना वास्तविक रूप कोई नहीं है। किसी वस्तु को आदिमान् मानना उसी प्रकार काल्पनिक है जिस प्रकार अन्य वस्तु को आदिहीन मानना। आदि और अन्त ये दोनों परस्पर-विरुद्ध धारणाएँ हैं। इन धारणाओं की शून्यता दिखलाना इस प्रमेद का अभिप्राय है।

(११) अनवकार-शून्यता—'अनवकार' से अभिप्राय 'अनुपविशेष निर्वाण' से है जिसका अपाकरण कथमपि नहीं किया जा सकता। यह कल्पना भी शून्यरूप है, क्योंकि 'अपाकरण' क्रियारूप होने से 'अनपाकरण' की भावना पर अवलम्बित है। अपाकरण अपने से विरोधी कल्पना के ऊपर आश्रित है। अतः सापेक्ष होने से शून्यरूप है।

(१२) प्रकृति-शून्यता—किसी वस्तु की प्रकृति अथवा स्वभाव सब विद्वानों द्वारा मिलकर भी उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसका अपना कोई विशिष्ट रूप नहीं है। क्योंकि चाहे वह सस्कृत (कृत—उत्पन्न) रूप में हो, या असस्कृत रूप में हो, किसी प्रकार के रूप में न तो परिवर्तन किया जा सकता है और न अपरिवर्तन किया जा सकता है।

(१३) सर्वधर्म-शून्यता—जगत् के समस्त धर्म (पदार्थ) स्वभाव से विहीन हैं क्योंकि सस्कृत और असस्कृत दोनों प्रकार से सम्बन्ध रखने वाले धर्म परस्पर अवलम्बित होने वाले हैं। अतएव वे परमार्थ सत्ता से विहीन हैं।

(१४) लक्षण-शून्यता—किसी वस्तु का लक्षण उसका वह भाव है जिसके द्वारा मनुष्य उसके यथार्थ रूप का परिचय प्राप्त करता है जैसे अग्नि की उष्णता, जन का शैत्य, इन पदार्थों के लक्षण हैं। ये लक्षण भी वस्तुतः शून्य हैं क्योंकि हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण इनकी भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह सकती। अतः वस्तुओं का सामान्य तथा विशेष लक्षण (जिसे मनुष्य उसका स्वरूप वतलाता है) नाममात्र—विज्ञप्तिमात्र हैं।

(१२) उपजन्म-शुद्ध्यता—यसु वर्तमान तथा अभिषिक्त—इस विधिपक्ष की कल्पना बिना की कल्पना के समान विस्तृत विचार है। मनुष्य अपने व्यवहार के विषय पक्ष की कल्पना करता करता है। पक्ष ऐसा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है जिसकी गता स्वतन्त्र प्रमाणां में विद्वत् की जा सके।

(१३) अभाष-स्यमाप-शुद्ध्यता—अनेक प्रमाणों के संयोग से ही असु उत्पन्न होती है उसका भी कोई कल्पना विहित स्वरूप नहीं होता क्योंकि परस्पर सापेक्ष होने के कारण ऐसा पद्वत् की स्वतन्त्र गता होती ही नहीं।

(१४) भाष-शुद्ध्यता—परस्पर के समुदाय की गार्धारण रीति में इन भाष्य के नाम से पुकारते हैं। परन्तु वह पराम्पर्य भी स्वरूप में हीन है। स्वयं राज्य का भाष है राष्ट्र या समुदाय। का पद्वत् समुदायार्थक होती है वह स्वतन्त्र सिद्ध नहीं होती। इसलिये वह जगत् के पदार्थों का किसी प्रकार भी विहित नहीं बन सकती। स्वयं की गता का विशेष इस विमोचन का तात्पर्य है।

(१५) अभाष-शुद्ध्यता—आवृत्त और दोनों प्रकार के विरोध (प्रति-संघात विरोध और अप्रतिरोधका विरोध) परमावर्तित हैं। वे केवल रक्षामात्र हैं। वे वस्तुतः सांसारिक व्यवस्था के अभावद्वय हान से स्वतन्त्र प्रतीत हैं।

(१६) उपभाष-शुद्ध्यता—साधारण रीति से हमारी वह धारणा है कि अनेक वस्तु का कल्पना स्व-भाष (स्वतन्त्र रूप) है। वह स्वभाष पदार्थों के अस्तौतिक (प्रतिम) ज्ञान का वर्तमान के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। ज्ञान और वर्तमान वस्तु के पदार्थ रूप के सौतक होते हैं। उत्तरवर्ति पदार्थ की अभिव्यक्ति में कल्पना नहीं कर सकते।

(१७) परभाष-शुद्ध्यता—वस्तु का परभाष रक्ष मित्य वर्तमान रहता है। वह वस्तु की उत्पत्ति तथा विनाश की अपेक्षा में एकतर स्वतन्त्र रूप में गता विद्यमान रहनेवाला है। इस स्वयं का किसी गता कारण (परभाष) के द्वारा उत्पन्न हुआ भावना विस्तृत प्रतीत है।

शुद्ध्यता में हम बीस प्रकारों का वर्णित जलन समझ दिया गया है। इनके व्यवहार करने में शुद्ध्यता की विद्यात तथा व्यापक कल्पना हमारी दृष्टि के समर्थन परमिष्य है। जाती है। इस कारण का कोई भी पदार्थ कोई भी कल्पना, कोई भी कारण एवम्पत्ता एक नहीं है। इसी उक्त का वर्णित प्रथमतः 'शुद्ध्यता' राज्य

2. नागार्जुन की श्वास्तिकता—

१ बृहदारण्यक उप०

अनेकार्थमनानार्थकमनागममनिर्गमम् । (माध्य० का० १।१)

नामानुष्य की भावना देकर आरम्भ होत है। कुछ के 'वर्मकाव' में वरम
अङ्गुल मध्य की यह भारती पछिरस से किसी स्निग्ध है—

न भावो नाप्यभावोऽस्ति मोक्षेदो नापि शमवत् ।
न नित्यो नाप्यनित्यस्त्यमद्वयाय समोऽस्तु ते ॥ ४ ॥
न रण्यो हरितमक्षिणो वर्णस्ते मोपसृज्यते ।
न पीतकृष्णसुवस्त्रो वा वयर्णाय समोऽस्तु ते ॥ ५ ॥

मयकाव की स्तुति समान नहीं—

एवं स्तुतं स्तुतो भूयादयथा किमुत स्तुतं ।
शून्येषु सर्वधर्मेषु कः स्तुतं केन वा स्तुतं ॥ ६ ॥
कस्यां शक्योति संस्तोतुमुत्पादय्ययमर्जितम् ।
यस्य नास्त्यो न मर्त्यं वा प्रादो माद्य न विद्यते ॥ १० ॥

कुछ भगवान् ने फिर तब हुए होने पर भी मज्झिमी के कथान के लिए
विर्ताव का उपदेश दिया है—

नित्यो ध्रुवः शिषः धर्मस्तथा धर्ममयो जिनः ।
विनेमज्जनहेतोः शरित्वा निर्ध्वविस्त्यया ॥

संसार के धर्म में तबावत की प्रकृति होती है परन्तु अभी है धर्मों समान
नहीं करने—आवृत्ति (आमोस) के ये भावन नहीं बनते—

न तेऽस्ति मन्थुना गाय न पिपत्रपो न येज्जना ।
अमामोगेन ते लोके पुण्ड्रस्यै य पर्वते ॥

ऐसी भावना रखने वाले व्यक्ति की वास्तविक पहना कल्पति उचित नहीं है।

शून्यवाद का अन्वय बौद्धमत कभी ने तथा ज्ञान और ज्ञेय धर्मों के
बड़े अभिविरोध के साथ किया है। इन शब्दवाचकों में शून्य का धर्म अन्वय
ही किया है। हीनवादी लोग शून्य को अभाव कह ही मानते हैं। विश्वामित्र
शून्य को अभाव मानकर अरुण एतद् अन्वय करता है। आचार्य कुमारिल ने
इतोचमार्तिक (५ ११ १४५) में इस सिद्धांत का अन्वय बड़े ही कदाचित्
के साथ किया है। शून्यवादी प्रजाप (डाता), प्रमेय (धामने योग्य वस्तु),
प्रमाण (ज्ञान का साधन) तथा इमिति (डाता की क्रिया)—इन शब्दों पर

को परिकल्पित या श्रवस्तु मानते हैं। सूक्ष्म तर्क के आधार पर वे इन तत्त्वों का खण्डन कर इस निषेधात्मक सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि जितना वस्तु के तत्त्व पर विचार किया जाता है उतना ही वह विशीर्ण हो जाता है। इसके विरुद्ध इन दार्शनिकों का कहना है कि यदि शून्यवाद को प्रथम दिया जायेगा तो जगत् की व्यवस्था, नित्य प्रतिदिन के व्यवहार के अनुष्ठान, में घोर विप्लव मचने लगेगा। जिस बुद्धि के बल पर समस्त तर्कशास्त्र की प्रतिष्ठा है उसे ही शून्य मानना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? शंकराचार्य ने तो शून्यवाद को इतना लोक-हानिकर माना है कि उन्होंने एक ही वाक्य में इसके प्रति अपनी अनादर-बुद्धि दिखला दी है—शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाण-प्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरं क्रियते (२।२।३१ शाङ्करभाष्य)

शून्य और ब्रह्म—

शून्यतत्त्व की समीक्षा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शून्य परमतत्त्व है और वह वही वस्तु है जिसके लिए अद्वैतवेदान्तियों ने 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया है। बुद्ध अद्वैतवादी थे। उनके नाम में एक प्रसिद्ध नाम है—अद्वयवादी। नैषधकार ने बुद्ध के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है^१। धर्म-शर्माभ्युदय के कर्ता जैन कवि हरिश्चन्द्र ने भी सुगत के अद्वैतवाद का उल्लेख किया है^२। 'बोधिचित्त-विवरण' में शून्यता को 'अद्वयलक्षणा' कहा गया है^३। शान्तिदेव बोधि को अद्वय-रूप मानते हैं^४। अतः शून्य अद्वैततत्त्व है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। वह चतुष्कोटियों से विनिमुक्त अनेक स्थानों पर सिद्ध किया गया है^५।

१ एकचित्तततिरद्वयवादिन्नत्रयीपरिचितोऽथ बुधस्त्वम् ।

पाहि मां विधुतकोटिचतुष्कं पञ्चवाणविजयी षडभिज्ञ ॥ (नैषध २।१।८८)

२ अद्वैतवाद सुगतस्य हन्ति पदक्रमो यच्च जडद्विजानाम् ।

(धर्मशर्माभ्युदय १७।९६)

३ 'मिन्नापि देशनाऽमिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा'। बोधिचित्तविवरण का यह वचन भामती (२।२।१८) में वाचस्पति ने उद्धृत किया है।

४ अलक्षणमनुत्पादमसंस्कृतमवाङ्मयम् ।

आकाश बोधिचित्तं च बोधिरद्वयलक्षणा ॥ (बोधिचर्या० पृ० ४२१)

५ न सन् चासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।

भी शान्त, शिव, अद्वैत, एक आदि विशेषणों से लक्षित किया जाता है। अतः इतनी समानता होने के कारण दोनों शब्दों को एक ही परमार्थ का द्योतक मानना सर्वथा न्याययुक्त प्रतीत होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि शून्यवादी उसे निषेधात्मक शब्द के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं, वहाँ अद्वैतवादी उसे सत्तात्मक शब्द के द्वारा अभिहित करते हैं। तत्त्व एक ही है—अशब्द, अगोचर, अनिर्वाच्य तत्त्व। केवल उसे समझाने की प्रक्रिया भिन्न है। बौद्ध लोग 'असत्' की धारा के अन्तर्मुक्त हैं और अद्वैतवादी लोग 'सत्' की धारा के पक्षपाती हैं। वस्तुतः परमतत्त्व इन दोनों सापेक्षिक कल्पनाओं से बहुत ही ऊपर उच्चकोटि का पदार्थ है। समुद्र के समान अगाध उस शान्त तत्त्व की स्वरूपामिव्यक्ति के निमित्त जगत् के शब्द नितान्त दुर्बल हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टि से उसी परमतत्त्व की व्याख्या इन दर्शनों में है। अद्वैतवादियों को शून्यवादियों का ऋणी मानना भी उचित नहीं, क्योंकि यह अद्वैततत्त्व भारतीय सस्कृति तथा धर्म का पीठस्थानीय है। भारतभूमि पर पनपने वाले दोनों धर्मों ने उसे समभावेन ग्रहण किया। इसमें किसी के ऋणी होने की बात युक्तियुक्त नहीं। परमतत्त्व एक ही है। केवल उसकी व्याख्या के प्रकरणों में भेद है। कुलार्णवतन्त्र (१।११०) की यह उक्ति नितान्त सत्य है—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।

मम तत्त्व न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥



(बौद्ध तर्क और तन्त्र)

सम्यक् न्यायोपदेशेन यः सत्त्वानामनुग्रहम् ।
करोति न्यायबाह्यानां स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम् ॥

दृढ सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥

बीसवाँ परिच्छेद

बौद्ध न्याय

बौद्ध न्यायशास्त्र बौद्धपण्डितों की अलौकिक पाण्डित्य का उज्ज्वल उदाहरण है। इस शास्त्र के इतिहास तथा सिद्धान्त बतलाने के साधन पर्याप्त मात्रा में अब उपलब्ध हो रहे हैं, परन्तु इसके गाढ़ अनुशीलन की ओर विद्वानों का ध्यान अभी तक अधिक आकृष्ट नहीं हुआ है। प्राचीन काल में इसकी इतनी प्रतिष्ठा थी कि ब्राह्मण तथा जैन नैयायिक लोग अपने मत के मण्डन को तब तक पर्याप्त नहीं समझते थे, जब तक बौद्धन्याय के सिद्धान्तों का मार्मिक खण्डन न कर दिया जाय। ब्राह्मणन्याय का अभ्युदय बौद्ध न्याय के साथ घोर सघर्ष का परिणाम है। बौद्ध पण्डित ब्राह्मणन्याय का खण्डन करता था जिसके उत्तर देने तथा स्वमतस्थापन के लिए ब्राह्मण दार्शनिकों को बाध्य होकर ग्रन्थ लिखना पड़ता था। ब्राह्मणों के आक्षेपों के उत्तर देने के लिए पिछली शताब्दी का बौद्ध नैयायिक अश्रान्त परिश्रम करता था। इस प्रकार परस्पर सघर्ष से दोनों धर्मों में न्याय की चर्चा खूब होती थी। फलतः प्रमाणशास्त्र के मूल सिद्धान्तों, प्रामाण्यवाद, प्रमाण स्वरूप, प्रमाणभेद आदि की बड़े विस्तार के साथ सूक्ष्म समीक्षा हुई। बौद्ध नैयायिकों के सिद्धान्त तर्कशास्त्र तथा प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से नितान्त भर्ननीय हैं। आवश्यकता तुलनात्मक अध्ययन की है जिसमें बौद्धन्याय की तुलना केवल ब्राह्मणन्याय तथा जैनन्याय के साथ न करके पश्चिमी तर्क के साथ भी की जाय।

(१) बौद्धन्याय की उत्पत्ति—

बुद्ध का जन्मकाल शास्त्रार्थ का युग था जब बुद्धिवाद की प्रधानता थी, विचार की स्वतन्त्रता थी। जो चाहता अपने विचारों को निर्भयता के साथ अभिव्यक्त करता था। न राजा का डर था और न समाज की ओर से रुकावट थी। उस समय तर्कियों (तार्किकों) तथा विमर्सी लोगों (मीमांसकों) की प्रधानता थी। सूत्रपिटक के अध्ययन से प्रतीत होता है कि बुद्ध के साथ शास्त्रार्थ करने वाले लोगों की कमी न थी। शाक्यमुनि स्वयं शास्त्रार्थ को—वाद को—न तो महत्त्व देते थे, न उसे प्रोत्साहन देते थे, परन्तु शास्त्रार्थ करने के विशेष आप्रही

बोनों के सम्बन्ध की उपेक्षा भी नहीं करते थे। निम्नलिखित के 'परिवार' में चार प्रकार के अविहरणों का उल्लेख मिलता है। 'अविहरण' से तात्पर्य तब मर्त्य से है किन्तु विचार करने की आवश्यकता होती है। अविहरणों के चार प्रकार हैं—
 (१) विपादाविहरण—किन्तु एक निम्न पर मित्र-मित्र एवं हो तबक निर्णय। (२) अनुवादाविहरण—यह निम्न किन्तु एक पक्ष दूसरे पक्ष को निम्न के उत्कर्षण का होनी ठहराये। (३) आपत्ताविहरण—यह निम्न नहीं किसी सिद्धि के आधार के किसी सिद्धान्त का आव-बुझकर उत्कर्षण किता हो। (४) किञ्चाविहरण—संघ के किसी विषय के निम्न में निम्न। किसी निम्न के विचारक की संज्ञा 'अनुविचार' भी पाई है। संघ किसी किञ्चाविहरण का विचार किन्तु प्रकार से करता था इसका स्पष्ट उदाहरण 'प्राथमिक' में मिलता है। इससे बाद के महत्त्व का परिचय मिलता है।

अभिधम्मपिटक के क्वाणसु (क्वाणसु—योगसिद्धि, सिद्ध के द्वारा सुदीन राज्य कि पू में विरचित) में व्याख्यात से सम्बन्ध अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है—अनुमेय (प्रत्यक्ष), आहरण (उदाहरण), पटिष्ठा (प्रतिष्ठा), उपमस (हेतु के प्रयोग के स्वतन्त्र का निर्देश), निम्न (निम्न—परन्तु) जैसे शब्दों का प्रयोग स्पष्टता लुप्त करता है कि सुदीन राज्य कि पू में व्याख्यात की विधीय उत्पत्ति व्यवस्था हुई थी। 'क्वाणसु' में प्रतिपत्तों के साथ सम्बन्ध करने की प्रक्रिया का विधि उदाहरण भी दिया गया है किन्तु उत्कर्षण की सूची सचि की पर्याप्त परिचय मिलता है। किसी सिद्धान्त के सम्बन्ध के विमित प्रतिपाद को 'अनुमेय' कहते थे। प्रतिपत्तों के उत्तर की संज्ञा पटिष्म (प्रतिष्ठा) थी। प्रतिपत्त के परन्तु का नाम निम्न (निम्न) था। प्रतिपत्त के हेतु का बड़ी के सिद्धान्त में प्रयोग करने को 'उपमस' कहते थे तथा अन्तिम सिद्धान्त को 'निम्नस' कहा जाता था। अन्तिम व्यास में अनुमान के वे ही प्रसिद्ध पञ्चमस्य शब्दों की संज्ञाये हैं—प्रतिष्ठा, हेतु, उत्पत्ति, उपमस तथा निम्नस। अनुमान के अनुमेय के इस विषय पर व्यास द्वारा व्याख्यात है कि प्रथम अनुमान में पूर्ण पञ्चमस्य शब्द नहीं विद्यमान थे। दिक्ताम के

१ अन्तिम निम्नपिटक के पञ्चमस्य (या अन्तिमस्य का संस्करण) के १-११ व्यास। पाणी डेक्स्ट साक्षात् की संस्करण।

समय (पञ्चम शतक) में पञ्च अवयवों के स्थान पर केवल तीन अवयव ही उपयुक्त माने गये। वेदान्त तथा मीमांसा शास्त्रों में व्यवभव-अनुमान ही प्राण्य माना गया है। कथावत्थु के लगभग दो सौ वर्ष पीछे विरचित 'मिलिन्द प्रश्न' में वाद-प्रक्रिया के सदृशों का प्रदर्शन किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों की समीक्षा से न्यायशास्त्र के उगम का परिचय विक्रम से पूर्व शताब्दियों में भली-भाँति चलता है।

बौद्ध न्याय का इतिहास—

बौद्ध आचार्यों में न्यायशास्त्र का स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित करने का समग्र श्रेय 'आचार्य दिङ्नाग' को है। परन्तु इससे दिङ्नाग को ही प्रथम नैयायिक मानना उचित नहीं है। इनके पहले कम से कम दो बड़े नैयायिक हो गये थे— (१) नागार्जुन और (२) वसुवन्धु। नागार्जुन का प्रमाण-विषयक ग्रन्थ—विग्रहव्याचर्तनी—अभी हाल ही में उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थ में इन्होंने शून्यवाद के विरोधियों की युक्तियों का खण्डन कर व्यावहारिक रीति से प्रमाण की ही असत्यता सिद्ध कर दी है। वसुवन्धु का न्याय-ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला है। लेकिन उसके अनेक उद्धरण तथा उल्लेख परवर्ती बौद्ध तथा ब्राह्मण न्याय ग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। वसुवन्धु के नैयायिक सिद्धान्तों का खण्डन ब्राह्मणों के न्याय-ग्रन्थों में मिलता है। इन्हीं खण्डनों से अपने गुरु को बचाने के लिए दिङ्नाग ने अपने प्रमाण ग्रन्थ की रचना की। 'प्रमाण-समुच्चय' का मूल-संस्कृत में न मिलना विद्वानों के नितान्त सन्ताप का विषय है। दिङ्नाग के 'प्रमाण समुच्चय' के खण्डन करने के लिये पाशुपताचार्य उद्योतकर ने अपना 'न्याय चार्तिक' जैसा अलौकिक प्रतिभासम्पन्न ग्रन्थ-रत्न लिखा। इनकी युक्तियों के खण्डन करने के लिए धर्मकीर्ति ने 'प्रमाण-चार्तिक' जैसा प्रमेयबहुल ग्रन्थ बनाया। यह एक प्रकार से दिङ्नाग के सिद्धान्तों की ही विपुल व्याख्या है यद्यपि स्थान-स्थान पर ग्रन्थकार ने दिङ्नाग के मतों की पर्याप्त आलोचना की है, तथापि इनका दिङ्नाग के प्रति समधिक आदर और सातिशय श्रद्धा है।

दिङ्नाग से लेकर धर्मकीर्ति (७ म शताब्दी) तक का दो शताब्दी का काल बौद्धन्याय के चरम उत्कर्ष का युग है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन दो शताब्दियों के बीच में ये दो ही आचार्य हुए। इस युग में दो और

आचार्य हुए किन्तु महत्त्व म्यायशास्त्र के इतिहास में कम नहीं है। प्रथम आचार्य का नाम है (१) शंकरस्वामी। जो दिग्गज के छात्रात् शिष्य थे। इसकी महत्त्व पूर्ण रचना है—'म्याय-प्रवेष्ट'। इस ग्रन्थ के रचनायुक्त के सम्बन्ध में पक्षों मतभेद है। हम इसे दिग्गज की ही रचना मानते हैं। परन्तु बौद्धों की परम्परा के अनुसार यह ग्रन्थ शंकरस्वामी रचित ही है। इस ग्रन्थ में पक्षोपनिषद्, ऐतान्मय, तथा छान्दोग्योपनिषद् की जो सूत्रों का प्रमाण की गयी है वह म्यायशास्त्र के इतिहास में अपूर्व है। बर्मकोटि भी दिग्गज की ही परम्परा के अनुसृत्य के परन्तु इनके छात्रात् पुत्र का नाम सिम्बतोन परम्परा में (२) ईश्वरसेन बतलाना गया है। इनकी कोई रचना नहीं मिलती, परन्तु बर्मकोटि के ऊपर इसका बहुत ही प्रभाव पड़ा है इसे बर्मसेन स्वीकार किया है। 'प्रमाण पार्थिक' की महत्त्व का बरिष्य इसी के साथ संकट है कि उसे मूल मानकर उसके डीअ-मन्त्रों की एक परम्परा आरम्भ हो गयी का भारत में ही नहीं परन्तु सिम्बत में भी फैली। अचान्तर् काशीन बीमसेनारिष्य में महापण्डित रचकोटि रचित 'अपोहसिद्धि' और छान्दोग्योपनिषद् आचार्य अष्टाक रचित 'अचपनि-विश्वरूप तथा छान्दोग्योपनिषद् दिक् प्रसारि' और रत्नाकर शान्तिपाद का अन्तर्भाविसमर्जन बौद्धन्याय के निबन्ध ग्रन्थ हैं।

इस प्रकार बौद्ध न्याय का इतिहास भारतीय न्याय के इतिहास में गौरवपूर्ण तथा विशिष्ट स्थान रखता है।

(२) हेतुविद्या का विवरण—

न्याय शास्त्र का प्राचीन रूप हेतुविद्या के रूप में हमारे सामने आता है। उस समय इस शास्त्र का प्रमाण बौद्धों के स्वयं की स्थापना का तथा इसके निमित्त परब्रह्म की अस्तित्व की उक्त ही आधाररूप का। इसनिष्ठ इसका नाम पादशास्त्र का पार्थिवविधि का। इसी विषय की प्रभावशाली सत्य का निश्चित होने से अनुबन्ध के ग्रन्थ का नाम 'बाह्यविधान' है। अनुबन्ध के पदेष्ट प्रार्थना काँग में 'योगाचार भूमि' में हेतुविद्या का निम्नार-पूर्वक वर्णन किया है तथा बर्मकोटि में 'बाह्यन्याय' में इसी बाह्य का शास्त्रीय चरित्र के निबन्ध दिया है। आज-कल इसका महत्त्व कम

१ इनका नामों का सम्पादन तथा संशोधन का यह इन्द्रजित् शास्त्री ने B r Doddabhat Vajra Text के नाम से A B D के प्रकाशित किया है।

प्रतीत होता है, परन्तु प्राचीन काल में—परस्पर शास्त्रीयसंघर्ष के युग में—इस शास्त्र की बढ़ी आवश्यकता थी। इसीलिए बौद्ध तथा ब्राह्मण—उभय नैयायिकों ने इसका शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। आचार्य दिङ्नाग की महती विशिष्टता है कि उनके हाथों वादशास्त्र प्रमाणशास्त्र बन गया—अर्थात् 'वाद' के स्थान पर 'प्रामाण्यवाद' का गाढ़ अनुशीलन होने लगा। प्रमाण के रूप, भेद, अनुमान के प्रकार, हेत्वाभास, प्रामाण्यवाद—आदि विषयों का सागोपाग विवेचन दिङ्नाग से आरम्भ होता है। इसीलिए ये माध्यमिक न्याययुग के प्रवर्तक माने जाते हैं। न्याय के इस द्विविध रूप का वर्णन यहाँ सक्षेप में किया जायगा।

आर्य असग ने हेतुविद्या को ६ भागों में बाँटा है—(१) वाद, (२) वाद-अधिकरण, (३) वाद-अधिष्ठान, (४) वाद-अलंकार, (५) वाद-निग्रह, (६) वादे-बहुकर (वाद के विषय में उपयोगी बातें) —

(१) वाद के स्वरूप जानने के लिए उसे तत्सदृश वस्तुओं से विविक्त करना आवश्यक है। 'वाद'—१ वह जो कुछ मुँह से घोला जाय, कहा जाय ('भाषण'), लोक में प्रसिद्ध बातें 'प्रवाद'—२ वही जाती हैं। 'विवाद'—३ का अर्थ वाग्बुद्ध है जो भोग-विलास के विषय में या दृष्टि (दर्शन) के सम्बन्ध में विरुद्ध विषयों में किया जाता है। दृष्टि के नाना प्रकार हैं जैसे सत्कायदृष्टि, उच्छेददृष्टि, शाश्वतदृष्टि आदि। इनमें कौन सा मत प्राप्य है? इसके विषय में वाग्बुद्ध को 'विवाद' कहते हैं। 'अपवाद'—४ दूसरों के सद्गुणों की निन्दा है। 'अनुवाद'—५ धर्म के विषय में उठे हुए सन्देहों को दूर करने के लिए जो बातें की जाती हैं, उनका नाम अनुवाद है। 'अववाद'—६ तत्त्वज्ञान कराने के लिए किया गया भाषण। इनमें विवाद तथा अववाद सर्वथा वर्जनीय हैं तथा अनुवाद और अववाद सर्वथा प्राप्य हैं। इन प्रकारों के पार्यव्यय से वाद का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

(२) जब किसी सिद्धान्त के निश्चय करने के लिए किसी विषय के ऊपर वाद चलता था तो उसके लिए उपयुक्त स्थान प्रायः दो थे। राजा या किसी बड़े अधिकारी की परिषद् तथा अर्थधर्म में निपुण ब्राह्मणों या भिक्षुओं की सभा। इन उपयुक्त स्थानों को वाद-अधिकरण कहते थे।

(४) अलंकार में जिन विषयों का समावेश है वे वाद के लिए भूषण-रूप हैं। इसमें वाद के उन गुणों की गणना है जिनके रहने से उसका भाषण

अलङ्कृत समस्त व्ययेषा । ये पाँच गुण हैं—(क) स्वपरसमयकता—अपने तथा प्रतिपक्षी के सिद्धान्तों का महीमोक्षि कायना । यह तो वक्ष्य का अपना गुण हुआ । परन्तु उसकी बाणी की भी शास्त्रार्थ के उपयुक्त होना आत्मन्त आवश्यक है । वक्ष्य की बाणी गम्भीर होनी चाहिए, उसे परस्पर सम्बद्ध तथा शोभ्य अर्थों का प्रतिपादन करना मितान्त आवश्यक है । ऐसी बाणी के प्रयोग करने से वक्ष्य में (ख) वाक्-कर्म सम्पन्नता-नामक शोभ्यता का उदय होता है ।

(ग) वैद्यारथ्य—अर्थात् समा में निर्भीकता । महात्मा धर्म में यह गुण बड़े महत्त्व का माना जाता है । यह स्वर्ग बुद्ध का बोधिसत्त्व के गुणों में प्रथम है । इससे व्यत्यय यह है कि प्रतिपक्षियों की किसी भी बड़ी भारी समा से बाणी को अपने मत प्रकट करने में किसी प्रकार का भय न दिखलाना चाहिए । उसे निर्धन्य अर्थात् शत्रुओं के द्वारा अपने मत की अभिव्यक्ति करनी चाहिए ।

(घ) धीरता—समा में शोक-विकार का बोझ, विषा-समसे बाणी में किसी वाक् का सम्भरण न करना ।

(ङ) वाक्शिव्य—विशेष का मूल रखना तथा दूसरे के हृदय को अनुकूलतागमनाशी बातों का कहना ।

यहाँ पर प्रत्यक्षर ने २१ प्रकार के प्रशंसा-गुणों (वाक् के शोभ्य गुणों) का वर्णन किया है । ये प्रशंसा-गुण का वाक्-प्रशंसा का वर्णन अर्थात् से पहले भी उपस्थापित होता है । 'वरक संहिता' तथा 'उपायद्वय' (जिसके लेखक स्वर्ण अर्थात् अतथाए जाते हैं) में इन वाक्-प्रशंसाओं का वर्णन मिलता है । वरक के अनुसार वाक्-प्रशंसा पाँच प्रकार की होती चाहिए । इनके रहने से वाक् का अर्थ बड़ी समस्त में का जाता है जिससे शास्त्रार्थ करने में किसी प्रकार का भय नहीं होता । वाक् को न तो शून्य होना चाहिए, न अधिक होना चाहिए अर्थात् अनुमान के सिद्ध करने वाले समस्त अवस्थाओं का रहना मितान्त आवश्यक है । वाक् को सार्थक होना चाहिए (सार्थक) । वाक् को परस्पर सम्बन्ध (सम्पादक) होना चाहिए । तथा उसे अतिरिक्त होना चाहिए (अतिरिक्त) । ऐसे गुणों के होने पर वाक् शास्त्रार्थ के उपयुक्त होते हैं ।

(५) वाक्-निग्रह—इसका अर्थ है शास्त्रार्थ में पक्ष का वाक् अर्थात् उन बातों का कहना जिससे प्रतिपक्षी शास्त्रार्थ में पराजित किया है । सर्व-ज्ञ का यह

बहुत ही प्रधान विषय था। इसका पर्याप्त परिचय गौतम-न्यायसूत्र से चलता है। मैत्रेय ने 'निग्रह' को तीन प्रकार का बतलाया है—(१) वचन-संन्यास जो न्याय-सूत्रों के प्रतिज्ञा-संन्यास^१ का प्रतिनिधि है। इसका अर्थ यह है कि अपने सिद्धान्त को ठीक समझना। (२) कथाप्रमाद अर्थात् मतलब की बात न कहकर झंझट-झंझट की बातें करना। यह न्याय-सूत्र के विज्ञेय^२ के समान है जिसमें वादी अपने पक्ष के समर्थन करने में अपनी अयोग्यता देखकर किसी अन्य कार्य का बहाना कर शास्त्रार्थ समाप्त कर देता है। (३) वचन-दोष—अनर्थवाली बात बिना समझे-बुझे बेसमय का वचन बोलना, वचन-दोष बोला जाता है।

(६) वादेवहुकर—इसमें उन बातों पर जोर दिया गया है जो शास्त्रार्थ के लिए बहुत उपयोगी होती है। वादी में वैशारथ या प्रतिभा का रहना नितान्त आवश्यक है। किसी वाद के आरम्भ करने के पूर्व उसकी अपनी योग्यता को अपने शत्रु की योग्यता से मिलाकर देखना चाहिए कि उसके विजय की कितनी आशा है तथा शास्त्रार्थ के लिए खुनी गई परिपद् उसके अनुकूल है या प्रतिकूल। बिना इन बातों पर ध्यान दिए वादी को शास्त्रार्थ में विजय पाने की आशा करना दुराशामात्र है।

अब तक वाद के जिन अंगों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है^३ वे सब विवाद के लिए ही आवश्यक हैं। न्याय के ये प्राथमिक उद्योग हैं। अतः उनका भी अनुशीलन कम उपयोगी नहीं है। बुद्धधर्म में स्वयं तर्क के विषय में मत बदल रहा था। त्रिपिटक में भिक्षुओं को तर्क के अभ्यास करने से स्पष्ट ही निषेध किया गया है परन्तु समय के परिवर्तन के साथ ही साथ इस धारणा में भी परिवर्तन हो गया। विवाद गृहणीय विषय अब न था। प्रत्युत बोधिसत्त्व के लिए उपादेय विषय में इसका अभ्यास प्राप्य माने जाना लगा। इसीलिए असंग ने इसे शब्द-विद्या, शिल्प-विद्या, चिकित्सा विद्या तथा अध्यात्म-विद्या के साथ ही इस 'हेतु-विद्या' की गणना की है।

१ पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्यापनयन प्रतिज्ञासंन्यास । (न्यायसूत्र ५।२।५)

२ कार्यव्यासगात् कथाच्छेदो विपक्षः । (न्यायसूत्र ५।२।२०)

३, द्रष्टव्य—Tucci's Doctrines of Maitreya and Asanga, pp

(३) प्रमाणशास्त्र

बौद्ध नैयायिकों ने प्रमाण शास्त्र की व्याख्या की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया है। प्रमाण शास्त्रियों के समान कुछ का भी वह प्रमाण मत था कि विद्या ज्ञान की प्राप्ति के लिये निर्माण नहीं मिल सकता—कहते इमान्त्र मुक्ति। उनके मतों की यह धारणा है और इस धारणा को धारण करने का एक ही उपाय है विद्या-ज्ञान की प्राप्ति। परन्तु ज्ञान की विद्युत् किस प्रकार हो सकती है? ज्ञान के उत्पन्न होने में किसी प्रकार है? इन विषयों की ओर बौद्धमत के धर्मियों का ध्यान आकृष्ट हुआ था। बौद्ध न्याय की प्रमाण का प्रश्न है। इस विषय के मुख्य सिद्धान्तों का ही यहाँ संक्षेप रूप में वर्णन उपस्थित किया गया है।

प्रमाण—

प्रमाण वह ज्ञान है^१ जो अज्ञात कार्य को प्रदर्शित करता है। और वस्तुस्थिति के विरुद्ध कभी नहीं जाता (अविरोधवादी)। अर्थात् प्रमाण जो नवीन कार्य का शपक होना आवश्यक है। उसमें तथा वस्तुस्थिति में किसी प्रकार विरोध (असामञ्जस) नहीं होता। जो ज्ञान वस्तुता के ऊपर अवलम्बित रहता है वह विशिष्टवादी है। तथा जो ज्ञान अविरोध के ऊपर अवलम्बित रहता है वह अविरोधवादी होता है^२।

प्रमाणों की संख्या—

प्रमाणों की संख्या को लेकर शास्त्रियों में बड़ा मतभेद है। चार्वाक की दृष्टि में एक ही प्रमाण है और वह है प्रत्यक्ष। सांख्य के मत में प्रमाण तीन—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द—हैं। नैयायिक लोग इसमें उपमान जोड़कर चार प्रमाण मानते हैं। माह मीमांसक तथा अद्वैत वेदान्त अर्थात् और अनुबलित्व को भी प्रमाण मानते हैं। इन सभी लोगों से विलक्षण मत बौद्धों का है। उनकी दृष्टि में वाही प्रमाण है—प्रत्यक्ष तथा अनुमान। इन्हें प्रमाण मानने के कारण ये हैं। निम्न

१. प्रमाणमविरोधवादी ज्ञानमविरोधवादीस्थितिः ।

अविरोधवादी शास्त्रेण्यभिप्रायमिदंवाच्यं ॥ (प्रमाण-वार्तिक २११.)

२. प्राधान्यं व्यवहारेण शार्धं मोहनिवर्तनम् । (वही २१४)

दो प्रकार के होते हैं^१—स्वलक्षण तथा सामान्यलक्षण । स्वलक्षण का अर्थ है वस्तु का अपना रूप जो शब्द आदि के बिना ही ग्रहण किया जाय । यह तब होता है जब पदार्थ अलग अलग रूप से ग्रहण किये जाते हैं । सामान्य लक्षण का अर्थ है अनेक वस्तुओं के साथ गृहीत वस्तु का सामान्य रूप । इसमें कल्पना का प्रयोग होता है । इनमें पहला अर्थात् स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है । दूसरा (सामान्य लक्षण) अनुमान का लक्षण होता है । पहिला अर्थ क्रिया करने में समर्थ होता है और दूसरा असमर्थ होता है^२ ।

(क) प्रत्यक्ष

वह ज्ञान जो कल्पना से रहित और निर्भ्रान्त हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं । असंग दिब्बाग तथा धर्मकीर्ति^३ आदि आचार्यों का प्रत्यक्ष का यही प्रसिद्ध लक्षण है । दिब्बाग ने इसकी परिभाषा देते हुये लिखा है —

‘प्रत्यक्षं कल्पनापोढ नामजात्याद्यसयुतम्’ । (प्रमाण समुच्चय)

अर्थात् नाम, जाति आदि से असंयुक्त कल्पनाविरहित ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है । कल्पना किसे कहते हैं ? नाम, जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य से किसी को युक्त करना ‘कल्पना’ है । गौ, शुक्ल, पाचक, दण्डी, दित्य ये सब कल्पनार्थ हैं । अभ्रान्त ज्ञान वह है जो असंग के अनुसार इन भ्रान्तियों से मुक्त हो—

(१) सज्ञा भ्रान्ति—मृगतृष्णा उत्पन्न करनेवाली मरीचिका में जल का ज्ञान ।

(२) सख्या भ्रान्ति—जैसे धुन्ध रोग वाले आदमी को एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा दिखाई पड़ना ।

(३) सस्थान भ्रान्ति—आकृति की भ्रान्ति । जैसे अलात (वनेठी) में चक की भ्रान्ति ।

१ मान द्विविध विषयद्वैविध्यात् शक्त्यशक्ति ।

अर्थक्रियाया केशादिर्नार्थोऽनर्थ्याधिभोक्षत ॥ (प्रमाणवार्तिक ३।१)

२ अर्थक्रियासमर्थ यत् तद परमार्थसत् ।

अन्यत् सवृत्तिसत् प्रोक्त ते स्वसामान्यलक्षणे ॥ (वही ३।३)

३ प्रत्यक्ष कल्पनापोढ प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ।

प्रत्यात्मवेद्य सर्वेषा विकल्पो नाम सत्रय ॥ (प्रमाण वार्तिक ३।१२३)

(४) वर्ण प्राप्ति—जैसे पत्थर रोनी का रंग यदि सफेद रंग वाले वस्तुओं को भी पीछा देकरा ।

(५) कर्म प्राप्ति—दौड़ने वाले आदमी का बा रेतवाली पर बैठे होने उस का हड्डों को पीछे की ओर बहते हुए देकरा । इन प्राप्तिजों में वित्त का जो प्रत्यक्ष है वह वित्त-प्राप्ति है तथा इन अप्रत्यक्ष विषयों में जो प्राप्ति है वह इतिप्राप्ति है । इन प्राप्तिजों से निरहित होने वाला तथा नाम प्राप्ति काटने को बोधना से निवृत्त वस्तु को ज्ञान होता है उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं । बौद्धों का वह प्रत्यक्ष नैय्यायिक के निर्विकल्पक ज्ञान के समान होता है ।

प्रत्यक्ष के भेद—

इन्द्रिय-ज्ञान मनो-विज्ञान स्वर्णदेहान और बोधिविज्ञान—ये ही प्रत्यक्ष के चार प्रकार हैं (१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष—उस समय उत्पन्न होता है जब चरों और से अपने ध्यान को हटाकर कोई व्यक्ति निश्चय वित्त से किसी व्यक्ति को देखता है । इन्द्रिय ज्ञान होते समय उस वस्तु के अग्रसर प्रसर, वर्ण, रंग आदि किसी वस्तु का ज्ञान हमें नहीं होता । कल्पना का आरम्भ एक होता है वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होने के अनन्तर देखने वाले का वित्त प्राप्ति, गुण आदि की ओर प्रसर होता है । इन्द्रियों से हम केवल वस्तु के स्वरूप का ही ज्ञान सकते हैं । जब किसी वस्तु को हम नाम देते हैं तब वह वस्तु इन्द्रिय के सामने से हट कर रहती है और वित्त बनी पुरानी कल्पनाओं को एक साथ मिलाकर किसी नाम की भाव में प्रवृत्त रहता है ।

(२) मानस प्रत्यक्ष—वित्त के पश्चात् विषय के सहकारी समान्तर प्रत्यक्ष रूप इन्द्रियों के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष करते हैं^१ । जहाँ ध्यान देने की बात यह है कि बौद्ध धर्म में इसके चार प्रत्यक्ष (कारण) माने जाते हैं—आत्मात्मन प्रत्यक्ष सहकारी प्रत्यक्ष आधिपत्य प्रत्यक्ष और समान्तर प्रत्यक्ष । उदाहरण के लिये बद्धजन के किय में इन चारों प्रकार के प्रत्यक्षों का

१ उद्धृत धर्मपात्र विष्णु स्तिमितमान्तरात्मना ।

स्तितां अपि बहुधा कल्पयन्ति साप्रवृत्ता यतिः ॥

२ स्वविषयान्तरे विषयसहकारिदेन्द्रियज्ञानेन

समान्तरप्रत्यक्षेन वनितं तत् मनोविज्ञानम् ॥ व्यासविष्णु (१:५)

परिचय इस प्रकार है। नेत्र से घट का ज्ञान होने में पहिला कारण घट ही है जो विषय होने से 'आलम्बन प्रत्यय' कहलाता है। बिना प्रकाश के चक्षु घट का ज्ञान नहीं कर सकता। इसलिये प्रकाश को सहकारी प्रत्यय कहते हैं। इन्द्रिय का ही नाम है अधिपति। इसलिये अधिपति प्रत्यय स्वयं इन्द्रिय ही है। चौथा कारण ग्रहण करने तथा विचार करने की वह शक्ति है जिसके उपयोग से किसी वस्तु का साक्षात्कार होता है। वही 'समनन्तर प्रत्यय' है। नेत्र आदि इन्द्रियों से जो विषय का विज्ञान हुआ है उसीको समनन्तर प्रत्यय बनाकर जो मन उत्पन्न होता है वही 'मानस प्रत्यक्ष' है। यही धर्मकीर्ति का मत है^१। दिङ्नाग ने पदार्थ के प्रति राग आदि का जो ज्ञान होता है उसको मानस प्रत्यक्ष कहा है^२। परन्तु इसे धर्मकीर्ति मानस प्रत्यक्ष मानने के लिये तैयार नहीं हैं क्योंकि यहाँ जो मानस प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है वह इन्द्रियों के द्वारा देखे गये पदार्थों के विषय में है। ऐसी दशा में ज्ञात वस्तु के प्रकाशक होने के कारण से वह प्रमाण ही नहीं होगा। अतः दिङ्नाग का मानस प्रत्यक्ष का लक्षण धर्मकीर्ति को अभीष्ट नहीं है।

(३) स्वसवेदन प्रत्यक्ष—इसका लक्षण जो दिङ्नाग ने दिया है धर्मकीर्ति ने उसी का समर्थन किया है। दिङ्नाग का लक्षण है—स्वसचित् निर्विकल्पकम्। अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान स्वसवेदनरूप है। इन्द्रिय के द्वारा गृहीत रूप का ज्ञान मानस ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है तब उस विषय के प्रति इच्छा, क्रोध, मोह, सुख, दुःख आदि का जो अनुभव होता है वही स्वसवेदन प्रत्यक्ष है। दिङ्नाग के इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुये धर्मकीर्ति ने आत्मसवेदन की पृथक्ता सिद्ध की है। इन्द्रियों के द्वारा विषय के किसी एक अंश का ज्ञान होता है। मानस प्रत्यक्ष इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का अनुभव कराता है। परन्तु इन दोनों से भिन्न राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि का ज्ञान विल्कुल एक नयी वस्तु है। इसलिए सुख, दुःख के ज्ञानरूप आत्म-सवेदन को पूर्व दोनों प्रत्यक्षों से भिन्न तथा स्वतन्त्र मानना नितान्त आवश्यक है^३।

१ तस्मादिन्द्रियविज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवः ।

मनोऽन्यमेव गृह्णाति विषयं नान्धट्क् ततः ॥ (प्रमाण वार्तिक ३।२४३)

२ चित्तमप्यर्थरागादिः । (प्रमाण समुच्चय १।६)

३ अशक्यसमयो ह्यात्मा रागादीनामनन्यभाक् ।

तेषां मतं सुसचित्तिर्नाभिजल्पानुपगणिणी ॥ (प्र० वा० ३।१८१)

(४) योगि-प्रत्यक्ष—समाधि अर्थात् चित्त की एकप्रकृति से उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान उससे बोधि प्रत्यक्ष कहते हैं। इसे अद्वयत रूपक (न जानी हुई वस्तु को प्रकटित करने वाला) होने के प्रतिरिक्त निर्विचारी होना भी निश्चित आवश्यक है। अर्थात् समाधिप्राप्त होय तभी प्रत्यक्ष बोधि में आपणा जब उसमें किसी प्रकार की कल्पना न होनी तथा वह अर्वाचिना का अनुसरण करने वाला होगा^१।

प्रत्यक्षप्राप्त्यप्य से तुच्छता—

प्रत्यक्ष वैवायिकों ने जो प्रत्यक्ष भेदों का वर्णन किया है उससे उपर सिद्धे घटे प्रत्यक्ष भेदों से समानता स्पष्ट है। साथ ही कुछ भेद भी हैं। पहिल मौलिक भेद यह है कि हमारे वैवायिक प्रत्यक्ष के दो भेद मानते हैं (१) समिकरूपक और (२) निर्विकरूपक^२। दूर पर निश्चयान्न रहने वाली किसी वस्तु का ज्ञान जब पहिले पक्ष इम को होता है तो उसके विपक्ष में हमारा ज्ञान सामान्य कालि को पार कर विरोध में कभी प्रवेश नहीं करता। हमें यही पता चलता है कि कुछ है। परन्तु क्या है। उसका रूप कैसा है। इसमें धीन-धीन से शुभ हैं। इत्यादि वस्तुओं का ज्ञान हमें उस समय कुछ भी नहीं होता। इसी नाय कालि आदि से निहीन ज्ञान को निर्विकरूपक कहते हैं। बौद्धों का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है। परन्तु जब वस्तु के स्वरूप का वि शुभ ज्ञान तथा संज्ञा का ज्ञान हमें प्राप्त होता है तब वह समिकरूपक प्रत्यक्षज्ञान है। परन्तु बौद्ध वैवायिक इसे प्रत्यक्ष मानने के सिद्धे कबमपि उल्लेख नहीं हैं। उनकी दृष्टि में यह ज्ञान सामान्य कालि होने से अनुमिति है प्रत्यक्ष नहीं।

प्रत्यक्ष के पूर्वनिर्दिष्ट चार प्रकारों में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और न गत प्रत्यक्ष दोनों को समीक्षित है^३। अन्तर केवल इतना ही है कि इन्द्रिय-ज्ञान का आश्रय वैवायिक

१. प्रत्यक्ष योगिनां शर्म तेषां तदुत्पत्त्यावयवम् ।

विभूतकम्पनाज्जल स्फुटमेवावभासते ॥

कामरौकमसांभारश्चौरस्वप्नावुपप्लुता ।

अभूतानपि परवन्ति पुरताऽऽत्मिकानि ॥ (प्र का १।२८२)

२. वाचस्पति मिथ—तात्पर्य डीका पृ १९९ (बायी) वाचस्पति के पूर्व अनुवर्तितभार न बौद्धसमत प्रत्यक्ष के लक्षण के समय इन भेदों को स्वीकार किया है। इस विषय में वाचस्पति हमी के कभी प्रणीत होते हैं।

३. योग्य प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में अनुवर्ति की वह तथि निरानी सटीक है।

लौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न वतलाता है और योगज प्रत्यक्ष को अलौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न । ब्राह्मण नैयायिक सुख, दुःख आदि के ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष ही वतलाता है, अतः उसका स्वसवेदन मानस प्रत्यक्ष के अन्तर्गत होता है । मानस प्रत्यक्ष को स्वतन्त्र प्रत्यक्ष मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि मन इन्द्रिय ठहरा । अतएव तज्जन्य प्रत्यक्ष का अन्तर्भाव इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के अन्तर्गत, स्वतः सिद्ध है । उसे अलग स्थान देने की आवश्यकता ही क्या ? इस प्रकार बौद्धों के पूर्वोक्त प्रत्यक्ष—चतुष्टय ब्राह्मण नैयायिकों के दो ही प्रत्यक्ष—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और योगज प्रत्यक्ष—के अन्तर्गत हो जाते हैं ।

(ख) अनुमान

प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान की आवश्यकता को वतलाते हुये धर्मकीर्ति^१ का कहना है कि वस्तु का जो अपना निजी रूप (स्वलक्षण) है उसके लिये तो कल्पना रहित प्रत्यक्ष की आवश्यकता होती है । परन्तु अन्य वस्तुओं के साथ समानता रखने के कारण से जो सामान्य रूप है उसका ग्रहण कल्पना के अतिरिक्त दूसरी वस्तु से नहीं हो सकता । इसलिये इस सामान्य ज्ञान के लिये अनुमान की आवश्यकता है ।

किसी संबन्धी के धर्म से धर्मी के विषय में जो परोक्ष ज्ञान होता है वही अनुमान है^१ । जगत् में वह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि सदा साथ रहने वाली दो वस्तुओं में से एक को देखने पर दूसरे की स्थिति की सभावना अनुमान का स्वयं उपस्थित हो जाती है । परन्तु प्रत्येक दशा में यह अनुभव लक्षण प्रमाण कोटि में नहीं आ सकता । दोनों वस्तुओं का उपाधिरहित सम्बन्ध सदा विद्यमान रहना चाहिये । इसे ही 'व्याप्ति ज्ञान' के

अनुभूतप्रकाशानामनुपद्रुतचेतसाम् ।

अतीतानागतज्ञान प्रत्यक्षाच्च विशिष्यते ॥

(वा० प० १।३७)

१ अन्यत् सामान्यलक्षणम् । सोऽनुमानस्य विषय । (न्या० वि० १।१६-१७)
स्वलक्षणो च प्रत्यक्षमविकल्पतया विना ।

विकल्पेन न सामान्यग्रहस्तस्मिन्नतोऽनुमा ॥

(प्र० वा० ३।७५)

१ या च सवन्धिनो धर्माद् भूतिर्धर्मणि जायते ।

सानुमान परोक्षाणामेक तेनैव साधनम् ॥ (प्र० वा० ३।६२)

ब्रह्म से हम पुकारते हैं। व्याप्तिज्ञान पर ही अनुमान अवलम्बित रहता है।
अनुमान के भेद—

अनुमान के दो भेद होते हैं—स्वार्थाहुमान तथा परार्थाहुमान। स्वार्थाहुमान किसी हेतु से किसी साम्य के ज्ञान को कहते हैं जो अपने सिद्धे किया जाय। यही परार्थाहुमान हो जाता है जब ज्ञानों के प्रयोग के द्वारा उसका ज्ञान दूसरे के सिद्धे करमा जाय। स्वार्थाहुमान बिना किसी व्यक्त के प्रयोग सिद्धे हो किना जाता है परन्तु परार्थाहुमान में नि-व्यक्तव्य ज्ञानों का प्रयोग निरान्त आवश्यक होता है। अनुमान के इस विविध भेद के उद्भूतक व्याख्यार्थ विश्वागत माने जाते हैं।

हेतु की भिन्नपटा—

जो हेतु अनुमान को सही भाँति सिद्ध कर सकता है उसमें तीन गुणों का रहना निरान्त आवश्यक है। पहला गुण है अनुमेय में सत्ता अर्थात् 'वस्तुत्वेन वक्षिमान भूमात्' इस अनुमान में हेतुरूप भूम का पर्यंत में रहना निरान्त आवश्यक है। दूसरी आवश्यकता है 'संपन्न' में सत्ता अर्थात् 'शेषवत्त्वात्' अर्थात् अस्मिन्नुक्त स्वार्थों में भूम का निवास। तीसरी आवश्यकता है 'विपक्ष' में विहित अक्षर अर्थात् अस्मि से विरहित कदाचन अर्थात् में भूम का न रहना। हेतु तीन प्रकार का होता है—(१) अनुपलब्धि हेतु (२) स्वभाव हेतु और (३) कार्य हेतु। अनुपलब्धि का अर्थ है न मिलना अर्थात् वह स्वभाव पर वह वस्तु के रहने की शोभकता है वस्तु वह उपलब्ध नहीं हो रहा है। इससे वह सिद्ध होता है कि उस वस्तु का नहीं धर्षणा सम्भव है। (२) वह ज्ञात है—आय होने के कारण से। वहाँ आय का होना स्वभाव हेतु है। स्वभाव वह है जो उपलब्ध (प्राप्ति) के कारणों के होने पर भी जिसका प्रत्यक्ष हमें हो रहा है। इस अनुमान में कुछ समस्त आय के कुछों का स्वभाव (स्वरूप) है। अतः सम्मने हीच पहले वाली वस्तु आय है तो वह इस प्रकार होमी। यह ज्ञात

१ प्रमाण—वार्तिक १।१७—१९।

२ स्वात्मनिन्दु २।९—८।

३ वही पृ १५।

४ पञ्चमस्तर्कयोग व्याप्ति हेतुविशेष स।

अविनाशप्रतिबन्धक हेतुमात्रावच्छेदो परे।

(प्र भा १।१)

स्वभाव हेतु का उदाहरण । (३) जहाँ धूप से अग्नि का अनुमान किया जाता है वहाँ घूम कार्य-हेतु है क्योंकि वह अग्नि से उत्पन्न होता है अतः उसका कार्य है ।

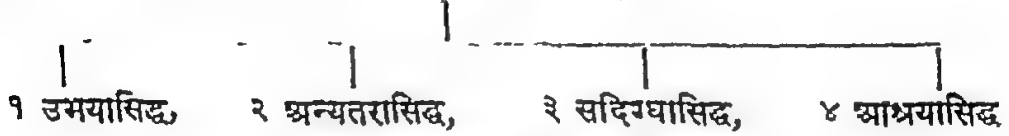
अनुमानाभास—

जिस अनुमान में किसी प्रकार की त्रुटि या भ्रान्ति हो, वह यथार्थ अनुमान न होकर मिथ्या अनुमान होगा । ऐसे अनुमान को अनुमानाभास कहते हैं । अनुमान के तीन आश्रय हैं—(१) पक्ष (२) हेतु तथा (३) दृष्टान्त । भ्रान्ति तीनों में उत्पन्न होती है । इसलिये शंकरस्वामी के अनुसार तीन प्रकार के प्रधान आभास (भ्रान्ति) होते हैं—पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास ।

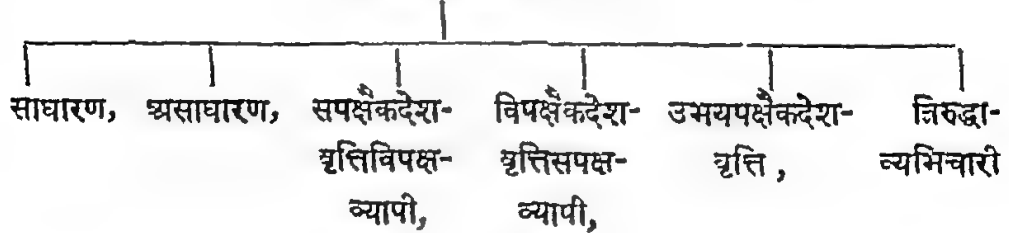
इनमें (क) पक्षाभास के नव भेद होते हैं—(१) प्रत्यक्षविरुद्ध (२) अनुमानविरुद्ध (३) आगमविरुद्ध (४) लोभविरुद्ध (५) स्ववचनविरुद्ध (६) अप्रसिद्ध-विशेषण (७) अप्रसिद्धविशेष्य (८) अप्रसिद्धोभय तथा (९) प्रसिद्ध सम्बन्ध ।

(ख) हेत्वाभास—इसके प्रधान भेद ये हैं—(१) असिद्ध, (२) अनैकान्तिक, (३) विरुद्ध । इनके अवान्तर भेद इस प्रकार हैं ।

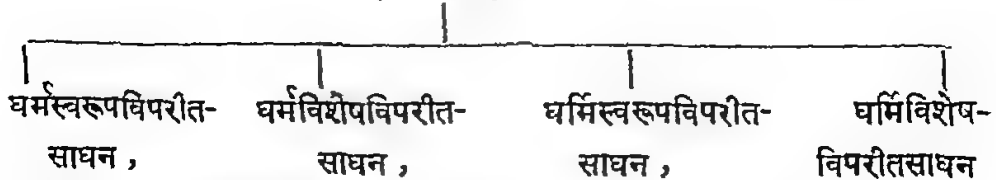
(१) असिद्ध (४ भेद) —



(२) अनैकान्तिक (६ भेद) —



(३) विरुद्ध (४ भेद) —



(ग) दृष्टान्ताभास दो प्रकार का होता है—(१) साधर्म्यमूलक (२) वैधर्म्यमूलक ।

(१) सामान्यमूलक (५ भेद) :—

सामान्यमांसिक	सामान्यमांसिक	उभयमांसिक	अनन्य	निपरीतान्य
---------------	---------------	-----------	-------	------------

(२) वैयर्थ्यमूलक (५ भेद) :—

साध्यात्म्याहृत	सामान्यमांसिक	उभयमांसिक	अन्यतिरेक	निपरीत- व्यतिरेक
-----------------	---------------	-----------	-----------	---------------------

ऊपर बौद्ध अनुमान का सामान्य वर्णन किया गया है। उससे इसकी महत्ता का कुछ परिचय मिल सकता है। बौद्ध धर्म में अनुमान के तीन भेद माने गये हैं (१) पूर्ववत् (२) योपवत् तथा (३) सामान्यतोऽहृत। वही ब्राह्मण 'त्रिविध अनुमानम्' है जिसका उल्लेख सांख्य-कारिका आदि अन्य ग्रन्थों से ग्रन्थों में पाया जाता है। हिजाय के अनुमान का जो दो नव्य तुलना भेद— स्वावर्तमान तथा परवर्तमान—किया, उसे परवर्ती ब्राह्मण वैयर्थिकों ने अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है। दोनों के 'व्यमर्श' में यह भेद है कि ब्राह्मण-व्यास हेतु को विशेष महत्त्व देकर समग्र व्यामर्शों को हेतु का ही व्यामर्श (हेत्वामास) मानता है। इसके विपरीत बौद्ध वैयर्थिकों ने वच के व्यामर्शों तथा दृष्टान्त के व्यामर्शों को भी स्वीकार किया है। हेत्वामास की संख्या भी दोनों में बराबर नहीं है। बौद्धों के तीन हेत्वामासों के अतिरिक्त ब्राह्मणों में अधिक तथा अत्यतिरिक्त इन दो नव्य व्यामर्शों का वर्णन किया है। ब्राह्मण वैयर्थिकों को परवर्तमान में पञ्चतन्त्र नामक स्वीकृत हैं (प्रतिष्ठा हेतु, दृष्टान्त, उपमन एवं मिथमन) परन्तु बौद्ध वैयर्थिकों ने 'त्रि' पञ्चतन्त्र (प्रतिष्ठा हेतु, दृष्टान्त) नामक को ही स्वीकार किया है।



१ इन व्यामर्शों के विस्तृत वर्णन के द्विमे देखिये—

(शंकर स्वामी-व्यासप्रवेश पृ. १-७ बहोदा)

इक्कीसवाँ परिच्छेद

बौद्ध-ध्यानयोग

बुद्ध ने भिक्षुओं को निर्वाण प्राप्ति के लिये दो साधनों से सम्पन्न होने का विशेष उल्लेख किया है। (१) पहिला साधन है शील-विशुद्धि (सत्कर्मों के अनुष्ठान से नैतिक शुद्धि) तथा (२) दूसरा साधन है चित्त विशुद्धि (चित्त की शुद्धता)। शील-विशुद्धि का प्रतिपादन अनेक बौद्ध ग्रन्थों में पाया जाता है, परन्तु आचार्य के द्वारा अन्तेवासिक (विद्यार्थी) को मौखिक रूप से दिये जाने के कारण चित्त-विशुद्धि का विवेचन बहुत ही कम ग्रन्थों में किया गया है। 'सुत्त-पिटक' के अनेक सुत्तों में बुद्ध ने समाधि की शिक्षा दी है परन्तु यह शिक्षा इतनी सुव्यवस्थित नहीं है। आचार्य बुद्धघोष का 'विशुद्धि मग्ग' इस विषय का सबसे सुन्दर, प्रामाणिक तथा उपादेय ग्रन्थ है जिसमें हीनयान की दृष्टि से ध्यानयोग का विस्तृत तथा विशद विवेचन है। महायान में भी योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। योग और आचार पर समधिक महत्त्व प्रदान करने के कारण ही विज्ञानवादी 'योगाचार' के नाम से अभिहित किये जाते हैं। इनके ग्रन्थों में, विशेषतः असंग के 'महायान-सूत्रालंकार' तथा 'योगाचारभूमिशाल्म' में विज्ञानवादी सम्मत ध्यानयोग का वर्णन पाया जाता है।

हीनयान में ध्यान—

लक्ष्य की सिद्धि के लिए ध्यान का उपयोग किया जाता है। हीनयान तथा महायान के लक्ष्य में ही मौलिक भेद है। हीनयान में निर्वाण-प्राप्ति ही चरम लक्ष्य है। अर्हत पद की प्राप्ति प्रधान उद्देश्य है। अर्हत केवल अपने क्लेश की निवृत्ति का अभिलाषी रहता है। वह तो अपने को अपने में ही सीमित किये रहता है। निर्वाण की प्राप्ति ही उसके जीवन का लक्ष्य है जो चित्त के रागादि क्लेशों के दूरीकरण पर इसी लोक में आविर्भूत होता है। इस कार्य में साधक को ध्यान-योग

१ 'विशुद्धि-मग्ग' का बहुत ही प्रामाणिक संस्करण घर्मानन्द कौशाम्बी ने 'भारतीयविद्या-भवन-ग्रन्थमाला' बम्बई से १९४२ में प्रकाशित किया है तथा अपनी नयी मौलिक टीका पाली में लिखकर उन्होंने महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ से निकाला है। इसी का उल्लेख यहाँ किया गया है।

से पर्याप्त सहायता मिलती है। बिना समाधि के साधक अभ्यास (वाचनमय कर्म) का अतिरिक्त कर रूपवास्तु में आ नहीं सकता। समाधि साधक को रूपवास्तु में से जगत् के लिए प्रदान सहस्रक है। बार प्यासों का सम्बन्ध इन्हीं रूपवास्तु से है। इसके आगे अरूप वास्तु का साम्राज्य है। इसमें भी बार व्यक्तन होते हैं—आभिरामनन्वाकृतन विज्ञाननन्वाकृतन अग्निनन्वाकृतन तथा नैवेर्त्तमान-सन्वाकृतन। इन प्रत्येक व्यक्तन के साथ अरूप्य प्यास का सम्बन्ध है जो व्यक्तनों की संस्था के अनुसार स्मृत बार है। इनमें सबसे अन्तिम व्यक्तन को 'महाम' कहते हैं, क्योंकि वह इस कर्म के समस्त आसक्तों में अग्रपक्ष, श्रेष्ठ होता है। साधक स्मृत कर्म से व्यरम्भ कर प्यास के बल पर सूक्ष्म कर्म में प्रवेश करता है। उसके लिए जगत् कर्म तथा सूक्ष्म बनना पड़ता है। इस गति से वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ कर्म की समाप्ति होती है, निश्चय का कर्म होता है। इसी बिन्दु को 'महाम' कहते हैं। इसके अनन्तर उसे निर्वाण में कूदने में तनिक भी निरुत्थ नहीं होता। शोक में 'वशुपात' के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करने की कल्पना इसी 'महाम' से निर्वाण में कूदने का प्रतीकमान है। इस इस निर्वाण की प्राप्ति होती ही साधक को बर्हिद पक्षी उपस्थित ही हो जाती है। वह इष्टकर्म बन जाता है। इस प्रकार हीनबाल में समाधि निर्वाण की उपस्थिति में प्रदान कारण है।

महायान में समाधि—

महायान का उद्देश्य ही दूसरा है। महायान में चरम चरित्य हृदय की प्राप्ति है। साधक को जीवन का अन्तिम प्रिय हृद बनना है। वह एक कर्म का व्यापार नहीं है। अनेक जन्मों में पुष्पसंसार का संवदन करता हुआ साधक प्रावर्त्तमान की प्राप्ति करता है। प्रज्ञापारमिता कर्म पारमिताओं का परिचय है। जब तक इस प्रज्ञापारमिता का उद्भव नहीं होता तब तक हृदय की प्राप्ति हो नहीं सकती। इस पारमिता के उद्भव के लिए समाधि की महती उपयोगिता है। इस, पारमिता तक पहुँचने के लिए साधक को अनेक भूमिकों को पार करना पड़ता है। ये भूमियाँ कहीं नीचह और कहीं इस बड़बड़ गरी हैं। अर्थात् वे 'महायान-सुत्रार्त्तचर' में इसके नाम तथा स्वरूप का पृष्ठ परिकल्प दिया है। इस भूमिकों

के नाम ये हैं —(१) प्रमुदिता, (२) विमला, (३) प्रभाकरी, (४) अचिर्ष्मती, (५) सुदुर्जया, (६) अभिसुक्ति, (७) वूरुक्मा, (८) अचला, (९) साधुमती, (१०) धर्ममेध्या । इन भूमियों को पार करने पर ही साधक बुद्धत्व को प्राप्त करता है । इस प्रकार महापान में बुद्ध पद की प्राप्ति के निमित्त एकमात्र सहायक होने से ध्यान-योग का उपयोग है ।

पातञ्जलयोग से तुलना—

बुद्धधर्म में ध्यानयोग की कल्पना पातञ्जलयोग से नितान्त विलक्षण है । पातञ्जलि के मत में प्रत्येक साधक को दो प्रकार के योगों का अभ्यास करना पड़ता है—क्रियायोग और समाधियोग । क्रियायोग से आरम्भ किया जाता है । क्रियायोग के अन्तर्गत तीन साधन होते हैं—तप (चान्द्रायण व्रत आदि), स्वाध्याय (मोक्षशास्त्र का अनुशीलन अथवा प्रणवपूर्वक मन्त्रों का जप) तथा ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर की भक्ति^१ अथवा ईश्वर में समग्र कर्म के फलों का समर्पण) । क्रियायोग का उपयोग दो प्रकार से होता है^२—(१) क्लेशतनूकरण—क्लेशों को कम कर देना तथा (२) समाधिभावना—समाधि की भावना का उदय । क्रियायोग क्लेशों को केवल क्षीण कर देता है, उसका उपयोग इतने ही कार्य में है । क्लेशों को एकदम जला खेलने का काम प्रसख्यान (ज्ञान) के ही द्वारा होता है । अब योग के अंगों का अनुष्ठान आवश्यक है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तथा समाधि—योग के आठ अंग हैं जिनके क्रमशः अनुष्ठान करने से समाधिलाभ होता है । समाधि का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है विक्षेपों को हटाकर चित्त का एकाग्र होना (सम्यग् आधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधि) । जहाँ ध्यान ध्येय वस्तु के आवेश से मानों अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है और ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है, वह 'समाधि' कहलाती है^३ । ध्यानावस्था में ध्यान, ध्येय वस्तु तथा ध्याता अलग-अलग प्रतीत होते हैं, परन्तु समाधि में इन तीनों की एकता सी हो जाती है । ध्यान, धारणा और समाधि—इन तीनों अन्तिम अंगों का सामूहिक नाम 'सयम' है । इस सयम के

^१ तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः । (योगसूत्र २।१)

^२ क्लेशतनूकरणार्थं समाधिभावनार्थश्च । (योगसूत्र २।२)

^३ तदेवार्थमाश्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि । (योगसूत्र ३।३)

बीजने का पक्ष है अथवा विवेक स्वाप्ति का आलोक (प्रकाश)। इस दृष्टि में चित्त की समग्र वृत्तियों का विरोध हो जाता है तथा इष्ट अपने स्वस्व में स्थित हो जाता है। चित्त की पॉष्य वृत्तियों में हीन होने के कारण पुरुष प्रकृति के साथ सदा सम्बद्ध रहता है। वह अपने अर्थात् शुद्ध बुद्ध, निरुपलब्ध स्वस्व से निरन्तर सम्बद्ध रहता है। परन्तु मूढ़ा के आलोक से उसकी समग्र चित्तवृत्तियाँ मिश्र हो जाती हैं और पुरुष प्रकृति से अलग होकर अपने पूर्ण चैतन्य रूप से ग्रसित होने लगता है। भ्रान्त रहना चाहिए कि वृत्तिनिरोध ही बोध के लिए आवश्यक नहीं है। ज्ञान का उन्मेष होना भी निरन्तर आवश्यक होता है। इस प्रकार की वह समाधि को पटञ्जलि 'महप्रज्ञा' के नाम से पुकारती है (योगसूत्र १।१९)। 'उपायप्रज्ञा' समाधि ही वास्तव समाधि है। 'उपाय' का अर्थ है प्रज्ञा का शुद्ध ज्ञान। ज्ञान समाधि सभी समाधि होती है क्योंकि इसमें ज्ञान के उदय होनेसे क्रमशः संसारों का नाश हो जाता है, जिससे इसमें व्युत्पन्न की उत्पत्ति भी आरम्भ नहीं रहती। अतः बोध का परिनिष्ठित साधन 'योगचित्तवृत्तिनिरोध' के साथ-साथ 'तथा ब्रह्म स्वस्वप्रवृत्तयाम्' ही है। इस प्रकार पटञ्जलबोध्य का नाम वास्तव चैतन्य-प्राप्ति है। समाधिबन्धन प्रज्ञा से पुरुष प्रकृति से विवेक प्राप्त कर अपने शुद्ध अर्थात्पक्ष में अस्थित होता है। यही प्रकाश स्वरूप है। बौद्धबोध के साथ इसका पार्वत्य स्पष्ट है।

निर्वाण की प्राप्ति के लिये चित्त को समाहित करना निरन्तर आवश्यक है। एषा बोध मोह, आदि अमृत उपलब्धेय चित्त को इतना निरुपलब्ध किया करते हैं कि वह कभी शान्ति का अनुभव ही नहीं करता। परन्तु अज्ञान बुद्धिधर्म में चित्त से निर्वाण का साम्य असम्भव है इसीलिये निबद्ध से चित्त समाधि को इत्यन्तर निर्वाण की ओर प्रवृत्त करने के लिये बौद्ध धर्मों में अनेक व्यावहारिक योग-विधियों की गई हैं। इनका सार है निर्वाण की उपलब्धि का नाम शान्ति का वास्तव है।

बुद्धबोध में समाधि की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'समाधानत्वेन समाधि एवमस्मिन्ने चित्तचेतसिधर्मे धर्मे सम्मा व आचारं कर्म्मं ति उतं होति'—अर्थात् समाधि का अर्थ है एकमन्य। एक आत्मत्व के ऊपर मन को एका मानसिक व्यापार का समागम रूप से तथा सम्यक् रूप से लगाना 'समाधि' है। समाधि के

अनेक प्रभेदों का वर्णन बुद्धघोष ने किया है जिनमें से कतिपय ये हैं ।—(१) उपचार समाधि—किसी वस्तु के ऊपर चित्त को लगाने से ठीक पूर्व क्षण में विद्यमान मानसिक दशा का नाम उपचार समाधि है (२) अप्यना (अपर्यणा) समाधि—वस्तु के ऊपर चित्त को स्थिर कर देना । प्रीति-सहगत, सुख-सहगत तथा उपेक्षा-सहगत समाधियाँ (आनन्द, सुख तथा क्षोभ से विरहित मानसिक अवस्था से युक्त समाधियाँ) ।

ध्यानयोग का वर्णन पाँच भागों में किया गया है—गुरु, शिष्य, योगान्तराय, समाधिविषय तथा योगभूमि—जिनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता है ।

योगान्तराय (पलिवोध)

योगमार्ग में अनेक अन्तराय विद्यमान रहते हैं जो दुर्बल चित्तवाले व्यक्तियों को प्रभावित कर समाधिमार्ग से दूर हटाते हैं । बुद्धघोष ने इन सब अन्तरायों का निर्देश एकत्र एक गाथा में किया है । इन अन्तरायों की संज्ञा है—पलिवोध जो बोध, के प्रतिबन्धक होने से संस्कृत 'परिवोध' का पाली रूप प्रतीत होता है ।

आवासो^१ च कुल लाभो गणो कम्म च पंचमं ।

अद्धानं वाति आवाधो गन्धो इद्धीति ते दसा ति ॥

ये प्रतिबन्धक निम्नलिखित दस हैं—

(१) आवास—मठ या मकान बनवाना । जो भिक्षु मठ के बनवाने में व्यस्त रहता है, उसका चित्त समाधिमार्ग पर नहीं जाता ।

(२) कुल—अपने शिष्य के सम्बन्धियों के ऊपर विचार करने से मन इधर-उधर व्यस्त रहता है । समाधि के लिए अवसर नहीं मिलता ।

(३) लाभ—धन या वस्त्र की प्राप्ति । धन या वस्त्र के लोभ ने अनेक भिक्षुओं के चित्त को ससार का रसिक बना दिया है ।

(४) गण—अनेक भिक्षुओं को सुप्त या अभिघम्म को अपने शिष्यों को पढ़ाने से ही अवकाश नहीं मिलता कि वे अपना समय समाधि में लगावें ।

(५) कम्म—मकानों का बनवाना या मरम्मत कराना । इनमें व्यस्त रहने से भिक्षु को मजदूरों की हाजिरी तथा मजदूरी रोज-रोज जोड़ने से समाधि के लिए फुरसत नहीं मिलती ।

कौतुके का फल है प्रज्ञा या विवेक स्वाति का आच्छादक (प्रकाश) । इस दशा में चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है तथा इन्द्र अपने स्वस्व में स्थित हो जाता है । चित्त की पाँचों वृत्तियों में रुद्ध होने के कारण पुरुष प्रकृति के साथ सदा सम्बद्ध रहता है । वह अपने अर्चय शुद्ध शुद्ध नित्यशुद्ध स्वस्व से निरन्तर अवस्थित रहता है । परन्तु प्रज्ञा के आच्छादक से तबकी समस्त चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और पुरुष प्रकृति से असम्बद्ध होकर अपने पूर्ण चैतन्य रूप से मासित होबे लगता है । पञ्चम एवमादि कि वृत्तिनिरोध ही मोक्ष के लिए आवश्यक नहीं है । ज्ञान का अन्तर्भाव होना भी निरन्तर आवश्यक होता है । इस प्रकार की वह समाधि को पतञ्जलि 'महाप्रलय' के नाम से पुकारते हैं (योगसूत्र १।१९) । 'उपावप्रलय' समाधि ही वास्तव्य समाधि है । 'उपाव' का अर्थ है प्रज्ञा का शुद्ध ज्ञान । कही समाधि सभी समाधि होती है क्योंकि इसमें ज्ञान के सदा होमिसे अन्तरा संस्कारों का दह हो जाता है, जिससे इसमें मूलभाव की समिक भी आच्छाद नहीं रहती । अतः योग का परिनिष्ठित लक्षण 'योगचित्तवृत्तिनिरोधः' के साथ-साथ तथा इच्छा स्व-स्वैय्यस्थानम् ही है । इस प्रकार प्रातःकालसंयोग का अर्थ अथवा वैयस्य प्राप्ति है समाधिकरण प्रज्ञा से पुरुष प्रकृति से विवेक ज्ञान कर अपने शुद्ध अर्चयक में अवस्थित होता है । वही प्रभाव सदा है । बीजयोग के साथ इसका पारंगत छन्द है

निर्वाण की प्राप्ति के लिये चित्त को समग्रित करवा निरन्तर आवश्यक है राम योग, भोज, आदि अमन्त अवस्थेत चित्त को इतना विरुद्ध किया करते हैं

कि वह कभी शक्ति का अनुभव ही नहीं करता । परन्तु अष्टांग शुद्धधर्म में चित्त से निर्वाण का ज्ञान अवश्यत्व है इसीलिये निम्न से चित्त

समाधि को हटाकर निर्वाण की और अन्तर करने के लिये बीज मन्त्रों में अनेक व्यावहारिक योग-प्रकारों की गई हैं । इनका अर्थ है निर्वाण की उपस्थापि को अम शक्ति का बोधक है ।

शुद्धयोग में समाधि की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'समाधानात्तेन समाधि एवात्मनो चित्तकेतुसिद्धिर्न समं सम्या न व्यापारं अपर्न सि दुर्लभोति'—अर्थात् समाधि का अर्थ है एकमन्त्र । एक व्यस्तमन्त्र के ऊपर मन को तथा मानसिक व्यापारों को समाप्त रूप से तथा सम्बद्ध रूप से बाधना 'समाधि' है । समाधि के

अनेक प्रभेदों का वर्णन बुद्धघोष ने किया है जिनमें से कतिपय ये हैं।—(१) उपचार समाधि—किसी वस्तु के ऊपर चित्त को लगाने से ठीक पूर्व क्षण में विद्यमान मानसिक दशा का नाम उपचार समाधि है (२) अर्पणा (अर्पणा) समाधि—वस्तु के ऊपर चित्त को स्थिर कर देना। प्रीति-सहगत, सुख-सहगत तथा उपेक्षा-सहगत समाधियाँ (आनन्द, सुख तथा क्षोभ से विरहित मानसिक अवस्था से युक्त समाधियाँ)।

ध्यानयोग का वर्णन पाँच भागों में किया गया है—गुरु, शिष्य, योगान्तराय, समाधिविषय तथा योगभूमि—जिनका सक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता है।

योगान्तराय (पलिवोध)

योगमार्ग में अनेक अन्तराय विद्यमान रहते हैं जो दुर्बल चित्तवाले व्यक्तियों को प्रभावित कर समाधिमार्ग से दूर हटाते हैं। बुद्धघोष ने इन सब अन्तरायों का निर्देश एकत्र एक गाथा में किया है। इन अन्तरायों की संज्ञा है—पलिवोध जो बोध, के प्रतिबन्धक होने से संस्कृत 'परिवोध' का पाली रूप प्रतीत होता है।

आवासो^१ च कुल लाभो गणो कम्म च पचमं।

अद्वानं वाति आवाधो गन्धो इद्धीति ते दसा ति ॥

ये प्रतिबन्धक निम्नलिखित दस हैं—

(१) आवास—मठ या मकान बनवाना। जो भिक्षु मठ के बनवाने में व्यस्त रहता है, उसका चित्त समाधिमार्ग पर नहीं जाता।

(२) कुल—अपने शिष्य के सम्बन्धियों के ऊपर विचार करने से मन इधर-उधर व्यस्त रहता है। समाधि के लिए अवसर नहीं मिलता।

(३) लाभ—घन या वस्त्र की प्राप्ति। घन या वस्त्र के लोभ ने अनेक भिक्षुओं के चित्त को ससार का रसिक बना दिया है।

(४) गण—अनेक भिक्षुओं को सुत्त या अभिघम्म को अपने शिष्यों को पढ़ाने से ही अवकाश नहीं मिलता कि वे अपना समय समाधि में लगावें।

(५) कम्म—मकानों का बनवाना या मरम्मत कराना। इनमें व्यस्त रहने से भिक्षु को मजदूरों की हाजिरी तथा मजदूरी रोज-रोज जोड़ने से समाधि के लिए फुरसत नहीं मिलती।

(६) अज्ञान—रस्त्या चलना । कभी-कभी मिथु को उपसम्पदा देने के किसी आवश्यक वस्तु के खेने के लिए बुरा तक जाया पड़ता है । रस्त्या चलना समाधि के लिए विपक्ष है ।) — २ — । ।

(७) माति—ज्ञाति, अपने छोटे-सम्बन्धी या गुरु आश्रम अपना पोशा, जिसकी बीमारी वित्त को बीग से दृष्टि है । । ।

(८) आभाव—अपनी बीमारी जिसके लिए दवा खाना, तैयार करना तथा खाना पकाना है ।

(९) धन्य = (धन्य का अन्वयः) धीरे धन्यों के पढ़ने में किन्हीं ही मिथु होने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें योग करने के लिए अवकाश नहीं मिलता । धन्य का अन्वय गुरु नहीं है परन्तु उसे समाधि का साधक होना चाहिए । बाधक होते ही वह अन्तराय बन जाता है ।

(१०) इन्द्रि = अस्तौकिक शक्तिर्वा ठोस सिद्धियाँ । समाधिमार्ग पर अग्रसर होने से साधक को अनेक सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त होती हैं । ये भी निरूपण हैं, क्योंकि इनके आकषण में अतिरिक्त साधकों का मन इतना अधिक लगता है कि वे विपरम्प (झल) की प्राप्ति की कोशिश कर बैठते हैं । ध्वन्युक्तों की दृष्टि में सिद्धियाँ मछो ही सामग्री प्रतीत होती हैं परन्तु आश्रम की दृष्टि में वे निरन्तर व्यावहारिक व अतएव हैम हैं ।

इनके अतिरिक्त शारीरिक शुद्धि, पात्र बीवर का सात्व रचना आवश्यक है । इनके सम्बन्ध न रहने से बिना अनुविन रहता है और समाधि में नहीं लगता ।

(११) कर्मस्थान (कर्मटठान)

कर्मस्थान' में अभिप्राय ध्यान के विषयों से है । बुद्धयों में पातित कर्म स्थानों का विमूर्त वर्णन किया है जिस पर साधक को करना वित्त लगाना चाहिए, परन्तु इनकी सहाय्य अधिक भी हो सकती है । वह वस्तुस्थिति की बुद्धि पर निर्भर रहता है कि वह अपने शिष्य की वित्तवृत्ति के अनुसार उचित कर्मस्थान की व्यवस्था करे ।

शालीन कर्मस्थानों की सूची—

रत शक्ति (इन्द्रिय), रत अगुम (अगुम), रत अनुमति (अनुमति), बार मन्त्रिहार, बार आरण्य एक तंहा एक वायुम ।

कर्मस्थान (१—१०)—

ध्यान के विषय तो अनन्त हो सकते हैं, परन्तु विबुद्धिमग्न में ऊपर निर्दिष्ट चालीस विषयों को ही अधिक उपयोगी तथा अनुरूप माना गया है। 'कसिण' शब्द संस्कृत 'कृत्स्न' से निष्पन्न हुआ है। ये विषय समग्र चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इनकी ओर लगन से चित्त का सम्पूर्ण अंश (कृत्स्न) विषयाकाराकारित हो जाता है। इसी हेतु इन्हें 'कसिण' संज्ञा प्राप्त है। इनकी मख्या दस है—पृथ्वी कृत्स्न (पठवी कसिण), जल, तेज, वायु, नील, लोहित, पीत, अवदात (ओदात, सफेद), आलोक तथा परिच्छिन्नाकांश। इन विषयों पर चित्त-समाधान के निमित्त अनेक उपयोगी व्यावहारिक बातों का वर्णन किया गया है।

(१) 'पठवी कसिण' के लिए मिट्टी के बने किसी पात्र को चुनना चाहिए। वह रंग-विरंगा न होना चाहिए, नहीं तो चित्त पृथ्वी से हटकर उसके लक्षण की ओर आकृष्ट हो जाता है। एकान्त स्थान में चित्त को उस पात्र पर लगाना चाहिए। साथ ही साथ 'पृथ्वी' तथा उसके वाचक शब्दों का धीरे-धीरे उच्चारण करते रहना चाहिए। इस प्रक्रिया के अभ्यास से नेत्र बन्द कर देने पर उन्नी वस्तु की मूर्ति भीतर झलकने लगती है। इसका नाम है—उगगहनिमित्त का उदय। साधक उस एकान्त स्थान से हटकर अपने निवास स्थान पर जा सकता है परन्तु उसे इस निमित्त पर ध्यान सतत लगाते रहना चाहिए। इससे उसका निवारण (पांचो घन्धन) तथा फलेशों का नाश हो जाता है। समाधि के इस उद्योग (उपचार समाधि) से चित्त एकत्र स्थित होता है और इस दशा में वह वस्तु चित्त में पूर्व की अपेक्षा अत्यधिक स्पष्ट तथा उज्ज्वल रूप से दृष्टिगत होने लगती है। इसे 'पटिमाग निमित्त' का जन्मना कहते हैं। अब चित्त ध्यान की धूमियों में धीरे-धीरे आरोहण करता है। (२) 'आपो कसिण' में समुद्र, तालाव, नदी या वर्षा का जल ध्यान का विषय होता है। (३) 'तेजा कसिण' में दीपक की टेम (लौ) चूल्हे में जलती हुई आग या हावानल ध्यान के विषय माने जाते हैं। (४) 'वायु कसिण' में वास के सिरे, ऊख के सिरे या बाल के सिरे को हिलाने-धाली वायु पर ध्यान देना होता है। (५) 'नील कसिण' में

१ विबुद्धिमग्न पृ० ८०-११४

२ विबुद्धिमग्न परिच्छेद ५ पृ० ११४-११९

नील पुष्पों से बने हुए किसी पात्र-विशेष (जैसे डोकरी आदि) पर ध्यान करना होता है । इस डोकरी को ऊपर से इस प्रकार बक देना चाहिए जिससे वह डोकरी शक्ति की मातृम पकड़े लगी । तब उसके चारों ओर विभिन्न रंग की बीजे रख देनी चाहिए । धातु को इन नाम रंगों से चित्त को हयकर केवल नील रंग पर ही समाप्त चाहिए । यह 'नील कसिण' की प्रक्रिया है । (९) पील कसिण (१०) लोहित कसिण तथा (११) आशुत कसिण (अशुत) में पीले रंग तथा उसके रंग की बीजे होनी चाहिए । प्रक्रिया पूर्ववत् होती है । (१२) 'आशोक कसिण' में अशोक के ऊपर ध्यान लगाना होता है (जैसे शीतल के किसी छिद्र से या बूझों के पत्तों के छेद से होकर आने वाले चन्द्र किरण या सूर्य किरण) (१३) 'परिच्छिद्राकाश कसिण' में परिच्छिद्र आकाश (जैसे शीतल का छिद्र का बड़ा छेद) ध्यान का विषय होता है । मित्र-मित्र कसिणों में ऊपर सिद्ध विषयों पर ध्यान लगाना चाहिए । इन शक्तियों का उपचार करते रहना चाहिए । तब उनके ऊपर चित्त समाहित होता है । 'शुक्ली कसिण' के अनुसार प्रक्रिया सर्वत्र समझनी चाहिए ।

इस अध्याय—(११-२०)

अध्याय^१ कर्मस्वात में पृथक् शरीर को ध्यान का विषय विवक्षित किया गया है । बुद्धिर्बल में पृथक् शरीर के ध्यान से अणु की अविच्छेद्यता की शिक्षा लेने पर विशेष जोर दिया गया है । जब इस अभिराम शरीर का चरम अवधान वह कुम्भ पृथक् शरीर है, तब चित्त में अभिप्राय के लिए स्थान नहीं । सीम्बर्ब की धारणा से अपने चित्त को सर्वोन्त करने की आवश्यकता ही थीम सी है । पृथक् शरीर को इस अवस्था में बिन्दु कीय मानने से अध्याय कर्मस्वात इस प्रकार का होता है—(११) लङ्घुमातकम्—इत्या इत्या रात्र, (१२) विनीलकम्—अत्र रात्र का रंग नीला पत्र जाता है (१३) विपुष्पकम्—पील से अत्र रात्र (१४) विच्छिद्रकम्—अनन्तता से अत्र रात्र (जैसे चोटे का पतल शरीर) (१५) विवक्षापितकम्—अनेक विधातों से दिग्ग मिग्न रात्र), (१६) पिक्कि रात्र—रिखरे हुए अथ नाम रात्र, (१७) इतपिक्किरात्रम्—अत्र अत्र और अत्र मिग्न-मिग्न अंगवाता रात्र (१८) लोहितकम्—अत्र से इतर-अत्र इतर

हुआ शव; (१६) पुलुवकम्—कीड़ों से भरा हुआ शव, (२०) अट्टिकम्—शव की ठठरी।

बुद्धघोष ने शव के स्थान, आदि के विषय में भी अनेक नियम बताये हैं। इन विषयों पर ध्यान देने से वह वस्तु चित्त में स्फुरित होती है (पटिभाग) क्लेशों तथा नीवरणों का नाश होता है। चित्त समाहित होता है।

दस अनुस्मृति

अनुस्मृति^१ (२१—३०)—

अब तक वर्णित कर्मस्थान वस्तुरूप हैं जिनकी बाह्य सत्ता विद्यमान है। अनुस्मृतियों में ध्येय विषय कल्पनामात्र है, बाह्य वस्तु रूप नहीं। वस्तु की प्रतीति या कल्पना पर चित्त लगाने से समाधि की अवस्था उत्पन्न होती है।

२१ बुद्धानुस्सति, (२२) धम्मनुस्सति, (२३) संघानुस्सति, (२४) शीलानुस्सति, (२५) चागानुस्सति, (२६) देवतानुस्सति। इन अनुस्मृतियों में क्रमशः बुद्ध, धर्म, संघ के गुणों पर और शील त्याग तथा देवता (देवलोक में जन्म लेने के उपाय) की भावना पर चित्त लगाना होता है।

(२७) मरणसति—शव को देखकर मरण की भावना पर चित्त को लगाना, जिससे चित्त में जगत् की अनित्यता का भाव उत्पन्न हो जाता है।

(२८) कायगता-सति—(कायगतानुस्मृति) साधक को शरीर के नाना प्रकार के मल से मिश्रित अङ्ग-प्रत्यङ्गों की भावना पर चित्त लगाना चाहिए। मानव शरीर क्या है? अनेक प्रकार के मल मूत्रादि का सङ्घातमात्र तो ही है। वही भावना इस कर्मस्थान का विषय है।

(२९) आनापानानुसति—(प्राणायाम)—इस अनुस्मृति का वर्णन दीर्घनिकाय में 'अनुसति' के नाम से विशेष रूप से मिलता है। एकान्त स्थान में बैठकर आश्वास और प्रश्वास पर ध्यान देना चाहिये। आश्वास नाभि से आरम्भ होता है, हृदय से होकर जाता है तथा नासिकाग्र से वह बाहर निकलता है। इस प्रकार उसका आदि, मध्य तथा अन्त तीनों है। आश्वास तथा प्रश्वास के नियमन करने से चित्त में शान्ति का उदय होता है। बुद्धघोष ने प्राणायाम के विषय में अनेक ज्ञातव्य विषयों का निर्देश किया है।

(३०) उपसमानुस्तति—अर्थात् उपशम इय निर्वाण (पर ध्यान + चार ब्रह्मविहार—

चार ब्रह्मविहारों^१ के नाम हैं भेत्ता (मैत्री), क्लृप्ता मुक्ति तथा उपेक्षा (उपेक्षा) । इनकी 'ब्रह्मविहार' संज्ञा सार्वक है क्योंकि इन भावनाओं का फल ब्रह्मलोक में वन्म होना तथा उस लोक की आत्मन्मय वस्तुओं का उपभोग करना है । महर्षि पतञ्जलि ने इन चारों भावनाओं के अन्तः से चित्त की एकपक्ष को उत्पन्न होना बताया है । इन्हन में मैत्री बुद्धि में क्लृप्ता, पुष्पाश्रमा व्यक्तियों में मुक्ति तथा अपुष्पाश्रमाओं में उपेक्षा का भाव रहना चाहिए । बुद्धिर्म में भी इन भावनाओं पर चित्त का समाहित करने का उपदेश है । (३१) भेत्ता भावना प्रथमता अपने ही ऊपर करनी चाहिए । अपने कल्याण की भावना पहले रखनी चाहिए, अन्तर अपने शुभ तथा अन्य दुःखान्धियों की पीछे अपने शत्रुओं के ऊपर भी मैत्री की भावना करनी चाहिये । स्व कीर्ति पर का सीमाविमोह, करण विद्यन्त आलस्यक होता है । इसी तरह बुद्धित व्यक्तियों पर (३२) क्लृप्ता, पुष्पाश्रमाओं पर (३३) मुक्ति तथा अपुष्पाश्रमाओं पर (३४) उपेक्षा की भावना करनी चाहिए ।

चार आकम्प^२—अब तक वर्णित कर्मस्वातन्त्र्य कायनात से कर्मात में ले जाते हैं । उसके आगे के लोक अथ लोक में जाने के लिए इन चार आकम्प कर्मस्वातन्त्र्य आवश्यक होते हैं :—

(३५) आकासात्मज्ञापयत—(= अनन्त आकाशात्मन) कस्मिन् में केवल परिच्छिन्न आकाश पर ध्यान देने का विधान है, पर इस कर्मस्वातन्त्र्य में अनन्त आकाश पर चित्त लगाना चाहिये । इससे फलम प्राप्त का उद्देश होता है ।

(३६) विष्ण्वात्मज्ञापयत (= अनन्त विष्ण्वात्मन) पूर्व कर्मस्वातन्त्र्य में देश की भावना कही जाती है । अनन्त आकाश की कल्पना के साथ कुछ न कुछ वैश्विक सम्बन्ध बना रहता है । अब आपक को आकाश के विज्ञान के ऊपर चित्त समाहित करना आवश्यक है । इससे पद ध्यान का उद्देश होता है ।

१ निघुद्धिमग्न परिच्छेद १ पृ ९ - २२१ ।

२ निघुद्धिमग्न परिच्छेद १ पृ २२१-२२४

(३७) आकिञ्चञ्जायतन (= नास्ति किञ्चन + आयतन) विज्ञान को भी चित्त से दूर कर देना चाहिए, केवल विज्ञान के अभाव पर ही ध्यान देना आवश्यक है, जिससे विज्ञान की शून्य भावना जागरित होती है । इससे सप्तम ध्यान का उदय होता है ।

(३८) नैवसञ्ज्ञानासञ्जायतन (= नैव सञ्ज्ञा + न असञ्ज्ञा + आयतन) पूर्व ध्यान में चार स्कन्धों के ज्ञान (सञ्ज्ञा) से साधक मुक्त हो जाता है परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म संस्कारों का ज्ञान अभी तक बना ही रहता है । वह साधारण वस्तुओं को नहीं जान सकता, परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान से विरहित नहीं होता । अभाव से भी चढ़कर चलवती कल्पना 'सञ्ज्ञा' हैं । आकिञ्चञ्जायतन को अतिक्रमण कर साधक आरूप कर्मस्थानों में अन्तिम कर्म स्थान को प्राप्त करता है ।

उस आयतन के स्वरूप को बुद्धघोष ने दो उपमाओं के सहारे बड़ी सुन्दरता से दिखलाया है^१ । (१) किसी समाधेर ने एक वर्तन को तेल से चुपड़ रखा था । यवागू के पीने के समय स्थविर (गुरु) ने उस वर्तन को माँगा । सार्मनेर ने कहा—भन्ते, वर्तन में तेल है । गुरु ने कहा—तेल लाओ, उसे मैं घोंस की नली में उडेल दूँगा । शिष्य ने कहा—इतना तेल नहीं है कि घोंस की नली में उडेल कर रखा जाय । तेल यवागू को दूषित करने में समर्थ है, अतः उसकी सत्ता है । परन्तु नली के भरने में असमर्थ होने से वह नहीं है । इसी प्रकार सञ्ज्ञा (ज्ञान) सञ्ज्ञा के पटुकार्य करने में असमर्थ है । अतः वह सञ्ज्ञा नहीं है । परन्तु वह सूक्ष्मरूप से, संस्कार रूप से विद्यमान है, अतः वह 'असञ्ज्ञा' भी नहीं है (२) कोई गुरु कहीं जा रहा था । शिष्य ने कहा—रास्ते में थोड़ा जल दीखता है । जूता निकाल लीजिये । गुरु ने कहा—यदि जल है, तो मेरी घोती (स्नानशाटिका) निकालो स्नान कर लूँ । शिष्य ने कहा—भन्ते, नहाने के लिए नहीं है । यहाँ जल जूते को भिगा देने मात्र के लिए है । परन्तु स्नानकार्य के लिए जल नहीं है । इसी तरह संज्ञा सञ्ज्ञाकार्य में असमर्थ है, परन्तु संस्कार के शेष होने से वह सूक्ष्मरूप से वर्तमान है, अतः वह 'असञ्ज्ञा' नहीं है । इस विचित्र नामकरण का यही रहस्य है ।

अन्तिम दो कर्मस्थान हैं—(१) आहारे पटिकूल सञ्ज्ञा , (२) चतुर्धातु वव त्यागस्स भावना ।

(३६) संज्ञा^१—आमारे प्रतिदुर्लभा अर्थात् मोक्षन से वृत्ता । मोक्षन से सम्बन्ध गुराईसी पर प्यान बेमा बाहिण् । मोक्षन के लिए दूर दूर जाता, मोक्षन के न पबने से अनेक गुराईसी बादि बातों पर प्यान बेने से सावक का चित्त प्रबन्ध मोक्षन की तुल्यसे निवृत्त होता है और पीछे सब अन्तर की तुल्यता से ।

(४०) व्यक्त्वा^२—चतुर्थाव्यक्त्वा मानस अर्थात् शरीर के चारों बाहुओं का निष्पन्न करना । शरीर चारों महाभूमि से बना हुआ है । इन भूमि के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि वह बाबा कायवासों का केन्द्रभूत सुन्दर शरीर अनेक (भौतिक) अम्माकृत (अवर्णनीय), शून्य (स्वस्महीन), तथा वि-सत्त्व (सत्ताहीन) है । 'सब शून्यम्' की ठरकट मानस के लिए इस व्यक्त्वा का विन्यस्त उपदेश है । वह शरीर शून्य है तथा तत्सम्यक जगत् के समस्त पदार्थ भी शून्य हैं ।

समाधि की सीढ़ने के शिखे मिष्ट को प्रबन्धन योग्य गुरु (कस्याम मित्र) को छोड़ मित्रसत्ता मित्रान्त आकरसक है^३ । कस्याममित्र वह होना चाहिये जिसने स्वयं उच्चतम प्याव का अभ्यास कर लिया हो । संसार के तत्त्वों के गुरु प्रति जिसकी अन्तरिक दृष्टि अष्टव हो और जिसने समस्त यत्नों (काश्यों) को दूर कर आईए पद को प्राप्त कर लिया हो । यदि ऐसा आईए न मिले तब उसे कम से निम्नलिखित प्रकार के योग्य गुरुओं को प्राप्त करना चाहिये—अमायासी, सुहृदायासी, सौख्यपत्र प्यालाम्बासी, पूषण्ड का त्रिपिण्डों के ज्ञाता अदुर्लभा के साथ एक ही निम्नर का ज्ञाता तथा चित्त को पद में रखने वाला कोई भी गुरु (कमी) ।

१ विमुक्ति मम्म पृ २३४-२३८ ।

२ वही पृ २३८-२५३ ।

३ कस्याममित्र के गुणों का वर्णन करते समय गुरुबोध से इस यात्रा को उद्देश्य किया है ।

पियी गुरु मायसीय वत्त न जज्जज्जस्यो ।

गम्भीरं वरं वत्त मा वद्वने विनोचये ॥

(अहमर मित्र ३११, वि न पृ २१)

साधक^१ को अपने कल्याणमित्र का परम भक्त और आर्क्षकारी होना चाहिए। अपने योगाभ्यास के लिए अनुरूप विहार पसन्द करना चाहिए जिसमें साधक को अपने गुरु के साथ निवास करना चाहिए। इसके अभाव में अन्य उचित स्थान की व्यवस्था की गई है। साधक भिक्षु के लिए अनुरूप समय मध्याह्न भोजन के उपरान्त का समय है। साधक की मानसिक प्रवृत्तियों पर धड़ा जोर दिया गया है। मानस प्रवृत्ति के अनुरूप ही कल्याणमित्र को अपने शिष्य के लिए कर्मस्थान की व्यवस्था करनी चाहिए। मानस प्रवृत्तियाँ नाना प्रकार की हैं, परन्तु बुद्धघोष ने छ प्रवृत्तियों को प्रधानता दी है—राग, द्वेष, मोह, श्रद्धा, बुद्धि और वितर्क। इन प्रवृत्तियों का पता साधक के भ्रमण (इरियापथ), क्रिया (किच्चा), भोजन, आदिसे भली भाँति लगाया जा सकता है। बुद्धघोष ने शिष्य की प्रवृत्ति के अनुसार उसके लिए कर्मस्थानों का इस प्रकार निर्देश किया है—

राग चरित के लिए—दस अशुभ तथा कायगता सति।

द्वेष चरित—चार ब्रह्मविहार तथा चार वर्ण (वर्ण कसिण)

मोह और वितर्क—आनापान सति (प्राणायाम)

श्रद्धा चरित—६ प्रकार की पहली अनुस्मृतियाँ

बुद्धि चरित—मरणसति, उपसमानुस्सति, चतुर्धातुवचन तथा आहारे पटिकूल सञ्जा।

यह शिक्षा व्यावहारिक दृष्टि से बड़ी उपादेय है। इस प्रकार बुद्धमत की योगप्रक्रिया में चित्तानुसन्धान के विषयों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

(ग) समाधि की भूमियाँ

(१) उपचार—

ध्यानयोग की प्राप्ति एक दिन के क्षणिक प्रयास का फल नहीं है, अपि तु वह अनेक वर्षों के तीव्र अध्यवसाय का मंगलमय परिणाम है। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुरूप किसी भी निमित्त (वस्तु) को पसन्द कर चित्त के लगाने का प्रयत्न प्रथमतः साधक को करना पड़ता है। इसकी सज्ञा है 'परिकर्म भावना' चित्त के अनुसन्धान से वही वस्तु चित्त में प्रतिबिम्बित होने लगती है—जिसका

१ साधक की पहचान तथा चर्या के विस्तारपूर्वक विवेचन के लिये देखिये।

मान है अमरमितिमित्त का उद्देश्य । वस्तु के साथ उसके लक्षण (जैसे छद्म आकृति आदि) भी अनुस्यूत रहते हैं । अतः वस्तु का उसके सत्त्व से दृष्टि करके पकड़ा है—इसी को कहते हैं उपधार—आत्मता । इस उद्योग से वह वस्तु सभी प्रकार केनों के सामने स्मृति स्फुटित होने लगती है जिस प्रकार वह बाहर स्थिति होती है । इसकी उद्घाटन है परिभाषामितिमित्त का उद्देश्य । परन्तु अभी तक चित्त में वस्तु की विवरण नहीं आती । इस दशा में चित्त उस आत्मता के समान होता है जो अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता । उद्योग करता है पर गिर पड़ता है ।

(२) अप्यमा—

इस भूमि में चित्त में दृष्टा आती है । जिस प्रकार कुछ अपने पैरों पर खड़ा हो खड़ा हो सकता है उसी प्रकार इस दशा में चित्त वस्तु का अनुस्यूत पकड़ा है । अप्यमा शब्द 'अप्य' का वाची प्रतिमिति है । 'अप्य' का अर्थ है अपने का अर्थित कर देना, चित्त करने को निष्पन्न के लिए अर्पित कर देता है । वह निष्पन्न का पूरे दिव का उत्तमर एकाग्र से ग्रहण करता है । परन्तु आपक का अपने अनुग्रह में न तो अधिक आहार दियोजना आदि और न अधिक आत्मन्य रचना आदि । इस प्रकार में चित्त की अज्ञानता निरोधन से प्राप्त होती है ।

हीनयानी ग्रन्थों में सम्यक् के समग्र में बार प्रचार के ध्यान का उद्देश्य वर्णित है । हीनयानियों के अनेक गुणों में (जने सम्यग्मार्ग गुण) तथा यत्न में बारों ध्यान के लक्षण का विचार विचार दिया है । इसी का आधार लेकर बुद्धपात्र ने सिद्धिमान में इस विषय का पूरा कटाव दिया है । प्रथम ध्यान में विचार विचार प्रेरित, तथा तथा एकाग्रता—इन तीनों विचारधर्मों की प्रवृत्ति होती है । द्वितीय ध्यान में विचार तथा विचार का वर्तन बहिष्कार कर देने का प्रेरित । यह तथा एकाग्रता की प्रवृत्ति रहती है । तृतीय ध्यान में प्रेरित का वर्तन नहीं रहता केवल तथा तथा एकाग्रता का वर्तन बहिष्कार रहता है । चतुर्थ ध्यान में गुण को वर्तन का वर्तन बहिष्कार तथा एकाग्रता का ही वर्तन रहता है ।

है। इस प्रकार इन ध्यानों में साधक स्थूलता तथा वहिरङ्गता से आरम्भ कर सूक्ष्मता तथा अन्तरङ्गता में प्रविष्ट हो जाता है।

समाधि के विषय में चित्त का प्रथम प्रवेश वितर्क कहलाता है तथा उस विषय में चित्त का अनुमज्जन करना 'विचार' है। इससे चित्त में जो आनन्द उत्पन्न होता है इसे 'प्रीति' कहते हैं। मानस आह्लाद के अनन्तर शरीर में एक प्रकार के समाधान या शान्ति का भाव उदय लेता है इसकी सहा 'सुख' है। विषय में चित्त का विलकुल समाहित हो जाना जिससे वह किसी अन्य विषय की ओर भटक कर भी न जाय 'एकाग्रता' कहलाता है। इन्हीं पाँचों के उदय और हास के कारण ध्यान के चार प्रभेद बुद्धधर्म में स्वीकृत किये गये हैं।

वितर्क तथा विचार का भेद स्पष्ट है। चित्त को किसी विषय में समाहित करने के समय उस विषय में चित्त का जो प्रथम प्रवेश होता है, वह तो 'वितर्क' हुआ। परन्तु आगे बढ़ने पर उस विषय में चित्त का निमग्न होना 'विचार' शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है। बुद्धघोष ने इनके भेद को दो रोचक उदाहरणों के सहारे समझाया है। आकाश में उड़ने से पहले पक्षी अपने पखों का समतोलन करता है और कई क्षणों तक अपने पखों के सहारे आकाश में स्थित रहता है। इसकी समता 'वितर्क' से दी गई है। अनन्तर वह अपने पखों को हिलाकर, उनमें गति पैदा कर, आकाश में उड़ने लगता है। यह क्रिया 'विचार' का प्रतीक है। अथवा किसी गन्दे पात्र को एक हाथ से पकड़ने तथा उसे दूसरे हाथ से साफ सुथरा करने की क्रियाओं में जो अन्तर है वही अन्तर वितर्क तथा विचारों में है। इसी प्रकार प्रीति तथा सुख की भावना में भी स्फुटतर पार्थक्य है। चित्तसमाधान से जो मानसिक आह्लाद उत्पन्न होता है उसे 'प्रीति' कहते हैं। अनन्तर इस भाव का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। शरीर की व्युत्थित दशा की वचनी जाती रहती है। अब पूरे शरीर के ऊपर स्थिरता तथा शान्ति के भाव का उदय होता है, इसे ही 'सुख' कहते हैं। प्रीति मानसिक आनन्द है और सुख शारीरिक समाधान या स्थिरता। इसके अनन्तर चित्त विषय के साथ अपना सामञ्जस्य स्थापित कर लेता है इसे ही 'एकाग्रता' कहते हैं। इन पाँचों की प्रधानता प्रथमध्यान रहने पर प्रथम ध्यान-उत्पन्न होता है। इसके स्वरूप बतलाते समय तथागत ने कहा है—जिस प्रकार नाई या उसका शिष्य

असि के बाह में स्नानपूर्व को बाह्यर कोड़ा बह से सीधे जिससे वह स्नानपूर्व को किसी तेज से अनुपल, भीतर-बाहर तेज से व्याप्त हो जाय किन्तु तेज न जुने । उसी प्रकार प्रथम ध्यान में सायक अपने शरीर को विनैक से उत्पन्न प्रीति-धुप से मियोत्ता है । बाह्य और व्याप्त करता है जिससे उसके शरीर का कोई भी भाग इस प्रीति-धुप से अभ्याप्त नहीं रहता ।

द्वितीय ध्यान में चित्त का विचार का अभ्यास रहता है । इस समय भक्त को प्रवृत्ता रहती है । प्रीति, धुप तथा एकप्रता के भाव को प्रभावित रहती है ।

इस ध्यान को अपना उस शम्भौर तथा भीतर में पानी के स्रोतों द्वितीय बाले जलाशय से ही गई है जिसमें किसी भी दिशा से पानी आने का उत्पन्न नहीं है, वहाँ को बाह्य भी इसमें नहीं गिरती है प्रत्युत उसे भीतर की बलवार छूटकर रहित बल से भर देती है । इस प्रकार भीतर प्रवाह तथा चित्त की एकप्रता के कारण समाधिबन्ध प्रीति-धुप सायक के शरीर को भीतर से ही व्याप्त कर देता है ।

तृतीयध्यान में केवल धुप और एकप्रता की ही प्रभावित बनी रहती है । इस ध्यान में तीन वाच-वृत्तियाँ लक्षित होती हैं—(१) उपेक्षा—य तो प्रीति से ही चित्त में कोई विशेष उत्पन्न होता है और न विराम से । चित्त इस तृतीयध्यान भावों को उपेक्षा कर समता का अनुमान करता है । (२) स्मृति—उस द्वितीय ध्यान के समय होने वाली वृत्तियों को स्मृति बनी रहती है । (३) मुक्तिहारी—सायक के चित्त में धुप की शक्तता विशेष नहीं उत्पन्न करती । ध्यान से उसके शरीर में विविध शक्ति तथा सम्पन्न का बल होता है । इस ध्यान की समता के लिए पञ्चमुखा का शान्त, दिया जाता है । जिस प्रकार कमल-समुद्र में कोई कोई नीलकण्ठ एककमल वा श्वेत कमल बल में उत्पन्न होकर बल में ही बने जिससे उसका समस्त शरीर शीतल बल से व्याप्त हो जाय । इसी प्रकार तृतीय ध्यान में किन्तु का शरीर प्रीति-धुप से व्याप्त रहता है ।

चतुर्थध्यान में शारीरिक धुप का धुप का सर्वथा स्थान मानसिक धुप का धुप का प्रधान, राग-द्वेष से निरह उपेक्षा द्वारा स्मृतिपरिमुक्ति—इस का विरोध

ताश्रों का जन्म होता है । यह ध्यान पूर्व तीन ध्यानों का परिणाम चतुर्थध्यान रूप है । इस ध्यान में साधक अपने शरीर को शुद्धचित्त से निर्मल बनाकर बैठता है । जिस प्रकार उजले कपड़े से शिर तक ढँक कर बैठने वाले पुरुष के शरीर का कोई भी भाग उजले कपड़े से वे-ढका नहीं रहता, उसी प्रकार साधक के शरीर का कोई भी भाग शुद्धचित्त से अव्याप्त नहीं रहता । ध्यान की यही पराकाष्ठा मानी गई है^१ । आरूप्य कर्मस्थानों के अभ्यास से इनसे बढ़कर अन्य चार ध्यानों का जन्म होता है जिन्हें 'समापत्तिः' कहते हैं^२ ।



३१
ही है ।

-
- १ इन दृष्टान्तों के लिए द्रष्टव्य-सामञ्जस्यसुत्त (दीघनिकाय पृ० २८-२९)
 २. किसी-किसी के मत में ध्यानों की सङ्ख्या पाँच है । इस पक्ष में द्वितीयध्यान को दो भागों में बाँटकर पाँच की सङ्ख्या-पूर्ति की जाती है । 'इति य चतुष्कनये दुतिय, त द्विधा भिन्दित्वा पंचकनये दुतियन्येव ततियश्च होति । यानि च तत्थ ततियचतुत्थानि तानि चतुत्थपञ्चमानि होन्ति पठमं पठममेवाति ॥'

चाइसवाँ परिच्छेद

बुद्धतन्त्र

(क) तन्त्र का सामान्य परिचय

मानव सभ्यता के उदय के साथ-साथ मन्त्र-तन्त्र का उदय होता है। अतः उनकी प्राचीनता उतनी ही अधिक है— जितनी मानव सस्कृति की। इस विशाल विश्व में जगज्जियन्ता की अद्भुत शक्तियाँ क्रियाशील हैं। भिन्न-भिन्न देवता, उसी शक्ति के प्रतीकमात्र हैं। जगद्व्यापार में इन शक्तियों का उपयोग नाना प्रकार से है। इन्हीं देवताओं की अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए मन्त्र का उपयोग है। जिस फल की उपलब्धि के लिए मनुष्य को अश्रान्त परिश्रम करना पड़ता है, वही फल दैवी कृपा से अल्प प्रयास में ही सुलभ हो जाता है। मनुष्य सदा से ही सिद्धि पाने के लिए किमी सरल मार्ग की खोज में लगा रहता है। उसे विश्वास है कि कुछ ऐसे सरल उपाय हैं जिनकी सहायता से दैवी शक्तियों को अपने वश में रखकर अपना भौतिक कल्याण तथा पारलौकिक सुख सम्पादन किया जा सकता है। मन्त्र-तन्त्रों का प्रयोग ऐसा ही सरल मार्ग है। यह बात केवल भारतवर्ष के लिए चरितार्थ नहीं होती, प्रत्युत अन्य देशों में भी प्राचीनकाल में इस विषय की पर्याप्त चर्चा थी। भारत में तन्त्र के अध्ययन और अध्यापन की ओर प्राचीनकाल से विद्वानों की दृष्टि आकृष्ट रही है। यह विषय नितान्त रहस्यपूर्ण है। तन्त्र-मन्त्र की शिक्षा योग्य गुरु के द्वारा उपयुक्त शिष्य को दी जा सकती है। इसके गुप्त रखने का प्रधान उद्देश्य यही है कि सर्वसाधारण जो इसके रहस्य से अनभिज्ञ हों इसका प्रयोग न करें, अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि होने की ही अधिक सम्भावना है।

तान्त्रिक साधना नितान्त रहस्यपूर्ण है। अनधिकारी की इसका रहस्य नहीं बतलाया जा सकता। यही कारण है कि शिक्षित लोगों में भी तन्त्र के विषय में

अनेक धारणायें फैली हुई हैं। तन्त्रों की उदात्त भावनायें तथा

‘तन्त्र’ विशुद्ध आचारपद्धति के अज्ञान का ही यह कुत्सित परिणाम है।

शब्द का तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति तन् धातु (विस्तार) तनु-विस्तारे—से

अर्थ ष्टन् प्रत्यय से हुई है। अतः इसका व्युत्पत्तिगम्य अर्थ है वह

शास्त्र, जिसके द्वारा ज्ञान विस्तार किया जाता है? शैव सिद्धान्त

१ तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेनेति तन्त्रम् । (काशिका)

के 'आमिक आयम' में उन शास्त्रों को तन्त्र बतलाया गया है जो तन्त्र और मन्त्र से कुछ अधिक-कमों का विस्तार करते हैं तथा उस ज्ञान के द्वारा साधकों का प्राप्ति करते हैं^१। इस प्रकार तन्त्र का व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान विधान आदि है। इसीप्रकार शास्त्रार्थों में साधन को तन्त्र नाम से अभिहित किया है^२। महाभारत में भी ग्यान् बर्मेशास्त्र योगशास्त्र आदि के द्वारे तन्त्र का प्रयोग उपलब्ध होता है। परन्तु तन्त्र का प्रयोग संमित अर्थ में किया गया है। देवता के स्वरूप कुछ कर्म आदि का जिसमें विघटन किया गया हो तत्प्रत्येक मन्त्रों का उद्धार किया गया हो इन मन्त्रों को मन्त्र में संश्लेषित कर देवता का ध्यान उस उपासना के पाँचो भाग—पूजा, स्मृति, कर्म, सहस्रनाम और स्तोत्र—अवस्थित रूप से विचारने पर ही उन मन्त्रों को तन्त्र कहते हैं। पाण्डुरांग-तन्त्र के अनुसार छवि, प्रत्यक्ष देवदर्शन सर्वसाधन पुरस्कार सर्वकर्मफल (शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, क्षिपण, उन्मूलन तथा मारण) और आचमन—इन सात शास्त्रों से कुछ मन्त्रों को आयम^३ कहते हैं। तन्त्रों का ही दूसरा नाम आयम है। अन्यथा और संस्कृति नियमायम-शून्य है। नियम से अभिप्राय वैद से है तथा आयम का अर्थ तन्त्र है। जिस प्रकार मारुति सम्पन्न वैदिक ज्ञान को अभिहित कर प्रकाश होती है उसी प्रकार वह अपनी प्रतिष्ठा के द्वारे तन्त्रों पर भी अभिहित है।

तन्त्रों की विशेषता क्या है। वैदिक मन्त्रों में विविध ज्ञान का विस्तार रूप या विचारमयक आचार्यों का वर्णन आयमों का मुख्य निबन्ध है। वैद तथा तन्त्र विग्रह तथा आयम के परस्पर सम्बन्ध को प्रकट करना एक निबन्ध तन्त्रों को समस्या है। तन्त्र का प्रकार के होते हैं। (क) वेदामुद्घृत तथा मेव (ख) वेदवाक्य। कतिपय तन्त्रों तथा आचार्यों का मूल श्रोत वैद से ही प्रचलित होता है। पाण्डुरांग तथा तथा शैवायम के कतिपय

१ तत्रोक्ति विपुलावर्गान् उत्तमत्रयमन्त्रिणान् ।

प्राज्ञानं कुर्वन् यस्मान् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥ (का. भा.)

२ स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्चिष्मतीति ॥ (म. सु. २१११ पर शां. भा.)

३ छविश्च प्रत्यक्षदेव, देवदर्शनं सर्वार्थकम् ।

साधनं चैव सर्वेषां पुरस्कारमेव च ॥

वर्ग-सर्वसाधनं चैव आचमनायमनुविधेयः । सप्तमिर्लक्षणैर्बुद्धमायमं तद्विदुर्मुखाः ॥

सिद्धान्त वेदमूलक अवश्य हैं तथापि प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें वेद-वाक्य ही माना गया है। शाक्तों के सप्तविध आचारों में से जनसाधारण केवल एक ही आचार—वामाचार—से परिचय रखता है और वह भी उसके तामसिक रूप से ही। तामसिक वामाचारियों की घृणित पूजापद्धति के कारण पूरा का पूरा शाक्तागम घृणित, हेय तथा अवैदिक ठहराया जाता है। परन्तु समीक्षकों के लिये इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं कि इन शाक्ततन्त्रों की भी महती सख्या वेदानुकूल है। तन्त्रधर्म अद्वैतवाद का साधन मार्ग है। उच्चकोटि के साधकों की साधना में अद्वैतवाद सदा अनुस्यूत रहता है। सच्चे शाक्त की यही धारणा रहती है कि मैं स्वयं देवी रूप हूँ, मैं अपने इष्ट देवता से भिन्न नहीं हूँ। मैं शोकहीन माक्षात् ब्रह्मरूप हूँ, नित्य, मुक्त तथा सच्चिदानन्द रूप मैं ही हूँ—

अहं देवी न चान्योऽस्मि, ब्रह्मैवाऽहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं, नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥

शाक्तों की आध्यात्मिक कल्पना के अनुसार परब्रह्म निष्कल, शिव, सर्वज्ञ, स्वयंजोति, आद्यन्तविहीन, निर्विकार तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है और जीव एव जगत् अग्नि स्फुट्टि^१ की भांति उसी ब्रह्म से आविर्भूत हुए हैं^२। तन्त्रों के तन्त्र और ये सिद्धान्त नि सन्देह उपनिषन्मूलक हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद के वेद वागाम्मृणी^३ सूक्त (१०।१२५) में जिस शक्ति तन्त्र का प्रतिपादन है, शाक्त-तन्त्र उसी के भाष्य माने जा सकते हैं। अतः तन्त्रों का वेद-मूलक होना युक्तियुक्त है। सच तो यह है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से साधना की दो धारायें प्रवाहित होती चली आ रही हैं। एक धारा (वैदिक धारा) सर्वसाधारण के लिये प्रकट रूप से सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है और दूसरी धारा (तान्त्रिक धारा) चुने हुए अधिकारियों के लिये गुप्त साधना का उपदेश देती है। एक वाक्य है, तो दूसरी अभ्यन्तरिक; पहली प्रकट है तो दूसरी गुह्य। परन्तु दोनों धारायें प्रत्येक काल में साथ-साथ विद्यमान रही हैं। हमीलिये जिस काल में वैदिक यज्ञ-यागों का चोलवाला था उस समय भी तान्त्रिक उपासना अज्ञात न थी तथा

१ कुलार्णव तन्त्र १।६-१०

२ अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवै ।

अह मित्रावरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमग्निनोभा ॥

असामान्य में जब तात्त्विक पूरा का विरोध प्रकटन हुआ तब समस्त भी वैदिक कर्मकाण्ड विस्फुटि के मार्ग में विवर्जित नहीं हुआ। वैदिक तथा तात्त्विक पूरा की समकालीनता का परिणाम हमें उपनिषदों के सम्पन्न से स्पष्ट मिलता है। उपनिषदों में वर्णित विभिन्न विद्याओं की व्यवहार-मिति तात्त्विक प्रतीत होती है। पुद्गलरूपका उपनिषद् (१।२) तथा छान्दोग्य उप (१।८) में वर्णित पञ्चाग्नि विद्या के प्रसङ्ग में 'बोध्यं वाच यौतमाग्निम्' आदि सूक्त का यही सारस्व है। मनुष्या का भी वही रहस्य है। 'सूर्यं की कर्मसुख परिमणौ मनुष्याग्निर्वा' एव आवेष्टा मनुष्य है, अथ ही पुण्य है। उससे निश्चयने कष्टे अमृत की साध्य वाच्य देवता स्वेय उपभोग करते हैं—पञ्चम अमृत के इस वर्णन में बिना पुण्य आवेष्टों को मनुष्य कहना वा गवा है कि अक्षरबोधे बोधनीय तात्त्विक आवेष्टों से भिन्न नहीं हैं। अतः वैदिकी पूरा के संघ में तात्त्विक पद्धति के अस्तित्व को स्तम्भ करना कबमपि निराधार नहीं है। जो स्वेय तात्त्विक उपस्तम्भ को अक्षरटीय तथा अक्षरणीय समझते हैं उन्हें पूर्वोक्त विषय पर समीर रीति से विचार करना चाहिये। भारतीय तन्त्रों की उत्पत्ति भारत में ही हुई। वे किसी अक्षरटीय दृष्टान्त के सिक्के नहीं हैं किन्तु भारतीयों ने उपभोगी समझकर अपने मार्ग में अयोग्य अक्षर आत्मन कर दिया हो। अक्षर के रहस्य को जानने वाले विद्वानों के सामने इस विषय के विरोध स्वीकरण की आवश्यकता नहीं है।

तात्त्विक मत की वह विशेषता है कि वह आवेष्टों की बोध्यता के अतुल्य अपास्तन का निवृत्त करता है। शब्द मत टीका अथ तथा शब्द व्यवहार को अक्षरकार करता है। अथ मानसिक व्यवस्था है और व्यवहार है भाव और वाक्यावरण। पशुमात्र, वीरग्राह तथा दिव्यमात्र—ये तीन भाग हैं। व्यवहार वेदाचार, वेदवाच्यार वेदवाच्यार, वद्विवाच्यार, वामाचार, सिद्धान्त-चार तथा वीताचार—ये शब्द व्यवहार पूर्वोक्त तीन भागों के

१ बोध्यं वाच यौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिष्टपुण्यमन्त्रवते च भूमी योगि-
रुर्ध्वरेन्दु करोति तैः शब्द अभिव्यक्ता निष्कृतिज्ञा । तस्मिन्नेतस्मिन्मन्त्रौ देवो रीते
शुद्धिस्तस्मात्तादृतेर्यर्भ सम्भवति ॥

२ वा विमलवत्तमं नारायण—एव हन्त्रीनरायण २ दि बुद्धि हतायेरिज्ञ
पृ ४१-४४ ।

सम्बद्ध हैं। जिन जीवों में अविद्या के आवरण के कारण अद्वैतज्ञान का लेशमात्र भी उदय नहीं हुआ है, उनकी मानसिक प्रवृत्ति पशुभाव कहलाती है। क्योंकि पशु के समान ये भी अज्ञान रज्जु के द्वारा ससार से बंधे रहते हैं। जो मनुष्य अद्वैतज्ञान रूपी अमृत हृद की कणिका का भी आस्वादन कर अज्ञान रज्जु के काटने में किसी अश में समर्थ होता है वह वीर कहलाता है। इसके आगे बढ़ने वाला साधक दिव्य कहलाता है। दिव्यभाव की कसौटी है द्वैतभाव को दूर कर उपास्य देवता की सत्ता में अपनी सत्ता खोकर अद्वैतानन्द का आस्वादन करना। इन्हीं भावों के अनुसार आचारों की व्यवस्था है। प्रथम चार आचार—वेद, वैष्णव, शैव तथा दक्षिण—पशुभाव के लिये हैं। वाम और सिद्धान्त वीरभाव के लिये और कौलाचार दिव्यभाव के साधक के लिये है। कौलाचार सब आचारों में श्रेष्ठ बतलाया जाता है। पक्का कौलमत्तावलम्बी वही है जिसे पद्म तथा चन्दन में, शत्रु तथा मित्र में, श्मशान तथा भवन में, सोना तथा तृण में तनिक भी भेद-दुःखि नहीं रहती^१। ऐसी अद्वैतभावना रखना बहुत ही दुष्कर है। कौल साधना के रहस्य को न जानने के कारण लोगों में इसके विषय में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। इसका कारण भी है क्योंकि कौल अपने वास्तविक रूप को कभी प्रकट नहीं होने देता। कौलों के विषय में यह लोक-प्रसिद्ध उक्ति सिन्धात्मक नहीं बल्कि वस्तुतः यथार्थ है—

अन्तः शाक्ता वहिः शैवाः, सभामध्ये च वैष्णवाः ।

नानारूपधरा कौलाः, विचरन्ति महीतले ॥

पञ्चमकार का रहस्य—

कौल शब्द कुल शब्द से बना हुआ है। कुल का अर्थ है कुण्डलिनी शक्ति तथा 'अकुल' का अर्थ है शिव। जो व्यक्ति योग-विद्या के सहारे कुण्डलिनी का उत्थान कर सहस्रार में स्थित शिव के साथ संयोग करा देता है उसे ही कौल^२

१ कर्दमे चन्दनेऽमिन्न पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये ।

श्मशाने भवने देवि । तथैव काष्ठेन तृणे ॥

न भेदो यस्य देवेशि । स कौल परिकीर्तित । (भावचूडामणि तन्त्र)

२ कुल शक्तिरिति प्रोक्तमकुल शिव उच्यते ।

कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते ॥ (स्वच्छन्द तन्त्र)

ना कुलीन^१ कहते हैं। कुल—कुम्भसिनी शक्ति-ही कुलाचार का मूल अवलम्बन है। कुम्भसिनी के साथ जो आचार बिना जाता है उसे कुलाचार कहते हैं। यह आचार मद्य मांस मत्स्य मृदा और मैथुन-इन पञ्च मन्त्रों के साहयोग से ब्रह्म कृत होता है। इस पञ्च मन्त्र का रहस्य अखण्ड गूढ़ है। उसे ठीक-ठीक-ब, धनने के कारण से ही लोगों में अनेक प्रचार की ज्ञान्ति फैली हुई है। इन पाँचो तत्त्वों का सम्बन्ध अन्तर्बोध से है। ब्रह्मरम्भ में स्थित जो सङ्ग्राहकमन है उससे बूने जाता जो अमृत वसी का नाम मद्य है^२। सत्त्व साधना के मत पर जो साधक कुम्भसिनी तथा परम शिव के साथ सम्मिश्रण होने पर मत्स्य में स्थित इन्द्र से बूने करके अमृत का पान करता है वसी को तान्त्रिक भ्रमा में मग्न करते हैं^३ शराब पीने वालों को नहीं। जो साधक पुष्प और पापस्त्री पशुओं को हानकरी कल्प से मरता है और अपने जित को ब्रह्म में लीन करता है वही मांसाहार है^४। आपनहार के अलुहार को स्वर्ग का बकवाद नहीं करता क्योंकि आपनी बाबी का संयम रक्ख है वही सत्त्व मांसाहारी है^५। शरीर में हवा और विज्जल शक्तियों को तान्त्रिक भ्रमा में रंजित और वसुधा करते हैं। इसके बीच से सर्वदा प्रवाहित होने वाला रसास और प्ररसास (मिथरसास) ही दो मत्स्य हैं। जो साधक अण्डस्याम द्वारा रसास, प्ररसास बन्द करके कुम्भक द्वारा शुष्कमा मार्ग में प्राण वायु का संयमन करता है वही सर्वांग में मत्स्य-सम्बन्ध मन्त्रक है^६। सर्वप

- १ कुलं शक्तिः समाख्याता, अङ्गुल शिव उच्यते ।
तस्यां शीलां मन्देद् वस्तु, स कुलीना प्रकीर्तिता ॥ (शुभसाधन उन्म)
- २ व्योमपद्मनिस्सन्धुषात्पानरतो नरा ।
मनुषावी समः प्रोक्त इतरे मद्यपायिनाः ॥ (कुलार्णव उन्म)
- ३ कुम्भस्या मितनादिन्द्रोः सप्तै ब्रह्म परास्तम् ।
विदेद् शोभी महेष्टाभिः । सर्वं कार्यं ब्रह्मने ॥ (ओमिनी उन्म)
- ४ पुष्पापुष्पपरा इत्या हानकरीनां योगविद् ।
पने लय मयेष्टिबल मांसाहारी स मिगद्यते ॥ (कुलार्णव उन्म)
- ५ ना शम्भान् रचना इवा तद्वत्तल रचनाप्रियात् ॥
सत्ता या मन्त्रैर् वैरी, स एव मांसाहाराः ॥ (आपन उन्म)
- ६ मंदावमुक्तमर्मण्यं मत्स्यो ही ब्रह्म उदा ।
तौ मत्स्यौ मद्येद् वस्तु स मन्देद् मत्स्यसाधकः ॥ (आपन उन्म)

के प्रभाव से मुक्ति होती है और बुरी सगति से बन्धन होता है। असत्संगति के मुद्रण का ही नाम मुद्रा है अर्थात् बुरी सगति को छोड़कर सत्सगति को प्राप्त करना ही मुद्रा साधन है^१। सुषुम्ना और प्राण के समागम को तान्त्रिक भाषा में मैथुन कहते हैं। स्त्री के सहवास से वीर्यपात के समय जो सुख होता है उससे करोड़ों गुना अधिक आनन्द सुषुम्ना में प्राण वायु के स्थित होने पर होता है। इसी को प्रकृत मैथुन कहते हैं^२।

इस प्रकार पञ्च मकार का आध्यात्मिक रहस्य बड़ा ही गम्भीर है। परन्तु इस तत्त्व को न जानने वाले अनेक तान्त्रिकों ने इन पञ्च मकारों को वाह्य तथा भौतिक अर्थ में ही ग्रहण किया। इससे धीरे-धीरे समाज में अनाचार का प्रचार होने लगा और लोग इसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। तान्त्रिकों ने इन मकारों का सांकेतिक भाषा में वर्णन किया है। इससे उनका यही अभिप्राय था कि अनधिकारी लोग—जो इस शास्त्र के गूढ़ रहस्यों को समझने में असमर्थ हैं—इसका प्रयोग कर इसे दूषित न करें। परन्तु तन्त्र शास्त्र की यह गुह्यता गुण न होकर, दोषस्वरूप बन गयी। पीछे के लोगों ने उनकी इस सांकेतिक भाषा को न समझ कर इन शब्दों का साधारण अर्थ ग्रहण किया और इसे बुरी दृष्टि से देखने लगे। यही कारण है कि आजकल तन्त्र-शास्त्र के विषय में इतनी भ्रान्ति तथा बुरी धारणा फैली हुई है। तान्त्रिक लोग कभी भी उच्छृङ्खल नहीं थे। वे जीवन में सदाचार को उतना ही महत्त्व देते थे जितना अन्य लोग। वे सात्त्विक तथा शुद्ध और पवित्र जीवन के परम पक्षपाती थे। यदि कालान्तर में तन्त्र-शास्त्र को बुद्धि की कमी अथवा भ्रान्ति से कोई दूषित समझने लगे तो उसमें उनका क्या दोष^३ मेरुतन्त्र का स्पष्ट कथन है कि जो ब्राह्मण पर-द्रव्य में अन्व तुल्य है, परस्त्री के विषय में नपुंसक है, परनिन्दा में मूक और अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाला है वही इस कुलमार्ग का अधिकारी है —

१ सत्संगेन भवेत् मुक्तिरसत्संगेषु बन्धनम्।

असत्सगमुद्रण यत्तु तन्मुद्रा परिकीर्तिता ॥ (विजय तन्त्र)

२ इन्द्रापिङ्गलयो प्राणान् सुषुम्नाया प्रवर्तयेत्।

सुषुम्ना शक्तिरिष्टा जीवोऽयन्तु परं शिव ॥

तयोस्तु सगमो देवै सुरत नाम कीर्तितम् ॥ (मेरु तन्त्र)

फलज्येषु बोद्धव्यं, परकीडुत्तपु सक्तः ।
 परापवादे बो मूकः, सर्वथा विवितोम्विष ॥
 तस्यैव आश्रयस्थान, वामे स्थान् अधिकारिता ॥

(स्व) बौद्ध-तन्त्र

बुद्धधर्म में मन्त्र-तन्त्र का उद्भव किस काल में हुआ ? यह एक विषय समस्य है । इसके प्रारम्भ में का उद्योग विद्वानों ने किया है परन्तु उनमें ऐक्यत्व नहीं उद्घिष्यत होता । विविधकों के सम्बन्ध करने से प्रतीत होता है बुद्धधर्म में कि उपायत की मूल शिक्षा में भी मन्त्र और तन्त्र के बीच तन्त्र का अन्तर्निहित है । मनुष्य बुद्ध के पङ्कपाटी होने वाले भी स्वयं उद्योग विद्वानों ने 'आयवमत्स्य' में इस प्रकार की आधौनिक बातों का आरम्भ कर दिया । पीछे के आचार्यों का बुद्ध से ही तन्त्र-मन्त्र के आरम्भ होने में एक निराल है । बुद्ध को स्वयं उद्घिष्यतों (सिद्धिओं) में पूरा निराल का और इस प्रत्यक्ष में इन्होंने का 'द्विपाद'—इन्द्र (इन्द्रा), वीर्य (प्रवर्ध) वित्त (विचार) तथा विमल (परित्त)—का वर्णन किया है जो आधौनिक सिद्धिओं को उत्पन्न करने में समर्थ है । तत्पश्चात् में आन्तरिक का स्पष्ट कथन है कि बुद्धधर्म आधौनिक कथाओं की उत्पत्ति में निराला सहज है तन्त्रा आधौनिक कथाओं की उत्पत्ति में भी है । इसीसिद्धे बुद्ध ने स्वयं मंत्र वारणों आदि उद्घिष्यत विषयों की शिक्षा की है जिससे इसी शोक में उद्घा, आरोग्य आदि वस्तुओं की वपराधि हो सकती है । इतना ही नहीं 'आयवमत्स्य'—जिसमें मित्र-मित्र विद्वानों के द्वारा उद्घिष्यत देवता-विषय ११२ शायकों का उद्योग है—वतपाटी

१ शौचनिपात (१२ सूत) । इसमें वहाँ की देवताओं से बुद्ध का उद्योग वर्णित है । कुछ ऐसी प्रतिज्ञाएँ दी गई हैं जिनके बुद्धधर्म से हम एक आधौनिक स्थितियों की उत्पत्त्या पर सक्त हैं ।

२ शौचनिपात पृ १२१ (हिन्दी अनु) ।

३ कठोअमुरवनिष्पत्तिर्बो तो निष्पत्तस्य च ।

४ वर्म उद्योगे वारुत् सर्वैरेव निवर्त्यते ॥ (प सं—सूक्त १४८९)

५ तद्बुद्धमन्त्रबौद्धादिविद्यया विविक्त उद्योग ।

आरोग्यविमुक्तादि उद्योगोऽपि वारुते ॥ (प सं—सूक्त १४८०)

है कि बहुत से मन्त्र स्वयं बुद्ध से उत्पन्न हुए हैं। विभिन्न अवसरों पर देवताओं के अनेक मन्त्र बुद्ध ने अपने शिष्यों को धतलाये हैं। गुह्य-समाज (५ शतक) की परीक्षा धतलाती है कि तन्त्र का उदय बुद्ध से ही हुआ। तथागत ने अपने अनु-यायियों को उपदेश देते समय कहा है कि जब मैं दीपकर और कश्यप बुद्ध के रूप में उत्पन्न हुआ था, तब मैंने तान्त्रिक शिक्षा इसलिए नहीं दी कि मेरे श्रोताओं में उन शिक्षाओं के ग्रहण करने की योग्यता न थी।

‘विनयपिटक’ की दो कथाओं में अलौकिक सिद्धियों के प्रदर्शन का मनोरञ्जक वृत्त वर्णित है। राजगृह के एक सेठ ने चन्दन का बना हुआ भिक्षापात्र बहुत ही ऊँचाई पर किसी धौंस के सिरे पर बाँध दिया। अनेक तीर्थङ्कर आये, पर उसे उतारने में समर्थ नहीं हुए। तब भरद्वाज अपनी योगसिद्धि के बल पर आकाश में ऊपर उठ गए और उसे लेकर ऊपर ही ऊपर राजगृह की तीन बार प्रदक्षिणा की। जनता के आश्चर्य की सीमा न थी, पर बुद्ध को एक तुच्छ काठ के पात्र के लिए इतनी शक्ति का प्रयोग अनितान्त अनुचित जंचा और उन्होंने भरद्वाज की इसके लिए भर्त्सना की और काष्ठपात्र का प्रयोग दुष्कृत नियत किया। इसी प्रकार मगधनरेश सेनिय विम्बमार के द्वारा पुरस्कृत ‘मिण्डक’ नामक गृहस्थ के परिवार की सिद्धियों का वर्णन विनयपिटक में अन्यत्र मिलता है। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि तन्त्र, मन्त्र, योग, सिद्धि आदि की शिक्षा स्वयं बुद्ध से उद्भूत हुई थी। वह प्रथमतः धीजरूप में थी, अनन्तर उसका विकास हुआ।

महायान के उदय के इतिहास से हम परिचित हैं। इसका सक्षिप्त परिचय धार्मिक विकास के प्रकरण में दिया गया है। महासधिकाँ ने पहले-पहल बुद्ध के मानव व्यक्तित्व का तिरस्कार कर उन्हें मनुष्य लोक से ऊपर उठाकर दिव्य लोक में पहुँचा दिया। वेतुल्लादियों की यह स्पष्ट मान्यता थी कि बुद्ध ने इस लोक में कभी आगमन नहीं किया और न कभी उपदेश दिया^१। इस प्रकार बुद्ध की लोकोत्तर सत्ता से ही वे सन्तुष्ट न हुए, प्रत्युत उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस युग-न्तरकारी भावना को प्रकट किया कि खास मतलब से (एकामिप्रायेण) मैथुन का सेवन किया जा सकता है^२। ये दोनों सिद्धान्त—ऐतिहासिक बुद्ध की अस्वीकृति और विशेषावस्था में मैथुन की स्वीकृति—घोर विप्लव मचाने वाले थे। इससे सिद्ध

होता है कि बुद्ध के अनुश्रवियों की पहली संज्ञा इस बात पर विरक्त करती थी कि तत्काल आलोचिक पुरुष से तथा मैथुन का आचरण विरहित रहा में प्यास ना। इस हृत्तर सिद्धान्त में वज्रयान (लामिफ्र बुद्धधर्म) का बीज स्पष्टतः विहित है। 'महानुभूतकर्म' की रचना प्रथम तथा द्वितीय शतक विजयी में हुई। इस समय में मात्र बार्ली आदि का वर्णन विरोधता मिलता है। अर्थात् महात्मा के समय में मात्र तन्त्र की मानना नष्ट नहीं हुई थी अत्युत वह बड़े बोरों से अपनी अभिव्यक्ति पाने के लिए उत्पन्न हो रही थी। बोधधर में बोध धीर अधर पर विरोध महत्त्व का देना इसी फल के अगमन की सूचना थी।

महात्मा के इस निष्कर्ष का नाम 'मन्त्रयान' है जिसका अग्रिम निष्कर्ष 'वज्रयान' की संज्ञा से अभिविहित किया जाता है। दोनों में अन्तर केवल मात्रा (विमी) का है। सौम्य अवस्था का नाम 'मंत्रयान' है उत्पन्न की संज्ञा वज्रयान 'वज्रयान' है। योगधर से साधों की उत्पत्ति कुछ बात तक हुई परन्तु सिद्धान्त के महत्त्व सिद्धान्तों के भीतर प्रवेश करने की योग्यता अन्तर्गत जनता में न थी। वह तो ऐसे समोरम धर्म के लिए लाक्षाविक की जिसमें अल्प अवलोक से महत्त्व कुछ मिलने की आशा दिखाई गई होती। इस समोरम धर्म का नाम वज्रयान है। इस उत्पन्न के 'शून्यता' के अर्थ-अर्थ 'महानुभूत' की अवस्था सम्मिलित कर दी है। 'शून्यता' का ही नाम वज्र है। वज्र कभी नहीं बह होता है वह दुर्भेद्य अक्षय है। वज्र हृत्तर अपरिचलित शीत अक्षय अक्षय न अक्षय बोध अविवर्णी है। अर्थात् वह शून्यता का अर्थ है^१। वह शून्य निराला है—वह देवी रूप है जिसने मात्र अक्षय में मात्रा विल (अपिचित या विज्ञान) तथा बह रहता है तथा वह गुण विल सब अक्षय के लिए सुख तथा आनन्द विल करता है। अर्थात् वज्रयान में शून्य विज्ञान तथा महाद्वय की द्वितीय का संयम नष्ट कर अक्षय जीवों के अन्तर्गत का माय उत्पन्न किया है।

१ महाद्वय के लिए दृष्टव्य—हामिद्वि (परि ७), नाव और तीर्थ नाम २४ पृ ५७; अक्षयवज्रयान (इ ५) का 'महानुभूतकर्म'।

२ इह आत्मदीर्घीयम् अक्षयवज्रयानम्।

अर्थात् अविवर्णी व शून्यता वज्रयानो ७

—वज्रयान (अक्षयवज्रयान) पृ २१।

वज्रयान का उद्गमस्थान कहाँ था ? यह ऐतिहासिकों के लिए विचारणीय विषय है। तिब्बती ग्रन्थों में कहा गया है कि बुद्ध ने बोधि के प्रथम वर्ष में, ऋषिपत्तन में, श्रामणवर्म का चक्रप्रवर्तन किया, १३ वें वर्ष में वज्रयान का राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर महायान धर्म का चक्रप्रवर्तन किया उदयस्थान और १६ वें वर्ष में मन्त्रयान का तृतीय धर्म चक्रपरिवर्तन श्री-धान्यकटक में किया^१। धान्यकट गुन्द्रर जिले में धरणीकोट के नाम से प्रसिद्ध है। वज्रयान का जन्मस्थान यही प्रदेश तथा श्रीपर्वत है जिसकी ख्याति तन्त्रशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त अधिक है। भवभूति ने मालतीमाधव में श्रीपर्वत को तान्त्रिक उपासना के केन्द्ररूप में चित्रित किया है जहाँ बौद्ध-भिक्षुणी कपाल-कुण्डला तान्त्रिक पूजा में निरत रहती थी^२। सप्तम शतक में वाणभट्ट श्रीपर्वत के माहात्म्य से भलीभाँति परिचित थे। हर्षचरित में उन्होंने श्रीहर्ष को समस्त प्रणयी-जनों की मनोरथसिद्धि के लिए 'श्रीपर्वत' वतलाया है^३। श्री हर्षवर्धन ने रत्नावली में श्रीपर्वत से आने वाले एक सिद्ध का वर्णन किया है^४। शङ्करदिग्विजय में श्रीशैल को तान्त्रिकों का केन्द्र माना गया है जहाँ शङ्कराचार्य ने जाकर अपने अपूर्व तर्क के बल पर उन्हें परास्त किया था^५। प्रसिद्धि है कि नागार्जुन ने श्रीपर्वत पर रहकर अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त की थी। इन समस्त उल्लेखों की समीक्षा हमें इस परिणाम पर पहुँचाती है कि श्रीपर्वत तान्त्रिक उपासना का प्रधान केन्द्र था। यह दशा अत्यन्त प्राचीन काल से थी। श्रीपर्वत में ही मन्त्रयान तथा वज्रयान का उदय हुआ, इसका प्रमाण तिब्बती तथा सिंहली ग्रन्थों से भलीभाँति चलता है। १४ वीं शताब्दी के 'निकायसंग्रह' नामक ग्रन्थ में वज्रयान को वज्रपर्वतवासी निकाय वतलाया गया है। इस ग्रन्थ में इस निकाय को चक्रसंवर, वज्रामृत, द्वादशचक्र आदि जिन जिन ग्रन्थों का रचयिता माना है वे समस्त ग्रन्थ वज्रयान के ही हैं। अतः सम्भवतः श्रीपर्वत को ही वज्रयान से सम्बद्ध होने के

१ पुरातत्त्वनिवन्धावली पृ० १४०।

२ मालतीमाधव—अङ्क १८, १०।

३ जयति ज्वलत्प्रतापज्वलनप्राकारकृतजगद्रक्ष*।

सकलप्रणयिमनोरथसिद्धिश्रीपर्वतो, हर्ष ॥ (हर्षचरित पृ० २)

४ रत्नावली अङ्क २।

५ शङ्करदिग्विजय पृ० ३६६।

कारण ब्रह्मर्षि के नाम से पुकारे हैं। जो ऊँच भी हो सिम्बली सम्प्रदाय मान्यकटक में ब्रह्मर्षि का ब्रह्मर्षि स्वरूप बताया है। मान्यकटक तथा श्रीवर्षी दोनों ही मन्त्र के गुम्बर बिले में विद्यमान हैं। इसी प्रवेश में ब्रह्मर्षि की उत्पत्ति मानमा व्याससंस्कृत है।

ब्रह्मर्षि की उत्पत्ति किसे समय में हुई? इसका ब्रह्मर्षि विवेक अभी तक नहीं हो सका है। इसका सम्बन्ध आठवीं शताब्दी से आरम्भ होता है जब सिद्धार्थों ने ब्रह्मर्षि में ब्रह्मर्षि तथा श्रीवर्षी सिद्धार्थ इसके तन्त्रों का समय प्रचार किया। परन्तु ऐतिहासिक मार्ग का उद्भव बहुत पहले ही हो गया था। 'मन्त्रब्रह्मसूत्रम्' मन्त्रमान का ही ग्रन्थ है। इसकी रचना तृतीय शतक के आसपास हुई। इसके सम्बन्ध में 'श्रीवर्षीसम्प्रदाय' का समय (५ वीं शतक) बताया है। यह गुप्तकाल 'श्रीवर्षी' के नाम से भी प्रसिद्ध है। बुद्धिमानों में यह 'तन्त्रकाल' कहा गया है। ऐतिहासिक साक्ष्य के विवेक में यह ग्रन्थ समर्थक महत्त्व रखता है। इस ग्रन्थ के ऊपर टीका तथा भाष्यों का विस्तृत साहित्य आज भी सिम्बली संस्कृत में सुरक्षित है। जिसमें आचार्य (७ शतक), ब्रह्मर्षि, शक्तिदेव की टीकाएँ प्रसिद्ध सिद्धार्थों की हस्तियाँ हैं। इसके १० पद्यों में तन्त्रशास्त्र के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेक है। ब्रह्मर्षि का प्रचार भारत के बाहर सिम्बली में भी विद्यमान है हुआ जिसका प्रमाण 'श्रीवर्षी-संस्कृतम्' है।

(ग) ब्रह्मर्षि के मान्य आचार्य

ब्रह्मर्षि का साहित्य बहुत ही विस्तृत है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने केवल संस्कृत में ही अपने सिद्धान्त ग्रन्थों का प्रकाशन नहीं किया प्रामुख्य रूप से इसका उद्भव तक पृथ्वी के लिए उन्होंने उच्च समय की लोकमान्य में भी ग्रन्थों की रचना की। ब्रह्मर्षि का सम्बन्ध समय तथा मन्त्रान्तर से बहुत ही अधिक है। श्रीवर्षी पर आचार्य देश में इसका उद्भव मन्त्र ही हुआ है। परन्तु इसका सम्बन्ध समय के मन्त्रान्तर तथा आचार्यों के विचारों से विस्तृत सम्बन्ध है। यह

१ संस्करण गा. को. टी. संस्करण ५२ (बही ११११)

२ इसके नामों के लिए ग्रन्थ ग्रन्थ की सूचिका ३ - १२।

३ ग्रन्थ Tantrik Texts Series में इसका संस्करण तथा अनुवाद।

नितान्त परिताप का विषय है कि यह विशाल वज्रयानी साहित्य अपने मूल रूप में अप्राप्य है। तिब्बती साहित्य के तजूर नामक विभाग में इन ग्रन्थों के अनुवाद आज भी उपलब्ध हैं। कई वर्ष हुए महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री जी को नेपाल से इन वज्रयानी आचार्यों की भाषा रचनाएँ प्राप्त हुईं जिनका इन्होंने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से वगीय साहित्य-परिषद से १९१६ ई० में प्रकाशित किया^१। इन गानों और दोहाओं की भाषा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। शास्त्री जी ने इसे पुरानी वगला माना है, परन्तु मगध में रचित होने के कारण इस भाषा को पुरानी मागधी कहना अधिक युक्तियुक्त है। इन दोहों की भाषा तथा मैथिली में पर्याप्त साम्य है। अतः भाषा की दृष्टि से यह मगध जनपद की भाषा है जब वगला, मैथिली, मगही आदि प्रान्तीय भाषाओं का स्फुटतर पृथक्करण सिद्ध नहीं हुआ था।

चौरासी सिद्ध—

वज्रयान के साथ ८४ सिद्धों का नाम सर्वदा सम्बद्ध रहेगा। अत्यन्त विख्यात होने के कारण इन सिद्धों की गणना एक विशिष्ट श्रेणी में की गई है। इन ८४ सिद्धों का पर्याप्त परिचय हमें तिब्बती ग्रन्थों से चलता है^२ इन सिद्धों में पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियों का भी स्थान था, ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय राजाओं की भी गणना थी। यह परम्परा किसी एक शताब्दी की नहीं है। नवम शताब्दी से आरम्भ कर १२ वीं शताब्दी के मध्यभाग तक के सिद्धाचार्य इसमें सम्मिलित किये गये हैं। इन सिद्धों का प्रभाव वर्तमान हिन्दूधर्म तथा हिन्दो कविता पर खूब

१ इस ग्रन्थ में चार पुस्तके हैं जिनमें तीन ग्रन्थों के नवीन विशुद्ध संस्करण हाल में ही प्रकाशित हुये हैं।—

(क) दोहा-कोश—डा० प्रबोधचन्द्र वाक्ची एम० ए० द्वारा सम्पादित—

(कलकत्ता संस्कृत सीरीज नं० २५, १९३८)

(ख) Materials for a Critical edition of the old Bengali Charyapadas सम्पादक वही (कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस १९३८)

(ग) डाकार्णव—डा० नरेन्द्र नारायण चौधरी एम० ए० कलकत्ता संस्कृत सीरीज नं० १०, १९३५

२ द्रष्टव्य राहुल-सांस्कृत्यायन (पुरातत्त्वनिबन्धावली पृ० १४६-१५९)

पहरा है। इस सम्बन्ध को जीवने वाली लड़ी कावयन्त्री निर्गुनिया सन्तों की है। कबीर की वादियों में सिद्धों की ही परम्परा हमें मिलती है। हिन्दी की निर्गुन सन्तों की कवितायें इसी परम्परा के अन्तर्भूत हैं। इसके अतिरिक्त सम्मान्य व्यक्तियों का परिचय यहाँ दिया गया रहा है —

(१) सरखापा—इसका दूसरा नाम राहुसम्भ तथा सरोजवज्र भी था। वे पूरव के किसी समय में ब्राह्मण वर्ग में उत्पन्न हुए थे। मातङ्ग्या विहार में भी इन्होंने निवास किया था। अमरतर किसी बाल बनाने करते की कन्या को अपनी महासुहा (वज्रनाम में सिद्धि की सहायक योगिनी) बनाकर वनप्रस्थ में रहने लगे। वहीं से भी नाम (सर = सर) बनाया करते थे जिससे इनका सम्प्रदाय नाम सरह पड़ गया। इनके १६ भाष्य ग्रन्थों के अनुसार सिम्बली भाषा में मिलते हैं जिनमें बोहाबोप, बोहाबोवगीति आदि ग्रन्थ निरन्तर प्रसिद्ध हैं।

(२) शहरपा—वे सरखापा के पद शिष्य थे। वे भी वनप्रस्थ में शहरों के साव रखा करते थे। इसीलिए वे इस नाम से विख्यात हैं। इनके भी छोटे-बड़े भाग्य ग्रन्थों के अनुसार सिम्बली संस्कार में उपलब्ध होते हैं।

(३) लूखापा—बीरसां सिद्धों में इनकी प्रथम व्यवस्था है। अतः इनकी प्रतिष्ठा तथा शुद्धता का बड़ी परीक्षा निर्धार्य है। वे पाठबंधी बरेल परमपूज्य (७६९—८९) के वाक्स्थ आचार्य सेवक बनाने आते हैं। वे शहरपा के शिष्य थे तथा इन्होंने सगरी में अनेक कवितायें तथा व्यक्त विचार हैं जिनमें अतिरिक्त उपलब्ध हैं।

(४) पद्मवज्र—पद्मवज्र का भीरव सिम्बल में बहुत ही अधिक माना गया है। सरनाथ का कहना है कि इन्होंने पहले पहले वज्रनाम में 'वज्रवज्र' का प्रचलित किया। इनकी अनेक संस्कृत ग्रन्थों की रचना बल्लार्य आती है जिनमें 'गुणसिद्धि' का आदर विरोध है। इसने अनुसार बीरसां (गुणसमावतन्त्र) में किसी तन्त्रिक प्रक्रियायें वर्णित हैं वे कुछ से उद्धृत हैं। गुणसिद्धि में 'महासुहा' को सिद्धि का प्रधान साधन बतलाना है। बिना महासुहा के सिद्धि की प्राप्ति दुर्लभ है। इन्हीं का दूसरा नाम सरोजवज्र है।

१ पा = पाद; बायो के साथ 'आचार्यपाद' के समान आदर सूचित करने के लिये प्रयुक्त किया गया है।

(५) **जालन्धरपा**—(दूसरा नाम—हाडी-पा) इनकी विशिष्ट ख्याति का परिचय तिब्बती ग्रन्थों से चलता है। तारानाथ इन्हें धर्मकीर्ति का समकालीन मानते हैं। इन्होंने पद्मवज्र के एक ग्रन्थ पर टीका लिखी तथा ये 'हेवज्रतन्त्र' के अनुयायी थे। घण्टापाद के शिष्य सिद्ध कूर्मपाद की संगति में आकर ये उनके शिष्य बन गये। इनके तीन पट्टशिष्य थे—मत्स्येन्द्रनाथ, कण्हपा तथा ततिपा। इन्हीं मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य सुप्रसिद्ध सिद्ध 'गोरखनाथ' थे। बगाल में इनकी अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं जिनमें इनके शिष्य रानी मैनावती उसके प्रति राजा मानिकचन्द तथा पुत्र गोपीचन्द के साथ इनकी घनिष्ठता का वर्णन किया गया है^१।

(६) **अनङ्गवज्र**—ये पद्मवज्र के शिष्य थे। ८४ सिद्धों में इनकी गणना (न ८१) है। ये पूर्वी भारत के गोपाल नामक राजा के पुत्र माने गये हैं। इनके अनेक ग्रन्थों के अनुवाद तिब्बतीय तब्जूर में मिलते हैं। संस्कृत में भी इनकी रचना प्रकाशित हुई है जिसका नाम 'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि' है। इस ग्रन्थ में पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद (प्रज्ञोपायविपक्ष) में प्रज्ञा (शून्यता) तथा उपाय (कर्मा) का स्वभाव निर्दिष्ट है। द्वितीय परिच्छेद (वज्राचार्याराधननिर्देश) में वज्रगुरु की आराधना का उपदेश है। तृतीय परिच्छेद में अभिषेक का विस्तृत वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद में तत्त्वभावना का विशद विवेचन तथा पद्मम में वज्रयानी साधना का विवरण है। लघुकाय होने पर भी यह ग्रन्थ नितान्त उपादेय है।

(७) **इन्द्रभूति**—वज्रयानी साहित्य में इन्द्रभूति और उनकी भगिनी भगवती लक्ष्मी या **लक्ष्मीकरा देवी** का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये उड्डियान के राजा तथा पद्मसम्भव के पिता थे। ये वही पद्मसम्भव हैं जिन्होंने आचार्य शान्तरक्षित के साथ तिब्बत में बौद्धधर्म का विपुल प्रचार किया तथा ७४९ ई० में 'सम्मये' के प्रसिद्ध विहार की स्थापना की। इनके २३ ग्रन्थों का अनुवाद तब्जूर में मिलता है। इनके दो ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध होते हैं। (१) कुरुकुल्ला साधन (साधनमाला पृ० ३५३) तथा (२) ज्ञानसिद्धि।

१ द्रष्टव्य धर्ममगल, शून्यपुराण, मानिकचौंटेरगान, मयनावतीर गान, गोपीचौंटेरगान, गोपीचौंटेर सन्यास आदि बगला ग्रन्थ।

आत्मसिद्धि—इस ग्रन्थ में छोटे-बड़े २ परिच्छेद हैं जिसमें उत्प, पुन, शिष्य अभिवेक साधना आदि विषयों का विस्तृत वर्णन है^१।

(८) लक्ष्मीपुरा—यह इन्द्रभूति की कहल गी। ८४ श्लोकों में इसकी प्रशंसा है (अं ८२)। राजकुल में उत्पन्न होने पर भी इसके विचार बड़े सुदृढ़ और सम थे। यह उत्पन्न और योग में बहुत ही निष्पन्न थी। इसका एक ही ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध है जो श्री श्री बुद्धार्ज से प्रभावित नहीं है। इस ग्रन्थ का नाम है—‘आत्मसिद्धि’ जिसमें साधक को गुह की सेवा करने के प्रति प्रवृत्त दिखाने तथा समग्र देवताओं के निवेदन होने के कारण इस शरीर की पूजा करने का विधान है।

(९) लक्ष्मीवज्र—ये लक्ष्मीपुरा के प्रधान शिष्य थे। संस्कृत में इनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं परन्तु कथ से कम इनके बर ग्रन्थों के अनुवाद लम्बूर में मिलते हैं। इनके किसी बड़े गुह का पता चलता है किन्तु नाम ‘निवासवज्र’ का।

(१०) शारिकापाद—ये लक्ष्मीवज्र के शिष्य थे। परन्तु कुछ लोगों का विचार है कि ये शूरपाद के शिष्य थे। बौद्ध नाम का बोधा नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि शारिकापाद बंगाल के रहने वाले थे और उन्होंने इन ग्रन्थों का प्रवचन अपनी मातृभाषा में किया था जिसमें से कुछ का उल्लेख उपर्युक्त ग्रन्थ में किया गया है। अपने एक जीत में उन्होंने लुहपा के प्रति निष्पत्ता दिखलाई है जिससे का० इन्द्राद शास्त्री ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ये उनके छात्राद शिष्य थे। परन्तु लुहपा का जन्म इनके बहुत पूर्व का था यह सिद्धान्त मानना उचित नहीं है। उन्होंने संस्कृत में बनेक ग्रन्थों की रचना की। परन्तु इनमें से कोई भी ग्रन्थ नहीं मिलता। इनके बर ग्रन्थों का अनुवाद लम्बूर में मिलता है।

(११) साहजयोगिनी चिन्ता—ये शारिकापाद की शिष्या थी। इनके एक संस्कृत ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति मिलती है जिसका नाम ‘अनन्तमातृमन्त्रात्म-सिद्धि’ है। इस ग्रन्थ की परीक्षा से पता चलता है कि इसकी निम्नलिखित पर विशेष आस्था थी। यह जगत् विरा का ही विधान है। अन्त और कथन ये दोनों बातें से ही उत्पन्न हैं। इन्हीं दोनों के मिलन से विरा में महासुख का वर्णन होता है।

१ ‘अनन्तमातृमन्त्रात्मसिद्धि’ तथा ‘अनन्तसिद्धि’—दोनों का अनुवाद हो गया है। ज्ञानभारती और तीर्थ संस्था ४४ Two Vajrasana Works. Baroda, 1929

(१२) **डोम्बी हेरुक**—तिब्बतीय प्रमाणों से इनका मगध का राजा होना सिद्ध होता है। ये तञ्जूर में आचार्य सिद्धाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इनकी गणना ८८ सिद्धों में है (न० ४)। वीणापा और विरुपा दोनों इनके गुरु थे। ये 'हिवज्रतन्त्र' के अनुयायी थे। सिद्ध कण्ठपा इनके शिष्य बतलाये जाते हैं। इनके अनेक ग्रन्थों के अनुवाद तञ्जूर में पाये जाते हैं जिनमें 'सहजसिद्धि' नामक ग्रन्थ मूल संस्कृत में मिली है। 'डोम्बी गीतिका' नामक इनका भाषा में लिखा गया ग्रन्थ भी था, सम्भवत जिसके अनेक पद 'बौद्धगान ओ दोहा' में मिलते हैं।

इस सिद्ध परम्परा से अतिरिक्त भी आचार्य हुए। जिनमें अद्वयवज्र विशेष प्रसिद्ध हैं। इनका समय १२ वीं शताब्दी के आसपास है। इन्होंने वज्रयान के तथ्यों के प्रतिपादन के लिए २१ ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें अनेक ग्रन्थ बहुत ही छोटे हैं। इनमें कुहट्टिनिर्घातन, तत्त्वरत्नावली, पद्यतथागतमुद्राविवरण तथा चतुर्मुद्रा-तान्त्रिक तत्त्वों के ज्ञान के लिए विशेष गौरव रखते हैं^१।

(घ) वज्रयान के सिद्धान्त

तान्त्रिक तत्त्व जानने के लिए हठयोग का अनुशीलन परम आवश्यक है। जिन्होंने यह अनुशीलन किया है वे जानते हैं कि हठयोग का मूल सिद्धान्त चन्द्र और सूर्य को एक अवस्थापन्न करना है। तन्त्र की सांकेतिक जीवन का भाषा में हकार और ठकार चन्द्र और सूर्य के वाचक हैं। इसलिये लक्ष्य हकार और ठकार के योग—अर्थात् हठयोग—से अभिप्राय चन्द्र और सूर्य का एकीकरण है। इसी को इडा और पिङ्गला नाडी अथवा प्राण और अपान वायु का समीकरण कहा जाता है। वैषम्य से ही जगत् की उत्पत्ति होती है और समता प्रलय की सूचिका है। जिससे यह जगत् फूट निकलता है उसके साम्यावस्था में विद्यमान रहने पर जगत् उत्पन्न नहीं होता। यह अद्वैत या प्रलय की अवस्था है। जगत् में दो विरुद्ध शक्तियाँ हैं जो एक दूसरे का उपमर्दन कर प्रभुता लाभ करने के लिये सदा क्रियाशील रहती हैं। वहि शक्ति

१ इन समग्र ग्रन्थों के सग्रह के लिए द्रष्टव्य 'अद्वयवज्र सग्रह' (गा० ओ० सी० सं० ४०), वरोदा १९२७।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में पूज्यपाद पण्डित हरप्रसादशास्त्री जी ने लम्बी भूमिका लिखी है जिसमें बौद्धसम्प्रदायों के सिद्धान्तों का पर्याप्त विवेचन है।

की प्रभावता होने पर सृष्टि होती है और अन्तःशक्ति की प्रभावता होने पर संहर होता है। स्थिति अन्तःशक्तियों की समतया का निदर्शक है। शिव-शक्ति, पुंस्व प्रकृति अथवा शब्द इसी अथवा इन्द्र के बोधक हैं। बोध वेद में ये शक्तियाँ अथ और अपाव रूप से रहती हैं। प्राण और अपाव का परस्पर संवर्धन ही बीज है। प्राण अपाव को और अपाव प्राण को अपनी ओर खींचता रहता है। इन दोनों को उल्लुख कर दोनों में समता बनायी जा सकती है। प्राण तथा अपाव की समता इसी और पित्रता की समता, पूरक और ऐक्य की समतया (अथवा इन्द्र) सुशुम्ना के द्वार का अन्वेषण—एक ही पदार्थ है। इसी नाम वाली है और पित्रता बाहिरी वाली है तथा दोनों की समतया होने पर, दोनों के मध्य में स्थित सुशुम्ना वाली का द्वार आप से आप जुड़ जाता है। इसी द्वार के सहारे प्राण की ऊर्ध्व गति करना बोधियों का परम ध्येय है। सुशुम्ना के मार्ग ही का कहते हैं मध्यम पथ मध्यम मार्ग शुम्भपद्वी अथवा ब्रह्मपदी। सूर्य और चन्द्र को यदि प्रकृति तथा पुंस्व का प्रतीक समझे तो हम यह समझें हैं कि प्रकृति और पुंस्व के आतिष्ठान के बिना मध्यम मार्ग कभी जुड़ नहीं सफल। प्राण और शक्ति के समान होने पर मध्यमत्वस्था का पूर्ण विकास ही निर्वाण है। इसी और पित्रता के समीकरण करने से कुम्भसिनी शक्ति जाग्रत होती है। जब अस्वप्न का मेघ कर आच्छादक से ऊपर छावक की स्थिति होती है तब कुम्भसिनी घीरे-घीरे ऊपर बढ़कर नैतन्य समुद्ररूप सहासारक में स्थित परम शिव के आतिष्ठान के लिए अवसर होती है। शिव शक्ति का यह आतिष्ठान महान् आनन्द का अवसर है। इसी अवस्था का नाम सुप्त रूप है।

‘नज्जाल’ का ही दूसरा नाम ‘सहस्रबल’ है। सहस्रिया सम्प्रदाय के जागियों के मतानुसार ‘सहस्रबल’ को प्राप्त करना सिद्धि की पूर्वस्था है। इसी अवस्था का नामान्तर निर्वाण महाशुद्ध, सुखराज, महाशुद्धा समुद्ररूप सहस्रबलस्था आदि हैं। इस अवस्था में ब्रह्मा हन हन—आदि प्राप्त तथा अक्षय इस लोकमसिद्ध मित्रों का उस समय सर्वथा अभाव हो

१ जबकि सुखराज एक करनरहित सहोदितो वगैराम् ।

मत्स्य च विषहकधमै वचनरहितो बभूव सर्वज्ञ ॥

(सहस्रपाद का वचन शिरोदेशकीया पृ ११)

जाता है। इसी अवस्था का वर्णन सरहपा (८०० ई० के आसपास) ने इस प्रसिद्ध दोहे में किया है —

‘जह मन पवन न सञ्चरइ, रवि ससि नाह पवेश ।

तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश ॥’

अर्थात् सहजावस्था में मन और प्राण का सञ्चार नहीं होता। सूर्य और चन्द्र का वहाँ प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। चन्द्र और सूर्य, इडा पिङ्गलामय आवर्तनशील काल चक्र का ही नामान्तर है। निर्वाण पद काल से अतीत होता है, इसलिये वहाँ चन्द्र और सूर्य के प्रवेश न होने की बात का सरहपा ने वर्णन किया है। इसी अवस्था का नाम है ‘उन्मनीभाव’। इस अवस्था में मन का लय स्वाभाविक व्यापार है। उस समय वायु का भी निरोध सम्पन्न होता है। सहजिया लोगों का कहना है कि यही निर्वाण प्रत्येक व्यक्ति का निज-स्वभाव (अपना सच्चा रूप) है। इस समय जो आनन्द होता है उसी को महासुख कहते हैं। इसी का नाम सहज है। वह एक, कारणहीन परमार्थ है। महासुख के विषय में सरहपाद की यह उक्ति नितान्त सत्य है कि —

‘घोरे न्धारें चन्दमणि, जिमि उज्जोअ करेइ ।

परम महासुख एखुवणे, दुरिअ अशेष हरेइ ॥’

अर्थात् घोर अन्धकार को जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि दूर कर अपने निर्मल प्रकाश से उद्भासित होता है उसी प्रकार इस अवस्था में महासुख समस्त पापों को दूर कर प्रकाशित होता है। इस महासुख की उपलब्धि वज्रयानी सिद्धों के लिये परम पद की प्राप्ति है^१।

इह महासुख के प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है गुरु का उपदेश। तन्त्र साधन मार्ग है। पुस्तकावलोकन से इस मार्ग का रहस्य नहीं जाना जा सकता।

१ ‘हेवज्रतन्त्र’ में महासुख को उस अवस्था का आनन्द वतलाया है जिसमें न तो ससार (भव) है, न निर्वाण, न अपनापन रहता है, न परायापन। आदि-अन्त-मध्य का अभाव रहता है—

आइ ण अन्त मज्झ णहि, नउ भव नउ निव्वाण ।

एहु सो परम महासुहउ, नउ पर नउ अप्पाण ॥

(सेकीदेश टीका (पृ० ६३) में उद्धृत हेवज्रतन्त्र का वचन)

की अपावता होने पर सृष्टि होती है और अमृत-राशि की अपावता होने पर संहर होता है। स्थिति उभय शक्तियों की समानता का निर्वर्णक है। शिव-शक्ति, पुन्य-अकृति आदि शब्द इसी भाँति इन्द्र के बोधक हैं। बीज वेद में ये शक्तियाँ प्रथम और अपाव रूप से रहती हैं। प्राण और अपाव का परस्पर संबन्ध ही बीज-वेद है। प्राण अपाव को और अपाव प्राण का अपाव को और बीजता रहता है। इन दोनों को समुद्र कर दोनों में समता जाना बीज का परम अर्थत्व है। प्राण तथा अपाव की समता इसा बीर पित्रता की समता पूरक और रेणुक की समानता (अवना इन्मन्त्र), सुषुम्ना के द्वार का अन्मोचन—एक ही पदार्थ है। इसा नाम मायी है और पित्रता बाहिरी मायी है तथा दोनों की समानता होने पर, बीजा के मध्य में स्थित सुषुम्ना मायी का द्वार आप से आप जुड़ जाता है। इसी द्वार के सहारे प्राण की ऊर्ध्व गति करना बोधियों का परम अर्थ है। सुषुम्ना के मार्ग ही का कहते हैं मध्यम पथ मध्यम मार्ग शून्यपदवी अथवा अज्ञानी। सूर्य और चन्द्र को यदि अकृति तथा पुन्य का मूलक मानें तो हम यह कहते हैं कि अकृति और पुन्य के अस्तित्व के बिना मध्यम मार्ग अभी कुछ नहीं रहता। नाम और ब्रह्म के समान होने पर मध्यमावस्था का पूर्ण निश्चय ही निर्वर्णक है। इसा और पित्रता के समीकरण करने से कुम्भटिनी शक्ति व्यक्त होती है। जब ब्रह्मण्ड का भेद कर आद्यब्रह्म से ऊपर शायक की स्थिति होती है तब कुम्भटिनी धीरे धीरे ऊपर बढ़कर चैतन्य समुद्रस्थ सहस्रारब्रह्म में स्थित परम शिव के अस्तित्व के लिए अभिसर होती है। शिव शक्ति का यह अस्तित्व महान् आलम्ब का व्यवहार है। इसी अवस्था का नाम गुणत रूप है।

‘ब्रजवान’ का ही दूसरा नाम ‘सहस्रकल्प’ है। सहस्रिया सम्प्रदान के वाक्यों के मतानुसार ‘सहस्रकल्प’ का प्राप्त करना सिद्धि की पूर्णता है। इसी अवस्था का नामान्तर निर्वर्ण ‘महामुक्त-मुक्ताराज’ महामुक्ता साक्षात्कार सहस्रजावस्था आदि हैं। इस अवस्था में इन्द्र, ज्ञेय ज्ञान—महान् प्रपञ्च तथा प्रपञ्च इस लोकप्रसिद्ध त्रिपुण्ड्री का उक्त समान सर्वथा अभिन्न हो

१ ब्रजति मुक्ताराज एक बारबरहितः सहादितः जगत्ताम् ।

यस्य च विषयसमयै ब्रजवद्विदो बभूवुः सर्वज्ञः ॥

(सहस्रार का ब्रजव चैतन्यदेवता पृ ११)

केवल मौखिक उपदेश देना गुरु का काम नहीं है। गुरु का काम हृदय के अन्वकार को दूर कर प्रकाश तथा आनन्द का उल्लास करना है। तन्त्र शास्त्र में इसीलिये उपयुक्त गुरु की खोज के लिए इतना आग्रह है^१।

गुरु शिष्य की योग्यता को पहिचान कर ही उसे तत्त्व का उपदेश देता था। साधक को यम, नियम आदि का विधान करना अवश्य चाहिए। सत्य, अहिंसा आदि सार्व-भौमिक नियमों का विधान परमावश्यक है। वज्रयानी शिष्य की ग्रन्थों में गुरु के द्वारा विहित 'बोधिचित्ताभिषेक' का विशेष वर्णन पात्रता किया गया है। गुरु की आराधना करना शिष्य का परम कर्तव्य है तथा गुरु का भी यह आवश्यक धर्म है कि वह शिष्य के चित्त को प्रपञ्च से दूर हटाकर सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति के लिये उपयुक्त बनावे। शिष्य को तान्त्रिक साधना के लिये नवयौवनसम्पन्ना युवती को अपनी सगिनी बनाना पड़ता है। इसी का नाम तान्त्रिक भाषा में 'मुद्रा' है। इस मुद्रा से सम्पन्न होकर शिष्य वज्राचार्य (वज्र मार्ग के उपदेशक गुरु) के पास जाकर दीक्षित होने के लिये प्रार्थना करता था। आचार्य उसको वज्रसत्त्व के मन्दिर में ले जाता था। यह स्थान गन्ध, धूप तथा पुष्प से सजाया जाता था। इसमें फूलों की मालायें लटकती रहती थीं। ऊपर सफेद चैदवा टँगा रहता था। माला और मदिरा की सुगन्ध से वह स्थान सुवासित रहता था। ऐसे मन्दिर में वज्राचार्य मुद्रा के साथ शिष्य का तान्त्रिक विधान के अनुसार अभिषेक करता था तथा नियम पालन करने के लिये प्रतिज्ञा करवाता था जो इस प्रकार थी —

‘नहि प्राणिवध’ कार्यं, त्रिरत्नं मा परित्यज ।

आचार्यस्ते न सत्याज्य, सवरो दुरतिक्रम ॥’

अर्थात् प्राणिका वध कभी नहीं करना, तीनों रत्नों (चौद्ध, धर्म तथा संघ) को मत छोड़ना, आचार्य का परित्याग कभी न करना, यह नियम बहुत ही कठिन

१ या सा ससारचक्रं विरचयति मन सन्नियोगात्महेतोः,

सा धीर्यस्य प्रसादादिशति निजभुव स्वामिनो निष्प्रपञ्चम् ।

तच्च प्रत्यात्मवेद्य समुदयति सुख कल्पनाजालमुक्त,

कुर्यात्तस्याब्धिघ्रयुग्म शिरसि सविनय सद्गुरोः सर्वकालम् ॥

(चर्याचर्यविनिश्चय पृ० ३)

इसीलिए साधक को किसी योग्य गुरु की शिक्षा मिथ्यान्त आवश्यक
 गुरु तत्त्व होती है^१। परन्तु गुरु का स्वरूप क्या है? जानना अत्यन्त
 आवश्यक है। धर्मशास्त्र लोग कहते हैं कि गुरु सुमनस्कम् है
 अर्थात् मिथुनाधार है। वह शुश्रूषता और कर्मणा की पुण्य मूर्ति है। तपाय तपः
 प्रज्ञा का समरस मिश्र है। शुश्रूषता सर्व-श्रेष्ठ ज्ञान का साधक है। कर्मणा का काम
 नीतियों के उच्चार करने के सिद्धे मारपी बना विद्यमान है। गुरु की शुश्रूषता और
 कर्मणा की मिश्रित मूर्ति बतलाने का अविधान यह है कि वह परम ज्ञानी होता है
 परन्तु ज्ञान ही ज्ञान अथवा के माना अप्रत्यक्ष से अर्थात् प्राप्ति के उद्धार के सिद्ध
 सबसे हृदय में मारपी बना विद्यमान रहती है। अज्ञान में प्रज्ञा और तपाय के
 एकिकरण के ऊपर चोर दिया गया है। क्योंकि प्रज्ञा और तपाय का सापरस्पर
 (परस्पर मिश्रण) ही निर्माण है^२। गुरुत्व की प्राप्ति के सिद्धे केवल प्रज्ञा से ज्ञान
 नहीं अस्तु और न तपाय से ही प्राप्त करता है^३। उसके सिद्धे दोनों का संयोग
 मिथ्यान्त आवश्यक है। इन्हीं दोनों की मिश्रित मूर्ति होने से गुरु को 'मिथुनाधार'
 बतलाया गया है। अज्ञानी विद्वानों के मत में योग-गुरु ही गुरु का उपरैत है।
 शब्द के द्वारा सहस्रतत्त्व का परिचय नहीं दिया जा सकता। क्योंकि ज्ञान और
 वाणी के योग परस्पर विरुद्ध के अन्वर्त हैं। निर्मिच्छतत्त्व तत्त्व सम्प्राप्ति है।
 इसी को महात्माजी धर्मों में अमररत तत्त्व कहा गया है^४। ज्ञान गुरु वह है जो
 अत्यन्त का रति के प्रमाण से शिष्य के हृदय में महागुरु का निस्तार करें^५।

१ ज्ञान-सिद्धि का १२ वीं परिच्छेद देखिए।

२ न प्रज्ञाकैस्तमानैश्च हृदयं भवति यन्मुपावमानेन। किन्तु यदि पुनः
 प्रज्ञापावकशब्दी समवायभावी भवता एतौ ही अविच्छिन्नी मन्त्र तदा भुक्ति
 सुक्तिर्भवति।

३ उम्मोर्मिच्छन् न च सहितसौख्योरिव।

अज्ञानादसौख्यं प्रज्ञेयार्थं तदुभयतः॥

विमलमभिरुचिर्वाप्ययता सर्वदा स्थिरम्।

भुक्तिमुक्तिर्न चम्यक् प्रज्ञापावकसम्पत्तः॥

४ अमररत तत्त्व मूर्तिः वा देशना न च। मां च

५ लक्ष्मण शिष्ये रतित्वमादिन महागुरुं वदोति।

केवल मौखिक उपदेश देना गुरु का काम नहीं है । गुरु का काम हृदय के अन्वकार को दूर कर प्रकाश तथा आनन्द का उल्लास करना है । तन्त्र शास्त्र में इसीलिये उपयुक्त गुरु की खोज के लिए इतना आग्रह है^१ ।

गुरु शिष्य की योग्यता को पहिचान कर ही उसे तत्त्व का उपदेश देता था । साधक को यम, नियम आदि का विधान करना अवश्य चाहिए । सत्य, अहिंसा आदि सार्व-भौमिक नियमों का विधान परमावश्यक है । वज्रयानी शिष्य की ग्रन्थों में गुरु के द्वारा विहित 'बोधिचित्ताभिषेक' का विशेष वर्णन पात्रता किया गया है । गुरु की आराधना करना शिष्य का परम कर्तव्य है तथा गुरु का भी यह आवश्यक धर्म है कि वह शिष्य के चित्त को प्रपञ्च से दूर हटाकर सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति के लिये उपयुक्त बनावे । शिष्य को तान्त्रिक साधना के लिये नवयौवनसम्पन्ना युवती को अपनी सगिनी बनाना पड़ता है । इसी का नाम तान्त्रिक भाषा में 'मुद्रा' है । इस मुद्रा से सम्पन्न होकर शिष्य वज्राचार्य (वज्र मार्ग के उपदेशक गुरु) के पास जाकर दीक्षित होने के लिये प्रार्थना करता था । आचार्य उसको वज्रसत्त्व के मन्दिर में ले जाता था । यह स्थान गन्ध, धूप तथा पुष्प से सजाया जाता था । इसमें फूलों की मालायें लटकती रहती थी । ऊपर सफेद चूँदवा ढँगा रहता था । माला और मदिरा की सुगन्ध से वह स्थान सुवासित रहता था । ऐसे मन्दिर में वज्राचार्य मुद्रा के साथ शिष्य का तान्त्रिक विधान के अनुसार अभिषेक करता था तथा नियम पालन करने के लिये प्रतिज्ञा करवाता था जो इस प्रकार थी —

‘नहि प्राणिवधः कार्यं, त्रिरत्न मा परित्यज ।

आचार्यस्ते न सत्याज्य, संवरो दुरतिक्रम ॥’

अर्थात् प्राणिका वध कभी नहीं करना, तीनों रत्नों (बौद्ध, धर्म तथा संघ) को मत छोड़ना, आचार्य का परित्याग कभी न करना, यह नियम बहुत ही कठिन

१ या सा ससारचक्रं विरचयति मन सन्नियोगात्महेतो ,

सा धीर्यस्य प्रसादादिशति निजभुव स्वामिनो निष्प्रपञ्चम् ।

तच्च प्रत्यात्मवेद्य समुदयति सुख कल्पनाजालमुक्तं,

कुर्यात्तस्याब्धिप्रयुग्म शिरसि सविनयं सद्गुरोः सर्वकालम् ॥

(चर्याचर्याविनिश्चय पृ० ३)

है। इस अमिषेक का नाम बोधिविहित अमिषेक है। इसके प्राप्त करने पर सायक का द्वितीय जन्म होता है और उसे कुछ पुत्र की पहली प्राप्त होती है। अब तक का जन्म साधारण कर्म में व्यतीत हुआ। अब कुछ की कृपा से उसे आध्यात्मिक जन्म प्राप्त होता है। कुछ स्वयं बुद्धवप है अतः शिष्य का बुद्ध-पुत्र कहलाता सन्धि ही है। इस अमिषेक का रहस्य यह है कि शिष्य का वित्त विर्वाण की प्राप्ति के लिये सम्मार्ग पर लगा जाता है और वह सब आध्यात्मिक मार्ग का पथिक बन कर अपने मंगल साधन में निमग्न हो जाता है^१।

तन्त्र मार्ग की विशुद्ध साधना से अनभिज्ञ लोगों में यह बारम्बार फेटी हुई है कि विद्ये त्वात्म्य कर्म है सग सब का अनुष्ठान सायक के लिए विहित है। परन्तु यह बारम्बार प्रान्त गिराधार तथा निर्मूल है। तन्त्रों में सायक की मोक्षसा (अधिकार) पर बड़ा अग्रह रोकता है। शिष्य को 'पुण्यसंसार' का अर्थ करना विद्यम्य आवश्यक है जिसके निमित्त कुछ की वन्दना वापदेसना पुण्यानुमोदन समयग्रहण की व्यवस्था की गई है। कम-वियमों का सम्बन्ध अनुष्ठान कर्मपरि वर्धनीय नहीं है। अमिषेक के समय वज्रमार्ग का वह उपदेश है—

प्रापिनस्य न ते यात्य अवस्त मेव चाहरेत्।

मा चरेत् अर्चामध्या वा, मृपा मेव हि आपयेत्^२ ॥

अर्चात् प्राविहिता, अदत्तप्रदान अमन्त्रार तथा मिश्रक-आदान कभी नहीं करना चाहिए। जो मध्यमार्ग आवश्यक समझता जाता है उसके लिए 'आलसिद्धि' स्तब्ध कहती है—

सवानर्चस्म मूलात्याद् मध्यपानं विवर्जयेत्^३।

अर्चात् समय कर्मों के मूला होय से मध्यपान कभी न करना चाहिए। ये विषय साधन मार्ग के प्रारम्भिक उपाय हैं। इनकी अवहेलना करने पर सायक साधारण मार्ग पर भी नहीं चल सकता अतः तन्त्रमार्ग पर चलना तो विद्यम्य कुछ व्यापार है। सारांश है कि तन्त्रमार्ग की साधना ठण्ठोदि की साधना है।

१ इस विषय के विरोध विवरण के लिये देखिये—बीजपञ्चमास्तम्य कठल १५५ १४ ११२। प्रयोगविनिर्दिष्टव्यतिथि-परि ४ ४ ११-१५। इत्यसिद्धि १० ११ परिच्छेद।

२ इत्यसिद्धि ४१११।

३ वही ४१२।

उसके निमित्त बड़े कड़े नैतिक आचरण की आवश्यकता है। थोड़ी भी नैतिक शिथिलता घातक सिद्ध होगी।

महासुख की उपलब्धि के स्थान तथा उपाय का वर्णन वज्रयानी ग्रन्थों में विस्तार के साथ मिलता है। सिद्धों का कहना है कि 'उष्णीष कमल' में महासुख

की अभिव्यक्ति होती है। तन्त्रशास्त्र और हठयोग के ग्रन्थों में अवधूती- में इस कमल को 'सहस्रदल' (हजार पत्तों वाला) कहा गया है।

मार्ग वज्रगुरु का आसन इसी कमल की कर्णिका के मध्य में है।

इस स्थान की प्राप्ति मध्यममार्ग के अवलम्बन करने से ही हो सकती है। जीव सासारिक दशा में दक्षिण और वाम मार्ग में इतना भ्रमण करता है कि उसे मध्यम मार्ग में जाने के लिए तनिक भी सामर्थ्य नहीं होती। यह मार्ग गुरु की कृपा से ही प्राप्य है। सहजिया लोग वाम शक्ति को 'ललना' और दक्षिण शक्ति को 'रसना' कहते हैं। तान्त्रिक भाषा में ललना, चन्द्र तथा प्रज्ञा-वामशक्ति के द्योतक होने से समानार्थक है। रसना, सूर्य और उपाय-दक्षिण शक्ति के बोधक होने से पर्यायवाची हैं। इन दोनों के बीच में चलने वाली शक्ति का पारिभाषिक नाम है 'अवधूती'। अवधूती शब्द की व्युत्पत्ति है—

‘अवहेलया अनाभोगेन क्लेशादि पापान् धुनोति !

अर्थात् वह शक्ति जो अनायास ही क्लेशादि पापों को दूर कर देती है। अवधूतीमार्ग ही अद्वयमार्ग, शून्यपथ, आनन्दस्थान आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। ललना और रसना इसी अवधूती के ही अविशुद्ध रूप हैं। जब ये शक्तियाँ विशुद्ध होकर एकाकार हो जाती हैं तो इन्हें 'अवधूती' कहते हैं। तब चन्द्र का चन्द्रत्व नहीं रहता और न सूर्य का सूर्यत्व रहता है। क्योंकि इन दोनों के आलिङ्गन से ही 'अवधूती' का उदय होता है। वज्रजाप के द्वारा ललना और रसना का शोधन करने से तात्पर्य, नाड़ी की शुद्धि से है। शोधन होने पर दोनों नाड़ियाँ मिलकर एकरस या एकाकार हो जाती हैं। इसी नि स्वभाव या नैरात्म्य

१ द्रष्टव्य 'वीणापाद' का यह गायन—

सु ज लाउ ससि लागेलि तान्ती । अणहा दाण्डी वाकि किअत अवधूती ॥

वाजइ अलो सहि हेरअ वीणा सुन तान्ति घनि विलसइ रुणा ॥

(चौद्वगान ओ दोहा पृ० ३०)

अवस्था को ही शून्यावस्था कहते हैं। जो इस शून्यमय अद्वैतभाव में अभिज्ञान कर आत्मप्रकाश करता है वही सच्चा ब्रह्मगुरु है।

राजमार्ग—

महाशुद्ध कर्मण में जाने के लिये बर्त्ताव सामारम्भ प्राप्त करने के लिये मन्त्रपेक्ष का अवसम्पन्न करना तथा इन्द्र का मित्र बनना ही होगा। जो को बिना एक किये हुये छद्म और संहार से अतीत निरञ्जन पर की प्राप्ति असम्भव है। इसलिये मित्र ही अत्यशून्यावस्था तथा परमानन्द लाभ का एकमात्र उपाय है। सहस्रिया कोशों का कहना है कि बुरे कर्मों के परिहार से तथा इन्द्रियविरोध से निर्बिक्कनक ब्रह्मा सुत्पन्न नहीं की जा सकती। शुद्ध अवस्था की प्राप्ति न होने से निराश तथा विषय का त्याग एकदम निष्फल है। इसके लिये एक ही मार्ग है—
छद्ममार्ग—राजमार्ग वैराग्यमार्ग नहीं। इस मार्ग के लिये कठिन तपस्त्र कारि का विचार निष्फल है। अस्मिताच्छन्ना का कथन है कि हुम्बर त्रिवर्गों के कर्म से तारीर वैकल्य हुम्ब पाकर सुखदा है। वित्त हुम्ब के समुद्र में गिर पड़ता है। इस प्रकार विशेष होने से सिद्धि नहीं मिलती—

हुम्बरेर्निवमैस्वीमैः, मूर्ध्नि ह्युप्यधि दुःखिता ।

हुम्बाभ्यो सिप्यते पित्तं, विषेपात् सिद्धिरन्वया ॥

इसलिये वह अन्तरों के कर्मों का त्यागकर तपस्या द्वारा अपने को पोषित न करे। औपत-त्रस्तुत्तर शुद्धार्थक बोधि (ज्ञान) की प्राप्ति के लिये सदा बध्त्त रहे—

पञ्चधम्माम् परित्यज्य तपोमिनं च पीडयेत् ।

सुरेन साधयेद् बोधिं योगदन्त्यनुसारत् ॥

इसलिये ब्रह्मज्ञान का वह सिद्धान्त है कि वैदिकी दृष्ट के वित्तस्पी अङ्कुर को मिश्रित विषम-रस के द्वारा शिथिल करने पर वह दृष्ट बन्धन बन जाता है और आध्या के समान निरञ्जन फल फलता है। महाशुद्ध की सभी प्राप्ति होती है—

तनुतपिचाङ्कुरको विपचरसैर्येदि न सिच्यते हुम्बै ।

गगनव्यापी फलदा कल्पतद्वत् कस्य लभते ॥

१ 'वर्त्तावर्त्ताविविक्कन' के लुरपाद दृष्ट प्रथम पाद की छीन्ध में उत्तरत सरर पाद का वचन ।

राग से ही बन्धन होता है अतः मुक्ति भी राग से ही उत्पन्न होती है। इसलिये मुक्ति का सहज साधन महाराग या अनन्यराग है, वैराग्य नहीं। इस बात के ऊपर 'हेवज्रतन्त्र' आदि अनेक तन्त्रों की उक्ति अत्यन्त स्पष्ट है — 'रागेन बध्यते लोको रागेनैव विमुच्यते।' इसलिये अनङ्गवज्र ने चित्त को ही संसार और निर्वाण दोनों बतलाया है। जिस समय चित्त बहुल सङ्कल्प-रूपी अन्धकार से अभिभूत रहता है, विजुली के समान चञ्चल होता है और राग, द्वेष आदि मलों से लित रहता है, तब वही संसार रूप है^१।

अनल्प-सङ्कल्प-तमोऽभिभूत, प्रभञ्जनोन्मत्त-तडिच्चलञ्च ।

रागादिदुर्वारमलावलिप्तं, चित्तं विससारमुवाच वज्री ॥

वही चित्त जब प्रकाशमान होकर कल्पना से विमुक्त होता है, रागादि मलों के लेप से विरहित होता है, ग्राह्य-ग्राहक भाव की दशा को अतीत कर जाता है तब वही चित्त निर्वाण कहलाता है^२। वैराग्य को दमन करने वाले पुरुष को 'वीर' कहते हैं।

ऊपर ललना और रसना के एकत्र मिलन की बात कही गयी है। विशुद्ध होने पर ये दोनों 'अवधूती' के रूप में परिणत हो जाती हैं। उस समय एकमात्र अवधूतिका ही प्रज्वलित रहती है। 'अवधूतिका' के विशुद्ध रूप 'डोम्बी' के लिए 'डोम्बी' शब्द का व्यवहार किया जाता है। वामशक्ति तथा और दक्षिणशक्ति के मिलन से जो अग्नि या तेज उत्पन्न होता है 'चाण्डाली' उसका प्रथम अभिव्यक्ति नाभिचक्र में होती है। इस 'अवस्था' में वह शक्ति अच्छी तरह विशुद्ध नहीं रहती। इसका सहजिया भाषा में सांकेतिक नाम 'चाण्डाली' है। जब चाण्डाली विशुद्ध हो जाती है तब

१ प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि ४।२२

२ प्रमास्वर कल्पनया विमुक्त, प्रहीणरागादिमलप्रलेपम् ।

ग्राह्य न च ग्राहकमप्रसत्त्वं, तदेव निर्वाणपद जगाद ॥

(प्र० वि० सि० ४।२४)

नागार्जुन के निम्नाङ्कित वचन से इसकी तुलना कीजिये ।

निर्वाणस्य तु या कोटिः, कोटिः संसरणस्य च ।

न तयोरन्तरं किञ्चिद्, सुसूक्ष्ममपि विद्यते ॥

उसे 'बोम्बी' का 'बङ्गाली' करते हैं। अणभूती, आण्डली और बङ्गाली (या बोम्बी) एक ही शक्ति की विविध अवस्था के आमान्तर हैं। अणभूती अवस्था में द्वैत का निरास रहता है क्योंकि उसमें इका और विद्वत्ता प्रबन्ध रूप में अपना अन्त अन्तर अन्तर निर्वाह करती हैं। आण्डली अवस्था में द्वैतद्वैत-का निरास है तथा बङ्गाली अद्वैतभाव की एवम्बिध है। तन्त्र में शक्ति के दो तीन मोह—अपरा, परापरा तथा परा—किये गये हैं उनका सहन इन्हीं तीनों में से एक है। अणभूती अवस्था में वायु का सञ्चार तथा निर्गम होता है, इसी का नाप संसार है। शक्ति की सरलमार्ग में से अपना अर्थात् एक शक्ति को दूर कर सरलपथ में लं चलना साधक का प्रथम कार्य है। सिद्धाचार्यों का लज्जु वाट (लज्जुवर्ण्य भीवा मार्ग) यही है। नाम और शक्ति की गति जब तक है तब तक इसारा

१ तुलसीय मुमुक्षुवाद की यह प्रसिद्ध शक्ति—

आय मुमुक्षु बंयाली महती । विष बरिषी बण्डली लेती ॥

उहि को पबबास बह बिबिडीडा बज ॥

म बणमि विष मोर बहि गइ पाव्य ॥

२ मन्मथार्थ ही सरल मार्ग लज्जु मार्ग या लज्जु वाट है। सरलपथ की, उक्ति है :—

‘क्यू रै लज्जु काकि ना से को रै बँक ।

निबहि बाहिजा बाहु रै लौक ॥

अर्थात् लज्जुमार्ग को पकड़ा ठेके रास्ते को छोड़ दो ।

सिद्धाचार्य शान्तिवाद (प्रसिद्ध नाम मुमुक्षु) की यह उक्ति भी मन्मथी है—

बाध रहिस हो बज्य झाँसी ।

शान्ति गुपबेत संरिस्ति ॥

अर्थात् नाम और शक्ति मार्ग को छोड़कर मन्मथार्थ का प्रथम अन्तरवर्तक है। यही मिथुन अणभूतीमार्ग का ब्रह्ममार्ग है। किन्तु इसका आशय सिने तुलसी तथातन्त्रादयः या महाभुक्त की प्राप्ति का इसरा मार्ग यही है—एतद् विरमावन्तो-बाधमार्ग विहाय मन्मथार्थसङ्गमोऽभिप्रायतेति । इसी का बोधक यह उक्त बचत है—

एय म्मार्गर बड़ा महाभुक्तमहोदय ।

नम पूज बसिपन्तो मरिषाव तवाक्या ॥

मार्ग टेढ़ा (सिद्धों की भाषा में वाक = वक्र) ही रहता है । इस मार्ग को छोड़कर सीधे मार्ग में आने के लिए सिद्धाचार्यों ने अनेक सुन्दर दृष्टान्त दिये हैं । इस मार्ग के अवलम्बन करने से वज्रयानी साधक को अपनी अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त होती है । अन्तिम क्षण में रागाग्नि आप से आप शान्त हो जाती है जिसका नाम है निर्वाण (या आग का बुझ जाना) रागाग्नि के निवृत्त होने से जिस आनन्द का प्रकाश होता है उसे कहते हैं—**विरमानन्द** । उस समय चन्द्र स्वभावस्थित होता है, मन स्थिर होता है, तथा वायु की गति स्तम्भित होती है । जिसके हृदय में विरमानन्द का प्रकाश उत्पन्न हो गया है, वही यथार्थ में योगीन्द्र, योगिराट् है तथा सहजिया भाषा में वही 'वज्रधर' पदवाच्य सद्गुरु कहलाता है ।

सहजिया लोगों में महामुद्रा का साक्षात्कार ही सिद्धि गिना जाता है । शून्यता तथा करुणा के अभेद को ही 'महामुद्रा' कहते हैं । जिसने इस अभेद ज्ञान को प्राप्त कर लिया है, उससे अज्ञात कोई भी पदार्थ नहीं रहता ।

महामुद्रा उसके लिए समग्र विश्व के पदार्थ अपने विशुद्धरूप को प्रकट कर देते हैं । 'धर्मकरण्डक', 'बुद्धरत्नकरण्डक' तथा 'जिनरत्न'—इसी महामुद्रा के पर्याय हैं । तन्त्रशास्त्र में शिव और शक्ति का जो तात्पर्य तथा स्थान है वही रहस्य तथा स्थान वज्रयान में शून्यता तथा करुणा अथवा वज्र और कमल का है । शिव-शक्ति के सामरस्य को दिखलाने के लिए तन्त्र में एक यन्त्रविशेष का उपयोग किया जाता है । यन्त्र में दो समकेन्द्र त्रिकोण हैं—एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण रहता है और दूसरा अधोमुख त्रिकोण । ये पृथक् रूप से शिवतत्त्व तथा शक्तितत्त्व के द्योतक हैं—इनका एकीकरण दोनों के परस्पर आलिंगन या मिलन का यान्त्रिक निदर्शन है । शून्यता तथा करुणा के परस्पर मिलन—वज्र और कमल का परस्पर योग—दोनों का रहस्य एक ही है—शक्तिद्वय का परस्पर मिलन या सामरस्य या समरसता ।

इन्द्रियसुख में आसक्त पुरुष 'वर्मतत्त्व' का ज्ञाता कभी नहीं हो सकता । वज्र-कमल के संयोग से जिस साधक ने बोधिवित्त को वज्रमार्ग में अच्युत रखने की योग्यता प्राप्त कर ली है अथवा जिसने शिव-शक्ति के मिलन से ब्रह्मनाडी में बिन्दु को चालित कर स्थिर तथा दृढ़ करने की सामर्थ्य सिद्ध कर ली है, वही महायोगी

है। बर्म का तत्त्व इसकी क्षमकृति के सामने स्वर्ण सन्निहित हो जाता है। समस्त साधन का ध्येय बौधिसिद्धि या विन्दु की रक्षा करना है। बौधिसिद्धि से अभिप्रेत बौधिमार्ग पर आसन्नचित्त से है^१। ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे चित्त उस मार्ग से परित न हो जाय। माना प्रभर की स्थापना का उक्त व्यवसाय तथा चित्त की दृष्टा सम्पादन करना होता है। ऐक्य के संशोध से काय की दृष्टा वज्रवाय के द्वारा चन्द्र-सूर्य की गति के व्यञ्जन होने पर वाक् की दृष्टा और धुमेरुशिखर पर अक्ष की हो जाने से चित्त की दृष्टा सम्पादित होती है। बिना इसकी दृष्टा हुए अन्तर्ग में परम चैतन्य की शक्ति का आविर्भाव हो नहीं सकता। यदि व्यक्ति-मन सम्मत् हो तो भी काय से उसे उद्भव का कारण करने की क्षमता साधक में नहीं रहती। इसीलिए गुरु इस दृष्टा की प्राप्ति के लिए विशेष प्रयत्न विवक्षित है। इस दृष्टा को अभिप्रेत 'वज्र' शब्द के द्वारा की जाती है। इस प्रभर द्वैतमय के परिस्थाप से च्येयमत्त्व की अनुमति वज्रवाय का वरम साधन है। वज्र शून्यता का ही मौलिक प्रतीक है क्योंकि लोगों ही इस अक्षमनीय अक्षेय अमेष तथा अनिनाशो है—

एक सारमसौशीयमय्येयामेयलक्षणम् ।

अवाहि अपिनाशि च शून्यता यस्मुच्यते ॥ (वज्रोक्त पृ ११)

वज्रवाय का अर्थ है उस बुद्धों का ज्ञान—(चर्चतावामर्त ज्ञान वज्रवाय

मिति स्मृतम्^२)। इस अर्थ में परमार्थ सर्वव्यापक, अनिकाटी

तत्त्वभावना सर्वत्र माला व्याप्त है। अज्ञान के समान अप्रतिष्ठित, व्यापक

तथा सकलवर्धित जो तत्त्व है वही वज्रवाय है^३। न वह भावरूप

है, न अमयरूप न साधामयरूप और न अनुभववर्धित है—

मायामायी न तौ तत्त्व, भवेत् ताभ्यां विमर्जितम् ।

न देशत्वमतो पुच्छं, सर्वतो न भवेत्तदा ॥ (श वि ११४)

१ अनादिनिधनं शान्तं मायमातृत्वं विप्रम् ।

शून्यतावज्रवायिर्न बौधिसिद्धिमिति स्मृतम् ॥ (बौधमावृत्त पृ १५१)

इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए ब्रह्म (ज्ञानविधि पृ ७५)

२ ज्ञानविधि ११६७

३ अप्रतिष्ठं यथावत् व्यापि तत्त्ववर्धितम् ।

इतत् परमं तत्त्वं वज्रवायव्युत्तरम् ॥ (ज्ञानविधि ११७७)

मूलतत्त्व साकार तथा निराकार दोनों से भिन्न है । उसके निमित्त न तो शून्य की भावना करे न अशून्य की, न शून्य को छोड़े और न अशून्य का परित्याग करे (प्रज्ञोपाय० ४।५) क्योंकि शून्य और अशून्य के ग्रहण करने से अनल्प कल्पना का उदय होता है । इनके त्याग से सकल्प जन्मता है । इसलिए दोनों को छोड़ना आवश्यक है । परमार्थ निर्विकार, निरासङ्ग, निष्काङ्क्ष (आकाङ्क्षाहीन), गतकल्मष, आद्यन्तहीन, कल्पनामुक्त है । शून्यता ही 'प्रज्ञा' है तथा अशेष प्राणियों पर अनुकम्पा (कृपा) ही 'उपाय' है । प्रज्ञोपाय के मिलन का अर्थ है प्रज्ञा तथा करुणा का परस्पर योग । इसकी उपलब्धि से ही परमार्थ मिलता है^१ । तत्त्वभावना भावक, भाव्य तथा भावना की त्रिपुटी से रहित होती है—

न यत्र भावकः कश्चित्, नापि काचिद् विभावना ।

भावनीय न चैवास्ति, सोच्यते तत्त्वभावना^२ ॥

वज्रयानी ग्रन्थों में प्रज्ञा और उपाय की एकाकार की मूर्ति के निदर्शन के लिए एक बीज का वर्णन किया जाता है । यह बीज है—एव । ब्राह्मणतन्त्रों में जिसे शिव-शक्ति का योग मानते हैं उसी तत्त्व को यह बीज प्रकट करता एव तत्त्व है । इस बीज का यान्त्रिक स्वरूप यह है कि एकार \triangle त्रिकोण की आकृति वाला है और बीच में लघु त्रिकोण के रूप में 'व' की स्थिति है ।^३ बिन्दु दोनों के संयोग का सूचक दोनों त्रिकोणों का मध्यबिन्दु है । यह बीज बुद्धरत्न के रखने के लिए करण्डक (सन्दूक) माना गया है । इसकी प्राप्ति की 'महासुख' उपलब्धि है । अतः यह सब सौख्यों का आलय माना जाता है । हेवप्रतन्त्र के अनुसार—

एकाराकृति र्यादिव्य, मध्ये वकारभूषितम् ।

आलयः सर्वसौख्यानां, बुद्धरत्नकरण्डकम् ॥

इस बीजतन्त्र में एकार मातारूप है, और वह चन्द्र तथा प्रज्ञा का श्रोतक है ।

१ प्रज्ञोपायसुयुक्तात्मा सर्वासङ्गपराङ्मुख ।

जन्मनीहैव ससिद्ध्येत तत्त्वाभ्यासे कृतधर्म ॥ (प्रज्ञोपाय० ५।१६)

२ प्रज्ञोपाय-विनिश्चय-सिद्धि का चौथा परि० तथा ज्ञानसिद्धि का १२ वें परि० देखिए ।

वक्त्रर पिता है एवं सूर्य तथा उपाय का सूत्रक है। बिन्दु अनाहत ज्ञान का प्रतीक है, जो दोनों के समिश्रण का फल है—

एकस्वरस्तु भवेन्माता वक्त्ररस्तु रसाभिप^१ ।

बिन्दुरपाताहत ज्ञान सङ्गातान्यक्षराणि च^२ ॥

अतः 'एवं' पुण्यस्य का वाचक है। परमार्थ एक भी नहीं है, न दो ही है, अमिदु दो होते हुए भी एकाकार है। इसी तत्त्व को वैष्णव 'सुखसमृति' तान्त्रिक लोग 'वामन' तथा बौद्धलोग 'बुधमय' नाम से पुकारते हैं। जिस प्रकार दो बेल एक ही कुल में बोंबे जाने पर अपनी मिश्रता छोड़कर एकता के सूत्र में बँब जाते हैं, उसी प्रकार यह परमवस्तु (या शिव-शक्ति अर्थात् प्रकृति पुरुष के परस्पर मिलन का प्रतिनिधि है) दो होते हुए भी दो नहीं है। यह अद्वैत (दो नहीं), अक्षय (हल-नहीं) आदि पक्षों के द्वारा वाच्य होता है। इसी तत्त्व का प्रतिनिधि 'एवं' पद है। इस बीज की उपरोक्तिका के विषय में सिद्ध आचार्यवाद की यह राक्षसकी कवि काव्याव हेमो बोझ है—

एवंकार बीजं लङ्का कृत्स्नमिदं-अरविन्मय^३ ।

महोत्तर तर्पे मुरख-दीर जिघृक्ष ममरन्मय^४ ॥

सावक को प्रथमतः बोझ को हलन करना चाहिए जिससे वह 'बीर' पक्षी को प्राप्त करता है। तब इसी 'एवं' बीज को लेकर बाधपुत (कमी भुत न होने वाला), महालय (अस्वयिक प्रेममय) सुख को जित्त इसी प्रकार अनुभव करता है जिस प्रकार ममर जिघे हुए कमल के ऊपर बैठकर ममरन्म का स्वाद लेता है।

'एवं' तत्त्व का वकार्य ज्ञान समग्र हेम पक्षियों की उपलब्धि है। इसका ज्ञान सावक को उच्छ्वेष्टि की सिद्धि में पहुँचा देता है। आचार्यवाद करते हैं—

एवकार जे बुद्धिमत् ते बुद्धिमत् सभास असेस^५ ।

मम्मकपरहमो सो हु रे जिअ-पहुपर-वेस^६ ॥


आशय यह है कि जिसने एवकार को जाना है उसने समग्र विषयों को ज्ञान किया है। परमार्थ के ज्ञान के प्राप्त करने वाला वह कोई भी विषय छोड़ने नहीं रहता।

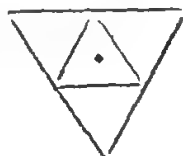
१ सिद्ध आचार्य के २१ में बोरे की टीका में उद्धृत 'देवव्रतज' के वचन।
राक्षस-बोहाचीप पृ १५६।

२ अर्थ—बोहाचीप बोहा १। ३ नहीं—बोहा २१।

शून्यता और करुणा की अमेदरूपिणी यह महामुद्रा धर्मकार्यरूप है अर्थात् बुद्ध का सत्य यथार्थ स्वरूप है। इसके ज्ञान होते ही साधक अपने प्रभु-वज्रधर-के वेश को धारण कर लेता है। इतना महत्त्वपूर्ण होने के कारण इस बीजमन्त्र का वज्रयानीय साधना में विशिष्ट गौरव है।

‘एवं’ का आध्यात्मिक रहस्य

एवं तत्त्व की उद्भावना बौद्धतन्त्र-ग्रन्थों में की गई है। एवं शब्द तीन वर्णों-ए + व + ॐ-से बना हुआ है और इसमें प्रत्येक वर्ण एक एक तत्त्वका प्रतीक है। एकार मातृशक्ति, चन्द्र तथा प्रज्ञा का द्योतक है। वकार शिवतत्त्व, सूर्य तथा उपाय का सूचक है। विन्दु (ॐ) दोनों के योग का प्रतीक है। इसी विन्दु का दूसरा नाम अनाहत ज्ञान है। इस प्रकार ‘एवं’ शिव शक्ति के सम्मिलन का सूचक है। एकार शक्ति त्रिकोण को सूचित करता है जो कि अधोमुख त्रिकोण  है। वकार शिव त्रिकोण का प्रतिनिधि है जो त्रिकोण के बीच में ऊर्ध्वमुख से वर्तमान है। विन्दु दोनों त्रिकोणों का केन्द्रस्थानीय है। इस प्रकार इसका यान्त्रिक निदर्शन इस प्रकार है—



इस यन्त्र का आध्यात्मिक रहस्य हिन्दू-शास्त्रों में भी स्वीकृत किया गया है जो बौद्धों के सिद्धान्त से मिलता जुलता है। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुरूप ही एकार शृङ्गाट (त्रिकोण) के रूप में शक्ति यन्त्र (भगयोनि) का प्रतीक है और वह बहि का गृह कहा गया है—

त्रिकोणमेकादशम, वह्निगेहं च योनिकम् ।

शृङ्गाट चैव एकार-नामभि परिकीर्तितम् ॥

इसके तीनों कोण इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति को सूचित करते हैं। इसी के मध्य में बौद्धों के वज्रधार के समान चिह्निणी क्रम की स्थिति त्रिकोण के मध्य में बतलाई जाती है—

त्रिकोण भगमित्युक्त वियत्स्थ गुप्तमण्डलम् ।

इच्छाज्ञानक्रियाकोण तन्मये चिह्निणीक्रमस ॥

इस प्रकार इस तत्त्व का रहस्य बौद्धों के समान हिन्दू-तन्त्रियों का भी बात था ।

(क) काशबक्यान

कन्नडान के उदय के कुछ ही समय बाद एक नवीन बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसका नाम है 'काशबक्यान' । इस सम्प्रदाय की जड़ें कन्नडानी ग्रन्थों में ही बरफस्थ नहीं होती प्रकृत रीति तान्त्रिक ग्रन्थ के ग्रन्थों में भी वे सिद्धान्त पर्याप्त स्वरूप से प्राप्त होते हैं । महाहरण के लिए, प्रत्यभिज्ञादर्शन के आधार पर अभिप्रेरित वे अपने तन्त्राचार्य में काशबक का बड़ा ही पिछा, विस्तृत विवेक प्रस्तुत किया है परन्तु उन्होंने इस सिद्धान्त को रीति तान्त्रिक तन्त्रों के अन्तर्गत ही सम्मिलित किया है । परन्तु वे सिद्धान्त मुक्तता से ही हैं बिनाको आधार मानकर इस बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदाय ने अपने नवीन आन—काशबक्यान—का प्रवर्तन किया । सिद्धान्तों की नाभियों के अन्तर्गत से भी इन बातों परिचय पर पहुँचते हैं कि वे तन्त्र सिद्धों को बरफस्थ थे । काशबक को इस बात को आभित कर पिछली शताब्दियों में इस नवीन सम्प्रदाय का उदय हुआ । परन्तु सामग्री के अभाव में इस मत के इतिहास का पता नहीं चलता । अभी हाल में 'सैकोहेरा टीका' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसमें काशबक के दार्शनिक सिद्धान्त तथा व्यावहारिक साधना-पद्धति का विशिष्ट वर्णन है । यह ग्रन्थ किसी मूल तन्त्रग्रन्थ

१ इस तत्त्व के रहस्य के उद्घाटन का श्रेय महामहोपाध्याय पं. योगीश्वर बहिराज को है । इस निबन्ध के निरोध विद्यार्थियों को लक्ष्य निम्न लेख देकरा चाहिये—

The Mystic Significance of Kām G N Jha Research Institute Journal Vol II Part I 1944

२ या श्री जी (संख्या १) में का बौद्धों की महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना के साथ प्रकाशित, बड़ोदा १९४१ । इसकी सम्प्रतिष्ठा इतनी की रहने वाली है परन्तु उक्त तन्त्र में प्रकृत तथा तान्त्रिक तन्त्रों की ओर उनकी सहस्रमूर्ति आराध्यों के समान है । ग्रन्थ के आरम्भ में ही कई प्रस्तावना निरूपण तथा शतम्ब विषयों से परिपूर्ण है ।

की व्याख्यामात्र है। इसके अनुशीलन से कालचक्रयान के विशाल साहित्य का तनिक आभास सा मिलता है। 'परमार्थ सेवा' के अतिरिक्त 'चिमलप्रभा' इस मत का विशिष्ट ग्रन्थ प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ के लेखक का नाम है—**नडपाद** तथा **नारोपा**। ये कोई विशिष्ट तान्त्रिक आचार्य प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ में नागार्जुन, आर्यदेव तथा चन्द्रगोमी^१ के तान्त्रिक मतविषयक पद्यों का उद्धरण दिया गया है। साथ ही साथ प्रसिद्ध सिद्धाचार्य सरहपाद के दोहा उद्धृत किये गये हैं^२। इन्द्रभूति की ज्ञानसिद्धि से 'वज्रयान' का लक्षण दिया गया है^३। अनेक अप्रसिद्ध सिद्धांत के पद्य भी प्रमाणरूप से दिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि 'नारोपा' का समय १० म शताब्दी से पहले नहीं हो सकता। इस ग्रन्थ का विषय है—सेक, अभिषेक या तान्त्रिकी दीक्षा, परन्तु आचार-पद्धति के अतिरिक्त मूल सिद्धान्तों का भी सक्षिप्त विवरण दिया गया है। इसी ग्रन्थ के आधार पर कालचक्रयान के मत का सक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

मुख्य सिद्धान्त—

कालचक्रयान का यह मुख्य सिद्धान्त है कि बाहर का समग्र ब्रह्माण्ड इस मानव-शरीर के भीतर है। यह तो वेदान्त का मान्य सिद्धान्त है कि पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड में नितान्त एकता है। बाह्य जगत् के सूर्य-चन्द्र, आकाश-पाताल-भूमि, समस्त भुवन, विन्ध्य-हिमालय आदि पर्वत, गंगा-यमुना-सरस्वती आदि नदियाँ—जितने विशाल तथा सूक्ष्म प्रपञ्च उपलब्ध होते हैं वे सब इस देह में विद्यमान हैं। विद्वान् का कार्य है कि वह इस रहस्य को जानकर अपने शरीर की शुद्धि के सम्पादन का प्रयत्न करे। शरीर के ही द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है, साधना का मुख्य साधन शरीर है। अतः कायशुद्धि होने पर ही प्राणशुद्धि तथा चित्तशुद्धि हो सकती है। काय, प्राण तथा चित्तका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक की शुद्धि हुए बिना दूसरे की विशुद्धता सघटित नहीं हो सकती और बिना तीनों की विशुद्धि

१ द्रष्टव्य सेकोद्देशटीका पृ० ५९।

२ वही, पृ० $\frac{४८}{१}$, $\frac{४८}{४}$ ।

३ वही पृ० ५८ (= ज्ञानसिद्धि पृ० ३६, श्लोक ४७)

हुए परमार्थ की प्रति मितान्त व्यक्तमान्य है। इस प्रकार काय में ही वास्तविक का परिवर्तन तथा हुआ करता है। इस लक्ष्य को पहचानना चाहिए।

यह विरह शक्ति तथा शक्तिमान के परस्पर संयोग का फल है। परम लक्ष्य को 'आदिबुद्ध' कहते हैं। उनका य आदि ही और न आता है। अनन्त ज्ञान से सम्पन्न होने से अविपरित रूप से समान बर्णों को जानने के कारण वे ही 'बुद्ध'। इस विरह के आदि में वर्तमान होने से आदि बुद्ध हैं। 'आदि' से तात्पर्य है अत्यावश्यकपरिणत से। वे कदा भी शून्यता की मूर्ति हैं। अर्थात् परमलक्ष्य के ही प्रकार हैं—(१) शून्यता-समस्त बर्णों के मिश्रमाण होने का ज्ञान वह उत्कृष्ट प्रज्ञा है। (२) कदा-अनन्त दया अर्थात् बुद्ध के समुद्र में डूबने वाले प्राणियों को उबार करने को असीम समुत्क्रमा। अथा तथा कदा की सम्मिश्रित मूर्ति वास्तविकज्ञान में 'आदि बुद्ध' है जिस को वह बहुत विविधता है कि वे सर्वज्ञ होते हुए परम वास्तविक हैं। जब तक कदा का लक्ष्य नहीं होता, तब तक प्रज्ञासम्पन्न होने से भी विशेष लाभ नहीं है। इसलिए बुद्ध को हम 'मगध' कहते हैं—अर्थात् जगद्गुरु की सामर्थ्य रखने वाला। अथा महात्माजी कल्याण के अनुसार ही वास्तविकज्ञान में 'आदि बुद्ध' की कल्पना कदा और शून्यता की एकता के रूप में की गई है। उनकी ही धृष्ट 'वास्त' है। उनकी शक्ति संवृत्तिरिणी है अर्थात् जगत् का वह व्यावहारिक रूप (संवृत्ति) उन्हीं की शक्ति है। जब लक्ष्य परिवर्तनशील विषय का प्रतिनिधि है। शक्ति से संवृत्ति रूप 'वास्तविक' है। वह अक्षय (जो होकर भी एक) है तथा कभी विनाश नहीं होने वाला (अक्षय) है—

अनादिनिधनो बुद्ध आदिपुत्रो निरन्तरः।

कल्याणशून्यता-मूर्ति-कदा सङ्घित्तिरिणी।

शून्यता वास्तविकता का लक्षणोऽप्युक्तः ॥

आदि-बुद्ध—

आदि-बुद्ध के चार काय होते हैं—(१) सद्य काय (२) मम काय (३) सम्मोष काय तथा (४) निर्माण काय। वैदिक वर्तन में जीव की अक्षय स्वयं सृष्टि तथा तुरन्त—ये चार कायस्वायें मानी जाती हैं। इन चारों अक्षयों में विद्यमान रहने वाला चैतन्य मिश्र-मिश्र भावों से पुष्पा जाता है। अक्षय अक्षय के लक्ष्य चैतन्य का (जीव का) 'निरा' कहते हैं। अक्षय के लक्ष्य को 'तैव' तथा

सुषुप्ति के साक्षी को 'प्राज्ञ' कहते हैं। इससे अतिरिक्त तुरीयदशा का साक्षी वास्तव 'आत्मा' है। उसी प्रकार कालचक्रयान में इन अवस्थाओं से सम्बद्ध चार कार्यों की कल्पना मानी जाती है। इनसे सम्बद्ध भिन्न भिन्न वज्र तथा योग का निर्देश इस चक्र में किया गया है—

१	सहजकाय	करुणा	ज्ञानवज्र	विशुद्धयोग	तुरीय
	धर्मकाय	मैत्री	चित्तवज्र	धर्मात्मक योग	सुषुप्ति
२	सम्भोगकाय	मुदिता	वाग्वज्र	मन्त्रयोग	स्वप्न
४	निर्माणकाय	उपेक्षा	कायवज्र	सस्थान योग	जाग्रत्

आदि बुद्ध का (१) सहजकाय ही परमार्थतः सत्य है। यह शून्यता के ज्ञान होने से विशुद्ध है। यह तुरीयदशा के क्षय न होने से अक्षर तथा महासुख रूप है। वास्तव करुणा का उदय इसी काय में है। अतः वह ज्ञानवज्र कहा गया है। यही विशुद्ध योग है। (२) धर्मकाय में बिना निमित्त ही ज्ञान का उदय होता है। सुषुप्ति के क्षय होने से यह नित्य, अनित्य आदि द्वैत से रहित होता है, मैत्री रूप है, निचले दोनों कार्यों के द्वारा जगत् का समग्र कार्य सम्पन्न कराता है, यह निर्विकल्पक चित्त की भूमि होने से 'चित्तवज्र' तथा धर्मात्मक योग कहलाता है। (२) सम्भोगकाय स्वप्न की दशा का सूचक है। इसमें अक्षय अनाहत ध्वनि का उदय होता है। सब प्राणियों के नादरूप होने से मन्त्रमुदिता रूप है। मन्त्र के उदय का सम्बन्ध इसी काय से है। इसे वाग्वज्र तथा मन्त्रयोग कहते हैं। इसी काय के द्वारा आदिवुद्ध धर्म तत्त्वों की शिक्षा प्रदान करते हैं। (४) निर्माणकाय का सम्बन्ध जाग्रत् दशा से है। नाना निर्माण काया को धारणकर बुद्ध क्लेश का नाश करते हैं। यही कायवज्र तथा सस्थान योग कहलाता है। इन चारों कार्यों की कल्पना योगाचार को भी मान्य थी। इस कल्पना में अनेक नवीन बातें मनन करने योग्य हैं^१।

‘काशबक’—

‘काशबक’ शब्द समष्टि तथा व्यष्टि रूप से उसी परम-तत्त्व का चोत्क है। इस शब्द के चारो अक्षर परमार्थ सत्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। ‘का’ अक्षर का प्रतीक है अर्थात् परमतत्त्व कारणरहित है। अक्षर बोधित काय एक ही पदार्थ है। ‘श’ स्रज (माया) का चोत्क है। स्रज क्रियाश्रु। प्राण का अन्त के व्यापार के शान्त होने पर प्राण का स्रज अक्षरवन्मायी होता है। ‘अ’ अक्षर चित्त का वाचक है। अर्थात् व्यापार के स्रज सम्बद्ध रहने से चित्त इसी विश्वों में सदा प्रमथ किया करता है। इसलिये वह कलस रहता है। ‘क’ अक्षर बन्धन का सूचक है। अर्थात् दुरीभावस्था में ज्ञान प्राण तथा चित्त का बन्धन अक्षर सम्बन्ध होता है। प्राण तथा चित्त का परस्पर बोध निरन्तर बधित रहता है। इसलिये प्रथमतः अक्षरविन्दु का निरोध करवा आवश्यक है। वह सदा में सम्पन्न होता है। अक्षर का निर्माणकारण का सूचक है। अक्षर में वायु-विन्दु के विरोध होने से प्राण का स्रज होता है। बिना प्राण के स्रज किसे कलस चित्त का बन्धन हो नहीं सकता। इस तीनों के बन्धन तथा स्रज का अनुष्ठान दुरीत दशा में किया जाता है। अक्षर ‘काशबक’ (जिसमें ये चारों अक्षर अक्षर सन्निहित हैं) उसी परम सत्यमूत, अक्षर, अक्षर-पुरुष को धारित करता है—

अक्षर्यात् अक्षर्ये शास्त्रे -सकारास्त्रयोऽत्र वै ।

अक्षर्यात्सचित्तस्य अक्षर्यात् अक्षरवन्मने ॥

काश बक पदतः उसी परमार्थ का चोत्क है। ‘काशबक’ में दो शब्द हैं—अक्षर और बक। अक्षर और बक का सम्बन्ध ही परमतत्त्व का चोत्क है। ज्ञान तथा अज्ञ से सम्बन्ध रहनेवाला ज्ञान, स्रज अक्षरों के ज्ञान का कारण है। अक्षर वह ‘अक्षर’ कहलाता है। अक्षर, उपान तथा अक्षर—एक ही तत्त्व के पदार्थ है—वही तत्त्व जिसे हम पुरुष का शिव के नाम से आराधन-मन्त्रों में पुकारते हैं। इनरूप में सदा उपस्थित रहने वाला तीनों वस्तुओं—अक्षर, अक्षर तथा अक्षर पदतः सम्बन्ध, अक्षर विरति से सम्बन्ध अक्षर का वह बक बक कहलाता है। अक्षर, अक्षर, अक्षर—एक ही तत्त्व के पदार्थ है—वही तत्त्व जिसे प्रकृति का शक्ति की सदा आराधन-मन्त्रों में है। परम तत्त्व इन्हीं ज्ञान तथा अज्ञ, अक्षर तथा उपान का सम्बन्ध होने के कारण काशबक की सदा से पुकारा जाता

है। तन्त्र के जिस तत्त्व पर हम इतना ध्यान दिया है उर्मा युगलरूप परम-
तत्त्व की सूचना शिखरिणी की एकाग्रता का बोधक 'कालचक्र' शब्द दे रहा है।
कालचक्र यान में यहाँ परमार्थ है।

इस तत्त्व की उपलब्धि के लिए कालचक्रयानियों ने निम्नलिखित साधना बतलाई
है जिसका उपदेश गुरु के मुख से ही लिया जा सकता है। कालचक्रयान का
मौलिकनाम स्पष्ट है।



१ स एव कालचक्रो भगवान् प्रज्ञोपायात्मको ज्ञानज्ञेय-सम्बन्धेनोक्तो यथाक्षर-
सुखज्ञान सर्वावरणक्षयहेतुभूत काल इत्युक्तम् ।

(सेकोद्देशटीका पृष्ठ ८)

पञ्चम खण्ड

(बौद्ध धर्म का प्रसार और महत्त्व)

हूणान् चीनांश्च कम्बोजान् शिष्टान् सभ्यांश्च यो व्यधात् ।
गौरवं तस्य धर्मस्य कथा वाचा प्रतन्यते ॥

तेइसवाँ परिच्छेद बौद्धधर्म का विदेशों में प्रसार

भारत के बाहर बौद्ध-धर्म के प्रचार का अपना पृथक् ही इतिहास है। अशोक ने इसे सर्व-प्रथम राजकीय आश्रय देकर इसका विपुल प्रचार किया। इसके पहिले यह भारत के एक प्रान्तमात्र का धर्म था। परन्तु यदि अशोक की धर्मप्रचार-भावना इस धर्म को प्राप्त न हुई होती तो इसकी दशा जैनधर्म के समान ही होती। अशोक ने अपने पुत्र और पुत्री महेन्द्र और सघमित्रा को सर्व-प्रथम प्रचार कार्य के लिये लका द्वीप में भेजा। तब से लका ही स्थविरवादी बौद्ध धर्म (हीन-यान) का प्रधान केन्द्र बन गया। वहीं से यह धर्म वर्मा, स्याम (थाईलैण्ड) और कम्बोडिया में फैला। इस प्रचार इन देशों में हीनयान धर्म की प्रधानता है। भारतवर्ष से कनिष्क के समय (प्रथम शताब्दी) में यह धर्म चीनदेश में गया तथा चीन से होकर यह कोरिया और तिब्बत पहुँचा। कोरिया से यह धर्म जापान में आया। मंगोलिया में इस धर्म के प्रचार करने का श्रेय तिब्बती लोगों को है। इस प्रकार भारत के दक्षिणी प्रदेशों में हीनयान का और उत्तरी प्रदेशों में महायान की प्रधानता है।

(-क) तिब्बत में बौद्धधर्म

तिब्बत का राज-धर्म बौद्ध-धर्म है। वहाँ का राजा दलाई लामा धर्म का भी गुरु समझा जाता है। तिब्बत को बौद्धधर्म चीन से प्राप्त हुआ और इसीलिये तिब्बती लोगों ने संस्कृत-ग्रन्थों के चीनी अनुवाद का भाषान्तर अपनी भाषा में किया। सर्वास्तिवादी मत के जिन ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में विशेष रूप से मिलता है इन ग्रन्थों का मूल संस्कृत रूप भारत में भी अप्राप्य है। अतः सर्वास्तिवाद के त्रिपिटक के विषय तथा महत्त्व को जानने के लिये तिब्बती अनुवादों का अध्ययन अनिवार्य है। तिब्बती अनुवादों की यह एक बड़ी विशेषता है कि संस्कृत ग्रन्थों का वे अक्षरशः अनुवाद प्रस्तुत करते हैं। अतः इनकी सहायता से मूल संस्कृत ग्रन्थों का संस्कृतरूप भली-भाँति पुनर्निर्मित किया जा सकता है। तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रचार का इतिहास बड़ा मनोरञ्जक है। भिक्षु राहुल सांक-

स्वात्म ने तिब्बत में बौद्धधर्म में इस इतिहास को १ युगों में विभक्त किया है—
 (१) आरम्भमुग ५८ ई. — ७६६ ई. ; (२) शान्तरक्षित युग (७६६ ई. १८२ ई.) (३) दीपङ्कर-युग (१४९-११२) (४) समुत्थ-युग (११२-१९०६ ई.)
 (५) बोद्ध-युग (१९०६ ई. १९६४ ई.), (६) वर्तमानयुग (१९६४ ई. -) ।

शान्त रक्षित—

तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रवेश स्तोत्र-गन्धर्व-गन्धर्व-यी (बम्मकात्त ५५० ई.) के सम्मेलन में प्रथम बार हुआ जब तमबी की मेघातराजकुमारी अपने साथ ब्रह्मोन्म, मैत्रेय तथा लारा की चन्दन की मूर्तियों को लाई और बुद्धी की चोख राज की कन्या पुरातन बुद्धप्रतिमा को नीचे से बहेज में लाई । इन किमों के सहवास से राजा ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया । परन्तु इसका व्यापक रूप ७६६ ई. में मिला जब शान्तरक्षित शासक ने तिब्बत में बर्म-प्रचार के निमित्त राजा के निमन्त्रण पर आये । शान्तरक्षित शासक विहार के बड़े भूमी प्रौढ धार्मिक थे जिनके व्यापक पश्चिम का परिचय 'तत्त्वमह' से मसीहोन्मि बल्लभ है । ज्ञानेन शासक तिब्बती मित्र इन्हें पहिले-पहिले स्वर्ग तिब्बत ले गये । राजा ने इसका बड़ा स्वागत किया । राजमहल में ही वे ठहरने लगे तथा इसकी मूलची सम्मर्षना की गई । अरब बत इन्हें भारत लौटना पड़ा । बुद्धी बार राजा सिन्धु-स्ने-युग (७४९-८५ ई.) के निमन्त्रण पर शान्तरक्षित ७५ वर्ष की अवस्था में शारीरिक कठिनाइयों का बिना रकाश किने तिब्बत पहुँचे । गंड-देरा के अनेक युवकों को मित्र बनाना पड़ा तथा 'सम्ये' नामक स्थान पर बड़ा विराट विहार बनावा गया (७६६-७७५ ई.) । वही पहला विहार तिब्बत में स्थापित किया गया जो पीछे बौद्ध धर्म के प्रचार तथा प्रसार में विरोध लक्ष्यक सिद्ध हुआ । तिब्बत में धर्मार्थ की पुरु के अवन्तर उनके विद्वान् शिष्य कन्धलीत भी राजा के निमन्त्रण पर वहाँ गये परन्तु जीनी मित्रों के साथ वैमनस्य होने के कारण इन्हें अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा ।

दीपङ्कर श्रीधाम—

दीपङ्कर श्रीधाम का जन्म विक्रमसिद्ध महाविहार के पास ही किसी सामन्त के घर में हुआ था । मुठे ई. क्रि. इन्होंने कासन्धा तथा बोधवना में ही बड़ी-मनुष्य सुवर्मादीप (सुधामा) में श्री जालर विद्याभ्यस्य किया था । विक्रमसिद्ध

महाविहार में ही ये पीछे अध्यापन कार्य करते थे। ज्ञानप्रभ नामक भोटदेशीय भिक्षु के निमन्त्रण पर वे तिब्बत गये (१०४२ ई०)। जीवन के अन्तिम तेरह वर्ष वहीं बिताकर १०५५ ई० में, ७३ वें साल की उम्र में वहीं निर्वाण प्राप्त किया। इन्होंने सैकड़ों संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद दुभाषियों की सहायता से तिब्बती भाषा में किया, जिसमें आचार्य भव्य (या भावविवेक) का 'मध्यमकरत्नदीप' नितान्त विख्यात है। यह तीसरा युग अनुवाद के कार्य के लिए नितान्त महत्त्व-शाली है। इसमें मुख्य दार्शनिक ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद प्रस्तुत किये गये।

बुस्तोन—

चतुर्थ युग के ग्रन्थकारों तथा अनुवादों में बुस्तोन का नाम उल्लेखनीय है। इनका नाम रिन्-छेन्-ग्युव (१२९०-१३६४ ई०) था। इनकी विद्वत्ता अद्वितीय थी। ये अपने समय के ही नहीं, बल्कि आज तक हुए तिब्बती विद्वानों में अद्वितीय माने जाते हैं। इन्होंने स्वयं पचासों ग्रन्थ लिखे जिनमें भारत और भोटदेश में बौद्ध-धर्म के इतिहास का प्रतिपादक ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण रचना है^१।

परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण कार्य उस समय तक के सभी अनुवादित ग्रन्थों को एकत्र कर क्रमानुसार दो बड़े संग्रहों में जमा करना है। इनमें एक का नाम स्क-ग्युर (प्रसिद्ध नाम कञ्जुर है) और दूसरे का नाम स्तन-ग्युर (प्रसिद्ध नाम तंजुर) है। इनमें पहला संग्रह उन ग्रन्थों का है जो बुद्ध के वचन माने गये। 'स्क' शब्द का अर्थ भोट भाषा में है 'वचन' और 'ग्युर' कहते हैं अनुवाद को। इस प्रकार 'कञ्जुर' में बुद्ध-वचन माने जाने वाले ग्रन्थों का संग्रह है। तंजुर में बुद्ध-वचन से भिन्न दर्शन, काव्य, वैद्यक, ज्योतिष, तन्त्र आदि ग्रन्थों का विशाल संग्रह है। 'स्तन' शब्द का अर्थ है 'शास्त्र'। अतः दूसरे संग्रह में शास्त्रपरक ग्रन्थों का तिब्बतीय संग्रह है। कंजुर और तंजुर का अध्ययन बौद्ध धर्म के अनुशीलन के लिए कितना आवश्यक है, इसे विद्वानों को घतलाने की आवश्यकता नहीं। इस संग्रह के कर्ता 'बुस्तोन' हमारी महती श्रद्धा के भाजन हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं^२।

१ इस ग्रन्थ का अनुवाद डा० ओवरमिलर ने अंग्रेजी में किया है।

२ तंजुर के ग्रन्थों की विस्तृत सूची के लिए देखिए डा० कारदियेर का सूची-पत्र Catalogue du fonds tibetain de la Bibliothèque nationale; Paris 1909—15

राज्य ने सिम्बत में बौद्धधर्म में इस इतिहास को ६ मुद्रों में विभक्त किया है—
 (१) आरम्भसुप्त ५८ ई. — ७९९ ई. ; (२) शान्तरक्षित युग (७९९ ई. १८२ ई.) (३) बीपहर-सुप्त (१४२-१९९ ई.) (४) राजसुप्त-सुप्त (१९९ ई. १९९९ ई.) (५) बीप-सुप्त युग (१९९९ ई. १९९९ ई.), (६) वर्तमानसुप्त (१९९९ ई. -) !

शान्त रक्षित—

सिम्बत में बौद्धधर्म का प्रवेश स्कोक-गवर्ण-गसम्-पो (बम्मकस ५५७ ई.) के राज्यकाल में प्रथम बार हुआ जब उनसे श्री मेपासराजकुमारी अपने सप्त पत्नीयों में से एक तथा एक ही कन्दन की मूर्तियों से आई और दूसरी श्री पीन राज की कन्या पुरस्तर बुद्धप्रतिमा को नील से वस्त्र में ढाई । इस किंवदंती के अनुसार ही राज्य ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया । परन्तु इसका व्यापक रूप ७९९ ई. में सिद्धा जब शान्तरक्षित शासनाधीन सिम्बत में धर्म-प्रचार के विभिन्न राजा के विमन्त्रण पर आये । शान्तरक्षित शासनाधीन बिहार के बड़े गरी प्रौढ धर्मिक के विभिन्न व्यापक पाण्डित्य का परिचय 'राजसुप्त' से मज्जीमोति कहलाता है । ज्ञानेन्द्र नामक सिम्बती सिद्धा इन्हें पहले-पहल स्वर्ण सिम्बत से आये । राज्य ने इनका बड़ा स्वागत किया । राजसुप्त में ही वे ठहराये गये तथा इनकी मूर्तियों का स्थापना की गई । प्रथम बार इन्हें गारात शौक्या गया । दूसरी बार राज्य वि-शोक स्वे-बुद्ध (७४२ ई.) के विमन्त्रण पर शान्तरक्षित ७५ वर्ष की अवस्था में शारीरिक कठिनाइयों का विना राजास किन्ने सिम्बत पहुँचे । शोक-वेरा के अनेक पुरुषों को सिद्ध बनाया गया तथा 'सम्यक्' नामक स्थान पर बड़ा विद्वान् बिहार बनाया गया (७९९-७७५ ई.) । यही पहला बिहार सिम्बत में स्थापित किया गया जो पीछे बौद्ध धर्म के प्रचार तथा प्रसार में विरोध साम्यक सिद्ध हुआ । सिम्बत में व्यापक की प्रत्यु के अनन्तर समके विद्वान् सिद्धा कम्बजतीत श्री राज्य के विमन्त्रण पर बर्हा गये परन्तु पीछे सिद्धियों के साथ वेमकस होने के कारण इन्हें अपने प्राणों से भी हाथ जोड़ा गया ।

बीपकर श्रीपाल—

बीपकर श्रीपाल का जन्म विजयसिद्ध महाविहार के पास ही किसी समन्त के घर में हुआ था । प्रकृति है कि इन्होंने शासनाधीन तथा बौद्धधर्म में ही नहीं, प्रत्युत स्वर्णवीर (सुमत्ता) में भी बालक सिद्धाभव किया था । विजयसिद्ध

महाविहार में ही ये पंक्ति आस्थापन करके करते थे। ज्ञानप्रथम कागज में लिखकर मित्र के निमन्त्रण पर ये लिखत गये (१०४२ ई०)। ज्ञान के कल्पित तैरह वर्ष वही प्रताकर १०५५ ई० में, ७३ वें साल की उम्र में वही निर्वाण प्राप्त किया। उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद दुर्गादियों की सहायता से लिखवा मोना में किया, जिसमें 'आचार्य भव्य (या भावविनेक) का 'मध्यमकालदास' नितान्त विख्यात है। यह तीसरा युग अनुवाद के कार्य के लिए नितान्त महत्त्व-शाली है। इसमें मुख्य दार्शनिक ग्रन्थों के लिखती अनुवाद प्रस्तुत किये गये।

चतुर्थ युग के ग्रन्थकारों तथा अनुयायियों में बुद्धस्तोत्र का नाम उल्लेखनीय है। इनका नाम रिन्-छेन-ग्यु (१०९०-१२६४ ई०) था। इनकी विद्वत्ता अद्वितीय थी। ये अपने समय के ही नहीं, बल्कि आज तक हुए लिखती विद्वानों में अद्वितीय माने जाते हैं। उन्होंने न्यून पन्नाओं ग्रन्थ लिखे जिनमें भारत और भोटदेश में बौद्ध धर्म के इतिहास का प्रणिपादक ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

परन्तु इसमें भी महत्त्वपूर्ण कार्य उस समय तक के सभी अनुवादित ग्रन्थों को एकत्र कर क्रमबद्ध दो बड़े संग्रहों में करना है। उनमें एक का नाम स्क-ग्युर (प्रसिद्ध नाम कंजुर है) और दूसरे का नाम स्तेन-ग्युर (प्रसिद्ध नाम तंजुर) है। इनमें पहला संग्रह उन ग्रन्थों का है जो बुद्ध के रचन माने गये। इस प्रकार 'कंजुर' में बुद्ध-वचन माने जाने वाले ग्रन्थों का संग्रह है। तंजुर में बुद्ध-वचन से भिन्न दर्शन, ध्यान, रसिक, ज्योतिष, तन्त्र आदि ग्रन्थों का विशाल संग्रह है। 'स्तेन' शब्द का अर्थ है 'शास्त्र'। अतः दूसरे संग्रह में शास्त्रपरक ग्रन्थों का लिखती संग्रह है। कंजुर और तंजुर का अध्ययन बौद्ध धर्म के अनु-शीलन के लिए कितना आवश्यक है, इसे विद्वानों को मतलाने की आवश्यकता नहीं। हम संग्रह के कर्ता 'बुद्धस्तोत्र' हमारी मददता प्रदा के भाजन हैं, हममें तनिक भी सन्देह नहीं।

१ इस ग्रन्थ का अनुवाद डा० ओवरमिलर ने अग्रजों में किया है।
२ तंजुर के ग्रन्थों की विस्तृत सूची के लिए देखिए डा० कारदियेर का सूची-पत्र

Catalogue du fonds tibetain de la Bibliothèque nationale;
Paris 1909—16

त्याज्य ने ४

(१) ४ तारानाथ—

५ चौथे युग में बौद्ध धर्म का प्रचार बहुत हो गया।^१ इस युग के आरम्भ में बौद्ध-रथ प नामक प्रसिद्ध मित्र ने एक महाप्रियासव तथा एक महाविहार को स्थापना कर बौद्ध धर्म का विपुल प्रचार किया। इसी युग में प्रसिद्ध विद्वान् क्षामे तारानाथ (१२७५ ए. ड.) भी हुए। यद्यपि इसका सम्बन्ध बुद्धों का बौद्ध-रथ प की मूर्ति गंभीर न था तभी के बहुभुत थे। इसके अनेक ग्रन्थों में 'भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास' नामक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इन्तकनामों से मिश्रित होने के कारण से यह विस्तृत इतिहास तो नहीं कहा जा सकता तथापि भारत से बाहर विदेशी उद्दिष्ट सिद्धि के कारण इसका महत्त्व कम नहीं है। सबसे पूर्व इस ग्रन्थ का अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में हुआ था जिसके कारण व्याकरण की प्रसिद्धि बड़ा अधिक हो गई। उन्होंने अनुमूर्ति स्वल्पार्थ के 'सारस्वत व्याकरण' का अनुवाद किया जिसमें बुद्धों के पवित्र ग्रन्थमय ने इसकी पंजाब साहाय्य की। इनके अतिरिक्त इस युग में पाँचवें दशक में क्षमा भी धर्म-प्रचार में विशेष काम करते थे। इन्हीं की प्रेरणा से पाणिनीय व्याकरण की प्रक्रियासूत्री तथा सारस्वत का अनुवाद दिम्बती ग्रन्थ में किया गया। इसी युग के छठे बौद्ध धर्म के प्रचार की बहानी ख्यात होती है।

इस संक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट है कि दिम्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार क्षामे ११वीं सदी से है। इसकी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक भारत और दिम्बत का सम्बन्ध बहुत ही बलवत् था। इसी समय कन्यानी विद्यापीठों के संस्कृत तथा लोकमार्ग में सिद्धि गए ग्रन्थों का अनुवाद दिम्बती भाषा में किया गया। व्याकरण से मूल संस्कृत ग्रन्थों के गहरे ज्ञान पर भी दिम्बती ग्रन्थों के सहारे हमें बौद्ध ग्रन्थों के निम्न का ज्ञान हो सकता है। दिम्बती अनुवाद इन्ने मूलानुसारी है कि समझी अनुवाद से संस्कृत मूल रूप का विधान सभी व्यति किया जाने गया है। दिम्बत के मूल धर्म (बौद्ध धर्म) में मूल-ग्रंथ की पूजा की बहुलता

१. इस विवरण के लिए सम्प्रचार मित्र एडुव साहस्यार्य के दिम्बत में बौद्ध धर्म का विरोध नहीं है। यह संक्षिप्त वर्णन इसी प्रायोगिक ग्रन्थ के आधार पर है।

है। अतः तिब्बत में जो सभ्यता तथा सस्कृति दीख पड़ती है वह सब बौद्ध-भारतीय के प्रचार का ही फल है।

(ख) चीन में बौद्ध-धर्म

चीन की एक दन्तकथा है कि सन् ६८ ई० में चीन के महाराज मिङ्गटी (५८-७५ ई०) ने एक सपना देखा कि एक सोने का वना हुआ आदमी उड़कर राजमहल में प्रवेश कर रहा है। उसने अपने सभासदों से इसका अर्थ पूछा। उन्होंने कहा कि यह पश्चिम के सन्त बुद्ध (चीनी नाम फो या फोतो) के आगमन की सूचना है। राजा इस स्वप्न से इतना प्रभावित हुआ कि उसने भारत से बौद्ध आचार्यों को लाने के लिए अपने तसाई इन, सिङ्गिङ्ग तथा वाङ् स्वाङ्ग नामक तीन राजदूतों को भेजा। वे यहाँ भारत में आये तथा काश्यप मातङ्ग और धर्मरत्न नामक दो आचार्यों को अपने साथ लेकर ६४ ई० में लौट गये। बौद्ध धर्म का चीन देश में यही प्रथम प्रवेश है। कनिष्क ने बौद्धों की चतुर्थ सङ्गीति की थी तथा वैभाषिक मत के मान्य ग्रन्थ विभाषा या महाविभाग जैसे बृहत्काय भाष्य-ग्रन्थ का निर्माण कराया था। प्रचारार्थ चीन में भिक्षु भी भेजे गये। फलतः सर्वास्तिवादी त्रिपिटकों का अनुवाद तथा प्रचार चीन देश में हुआ। यह अनुवाद सस्कृत मूल के नष्ट हो जाने के कारण समधिक महत्त्वशाली है। सर्वास्तिवादियों के इस विपुल परन्तु विस्मृत साहित्य का परिचय इन्हीं चीनी अनुवादों के आधार पर आजकल मिलता है।

चीनी परिव्राजक तथा भारतीय पण्डितों के साहित्यिक उद्योग का काल पञ्चम शताब्दी से आरम्भ होता है जब फाहियान (३९९-४९३ फाहियान - ई०) ने भारत में भ्रमण किया और बौद्धस्थानों का निरीक्षण कर, बुद्धधर्म से साक्षात् परिचय प्राप्त किया।

ह्वेनचॉङ्ग (६२९-४५-ई०) तथा झुचिङ् (६७१-९५ ई०) के नाम तथा काम-इस प्रसङ्ग में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं। ह्वेन चॉङ्ग के यात्रा-विवरणात्मक ग्रन्थ का चीनी नाम है—तताङ् सियुकी जिसे उसके शिष्य ने ह्वेनचॉङ्ग ६४५ ई० में सकलित किया था। दूसरा ग्रन्थ है—शिह-चिआ-फा-चू जिसमें शाक्यमुनि के धर्म का पर्याप्त विवरण है। इसकी रचना ६५० ई० में परिव्राजक के शिष्य तथा अनुवाद कार्य में सहायक ताओ

सिद्धिदान के श्री श्री । तीसरा ग्रन्थ डोमबोंग की बीजिन का चारारा है (रत्नमञ्जर ६१५ ई) । इस सिद्धान्त यात्री में ७५ प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थों का बीजी मात्र में अनेक सङ्ग्रहों के साथ बहुतसा किया । महात्मा की बात यह है कि ये सभ्य ग्रन्थ ग्रन्थ विद्यावादा मत से सम्बन्ध रखते हैं । इस समय भारत में इसी मत की प्रतिष्ठा थी यादवना विहार में इसी की प्रधानता थी । ज्यों वही का विचारों का । फलतः उसके विद्वांसवाद का समर्थक होने में आश्चर्य की बात नहीं है ।

इबिद् (६७१-६९५ ई) इसके पीछे भ्रमण के लिए भारत में गया । यह स्वयं सर्वास्तिष्ठती का । इसके मूल ग्रन्थ तथा भारत के पाञ्च-ग्रन्थों के अन्वेषण तथा भ्रमण की ओर उसकी तत्त्वान्तिक अभिवृद्धि थी ।

इबिद् ब्रह्मा नात्रा-ग्रन्थ इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है । ये सर्व-प्रसिद्ध बोधी परिचयक है । इससे पहले तथा बाद भी बीज से बौद्ध धर्म के सिद्धांत यात्री करते थे तथा भारत के इतनेक बौद्ध सिद्धांत बीज में बातों से और ग्रन्थों के अनुसारभर में संलग्न होकर धर्म की दृष्टि में दाख बैठते थे । इबिद् ने लगभग ५ बीजी वाक्यों के माध्यम से उत्प्रेषण किया है । अनुसार का मुख्य अर्थ पथम से लेकर सप्तम अष्टाव्याही है परन्तु बीज का भारत से सम्बन्ध पीछे भी कम बलिष्ठ न था ।

भारतीय पंडितों ने भी बुद्धधर्म के प्रचार करने के लिए दुर्लभ हिमालय को पारकर बीज में पदार्पण किया और अज्ञानत परिभ्रम से बीजी बीसी बिज प्रचलन क्षिति का तथा माया का अध्ययन किया तथा अपने संस्मृत ग्रन्थों का अनुवाद किया । गुप्त-काल में यह विद्याधर्म्यक बहुत ही चलिता था । इन पंडितों के अध्ययन की शिष्टता प्रसादा की आज उत्तरी बोधी है । ऐसे सिद्धांतों में कुमारजीव बुद्धमत बुद्धरा धर्मरत्न बुद्धधर्म बुद्धमत बोधिधर्म संघपात्र परमार्थ उपरान्त बोधिधर्म और बुद्धराधर्म के नाम आज भी बीजी साहित्य में प्रसिद्ध हैं जिन्होंने अपने धार्मिक बस्ताह के सम्बन्ध में ही हिमालय को और न समुद्र को अत्यन्त समझा और जिसकी शक्ति भारत में संस्मरणीय होने पर भी आज भी की कर्मभूमि में बसक रही है । इसमें कुमारजीव तथा परमार्थ का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है । बीज में बुद्ध धर्म को अक-प्रिय बमाने का अभिप्राय आज इसी दोनों आचार्यों को है ।

(१) कुमारजीव (३२५-४१५ ई०)

कुमारजीव स्वयं भारत में पैदा नहीं हुए थे, पर भारतीय थे। ये चीनी तुर्किस्तान के प्रधान नगर कूचा के निवासी थे। ये साँतवे वर्ष अपनी माता के साथ बौद्ध बन गये। कूचा में आचार्य बुद्धदत्त के शिष्य बन प्रथमतः सर्वास्ति-धीदी थे, अनन्तर महायान में दीक्षित हुए। ३८३ ई० में जब चीनी सेनापति ने कूचा पर आक्रमण किया, तब वह इन्हें कैदी बनाकर चीन ले गया। पर इन्हें चीन महाराज ने राज्यगुरु के पद पर प्रतिष्ठित किया और इसी पद से इन्होंने बुद्ध धर्म का उपदेश दिया। इन्होंने बौद्ध धर्म के माननीय ९८ प्रामाणिक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इनके ग्रन्थों से चीन-वासियों को विशाल बुद्ध साहित्य का परिचय मिला। अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव, वसुवन्धु—इन आचार्यों चतुष्टयी का जीवनचरित भी इन्होंने चीनी भाषा में लिखा है।

(२) परमार्थ—चीनी बौद्ध साहित्य के इतिहास में परमार्थ का नाम सदा स्मरण का विषय रहेगा। चीन के धार्मिक नरेश सम्राट उटी (५०२-५४९ ई०)

ने भारत से संस्कृत ग्रन्थों के लाने के लिये जिस अनुचरदल को

परमार्थ भेजा था, उसी के साथ परमार्थ भी ५४९ ई० में चीन गए और बीस वर्ष के लगातार घोर परिश्रम से ५० संस्कृत ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया जिनमें ३० ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। ये अभिधर्म के विशेष ज्ञाता थे। इनका ही अनुवाद अनेक संस्कृत ग्रन्थों की स्मृति आज भी बनाये हुए है। उनमें अश्वघोष का 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र', असंगकृत 'महायान सम्परिग्रह शास्त्र' तथा 'तर्कशास्त्र' आदि ग्रन्थ विशेष महत्त्व के हैं। ईश्वर की कृपा से हिरण्यसप्तति (साख्यकारिका) का वृत्ति (माठर वृत्ति ?) के साथ अनुवाद आज भी उपलब्ध है। ५६९ ई० में परमार्थ ने धर्म के अर्थ अपनी जन्मभूमि मालवा से सुदूर चीन में निर्वाण प्राप्त किया।

(३) हरिवर्मा—सत्यसिद्धि सम्प्रदाय

चीनदेश में आकर बुद्ध धर्म में अवान्तर शाखाएँ उत्पन्न हो गईं। यहाँ के किसी आचार्य ने तथागत के किसी उपदेश को विशेष महत्त्व दिया फलतः उस उपदेश के आधार पर नवीन मत का उदय हुआ जो जापान में विशेष रूप से फैला। इस सम्प्रदाय का नाम था 'सत्यसिद्धि सम्प्रदाय' तथा संस्थापक का

के प्रसिद्ध शहर) में तथा उसके आसपास बहुत से सुन्दर बौद्ध-मन्दिरों का निर्माण किया जिसमें होर्नुबी का मन्दिर आज भी वर्तमान है। इन्होंने पुष्करीक, धीमात्ता तथा विमलवीरि—इन तीन बौद्ध सूत्रों पर बीसों भी लिखीं, इसे सिये जापानी बौद्ध धर्म के इतिहास में राजकुमार शोतुह का नाम सदा के लिये अमर रहेगा। बौद्धधर्म के प्रथम प्रवेश के अनन्तर तथा और उनके सरदारों के इस धर्म के प्रति विपुल प्रयास दिखलाई। अनन्तर चीर-बीरे वहाँ की जनता में भी इसे प्रवृत्त किया। जापानी संस्कृति तथा सम्प्रदाय के उत्थान में बुद्ध धर्म का व्यापक प्रत्यक्ष धर्म का कारण-भूत था, इसे विशेष रूप से दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं।

वर्तमान जापान में अनेक बौद्ध सम्प्रदाय विद्यमान हैं जिसमें मन्त्रात्मक तथा अत्यन्त किसी विशिष्ट शिक्षा को महत्त्व प्रदान किया गया है। इन सम्प्रदायों में मुख्य ये हैं किनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

१. तेन्झई सम्प्रदाय—

चीन देश में इस सम्प्रदाय का नाम है तियेन्झई। इस मत के अनुयायी अन्तर और परमार्थ—अन्त और अन्त—में किसी प्रकार का वास्तविक भेद नहीं है। अन्तर्बोध के अन्तर्गत संसार और निर्वाण में अन्तर,

१. तेन्झई अन्त और तराई के अन्तर के समान है। अन्त अर्थ है और सम्प्रदाय धर्म अन्तः। परन्तु जिस प्रकार तराई अन्त से प्रसक्त नहीं है और न अन्त धर्म से अन्त से है, उसी प्रकार परमार्थ और व्यवहार एक दूसरे से प्रसक्त स्वतन्त्र अन्त नहीं धारण करते। इस सम्प्रदाय का यही मूल मन्त्र है। इस मत के चीनी संस्थापक का नाम थी-ये-त्त-शी है। इस धर्म का मूल मन्त्र है 'सद्धर्मपुष्करीक'। इस ग्रन्थ तथा 'माध्यमिकधर्मिका' का अध्ययन कर इसके संस्थापक के शुद्धता प्रकृति तथा माध्यमप्रतिपक्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ये तीनों अन्त परस्पर सम्बन्ध हैं। इन प्रकार इस मत में बोधधार के निरुद्ध माध्यमिक मत के प्रति विरोध प्रकट है। जापान में इस धर्म का प्रचार तथा प्रतिष्ठा देखिया इसी नामक बौद्ध मठ (७९७ में ८२२ ई तक) के द्वारा की गयी।

इस मत के अनुयायी मुख्य की शिक्षाओं के तीन भेद माने गये हैं। (१)

कालक्रमानुसार (२) सिद्धान्तानुसारी (३) व्यवहारी । बुद्ध की समस्त शिक्षाएँ पाँच भागों में विभक्त की गई हैं (१) अवतसक सूत्र—सबोध प्राप्त करने के बाद बुद्ध ने तीन सप्ताहों तक इस सूत्र की शिक्षा दी जिसमें महामान के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादन है । (२) आगम सूत्र—जिनकी शिक्षाएँ दूसरे काल में बुद्ध ने सारनाथ में १२ वर्ष तक दी । (३) वैपुल्य-सूत्र—इनमें हीनयान और महायान के सिद्धान्त आठ वर्ष तक उपदिष्ट किये गये । (४) प्रज्ञापारमिता सूत्र—चौथे काल में बुद्ध ने २२ वर्ष तक इन सूत्रों का उपदेश किया । (५) सद्धर्म पुण्डरीक और महानिर्वाण सूत्र—इनका उपदेश आठ वर्षों तक अपने जीवन के अन्तिम काल तक बुद्ध ने किया । इन ग्रन्थों का सिद्धान्त ही बुद्ध की शिक्षा का परम विकास है ।

सिद्धान्तानुसारी वर्गीकरण में बुद्ध की शिक्षाएँ स्थूल से सूक्ष्म या अपूर्ण से पूर्ण के क्रम से की गई हैं । इस कल्पना के अनुसार बुद्ध की शिक्षाएँ चार भागों में विभक्त हैं । (१) त्रिपिटक (२) सामान्य शिक्षा (३) विशिष्ट शिक्षा—जो केवल बोधिसत्त्वों के लिये है । (४) पूर्ण शिक्षा—बुद्ध तथा समस्त जगत् के प्राणियों की एकता का उपदेश जिनके ऊपर तेन्दई सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा है ।

व्यावहारिक वर्गीकरण में बुद्ध के उपदेश व्यावहारिक दृष्टि से चार भागों में विभक्त हैं । (१) आकस्मिक—वह शिक्षा जिसे तयागत ने बिना किसी अनुष्ठान के निर्वाण की सद्यः प्राप्ति के लिये दी । (२) क्रमिक शिक्षा—जिसमें क्रम-क्रम से निर्वाण की प्राप्ति के साधन बतलाये गये हैं । इस मार्ग में धीरे-धीरे उठकर साधक निम्न कोटि से ऊपर जाकर निर्वाण प्राप्त करता है । आगम, सूत्र, वैपुल्य-सूत्र तथा प्रज्ञापारमिता की गणना इसी श्रेणी में है । (३) गुप्त शिक्षा—यह शिक्षा उन लोगों के लिये है जो बुद्ध के सार्वजनिक उपदेशों से लाभ उठाने में असमर्थ हैं । (४) अनिर्वचनीय—इसका अभिप्राय यह है कि बुद्ध की शिक्षाएँ इतनी गूढ़ हैं कि अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न लोगों ने उसका भिन्न-भिन्न अर्थ समझा है ।

यह सम्प्रदाय शून्यवाद का पक्षपाती होते हुये भी अपने को उससे पृथक् तथा उच्चतर समझता है^१ ।

के प्रसिद्ध शहर) में तथा उसके आसपास बहुत से सुन्दर बौद्ध-मन्दिरों का निर्माण किया जिसमें होर्कुबी का मन्दिर आज भी वर्तमान है। इन्होंने पुष्करौक, भीमांसा तथा विमलवर्ति—इन तीन बौद्ध स्तूपों पर जीवातों की सिंघों इष्टी लिये जापानी बौद्ध धर्म के इतिहास में राजकुमार शोतुछु का नाम उठा के लिखे अमर रहेगा। बौद्धधर्म के प्रथम प्रवेश के अनन्तर राजा बीर उनके सरदारों के इस धर्म के प्रति विपुल भया विवशताई। अनन्तर बीर-बीरे बड़ों की अन्त में भी इसे स्वीकृति मिला। जापानी ईश्वरता तथा सम्मत्ता के उद्घाटन में कुछ वर्षों का व्यापक प्रमाण सर्वत्र कारण-भूत बल इसे विरोध रूप से दिखाने की कोशिश करने लगी।

वर्तमान जापान में अनेक बौद्ध सम्प्रदाय विद्यमान हैं जिसमें मण्डाल तथा गन्तुबी किसी निश्चित ढंग का जो महत्त्व प्रधान किया गया है। इन सम्प्रदायों में मुख्य ये हैं जिसका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१ तेन्गई सम्प्रदाय—

चीन देश में इस सम्प्रदाय का नाम है तिरेन्गई। इस मत के अनुयायी व्यवहार और परमार्थ—सत् और असत्—में किसी प्रकार का वास्तविक भेद नहीं है। अस्तव्योप के कमलानुसार संसार और निर्वास में अन्तर,

१ तेन्गई अन्त और तरंगों के अन्तर के उद्घाटन है। अन्त अन्त है और सम्प्रदाय तरंग अस्तव्य। परन्तु जिस प्रकार तरंग अन्त से उत्पन्न नहीं है और न अन्त तरंग से अस्तव्य ही है, वही प्रकार परमार्थ और व्यवहार एक दूसरे से पूर्ण रूप से अलग होता नहीं कारण करते। इस सम्प्रदाय का बही मूल मन्त्र है। इस मत के चीनी ईश्वरता का नाम बी-ये-ता-शी है। इस धर्म का मूल ग्रन्थ है 'समसुप्करौक'। इस ग्रन्थ तथा 'माध्यमिकप्रविराज' का अध्ययन कर इसके ईश्वरता के शून्यता, अज्ञाति तथा मध्यमप्रतिपदा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ये तीनों अस्तव्य परस्पर सम्बन्ध हैं। इस प्रकार इस मत में बोधधर के विपरीत माध्यमिक मत के प्रति निराल पक्षपात है। जापान में इस धर्म का प्रचार तथा प्रतिष्ठा बैजिमी-बुद्धी नामक धार्मिक नेता (७१७ से ८२६ ई. तक) के द्वारा की गयी।

इस मत के अनुयायी मुख्य की प्रतिपदाओं के तीन भेद माने गये हैं। (१)

कालक्रमानुसार (२) सिद्धान्तानुसारी (३) व्यवहारी । बुद्ध की समस्त शिक्षायें पाँच भागों में विभक्त की गई हैं (१) अवतसक-सूत्र,—सबोधि प्राप्त करने के बाद बुद्ध ने तीन सप्ताहों तक इस सूत्र की शिक्षा दी जिसमें महायान के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादन है । (२) आगम सूत्र—जिनकी शिक्षायें दूसरे काल में बुद्ध ने सारनाथ में १२ वर्ष तक दी । (३) वैपुल्य-सूत्र—इनमें हीनयान और महायान के सिद्धान्त आठ वर्ष तक उपदिष्ट किये गये । (४) प्रज्ञापारमिता सूत्र—चौथे काल में बुद्ध ने २२ वर्ष तक इन सूत्रों का उपदेश किया । (५) सद्धर्म पुण्डरीक और महानिर्वाण सूत्र—इनका उपदेश आठ वर्षों तक अपने जीवन के अन्तिम काल तक बुद्ध ने किया । इन ग्रन्थों का सिद्धान्त ही बुद्ध की शिक्षा का परम विकास है ।

सिद्धान्तानुसारी वर्गीकरण में बुद्ध की शिक्षायें स्थूल से सूक्ष्म या अपूर्ण से पूर्ण के क्रम से की गई हैं । इस कल्पना के अनुसार बुद्ध की शिक्षायें चार भागों में विभक्त हैं । (१) त्रिपिटक (२) सामान्य शिक्षा (३) विशिष्ट शिक्षा—जो केवल बोधिसत्त्वों के लिये है । (४) पूर्ण शिक्षा—बुद्ध तथा समस्त जगत् के प्राणियों की एकता का उपदेश जिनके ऊपर तेन्दई सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा है ।

व्यावहारिक वर्गीकरण में बुद्ध के उपदेश व्यावहारिक दृष्टि से चार भागों में विभक्त हैं । (१) आकस्मिक—वह शिक्षा जिसे तथागत ने बिना किसी अनुष्ठान के निर्वाण की सद्यः प्राप्ति के लिये दी । (२) क्रमिक शिक्षा—जिसमें क्रम-क्रम से निर्वाण की प्राप्ति के साधन बतलाये गये हैं । इस मार्ग में धीरे-धीरे उठकर साधक निम्न कोटि से ऊपर जाकर निर्वाण प्राप्त करता है । आगम, सूत्र, वैपुल्य-सूत्र तथा प्रज्ञापारमिता की गणना इसी श्रेणी में है । (३) गुप्त शिक्षा—यह शिक्षा उन लोगों के लिये है जो बुद्ध के सार्वजनिक उपदेशों से लाभ उठाने में असमर्थ हैं । (४) अनिर्वचनीय—इसका अभिप्राय यह है कि बुद्ध की शिक्षायें इतनी गूढ़ हैं कि अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न लोगों ने उसका भिन्न-भिन्न अर्थ समझा है ।

यह सम्प्रदाय शून्यवाद का पक्षपाती होते हुये भी अपने को उससे पृथक् तथा उच्चतर समझता है^१ ।

१ इस मत के विस्तृत विवरण के लिये देखिये (Yamakami—Systems of Buddhist Thought P 270—86)

२—कैगोन सम्प्रदाय

कैगोई सम्प्रदाय के सात बड़े सम्प्रदाय में बौद्ध-धरान के आध्यात्मिक विकास का बृहन्त निरर्तन माना जाता है। वह सम्प्रदाय योगाचार मत की एक शाखा है जो बतरी नीम में उत्पन्न हुआ। इसके संस्थापक का नाम तु-श्व-शुन का ये कह सकते हैं उत्पन्न हुये। अर्थात्सक सन इस सम्प्रदाय का मूलग्रन्थ है। इस विषये इस सम्प्रदाय का नाम अर्थात्सक यह बना जिसको आपासी भाषा में 'विषय' कहते हैं। इस मत के अनुसार भी बुद्ध की शिक्षाओं में अधिक विकास बतलाना गया है।

इस सम्प्रदाय का मूल सिद्धान्त है कि वह निरर्थक ही जित्त का परिष्कार स्वल्प है। संस्कृत में इसका अर्थ है—एकचित्तान्तर्गतमर्मलोका। अर्थात् एक ही जित्त का स्वल्प प्रसार है जिसके अन्तर यह समस्त निरर्थक अन्तर्निहित सिद्धान्त है। वह जित्त एक है, अन्तर्गत है तथा परमार्थमूल है। जित्त और अर्थ का परस्परिक संबंध कहा में अन्तर्गत के प्रतिविम्ब के समान है। अन्तर्गतपद अन्तर्गत अस्तित्विक अन्तर्गत है। अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत के प्रतिविम्ब है। इसी प्रकार वह संसार इस अन्तर्गत एक जित्त का प्रतिविम्ब—मात्र है। एक जित्त ही का नाम अर्थसाध है। इस प्रकार वह सिद्धान्त अन्तर्गत वेदान्त के प्रतिविम्बवाद से बहुत कुछ समानता रखता है।

३—सिङ्गोन सम्प्रदाय

इसी को मन्त्र सम्प्रदाय भी कहते हैं। नीम तथा आपासी में तांत्रिक बौद्ध-धर्म का अही प्रतिविम्ब है। नीम में बौद्ध धर्मों के प्रकार का अपना अन्तर्गत इतिहास है। इसका प्रकार वहाँ को भारतीय पद्धतियों से किना जिसके अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत के। अन्तर्गत ११ ई के समय अन्तर्गत भारत के अन्तर्गत अन्तर्गत में उत्पन्न हुए थे। वे अन्तर्गत के अन्तर्गत अन्तर्गत थे। वे अन्तर्गत में बौद्ध-धर्मों के आध्यात्मिक के विषये अन्तर्गत ५८ वर्ष की इस अवस्था में अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत के अन्तर्गत ७१ ई में नीम में अन्तर्गत ७१ वर्ष की उम्र में अन्तर्गत विदेश में अन्तर्गत अन्तर्गत हुआ। अन्तर्गत ११ तांत्रिक धर्मों का नीम भाग में अन्तर्गत किना को अन्तर्गत से सम्बन्ध रखते हैं।

अन्तर्गत धर्म के अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत में बौद्ध-धर्मों का नीम देश में अन्तर्गत

अधिक प्रचार किया कि तन्त्रों के प्रति वहाँ के राजा तथा प्रतिष्ठित पुरुषों की श्रद्धा जाग उठी। राजा ने अमोघवज्र को भारत से तन्त्र-ग्रन्थों को लाने के लिये भेजा। वे भारत में आये तथा बड़े परिश्रम से ५०० तन्त्र ग्रन्थों का संग्रह कर चीन देश लौट ले गये। हिउवाङ्ग तुरुङ्ग नामक राजा ने इनके इन कार्यों से प्रसन्न होकर इन्हें ज्ञाननिधि (सुत्साङ्ग) की उपाधि से विभूषित किया। अमोघवज्र की बड़ी इच्छा थी कि मैं चीन देश में तन्त्र का प्रचार कर अपने देश को लौटूँ परन्तु राजा ने इन्हें रोक लिया और इनके प्रति बहुत ही अधिक आदर दिखलाया तथा भू-सम्पत्ति भी प्रदान की। चीन में रहकर अमोघवज्र ने १०८ तन्त्र-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया और ७७४ ई० में, ७० वर्ष की आयु में, इस उत्साही ब्राह्मण पण्डित ने सुदूर चीन देश में निर्वाण पद प्राप्त किया। वज्रवोधि और अमोघवज्र—ये ही दोनों 'मन्त्र सम्प्रदाय' के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। इनकी मृत्यु के अनन्तर इनके चीनी शिष्य हुइलाङ्ग इस मत के तृतीय आचार्य बनाये गये।

परन्तु धीरे-धीरे चीन देश में मन्त्रों के प्रति जनता की आस्था घटने लगी।

लेकिन जापान में यह सम्प्रदाय आज भी जीवित है और इसका सारा श्रेय इसके जापानी प्रतिष्ठापक 'कोवो दैशी' को है। कोवो दैजियो के समकालीन थे। ये उनसे ७ वर्ष छोटे थे और उनकी मृत्यु के बाद १२ वर्ष तक जीते रहे। कोवो बहुत बड़े प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। ये गम्भीर विद्वान्, साधु, परिवाजक, चित्रकार, व्यवहारज्ञ तथा सुलेखक थे। इनके अध्ययन के प्रधान विषय महावैरोचनसूत्र और वज्रशेखर-सूत्र थे। कोवो पर्वत को इन्होंने 'शिङ्गून सम्प्रदाय' का प्रधान स्थान बनाया और उनके शिष्यों का यह विश्वास है कि वे आज भी सभाधि में वर्तमान हैं। यद्यपि वह पर्वत पर रहना पसन्द करते थे परन्तु ससार से सम्बन्ध-विच्छेद करना वे नहीं चाहते थे। 'शिङ्गोन सम्प्रदाय' के सिद्धान्त वे ही हैं जो वज्रयान के। मन्त्र की साधना तथा मुद्रा, धारणी और मण्डल का प्रयोग इस सम्प्रदाय में विशेष रूप से है। हम पहिले दिखला चुके हैं कि तिब्बती बौद्धधर्म भी वज्रयान से प्रभावित हुआ है। इस प्रकार दोनों देशों—जापान और तिब्बत—की कला पर तान्त्रिक धर्म का विशेष प्रभाव पड़ा है। मन्त्रयान के प्रधान देवता बुद्ध वैरोचन का चित्रण इन देशों के प्रधान कलाकारों ने किया है। जापान में वैरोचन फेदो के नाम से प्रसिद्ध हैं। विशेष जानने की बात यह है कि तान्त्रिक मन्त्रों की

बीनी बसतों में वृषह प्रतिष्ठित कर दी गयी है। बीनी विज्ञान इन बीनी बसतों में, दिने मने संस्कार के बन्नों का उद्धार मसीमों से कर सकते हैं।

४ ओदो-सम्प्रदाय

इसी का दूसरा नाम 'सुबाकती' सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय का मूल सिद्धान्त यह है कि बुद्ध के पास के अपने से (जैन-बुद्ध) समुच्चय बुद्धों से मुख से आया है और वह अमिताभ (आपली नाम अमिह) के, सर्व-सौख्य-सम्पन्न लोक में निवास करता है। पिछले सम्प्रदाय रहस्यमय होने के कारण से, बुने हुए अभिधरियों को शिक्षा देता था। बुद्ध बर्म के सिने जगता का इसका सार करना आवश्यक था। वह बर्म इस बने बुद्ध में हुआ।

इस बर्म को अमिताभ बनेजने विज्ञान का नाम बुद्ध-होनिन का (१२-१७२)। परन्तु इसे मठ के सबसे बड़े आचार्य के होनिन-होनिन (११२१ ई - ११९२ ई)। उन्होंने बीनी और आपली दोनों बसतों में प्रवृत्ति कर इस मठ को लोक-प्रिय बनाया। उनकी शिक्षा विस्तृत ही थीनी थी। बुद्ध का नाम अपना उन्हें आत्म-समर्पण करना आवश्यक के दिने प्रवृत्ति कार्य मया आया था। कर्मनाम की व ता विरोध आवश्यकता थी, न रहस्यवादी वर्त्य थी। केवल अपने बुद्ध इससे अमिताभ बुद्ध की आर्पण ही आवश्यक के स्वार्थ-साधन का प्रवृत्ति उपान है। होनिन के पीछे शिवा दान् (११७७ ई-१२६२ ई) इस मठ के आचार्य हुए। इन्होंने इस मठ को और भी अधिक उन्नति की। बुद्ध के शरण में आता ही मनुष्य के दिने प्रवृत्ति कार्य था। उनका कहना था कि मनुष्य स्वभाव से ही पातकी है। इन पातकों का निराकरण संस्कृत से बुद्ध के नाम अपने से ही हो सकता है।

इस प्रकार बीनी सम्प्रदाय में अति की प्रवृत्ति है। जिस प्रकार वैदिक बर्म में नाम अपने से मनुष्य अंगान के स्तर में जाकर निराकृत है, ठीक उसी प्रकार ओदो मठ में नाम-अप से स्वर्गलोक में सम्य बुद्ध और सम्पत्ति प्राप्त होती है। सुबाकती (स्वर्ग) सम्पत्ति वही ही ऐश्वर्य तथा अनित्यपूर्ण है। आपली बन-साधारण का वही अपना बौद्धार्थ है। इस बर्म के दो मूल ग्रन्थ हैं (१) सुबाकतीसुद्ध (२) अमितयुग्मसुद्ध। बुद्ध का नाम 'अमिताभ' है जो अमिताभ आपली भाषा में 'अमिह' के नाम से बुद्धता जाता है।

५ निचिरेन् सम्प्रदाय

इस मत के संस्थापक का नाम निचिरेन् शोनिन् (१२२२ ई० से १२८२ तक) है । वे बड़ी ही निम्न-श्रेणी में उत्पन्न हुये थे । पिता एक साधारण लहरे थे । इनमें धार्मिक उत्साह विशेष था । आज भी इसके अनुयायी बहुत कुछ लोक प्रवृत्ति के हैं और अन्य बौद्धों के साथ विशेष हेतुमेल नहीं रखते । निचिरेन् की शिक्षा 'सद्धर्मपुण्डरीक' के ऊपर आश्रित है जिसके ऊपर 'तेन्दई' मत पूर्वकाल से ही आश्रित था । इसलिये इस नवीन मत को 'तेन्दई' दर्शन का विहारिक प्रयोग कह सकते हैं । इस मत के अनुसार शाक्यमुनि सर्वदा वर्तमान होते हैं । वे आज भी हमारे बीच में हैं । इस नित्य बुद्ध की अभिव्यक्ति प्रत्येक पित प्राणी में होती है । अमिद की सुखावती इस लोक की वस्तु नहीं है और वैरोचन का वज्रलोक ही इस ससार से सम्बन्ध है । परन्तु शाक्यमुनि इसी गत् में हैं और हम लोगों में इन्हीं का प्रकाश दृष्टिगोचर होता है । बुद्ध की इस अभिव्यक्ति का पता हमें 'नम पुण्डरीकाय' इस महामन्त्र के एकाग्रचित्त होकर करने से हो सकता है । इस सम्प्रदाय की यह बड़ी विशेषता है कि वह लोक से सम्बन्ध रखता है । काल्पनिक स्वर्गभूमि कल्पना कर लोगों को ऐहिक से पराङ्मुख करना नहीं चाहता । ऐहिकता को अधिक महत्त्व देने के कारण इस मत में देशभक्ति तथा स्वार्थ त्याग की ओर विशेष रुचि है । यह सम्प्रदाय विशुद्ध जापानी है क्योंकि इसकी उत्पत्ति जापान में ही हुई । इसका चीन से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

६-जेन सम्प्रदाय

जेन जापानी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है ध्यान । यह वास्तविक संस्कृत 'ध्यान' का ही अपभ्रंश है । इस मत में ध्यान को निर्वाणप्राप्ति का विशिष्ट साधन स्वीकार किया गया है । षष्ठ शताब्दी में बोधिधर्म नामक भारतीय पण्डित ने दक्षिण भारत से जाकर चीन में इस धर्म का प्रचार किया । ६०० वर्ष तक यह सम्प्रदाय चीन में उन्नति को प्राप्त करता रहा । १२ वीं शताब्दी में यह मत जापान में आया जहाँ इसने बड़ी ही व्यापक उन्नति की । आजकल जापानी सम्प्रदायों में जेन का अपना एक विशिष्ट स्थान है तथा जापानी संस्कृति के अभ्युदय में इस मत का विशेष प्रभाव स्वीकार किया जाता है ।

इस धर्म का मूल मन्त्र है 'सकलद्वारसूत्र'। अथवा पञ्चमूहसूत्र और महापापमित्रासूत्र का भी प्रमाण इस मंत्र के ऊपर निम्नलिखी शताब्दी में निरोप रूप से पड़ा। आपसी विद्वान् सुझुकी ने इस मंत्र के इतिहास तथा सिद्धान्त का प्राथमिक निबन्ध अनेक ग्रन्थों में दिया है। इस सम्प्रदाय के अनुसार ध्यान ही जीवन का सबसे पाने के सिद्धे परम साधन है। जीवन का सर्वोत्तम उक्त बाहरी वस्तुवादी के धर्म को सिद्ध सिद्ध कर देना है जिसे बुद्धि ने धर्म के बाहरी ओर विचार रक्खा है तथा सामान्य रूप से धर्म के स्वरूप को जान लेना है। ध्यान के महान को प्रतिपादन करने के सिद्धे आपसी के एक अनुसार ने एक बड़ा ही रमणीय विज्ञान विज्ञित किया है जिसमें एक ज्ञेय (ध्यानी) सन्त इस की सत्ता के ऊपर ध्यान में स्थित विज्ञित किया गया है। पाँच श्रेष्ठियन धर्मक प्रविष्टि करके जब एक धर्म के शास्त्रक बने तब ने इस ध्यानी सन्त के धर्म के सिद्धे धर्मों। इस पर बैठे हुए सन्त से उन्होंने कहा 'सन्त की। अथवा स्वयं कहा ही उत्तरनाक है सन्त ने कहा कि तुम्हारा स्थान मुझसे बढ़कर है। बलि ने पूछा कि मैं तो बर्षों का शास्त्रक कहता, मेरा स्थान ध्यानीकी है। सन्त ने कहा 'जब आपकी इच्छा में वस्तुवादी बने गयी है और चित्त अस्वस्थ है तो इससे बढ़कर और विपत्ति क्या ही सज्जयी है? बलि शास्त्रक ने कहा—'तो आपकी बौद्धधर्म का सिद्धान्त क्या है? इस पर सन्त ने सम्मपद का निम्नलिखित श्लोक सुनाना जिसमें हिता का व करना, पुण्यधर्मों का अनुष्ठान करना तथा चित्त को शुद्धता बौद्ध धर्म का प्रधान सिद्धान्त बताना कहा है—

सकल पापस्य अकरणं, कुसलस्य अपसम्पदा ।

सचित्तपरिपोदपनं, एतत् शुचान्ता साधनं ॥ १४५ ॥

बौद्ध धर्म के इस सिद्धान्त को सुनकर शास्त्रक ने कहा कि इसमें धर्म की कमी क्या है। इसी ही तीन धर्म का क्या भी जानता है। सन्त ने कहा—बहुत शक, परन्तु धर्मों का बड़ा ही इस धर्मोद्धार में परिणत करते हुए सक्रियता का अनुभव करता है।

इस प्रकार ध्यान का समर्थन का अनुष्ठान इस मंत्र का व्यापारिक मार्ग है। वापसी की तीन धर्मों का धर्म बताना धर्मों में है इनके अनुष्ठान के ऊपर वह सम्प्रदाय निरोप कर देता है। धर्मोद्धार का भी सिद्धान्त इस मार्ग है।

पाश्चात्य देशों में बौद्ध-धर्म का प्रभाव

बृहत्तर भारत, तिब्बत, चीन, कोरिया तथा जापान में बौद्ध धर्म के भ्रमण तथा प्रचार की कथा कही जा चुकी है। अब हमें यह विचार करना है कि पाश्चात्य देशों में बौद्ध धर्म का क्या प्रभाव पड़ा? हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि बौद्ध पण्डितों तथा प्रचारकों ने केवल भारत के समीपवर्ती देशों में ही बौद्ध-धर्म का प्रचार नहीं किया, बल्कि उन्होंने सुदूर वेविलोनिया तथा मिश्र आदि देशों में भी इस धर्म की विजय-वैजयन्ती फहरायी थी। यह बात उल्लेखनीय है कि भारत का जो प्रभाव भूमध्यसागर के देशों पर पड़ा वह प्रत्यक्ष रूप से नहीं पड़ा बल्कि वह फारस, वेविलोनिया तथा मिश्र देश होते हुये पहुँचा। ईसाई धर्म के अनेक अङ्गों पर बुद्ध-धर्म का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा है। अशोक के शिलालेखों से पता चलता है कि उसने सुदूर पश्चिम के देशों में एन्टिओकस के राज्य तक धर्म के प्रचार के लिये अपने दूतों को भेजा था। इसके अतिरिक्त उसने टालेमी, एन्टिगोनेस, मगस तथा सिकन्दर के राज्यों तक धर्म फैलाया था। ये राजा सिरिया, मिश्र, एपिरस और मेसिडोनिया नामक देशों के राजा थे। इन देशों में अशोक ने भगवान् बुद्ध के धर्म के प्रचार के लिये अपने अनेक मिशनरियों को भेजा था। इन्हीं धर्म के प्रचारकों ने इन सुदूर देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। जातकों में 'वावेरु जातक' नामक जातक है जिसमें उस द्वीप में जाकर व्यापार करने की कथा का वर्णन है। वावेरु का ही नाम वेविलोनिया है। इस जातक से पता चलता है उस प्राचीन काल में भी भारत से वेविलोनिया देश से व्यापारिक सम्बन्ध था। अतः बहुत सम्भव है कि यहाँ के लोगों ने वहाँ जाकर बौद्धधर्म का प्रचार किया होगा।

ईसा के जन्म के समय सिरिया में 'एसिनी' नामक एक जाति के लोग बड़े ही धार्मिक तथा त्यागी थे। ये बड़े सदाचार से रहते थे तथा इन्द्रिय-दमन करते थे। ये लोग बौद्ध मिशनरियों से प्रभावित हुए थे। ईसा अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में इन्हीं लोगों के सम्पर्क में आये तथा उनसे इन्द्रिय दमन और सदाचार की शिक्षा ग्रहण की। ईसा ने इसी आदर्श का व्यवहार रूप में प्रयोग

१ इस मत के विस्तृत तथा प्रामाणिक वर्णन के लिये देखिये—

Suzuki—Essays in Zen Buddhism

(2nd Series)

अपने बर्म में किया-। इन्होंने बर्म के पादरिक्तों को ब्रह्मबर्म का जीवन बिताने सहायरी रखे तथा इन्द्रिय-हमन करने का उपदेश दिया। इस प्रकार से ईसाई बर्म में तपस्वा (कम से कम पादरिक्तों के लिए) तथा इन्द्रिय-हमन की भावना बौद्ध-बर्म की रेल समझनी चाहिये। इसका ही बहो, पाप्मात्वं कहानी साहित्य में भी कुछ का महात्मा व्यक्तिगत व्यक्तित्व किता जाने लगा। पाप्मात्वं बर्म में सैद्ध ज्ञेयक का बीसपट्ट की जो कहानी है वह बोधिसत्त्व का ही कर्मात्तरित व्यक्तित्व है। यही कहानी बहो बार्मिक कथाओं में बारम्बार और जोषककी कहानी से प्रसिद्ध है जो सप्तवीं शताब्दी से प्रचलित है। ईसाई बर्म में पशुहिंसा का विशेष भेद का मूर्ति के आगे, भूप दीप पुष्प तथा संयोज का प्रदर्शन करना बौद्ध-बर्म से किया गया है। येनिकेहत्स्य (Manichaeism) नामक सम्प्रदाय तो विशिष्ट हो बौद्ध बर्म से प्रभावित हुआ है। यदि जाहिरत का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया गया तो वह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि कुछ और ईसा की शिक्षा में किताबत समता है। जाहिरत का तरमन और हि माकण्ड काटा उपदेश बुद्ध के 'वम्मपर' में सङ्ग्रहीत उपदेशों से व्यवहिक समानता रखता है। इस प्रकार हम देखते हैं बौद्धबर्म से भारत के न केवल पूर्वी देशों को बल्कि पश्चिमी देशों को भी अपनी शिक्षा से प्रभावित किया का।



चौथीसवाँ परिच्छेद बौद्ध-धर्म तथा हिन्दू-धर्म

बौद्ध धर्म तथा उपनिषद् के परस्पर सम्बन्ध की मीमांसा एक विकट समस्या है। इस विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं दीख पड़ता। कुछ विद्वान् बौद्ध-धर्म को उपनिषदों के मार्ग से नितान्त पृथक् मानते हैं। बुद्ध ने यहाँ के कर्मकाण्ड की समधिक निन्दा की है। अतः उसे अवैदिक मानकर ये लोग उसके सिद्धान्त को सर्वथा वेदविरुद्ध अंगीकार करते हैं। परन्तु अधिकांश विद्वानों की सम्मति में यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। शाक्यमुनि स्वयं वैदिकधर्म में उत्पन्न हुए थे, उनकी शिक्षा-दीक्षा इसी धर्म के अनुसार हुई थी; अतः उनकी शिक्षा पर उपनिषदों का प्रचुर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। बुद्ध धर्म तथा दर्शन के सिद्धान्तों की वैदिक तथ्यों से तुलना करने पर जान पड़ता है कि बुद्ध ने अपनी अनेक मौलिक शिक्षाओं को उपनिषदों से ग्रहण किया है।

बौद्धधर्म और उपनिषद्—

जगत् की उत्पत्ति के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् का कहना है—‘कुछ लोग कहते हैं कि आरम्भ में असत् ही विद्यमान था। वह एक था, उसके समान दूसरा न था। उसी असत् से सत् की उत्पत्ति हुई’^१। इस असत् से सदुत्पत्ति की कल्पना के आधार पर ही बौद्धों ने उत्पत्ति से पहले प्रत्येक वस्तु को असद् माना है। शंकराचार्य ने भाष्य में इस ‘सद्भाव’ के सिद्धान्त को बौद्धों का विशिष्ट मत बतलाया है। नचिकेता ने जगत् के पदार्थों के विषय में स्पष्ट कहा है कि मर्त्यों के पदार्थ कल तक भी टिकने वाले नहीं हैं, ये समग्र इन्द्रियों के तेज (या शक्ति) को जीर्ण कर देते हैं, समस्त जीवन भी मनुष्यों के लिए अल्प ही है, संसार में वर्ण, प्रेम तथा आनन्द के अनित्य रूप का ध्यान रखने वाला व्यक्ति अत्यन्त दीर्घ जीवन से कभी प्रेम नहीं धारण कर सकता—यह कथन^२ बुद्ध के ‘सर्व दुःखम्’

^१ तद्व एक एवाहुरसदेवेदमग्र आसीत् । एकमेवाद्वितीयम् । तस्मादसत् सञ्जायते—छान्दोग्य ६।२।१

^२ रवोभावा मर्त्यस्य यदन्तर्कैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः । अपि सर्वं जीवितमल्पमेव । × × अमिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान् अति दीर्घं जीविते को रमेत । (कठ १।१।२६, २८)

तथा 'सर्वमनिस्त्वम्' सिद्धान्तों का बीच अंतर होता है। मित्रु ब्रह्मर निहित का बीच ब्रह्मर निहित उपविषयमार्ग का प्रथम, प्लेन का। ब्रह्मरभ्यक के अनुसार मुक्ति के अमिच्छा प्रत्यक्ष संसार की तीनों एवम्भों (पुत्रेयम् = पुत्र की काममा विच्छेद = पुत्र की काममा तथा लोकेयम् = ब्रह्म कीर्ति कामने की अमिच्छा) के परिस्थाय कर मित्रा योग कर अपना जीवनवापन करता है^१। इसी सिद्धान्त का मित्राद्वय बौद्ध मित्रा तथा बीच वास्तवों की व्यवस्था में ही पद्य है। पुत्र से बहुत पहले भारत में मित्राओं की संस्था थी। इसका पद्य पाणिनि की अष्टाध्यायी देती है। पाणिनि के अनुसार पाण्डुर्य तथा कर्मन्द् नामक आश्रमों के मित्रा-सूत्रों की रचना की थी।^२ 'मित्रासूत्र' से व्युत्पन्न सब सूत्रों से ही मित्रा मित्रा मित्राओं की बर्णन तथा ज्ञान ब्रह्मके के लिए किया गया था। ब्रह्म के मित्रासूत्रों की कल्पना ही वैदिक है। कर्मसिद्धान्त पुत्राधर्म के व्यापारस्थान की व्यापारस्थान है। प्राचीन अपने किये गए मले का बुरे कर्मों का पद्य व्यवस्थित आयत्त है। कर्म का सिद्धान्त इसका व्यवस्थित तथा प्रभावशाली है कि मित्रा का बीच की व्यक्ति इसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। वह सिद्धान्त उपविषयों में विद्यमान अतिप्रतिष्ठित स्थिति होता है। ब्रह्मरभ्यक ब्रह्म (१।१।११) में ब्रह्मरभ्य में व्यवस्थित से यह तथा अतिप्रतिष्ठित के दिक् में भी प्रत्यक्ष पद्य का तथा जिनके अन्तिम उत्तर के लिए सब दोषों न एवम्भ में ब्रह्मर मीमांसा की भी वह ब्रह्म ब्रह्म है—कर्म की प्रत्यक्ष। पुत्रा कर्म के अनुसार से अनुप्य पुत्राशाली होता है और वाप कर्म के व्यापार से पाली होता है^३ (पुत्रा ने पुत्रेय कर्मका भवति, वाप पापेमेति^४)। इसी सिद्धान्त की लक्ष्य कर कठ उपविषय कहता है^५—उत्त वैदिकारी शरीर प्रत्यक्ष करने के लिए बीच का आश्रय होते हैं और पुत्र लक्ष्य ब्रह्म

१ से इ एव पुत्रेयवाचा विच्छेदवाचा लोकेयवाचा व्युत्पन्न अत्र मित्राधर्म वर्णित। (ब्रह्म ब्रह्म भाष्य १)

२ पाण्डुर्यशिक्षातिन्ना मित्रासूत्रयोः (पा ४।१।११)

कर्मन्द्कृतारविनिः (४।१।११)

३ ब्रह्म ब्रह्म १।१।११

४ वीमिक्क्ये प्रत्यक्षे शरीरवाच्ये देहिन् ।

व्यापारम्येऽनुप्यवर्ति ब्रह्मकर्म ब्रह्मपुत्रम् ॥ (ब्रह्म १।५।१०)

में जन्म लेते हैं। जन्म धारण करना कर्म तथा ज्ञान के अनुसार होता है। यह कर्म सिद्धान्त उपनिषदों को सर्वथा मान्य है और इसी के प्रभाव से वर्तमान हिन्दूधर्म में यह नितान्त प्रायः सिद्धान्त है। बुद्धधर्म में इसकी जो विशिष्टता दीखती है, वह उपनिषदों के ही आधार पर है। इस प्रकार बुद्धधर्म में असत् की कल्पना, जीवन की क्षणिकता, भिक्षाव्रत धारण करने वाले भिक्षु की चर्या, कर्म का सिद्धान्त—ये सब सिद्धान्त उपनिषदों को मूल मान कर ग्रहीत हुए हैं।

बुद्धधर्म और सांख्य—

शाक्यमुनि के उपदेशों पर सांख्य मत का कम प्रभाव नहीं दीखता, इसमें आश्चर्य करने के लिए स्थान नहीं। उपनिषदों के बीजों को ग्रहण कर ही कालान्तर में सांख्य मत का उदय हुआ। सांख्य मत बुद्ध से प्राचीन है, इसके लिए ऐतिहासिक प्रमाणों की कमी नहीं है। महाकवि अश्वघोष के बुद्धचरित के १२ वें सर्ग से गौतम तथा अराढ कालाम नामक आचार्य की भेंट का वर्णन किया है। जिज्ञासु बनकर गौतम अराढ के पास गये। तब अराढ ने जिन तथ्यों का बृहत्तरूप से प्रतिपादन किया (१२ सर्ग, १७-८२ श्लोक) वे सांख्य के अनुकूल हैं। सांख्य के प्रवर्तक कपिल मुनि ही 'प्रतिबुद्ध' नहीं बतलाये गए हैं, प्रत्युत जैगीषव्य तथा जनक जैसे सांख्याचार्यों को इसी मार्ग के अनुशीलन से मुक्त बतलाया गया है (१२।६७)। अव्यक्त तथा व्यक्त का भिन्न स्वरूप, पञ्चपर्व अविवर्तों के प्रकार तथा लक्षण, मुक्ति की कल्पना—सब कुछ सांख्यानुकूल है। परन्तु गौतम ने इस मत को अकृत्स्न (अपूर्ण) मानकर ग्रहण नहीं किया। इसका अर्थ यह हुआ कि गौतम को अराढ के सिद्धान्तों में त्रुटि मिली, उनके मतानुसार वह मत कृत्स्न (पूर्ण) न था, परन्तु हम इसके प्रभाव से उन्हें नितान्त विरहित नहीं मान सकते। कम से कम इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अश्वघोष जैसे प्राचीन बौद्ध आचार्य की सम्मति में सांख्य गौतम से पुराना है।

१ अराढ के सिद्धान्तों की प्रसिद्ध सांख्यसिद्धान्त से तुलना करना आवश्यक है। यह सांख्य प्राचीन सांख्य तथा सांख्यकारिका में प्रतिपादित सांख्य के बीच का प्रतीत होता है। पञ्चभूत, अहकार, बुद्धि तथा अव्यक्त—इनको प्रकृति कहा गया है तथा विषय, इन्द्रियाँ, मन को विकार कहा गया है (बुद्धचरित १२।१८, १९) यह वर्तमान कल्पना से भिन्न पड़ता है।

वार्तामिक उद्दिष्ट से दोनों यत्नों में पूर्वाप्त सम्मानता उद्दिष्टोपर होती है :—

(१) दुष्ण को सत्ता पर दोनों कोर देते हैं^१ । संसार में—आध्यात्मिक, आधि-भौतिक तथा आधिबौद्धिक—इन त्रिविध दुष्णों को सत्ता इतनी वास्तव है कि इसका अनुभव पद-पद पर प्रत्येक व्यक्ति को मिश्रित है । कुछ धर्म-में आर्ज्य सत्ता को प्रथम सत्य नहीं दुष्ण सत्य है । (२) वैदिक कर्मकाण्ड को दोनों चीन मानते हैं । ईश्वर दुष्ण की स्पष्ट उक्ति है कि संसार के दुष्ण का मिश्रकरण लौकिक सत्ताओं के समान वैदिक (ब्रह्मभक्तिक) कर्मानों के द्वारा भी सम्पन्न नहीं हो-सकता । वैदिक ब्रह्मज्ञान में अतिशुद्धि, सत्य (फल का गन्तव्य), तथा अतिशुद्ध (फलों में विषमत्व, कमी-बैरी होना) विद्यमान हैं^२ । तब इनसे वास्तविक दुष्णनिवृत्ति किस प्रकार हो सकती है । तब इससे आगे बढ़कर यत्नों को दुष्णनिवृत्ति का कबमपि साधन मानने के लिए तयत नहीं ।

(३) ईश्वर को सत्ता पर दोनों कायस्था रखते हैं । प्रकृति और पुद्गल—इन्हीं दोनों का मूलवत्तन मालिक सांख्य उद्दिष्ट को मान्यता करता है । उसके मत में ईश्वर को आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । तद्वत् ने ईश्वर के अनुवाचिकों को बड़ी विस्तृती उद्धार है । कमी-कमी ईश्वरनिवृत्तक प्रत्यक्ष प्रमाण पर इन्होंने चीन का अनुमान ही समझकर समझा । तत्पर्य यह है कि ईश्वर को दोनों मत अपने सिद्धान्त को पूर्वाप्तिता के लिए कबमपि आवश्यक नहीं मानते ।

(४) दोनों अणु को परिणामशील मानते हैं । प्रकृति उल्लत परिणाम-शक्तिनी है । वह बह होने पर भी अणु का परिणाम स्वयं करती है । इसलिए वह स्वतन्त्र है—किसी पर अवलम्बित नहीं रहती । तद्वत् को भी वह परिणामशीलता का सिद्धान्त मान्य है । पर एक अन्तर है । सांख्य सिद्धान्तिक अर्थात् पुद्गल परिणामी नहीं मानता । पुद्गल एकरत रहता है । इसमें परिणाम नहीं होता

१ दुष्णप्रवासिपतात् सिद्धात्त तद्वत्तल्ले द्विती । तां १

२ अणुब्रह्मभक्तिक स अतिशुद्धिब्रह्मभक्तिकब्रह्म ।

तद्विपरीतः श्रेयान् अणुब्रह्मभक्तिक-विज्ञात्त ॥ (सांख्यकारिका ९)

३ त्रिपुण्यमभिधेदि विज्ञात्त सामान्यमभिधेदि प्रत्यक्षमभि ।

अर्थात् तथा प्रचार्य तद्विपरीतस्तथा च पुद्गल ॥ (सांख्यकारिका ११)

प्रकृति कमी परिणामशील नहीं है । शक्तिरता में इसमें निरूप परिणाम तथा

परन्तु बुद्धधर्म में पुरुष की कल्पना मान्य न होने से उसके अपरिणामी होने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

(५) अहिंसा की मान्यता—अहिंसा की जैन तथा बौद्धधर्म का मुख्य मत मानने की चाल-सी पड़ गई है । परन्तु वस्तुतः इसकी उत्पत्ति सांख्यों से हुई है । शान्तमार्ग कर्ममार्ग को सदा से अप्राप्य मानता है । पशुयाग में अविशुद्धि का दोष मुख्य है । पशुयाग श्रुतिसम्मत होने से कर्तव्य कर्म है, क्योंकि यज्ञ में हिंसित पशु पशुभाव को छोड़कर मनुष्यभाव की प्राप्ति के बिना ही देवत्व को सद्यः प्राप्त कर लेता है । सांख्य-योग की दृष्टि में यज्ञ में पशुहिंसा अवश्य होती है । पशु को प्राणवियोग का क्लेश सहना ही पड़ता है । अतः इतनी हिंसा होने में पुण्य की समग्रता नहीं रहती । इसका नाम व्यासभाष्य (२।१३) में 'आचाप-गमन' दिया गया है^१ । इसीलिए समस्त यमनियमों में 'अहिंसा' की मुख्यता है । सत्य की भी पहचान अहिंसा के ऊपर निर्भर है । जो सत्य सब प्राणियों का उपकारक होता है वही प्राप्य होता है । जिससे प्राणियों का अपकार होता है, वह 'सत्य' माना ही नहीं जा सकता^२ । सत्य से बढ़कर अहिंसा को आदर देने का यही रहस्य है । बौद्धधर्म में तो यह परम धर्म है ही ।

(६) आर्यसत्य के विषय में भी दोनों मतों में पर्याप्त समता है । दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध तथा निरोधगामिनी प्रतिपद के प्रतीक सांख्य मत में सांख्यप्रवचन भाष्य के अनुसार इस प्रकार हैं—(१) जिससे हमें अपने को मुक्त करना है वह दुःख है, (२) दुःख का कारण प्रकृति-पुरुष स्वभावतः भिन्न होने पर भी आपस में मिले हुए जान पड़ते हैं, (३) मुक्ति होने से दुःख का निरोध हो

प्रलयदशा में स्वरूप-परिणाम होते हैं । वह परिणाम से कदापि रहित नहीं होती । इस कारिका में 'प्रसवधर्मि' में मत्वर्थीय इन् प्रत्यय का यही स्वारस्य है । प्रसवधर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीय प्रसवधर्मस्य नित्ययोगमाख्यातुम् । सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि विशुज्यते इत्यर्थः । वाचस्पति-तत्त्वकौमुदी ।

१ स्यात् स्वल्प संकर सपरिहार सप्रत्यवमर्ष कुशलस्य नापकर्षायालम् । कस्मात् ? कुशल हि मे वहन्यदस्ति यथायमावाप गत स्वर्गेऽपि अपकर्षमल्पं करिष्यति । (भाष्य में उद्धृत पञ्चशिख का सूत्र)

२ व्यासभाष्य २।३० में 'सत्य' की मार्मिक व्याख्या देखिए ।

जाता है। (४) मुख का साधन विवेकबन्धु ज्ञान—प्रकृति-पुरुष। भी अन्वयान्वयि, पुरुष का प्रकृति से वृषण करने का ज्ञान है।

दोनों में इस प्रकार पर्याप्त समानता है, विषमता भी कम नहीं है। इस साम्य को देखकर अनेक विद्वान् बुद्धधर्म को सांख्यमत का श्रवणी बतलाते हैं। इत्यादि को हम निमित्त रूप से कह सकते हैं कि वे सिद्धान्त वाद यत्नाम्ही निकम्पपूर्व में अन्वय विद्यमान थे। अतः तब बुध में उत्पन्न होने वाले धर्म को हम सिद्धान्तों से प्रमाणित होकर कोई व्याख्यान भी बतल नहीं है।

अतः बौद्ध धर्म को उपनिषद्धर्म से सिद्धान्त सिद्ध मानना उचित नहीं प्रतीत होता। उपनिषदों में जिस ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन है उसी का धर्मभी निष्पन्न बुद्धधर्म में हीन पड़ता है। बुद्धधर्म परमार्थ को जगत् के मूल में एक व्यापक प्रभावशाली सत्ता को मानता है। उसके लिए वह केवल विवेकात्मक शक्तों का व्यवहार करता है। इतना ही अन्तर है। परमसत्त्व के विवेचन की दो भावों हैं—सत् भाव और असत् भाव। सत् भाव ब्रह्मधर्म में है तथा असत् भाव बौद्धधर्म में है। अस्तुता परमार्थ शब्दता अनिर्वचनीय है। हमारे शब्द अपने दुर्बल हैं कि उसके निर्बचन कल्पित कर नहीं सकते। शब्द भी याविक हैं। अतः वे इसी की व्याख्या कर सकते हैं जो इस याविक सत्त्व का निबन्ध हो। मात्रा से विरहित परमसत्त्व की व्याख्या शब्दता हो ही नहीं सकती। उपनिषदों के ऐति-नैति उपदेश का वही स्वरूप है। बुद्ध के धीमास्तम्भन का वही तात्पर्य है। जब वह परमार्थ सत्त्व-असत्त्व द्वैत-व्यतिरेक समय कोशियों से निरुद्ध है, तब सत्त्व स्वरूप निर्बचन किन्तु प्रकार दिया जाना। केवल व्याख्या करने के लिए कोई दार्शनिक सत्त्व बतलाता है। उसे असत्त्व बतलाकर सत्त्व की व्याख्या करना भी उतना ही बुद्धिपुत्र है। बुद्ध उपनिषद् के सिद्धान्तों को मानते हैं, मूल सत्त्व की विवेकात्मक शब्दता से व्याख्या करते हैं, परन्तु वे इसी सत्ता का एवम् निवेद करते हैं ऐसा ल प्रतीत नहीं होता। अतः बौद्धधर्म को उपनिषदपरम्परा से बहिर्मुख मानना कल्पित उचित नहीं मान पड़ता।

गोला और महायान सम्प्रदाय—

उपनिषद् तथा बौद्ध धर्म के दार्शनिक विचारों की समता का हस्तोक्त अमी दिया का प्रथम है। जब हमें यह देखना है कि बौद्धधर्म और बुद्धधर्म के महान्वय

सम्प्रदाय में कहाँ तक विचार-साम्य है तथा इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति का मूल आधार क्या है। बौद्ध धर्म के इतिहास के पाठकों से यह बात छिपी नहीं है कि यह धर्म प्रारम्भ में निवृत्तिप्रधान था। बुद्ध ने ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता को अस्वीकार कर अपने शिष्यों को आचार की शिक्षा दी। उन्होंने सम्यक् आचार, सम्यक् दर्शन, सम्यक् व्यवहार और सम्यक् दृष्टि आदि अष्टाङ्गिक मार्ग का उपदेश कर चरित्र-शुद्धि के ऊपर विशेष ध्यान दिया। सघ के अन्दर प्रवेश करनेवाले भिक्षुओं के लिए इन्होंने अत्यन्त कठोर नियमों का आदेश दिया जिससे सघ में किसी प्रकार की बुराई न आने पावे। इसके अतिरिक्त ससार को छोड़कर जगल में रहने तथा अपनी इन्द्रियों के दमन करने की भी उन्होंने आज्ञा दी है। नीचे का उपदेश इसी आत्मदमन के ऊपर विशेष जोर देता है —

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं ।

अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो ॥

उनका समस्त जीवन ही आत्म-संयम, इन्द्रियदमन और त्याग का उदाहरण था। उन्होंने जिन चार आर्यसत्त्यों का प्रतिपादन किया था उनका उद्देश्य मनुष्य-मात्रको निवृत्ति-मार्ग की ओर ले जाना ही था। भगवान् बुद्ध ने स्वयं पुत्र छोड़ा, स्त्री का त्याग किया, विशाल साम्राज्य को हुकराया एवं ससार के सुखों से नाता तोड़ कठिन तपस्या तथा आत्मदमन का मार्ग ग्रहण किया। इस प्रकार उन्होंने मनसा, वाचा और कर्मणा मानवमात्र के लिए निवृत्ति मार्ग का उपदेश दिया। इसीलिए प्राचीन बौद्ध धर्म अर्थात् हीनयान पूर्णतः निवृत्ति-प्रधान धर्म है।

बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त उनके शिष्यों को इस धर्म के प्रचार की आवश्यकता प्रतीत हुई। परन्तु इसके लिये किसी सरल मार्ग की आवश्यकता थी। धर्म-द्वार को छोड़कर, भिक्षु बनकर बैठे-विठाये मनोनिग्रह करके निर्वाण प्राप्त करने के इस निवृत्ति-प्रधान मार्ग की अपेक्षा जनता को प्रिय लगने वाले तथा उनके चित्त को आकर्षित करने वाले किसी मार्ग की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। बुद्ध के जीवनकाल में जब तक उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व विद्यमान था, जनता को उनके भाषण सुनने को मिलते थे, तक तक इस कमी का अनुभव किसी को नहीं हुआ। परन्तु उनके निर्वाण के पश्चात् सामान्य जनता को आकर्षित करने के लिये बुद्ध के प्रति श्रद्धा की भावना को मूर्तिमान्-रूप देना आवश्यक था। अतः उनके निर्वाण

के कुछ ही दिनों बबार् सोरों में उनको 'स्वप्नम्, अनादि, अमन्त तथा पुष्पेक्ष' मानना प्रारम्भ कर दिया तथा वे कहने लगे कि 'असली बुद्ध का नाम नहीं होता, वह तो सदैव अमन्त रहता है।' बीर-वर्जों में वह भी प्रतिपादित किया जाने लगा कि असली बुद्ध सारे जगत के पिता हैं और कामर्मुह उनकी सन्तान हैं। नर्मों की व्यवस्था विनश्वर पर वह नर्म-वर्ज के लिये समय-समय पर बुद्ध के रूप से प्रकट हुआ करते हैं और इस वेवातिरेक की पूजा करने से भक्ति करने से और समीचीन मूर्ति के 'सम्पुष्ट कीर्तन' करने से 'मनुष्य की उत्पत्ति प्राप्त होती है'। इस प्रकार बीर-वैरि इस नवीन सम्प्रदाय का उद्देश्य हुआ जो अपनी विशिष्टता के कारण अपने को महात्मनी (अद्वैत मार्ग वास्तव) कहता था और इससे पूर्व गये सम्प्रदाय को हीनवादी नाम देता है। इस महात्मन सम्प्रदाय में भक्ति की प्रकल्पना थी। इस मत के अनुयायी अनाद्य बुद्ध को अक्षर के रूप मानने लगे और मन्दिरों में उनकी मूर्ति को बसाकर पूजा अर्चना भी करने लगे। इतना नहीं नहीं उन्होंने लोकसमूह के मातों को भी अपनाया। वे यह भी कहने लगे कि बीर-वर्जों को गौरी के समान धकेले तथा उखाड़ी जाने पड़ा न चाहिए, किन्तु नर्म-प्रसार आदि लोकहित तथा परीपकार के काम निरीक्षित बुद्धि से करवें अपना ही उनका धर्म कर्तव्य है। इसी मत का विशेष रूप से प्रतिपादित महात्मन पन्थ के कदम्बपुष्करिक आदि बीर-वर्जों में किया गया है। वायदेव ने मिलिन्द से कहा है कि 'एवमत्र मयि रहते हुये भी निर्वाण पद को पा लेना विमनुष्य अशक्य नहीं है' (मि. प्र. २।२।४)। इस प्रकार से महात्मन सम्प्रदाय में भक्ति की भावना तथा लोक-समूह का भाव निरीक्ष कन से पाया जाता है। जब हमें विचार यह करना है कि इस नवीन सम्प्रदाय की उत्पत्ति कैसे हुई? क्या निश्चित-प्रमाण हीनवादी नर्म से भक्ति तथा प्रवृत्ति-प्रधान महात्मन सम्प्रदाय की उत्पत्ति संभव है?

विद्वानों की यह निश्चित धारणा है कि इस महात्मन सम्प्रदाय की उत्पत्ति पीछे से ही हुई है और इस धारणा के लिए निम्नलिखित धार प्रमाण कारण हैं :—

(१) केवल अनन्तप्रवाही तथा संन्यास-प्रधान मूल हीनवादी बीर-वर्ज से ही क्याये अक्षर नमरा स्वाम्यनिक होती है भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति-प्रधान उत्तमों का मिश्रण संभव नहीं है।

(२) महायान पन्थ की उत्पत्ति के विषय में स्वयं बौद्ध ग्रन्थकारों ने श्रीकृष्ण के नाम का स्पष्टतया निर्देश किया है ।

(३) गीता के भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति प्रधान तत्त्वों की महायान मतों से अर्थत तथा शब्दतः समानता है ।

(४) बौद्ध धर्म के साथ ही साथ तत्कालीन प्रचलित अन्यान्य जैन तथा वैदिक पन्थों में प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति मार्ग का प्रचार न था ।

इन्हीं चार कारणों पर सन्देह से यहाँ विचार किया जायेगा । जैसा पहिले लिखा जा चुका है, प्रारम्भ में बौद्धधर्म सन्यास-प्रधान तथा निवृत्तिमार्गी था । इन्द्रियों का दमन कर, सदाचरण से रहते हुए निर्वाण की प्राप्ति करना ही भिक्षु का चरम लक्ष्य था । इस सम्प्रदाय में तो बुद्ध की पूजा के लिये कोई स्थान न था और मानापमान तथा सुख-दुःख से ऊपर उठे हुए भिक्षु को सांसारिक वस्तुओं से कुछ काम नहीं था । उसका सारा पवित्र शान्त जीवन निर्वाण की प्राप्ति में ही लगा रहता था । ऐसे निवृत्तिमार्गी तथा लोकसंग्रह के भाव से दूर रहने वाले सम्प्रदाय (हीनयान) से क्या भक्ति-प्रधान महायान की उत्पत्ति कभी सम्भव है ? निवृत्तिपरक हीनयानी पन्थ से प्रवृत्ति-प्रधान महायान की उत्पत्ति कथमपि सम्भव नहीं है ।

बौद्ध ऐतिहासिकों के लेखों से पता चलता है कि महायान पन्थ की उत्पत्ति गीता से हुई है । तिब्बती भाषा में बौद्धधर्म के इतिहास के विषय में तारानाथ ने जो ग्रन्थ लिखा है उसमें उन्होंने स्पष्टरीति से यह उल्लेख किया है कि 'महायान सम्प्रदाय का मुख्य पुरस्कर्ता नागार्जुन था । उसका गुरु राहुलभद्र नामक बौद्ध पहिले ब्राह्मण था तथा इस ब्राह्मण को महायान पन्थ की कल्पना सूझ पड़ने के लिये ज्ञानी श्रीकृष्ण और गणेश कारण हुए' ^१ । इसके सिवाय एक दूसरे तिब्बती ग्रन्थ में भी यही उल्लेख पाया जाता है । इसी बात को पश्चिमी विद्वानों ने मुक्त

^१ He (Nagarjuna) was a pupil of the Brahmana Rchulbhadra, who himself was a Mahayanist. This Brahmana was much indebted to the sage Krishna and still more to Ganesh. This quasi-historical notice, reduced to its less allegorical expression, means that Mahayanism is much indebted to the Bhagavatgita and more even to Shaivism.

कण्ठ से स्वीकार किया है। यह सब है कि तारानाथ का ग्रन्थ अधिक प्राचीन न है परन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि वह प्राचीन ग्रन्थों के आधार प ही लिखा गया है। तारानाथ के कथन में सम्यग् करने का तर्क भी स्वान का है क्योंकि कोई बौद्ध ग्रन्थकार अपने धर्मग्रन्थ के तत्त्वों को बतलाते समय किसी प्रबल कारण के परामर्शों का इस प्रकार उल्लेख नहीं कर सकता। तारानाथ के द्वारा श्रीकृष्ण का आलोचन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भगवद्गीता को शोकक वैदिकधर्म में श्रीकृष्ण के माद से अलग कोई ग्रन्थ सम्बद्ध नहीं है। अतः इस स्पष्ट बात होता है कि महात्मा जन्म से अपने अनेक विद्वान्तों का प्रश्न भगवद्गीता से किया है।

महात्मा सम्प्रदाय तथा मीमांसकों के दार्शनिक विचारों में इसी अधिक समझ गया है कि उनके सम्मीर अध्ययन करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचना अधिक नहीं है कि इनमें से एक दूसरे से अलग प्रमाणित हुआ है। मीमांसकों में श्रीकृष्ण से लिखा है कि मैं पुनरोत्पन्न हो सब लोगों का पिता, और पितामह हूँ; मुझे न तो कोई द्वेष है और न प्रिय, मैं वरणि सब और आम्ह हूँ, तथापि धर्मरक्षणार्थ समय पर अवसर होता हूँ। मनुष्य किन्ता भी बुरावाही क्यों न हो परन्तु मेरा भजन करने से वह साधु हो जाता है (गीता १।१)। इस प्रकार मीमांसकों के सम्बन्ध तथा भक्तिवाद का जो सम्बन्ध पाया जाता है वही बातें अश्वरथ महात्मा धर्म में पड़ी जाती हैं।

अब यह देखना है कि मीमांसकों के दार्शनिक और अर्थ शोध ग्रन्थ है जिससे इन विद्वान्तों की समझ दिखाई पड़ती है। महात्मा के पहिले जैन तथा वैदिक धर्म की प्रभावता थी। वे दोनों धर्म विद्वत्तिपरक हैं। अतः इनके महात्मा धर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। विद्वान्तों में अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है मीमांसकों के तथा महात्मा की उत्पत्ति से पहिले हो चुकी थी। अतः इस कथन में तर्क भी सम्यग् नहीं है कि महात्मा सम्प्रदाय आने विद्वान्तों के लिये भगवद्गीता का ही कथा है तथा गीता का प्रभाव इस धर्म पर बहुत हो अधिक है।



१ इस विषय के विशेष प्रतिपादन के लिये देखिये—

प्रिन्स—बीमारहस्य ४ ५३-५८५।

पचीसवाँ परिच्छेद

बौद्ध-धर्म की महत्ता

१. बौद्ध-धर्म आज कल ससार के महनीय धर्मों में मुख्य है। ईसाई मतावलम्बियों की सख्या अधिक बतलाई जाती है, परन्तु उनमें इतनी पारस्परिक विभिन्नता है कि सबको एक ही धर्म के अन्तर्गत मानना न्यायसंगत नहीं है। परन्तु बौद्ध धर्म में ऐसी बात नहीं है। इसमें ईसाई धर्म के समान इतने मत मतान्तर नहीं हैं। एक समय था जब सारे ससार में बौद्ध-धर्म की विजय-दुन्दुभी बज रही थी और प्रायः आधा ससार बुद्ध की शिक्षा में दीक्षित होकर इनके धर्म को स्वीकार कर चुका था। उस समय सर्वत्र इसी धर्म का धोलवाला था। एक ऐसे देश में जहाँ हिन्दू धर्म प्रायः एक हजार वर्ष से प्रचलित था वहाँ इसने हिन्दू धर्म को ध्वस्त कर देने में सफलता प्राप्त की और लगभग दो सौ वर्षों तक भारत का राजकीय धर्म बना रहा। ईसाई तथा इस्लाम धर्म जैसे प्रचारक धर्मों ने भी ससार में इतनी शीघ्र सफलता नहीं पायी जितनी बौद्ध धर्म ने। बुद्ध ने मनुष्यों की इच्छा-पूर्ति के लिये अपने धर्म का प्रचार नहीं किया। उन्होंने न तो स्वर्ग का दरवाजा ही जनता के लिये मुस्त में खोला और न मोक्ष-प्राप्ति का लोभ ही जनता को दिया। ऐसी दशा में कुछ अवश्य ही महत्त्वपूर्ण बातें होगी जिनसे यह धर्म विश्व-धर्म बन गया।

बुद्ध का व्यक्तित्व

बौद्ध धर्म की सफलता के लिये प्रधानतया इस धर्म का त्रिरत्न ही कारण था—
(१) बुद्ध (२) संघ और (३) धर्म। इस धर्म में बुद्ध का व्यक्तित्व एक ऐसी वस्तु था जो संसार के लोगों को अनायास आकृष्ट करता था। बुद्ध का व्यक्तित्व सचमुच महान्, अलौकिक और दिव्य था। उनके व्यक्तित्व की प्रतिभा के प्रकाश से पुराने पापियों का भी मनोमालिन्य धूर हो जाता था। अपूर्व त्याग बुद्ध के जीवन का महान् गुण था। राजघराने में पैदा होने पर भी इन्होंने अपने विशाल साम्राज्य को ठुकरा दिया। राज-प्रासादों के मखमली गद्दों को छाड़ इन्होंने जंगल का कष्टका-कोर्ण जीवन स्वीकार किया। इन्होंने अपने शरीर को सुखा कर कौटा कर दिया परन्तु धन तथा सुख की कामना नहीं की। सचमुच, जब कपिलवस्तु का यह

राजकुमार अपनी पुत्रारत्ना में ही राज्य ग्रह और ग्रहिणी से बाला छेद और विरक्ति तथा उपत्ना से सम्पन्न होकर, अपना मिश्रापात्र सिधे संसार को निरवशान्ति का उपदेस देता हुआ ब्रूमता होगा, उस समय का वह इरय-वेद्यार्थों के सिधे भी बर्तनीय होता होता । त्याग और उपत्ना, ब्रमन और रामन शान्ति और बहिष्ठा का एकत्र संयोग अस्तव में बुद्ध के व्यक्तिव को छोड़कर अन्य मिश्रता कठिन है ।

बुद्ध के चरित्र का दूसरा गुण उग्रता आत्म-संयम का । इतिहास के पाठ्य आगते ही हैं कि बुद्ध ने अपनी मरी बचनी में यह त्याग किया था । इनकी ली मरुपरा परम सुन्दरी रमणी थी । फिर भी बुद्ध ने अपनी कामवासना को कुचल कर पत्नी का त्याग कर ही दिया और होप जीवन को आत्मसमन और संयम में बिताया । जब वे तपस्वा कर रहे थे उस समय भार में अनेक अप्सराओं और परब सुन्दरी युवतियों को लेकर उन पर आक्रमण किया बरन्तु उनके नियतराग इरय में काम-वासना से रहित मानस में लज्जित भी बिचार नहीं पैदा हुआ और वह-प्रसिद्ध होकर अपने आसन से वे लज्जित भी नहीं ठिगे । वह भी उनकी इन्द्रिय निग्रह का आत्मसंयम की परीक्षा और बुद्ध इसमें पूज्यता सफल हुने । इस प्रकार उग्रता चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल, पवित्र तथा अनुकरणीय का ।

उत्पात के चरित्र की तीसरी विशेषता परोपकार-वृत्ति थी । बुद्ध का इरय मानव-श्रेण से पूर्णतः मरा हुआ था । मनुष्यों के भाषा प्रचार के दुःखों को देखकर उग्रता इरय इर दूक हो जाता था, ये दुःखों के दुःखों से स्वर्ग हुआ रहते थे । यही कारण है कि उन्होंने मानव-दुःखों का कार्य कराया अपने जीवन का चरम लक्ष्य बनाया । मनुष्यों के दुःखों का दूर करने की जो-बिधि पाने के सिधे ही वे अनक बरों तक जंगल में अट्ठरी रहे और अन्त में बरै प्राप्त कर ही निमाम किया । उन्होंने बार आर्य-शास्त्र तथा अश्वजिह्वा-मतों का अनुगमन कर मनुष्यों के बड़ेरा निवारण का उपाय बलनाया । उन्होंने बार साङ्ग, चरिणी घाँसी, राज्य बंदा और गुल बंदा परल्लु प्राप्त करा किया ।—मन्त्र्य दुःखों का दूर करने का परमीनक । बुद्ध का साङ्ग जीवन परल्लु प्राप्त करा । पर-नीका का उदाहरण है तथा साक-मनस का अत्यन्त प्रधान है । बुद्ध की इसी परोपकारवृत्ति को देखकर-जन्म इनके धर्म को स्वीकार कर लेती थी क्योंकि वह समझती थी इरय उग्रता बुद्ध की स्वार्थ नहीं है ।

बुद्ध का हृदय अत्यन्त उदार था। वे अज्ञात-शत्रु थे। उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व के सामने शत्रु भी मित्र बन जाते थे। देवदत्त उनसे बुरा मानता था परन्तु वह भी उनका मित्र बन गया। बुद्ध सब मनुष्यों को समान दृष्टि से देखते थे। यही कारण था इनके यहाँ गिरिव्रज का राजा अज्ञातशत्रु भी आता था और साधारण पतित भी। बुद्ध पाप से घृणा करते थे परन्तु पापी को अत्यन्त प्यार की दृष्टि से देखते थे। इसीलिये उन्होंने एकवार एक वेरया का भी आतिथ्य ग्रहण किया था। सचमुच बुद्ध का व्यक्तित्व लोकोत्तर था, महान् था तथा दिव्य था। जिसके घर स्वयं गिरिव्रज के महान् सम्राट् दर्शन के लिये आवें वह कितनी बड़ी विभूति होगा? जिसके पास झगड़ा निपटाने के लिये लिच्छवि तथा कोलिय जैसे प्रसिद्ध राज-वंश आवें तथा जो इनकी मध्यस्थता को स्वीकार करे वह सचमुच ही लोकोत्तर व्यक्ति होगा। अपने सुख और शान्ति की तनिक भी चिन्ता न कर मानव-गण को विश्वशान्ति तथा अहिंसा का पाठ पढ़ाने वाले इस शाक्यकुमार का व्यक्तित्व कितना विशाल होगा, इसका अनुमान करना भी कठिन है। कापाय-वस्त्र को धारण किये, हाथ में भिक्षापात्र लिये तथा मुख पर प्रभा-मण्डल को धारण किये भगवान् बुद्ध के व्यक्तित्व की कल्पना भी मन को मोहित कर लेती है। उनका साक्षात् दर्शन तो किसे आनन्द-सागर में निमग्न न कर देता होगा?

बुद्ध के व्यक्तित्व की विशालता को भारतीय लोगों ने ही नहीं, विदेशियों ने भी स्वीकार किया है। मध्यकालीन युग में बुद्ध का व्यक्तित्व लोगों को आकर्षित करता था। मार्को पोलो ने लिखा है 'यदि वे (बुद्ध) ईसाई होते तो वे काइष्ट धर्म के बहुत बड़े सन्तों में से एक होते। उनके तथा काइष्ट के चरित्र तथा शिक्षा में बहुत कुछ समानता है'। सुप्रसिद्ध विद्वान् चार्ल्स ने लिखा है—'बुद्ध का व्यक्तित्व शान्ति और माधुर्य का सम्पूर्ण आदर्श है। वह अनन्त कोमलता, नैतिक स्वतन्त्रता और पाप-राहित्य की मूर्ति हैं'।

संघ की विशेषता

बौद्ध-धर्म की दूसरी विशेषता संघ है जो उसका दूसरा रत्न है। बुद्ध ने यह समझकर कि अपने जीवन में मैंने जिस धर्म का प्रचार किया है वह सदा फूला-फूलता रहे तथा श्रद्धा को प्राप्त हो एक संघ की स्थापना की तथा इसमें

रहने के लिये कठिन नियम बनाया। उन्होंने संघ में रहने वाले मिश्रधर्मों के लिए कठिन नियम बनाये और उन्हें आदेश दिया कि वे ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करें-पवित्रता से रहें तथा धर्म का प्रचार का सहयोग करें। बौद्ध संघ का अनुशासन बहुत ही कठिन था। अतएव अवांछित मिश्रधर्मों का प्रवेश उसमें नहीं हो सका था। बुद्ध ने मिश्रधर्मों के लिए संघ में प्रवेश करना प्रथमतः निषिद्ध करवाया था जिससे संघ की पवित्रता सुरक्षित रहती रही। वही कारण था कि बौद्ध संघ में बहुत दिनों से कोई भ्रष्टा नहीं हुआ। परन्तु जब उसके लोगों ने इस नियम में शिथिलता बिखराना तथा मिश्रधर्मों का संघ-प्रवेश का अधिकार स्थापित हो गया तभी से इसमें भ्रष्टाचार होने लगी और अन्त में इसका नाश हो गया। अतः बुद्ध की दूर-दर्शिता इसी से समझी जा सकती है।

इस सुसंयोजित संघ के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत सफलता मिली। इस संघ ने बौद्ध धर्म में एकता का अर्थ स्थापित किया और व्यक्ति को शक्ति प्रदान की। सबसे बड़ी बात जो इस संघ के द्वारा हुई वह बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये 'मिशनरी स्प्रिट' की स्थापना थी। इस संघ के अनेक मिश्रधर्मों ने विदेशों में जाकर इस धर्म का प्रचार करना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया और उन्होंने छद्म पवित्र और पूर्व में इस धर्म का प्रचार कहे लोगों से किया। सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र माहेन्द्र और सप्तमी संघमित्रा को सिंधु नदी में इस धर्म के प्रचार के लिये भेजा। वह वहाँ के उद्योग का फल है कि आज भी लंबा बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा हुआ है। सुप्रसिद्ध विद्वान् मिश्र कुमारबोध और परमार्थ के लोग जैसे सुप्रसिद्ध देश में इस धर्म की निष्पन्न-बैजवन्ती फैलायी और इस भाषा में अनेक संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद कर कर उसके साहित्य को धर दिया। बौद्ध धर्म के प्रचार की यह भावना से प्रेरित होकर अपनी बुद्धत्वस्था में भी आचार्य शम्भुवरचित ने लिखित जैसे दुर्योधन देश की यात्रा की और वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। व्यक्ति अवस्था होने के कारण वे निर्वाण को नहीं प्राप्त हो बने परन्तु उन्हें सम्योप का कि उन्होंने उपास्य के धर्म का प्रचार किया है। बुद्ध लोगों के पीछे उनके शिष्य काव्यवर्ति भी नहीं गये और उन्होंने शिष्यतीय भ्रष्टा में अनेक श्रावक धर्मों का अनुवाद किया। इसी प्रकार दूसरे मिश्रधर्मों में वैष्णव-धर्म, जैन, मुन्ना तथा बौद्धों में जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया और इसे विश्व धर्म बनाया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सध की स्थापना के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार में बड़ी सहायता मिली। सच पूछा जाय तो यही कहना पड़ेगा कि इसी सध के द्वारा बौद्ध धर्म विश्व-धर्म के रूप में परिणत हो सका। भारत में धर्म के प्रचार में 'मिशनरी भावना' की शिक्षा हमें बौद्ध धर्म से ही मिलती है और इसका सारा श्रेय इसी बौद्ध-सध को प्राप्त है।

बुद्धिवाद

यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी विशेषता उसका बुद्धिवाद या युक्तिवाद है। यद्यपि यह कहना अनुचित होगा कि बुद्ध के पहले धर्म में बुद्धिवाद को स्थान नहीं था, फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि भगवान् बुद्ध ने बुद्धिवाद को जितना महत्त्व प्रदान किया उतना किसी ने नहीं किया था। भगवान् बुद्ध के पहिले वैदिक धर्म का बोल चाला था। वेद का प्रमाण अखण्डनीय समझा जाता था। वेद की प्रामाणिकता में सन्देह करना अधर्म गिना जाता था। 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'—यह महामन्त्र उद्धोषित किया जाता था। धर्म के सबन्ध में श्रुति ही परम प्रमाण मानी जाती थी और श्रुति से इतर वस्तु प्रमाण कीटि में नहीं आती थी। यद्यपि भगवान् कृष्ण ने गीता में 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' कहकर बुद्धिवाद की महत्ता को स्वीकार किया है फिर भी अन्त में, उन्होंने धार्मिक मामलों में शास्त्र को ही प्रमाण माना है। धर्म, अधर्म की उलम्भन में पड़े हुये मनुष्यों को उन्होंने 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' का उपदेश दिया है। इस प्रकार से आर्यधर्म में सर्वत्र शास्त्र को ठीक ही प्रतिष्ठा दी जाती थी और वही परम माना जाता था। परन्तु शाक्यमुनि का कार्य था कि उन्होंने युक्तिवाद या बुद्धिवाद को शास्त्रवाद के स्थान पर प्रतिष्ठित किया। भगवान् बुद्ध की यह शिक्षा थी कि बुद्धिवाद का आश्रय लो तथा शास्त्र पर विश्वास मत करो। अमुक वस्तु ऐसी है, क्योंकि शास्त्र में ऐसा लिखा है—इस मनोवृत्ति का उन्होंने घोर विरोध किया और अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया कि किसी वस्तु को तब तक ठीक मत समझो जब तक तुम उसकी परीक्षा स्वयं न कर लो। उन्होंने अपने परम शिष्य आनन्द से यहाँ तक कहा कि धर्म के किसी सिद्धान्त को इसलिये सत्य मत मानो क्योंकि मैं (स्वयं बुद्ध) ऐसा कहता हूँ, बल्कि उसे तभी स्वीकार करो जब वह तुम्हारी बुद्धि में ठीक जँचे। सारांश यह है कि बुद्ध का यह मत था कि धर्म

के सम्बन्ध में किसी अन्य वस्तु या व्यक्ति को प्रमाण मत मानो। यदि कोई धार्मिक सिद्धान्त तुम्हारी बुद्धि को उन्नत ग्रास्यमान होता है तो उसे स्वीकार करो अन्यथा उसे बुर रक्खो। इसीलिये भगवान् तबामत में प्रत्येक मनुष्य का अपना पक्ष-प्रदर्शक स्वयं बनने का उपदेश दिया है। उन्होंने अपने उपदेश में स्पष्ट ही कहा है कि 'अन्तर्दीपाः भयस्य अन्तर्दारवाः' अर्थात् तुम हाथ स्वयं ही दीपक बनो तथा दूसरे को शरण में न आकर अपनी ही शरण में आना। इसका अर्थ है कि अपने आपका सेना प्रभार्य मित्रता है कभी के द्वारा धर्म के रहस्यों को समझो तथा गुह्य अथवा धर्मोपदेशक के शरण में न आकर स्वयं ही अपना पक्ष प्रदर्शन करो। जहाँ अन्य धर्मग्रन्थों में गुह्य का ईश्वर से भी कहा जाता है वहाँ पर शरण में आना शिष्य का परम कर्तव्य विनियत किशोरे, वह जो गुह्य में गुह्य की सत्ता का सीमित कर शिष्य की महत्ता का प्रतिपादन किया है। सम्भवतः संसार के इतिहास में इस प्रकार का धार्मिक उपदेश शायद ही कहीं तुमने को मिले। परन्तु तबामत के रूप में हम एक ऐसे विवर्तन धर्मोपदेशक को पाते हैं जिसने न केवल शास्त्रों की सत्ता को अस्वीकृत किया बल्कि अपना (गुह्य) प्राप्तिमान भी न मानने के लिए शिष्यों को पूरी स्वतन्त्रता दे दी। इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने मनुष्य को महत्ता तथा उसमें परिश्रम का स्वीकार किया। उस प्राप्तिमान कात में जब व्यक्तिगत विचार का किरण मूल्य नहीं था तथा शास्त्रों को प्राथमिकता के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया जाता था बुद्ध ने बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा कर सचमुच ही बहुत बड़ा काम किया। उस बड़ा काम करने वाले कि वह धर्म को मानना इसलिये आवश्यक नहीं है कि वह किसी राजपुत्र या राजसी के द्वारा अथवा गया है बल्कि इसलिये कि अपनी बुद्धि को वह उन्नत प्रतीत होता है। इस प्रकार अनेक लोगों ने—किन्हीं यह पण्डित आत्मा—इस धर्म का स्वीकार कर लिया। यही कारण है कि धार्मिक भी यह धर्म अपने बुद्धिवाद के कारण वास्तविक रूप में धार्मिक अनील कर रहा है।

बीद धर्म की दूसरी विशेषता यह मनुष्यों का समान अधिकार स्वीकार करना है। बहिर्धर्म यद्यपि कहा ही करता, स्पष्टतया स्पष्टतया है परन्तु उसमें एक बड़ी ही कमी है कि वह यह मनुष्यों का समान अधिकार नहीं मानता। यद्यपि भगवान् ने बीद में राजा तथा धर्मदाय के बीच के भेद दर्शन की विचारों को स्पष्ट ही कहा है —

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

परन्तु यह समदर्शिता व्यवहार के क्षेत्र में विशेष नहीं लायी गयी । यह केवल पुस्तक के पृष्ठों में ही पड़ी रही । जिस समय बौद्धधर्म का प्रादुर्भाव हुआ उस समय वैदिक धर्म की प्रधानता थी । यज्ञ, यागादिक बड़े उत्साह तथा विधि-विधान के साथ किये जाते थे । वेद का पढ़ना द्विजातियों के लिये अत्यावश्यक समझा जाता था । सन्ध्योपासन तथा सावित्री मन्त्र का जप धर्म के प्रधान अंग समझे जाते थे । परन्तु ये सब अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिये ही थे । शूद्र न तो वेद ही पढ़ सकता था और न यज्ञादिक ही कर सकता था । शूद्र तथा स्त्रियों को वेद न पढ़ाने की स्पष्ट आज्ञा का उल्लेख मिलता है—
स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम् । भगवान् व्यास ने महाभारत की रचना का कारण बतलाते हुए लिखा है कि शूद्र और स्त्रियों को वेदत्रयी नहीं सुननी चाहिये अर्थात् वे इसके पठन से वंचित हैं, अतः कृपा करके मुनि (व्यास) ने महाभारत की रचना की —

स्त्रीशूद्रद्विजवन्धूना त्रयी न श्रुतिगोचरा ।

इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥

इस प्रकार शूद्र उच्च अधिकारों से वंचित थे और उनके लिये अपनी उन्नति—सामाजिक तथा आध्यात्मिक—का द्वार बन्द था ।

बुद्ध ने मनुष्य के बीच वर्तमान इस असमानता के दोष को देखा और उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा कर दी कि सब मनुष्य समान हैं । न कोई श्रेष्ठ है और न कोई नीच । अपने कर्मों के अनुसार ही मनुष्य को लघुता या गुरुता प्राप्त होती है । उन्होंने यह भी शिक्षा दी कि धर्म में सबका समान अधिकार है । जो चाहे अपनी इच्छानुसार इसे ग्रहण कर सकता है । इस प्रकार आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व बुद्ध ने प्रजातन्त्रवाद के इस मूल-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था । सबकुछ ही उस प्राचीन युग में इस प्रकार की विद्रोहात्मक घोषणा करना बड़े ही साहस का काम था । परन्तु इसका प्रभाव वषा ही संतोषजनक हुआ । वे नीची जातियाँ—जो वैदिकधर्म में तिरस्कृत समझी जाती थीं—अपनी उन्नति करने लगीं और सामूहिक रूप से उन्होंने इस धर्म को स्वीकार कर लिया । इस प्रकार से यह धर्म निम्नकोटि

के लोगों में धीरे धीरे फैलन लगा तथा इसकी वृद्धि होने लगी। आजकल अनेक 'बौद्ध' निवास पड़े हैं जिसके अनुसार कई राज्यों को महत्ता देता है। तो कोई व्यक्ति को। आजकल के समय में मानव के समानाधिकार की बर्बादी प्रायः सर्वत्र सुनाई देती है परन्तु यदि किसी को सर्वप्रथम मनुष्य तथा मनुष्य के बीच में समान अधिकार स्थापित करने का उद्देश्य प्राप्त है तो वह केवल कुछ ही को है। उन्होंने अपने इस उपदेश को केवल सिद्धान्त रूप में ही नहीं रक्खा, बल्कि इसे व्यवहार-रूप में भी परिवर्तित किया। उन्होंने अपना पश्चिमा एक मार्ग को ब्रह्मात्म विचार, नाम उपस्थित था। बीच अस्ति में उत्पन्न होने के कारण उन्होंने उसका बहिष्कार नहीं किया बल्कि उसे अपनाकर अपना मुख्य शिष्ट बना लिया। इस प्रकार उनके सिद्धान्त और व्यवहार में एकता होने से उनके उपदेशों का लोगों के हृदय पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा था।

बौद्धधर्म की तीसरी महत्ता सदाचार के ऊपर अत्यधिक जोर देना है। मनुष्य जन्मापत्त में अपने उपदेश में सदाचार पर ही विशेष जोर दिया है। यदि कोई व्यक्ति के निवास में सबसे बड़ी कठिनाई हो तो या तो वे मौन रहें उत्तर ही नहीं दें वे और यदि उत्तर भी दें तो वे ही कहें वे कि हम सदाचार का पालन करते धर्म के दार्शनिक व्यक्तियों में क्यों पड़े हो। उन्होंने मनुष्यों के आचरण सुधारने के लिये 'आचारिक' मार्ग का उपदेश दिया है जिसके आचरण करने से मनुष्य पवित्र बन जाता है और उसका अस्ति अत्यन्त उज्ज्वल और निष्कल होता है। जिस प्रकार इन्द्रिय धर्म में बुरा आचार्यों का पालन अत्यन्त बुरा है उसी प्रकार से बौद्धधर्म में इस आचारों का पालन अत्यन्त आवश्यक माना गया है। महात्मा बुद्ध अच्छी तरह से जानते थे कि दार्शनिक सिद्धान्तों में सतमेव हो सकता है; इसमें आश्चर्य करने का कारण उपस्थित होने की संभावना है परन्तु सदाचार के पालन में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। इसीलिये उन्होंने एक ऐसे सर्वव्यापी सदाचार का उपदेश दिया जो सबको विषय किसी संकोच के भाग्य था। यदि इस धर्म के मूल सिद्धान्तों की कोश की जाय तो इसमें सदाचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सकता। इसलिये महान् बौद्धधर्म को नैतिक धर्म (Ethical Religion) कहते हैं—कारण वह धर्म जो केवल सदाचार को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करता है। सदाचार जन्म के लिये इसलिये इस धर्म का प्रधान उद्देश्य माना जाता है।

भगवान् बुद्ध ने अहिंसा का उपदेश कर ससार का बड़ा ही उपकार किया । वैदिक धर्म में यज्ञ-यागादिक का बड़ा महत्त्व था । यज्ञों में पशुओं का बलिदान किया जाता था । परन्तु कालान्तर में यह हिंसा अपनी सीमा का उल्लंघन कर गई थी और धर्म के नाम पर अनेक जीवों की हत्या प्रतिदिन की जाती थी । बुद्ध ने देखा कि यह काम बड़ा ही घृणास्पद और नीच है । निरपराध सहस्रों पशुओं की हिंसा निरर्थक की जा रही है और वह भी धर्म के नाम पर । दीन पशुओं की वाणी ने इनके सदय हृदय को द्रवित कर दिया । 'सदयहृदयदक्षितपशुघातं' वाले इस महात्मा तथा महापुरुष ने इस पशुहिंसा के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया और तार स्वरों में इस बात की घोषणा की कि यज्ञ-यागादिक का करना व्यर्थ है । मनुष्यों को चाहिये कि पशुओं की हिंसा न करें, क्योंकि ससार में यदि कोई धर्म है तो केवल अहिंसा ही है । बुद्ध ने अहिंसा को बड़ा ही महत्त्व प्रदान किया है और इसे परम धर्म माना है — **अहिंसा परमो धर्मः** । जहाँ आजकल का रणमत्त ससार हिंसा को ही अपना परम धर्म मानता है, वहाँ आज से २५०० वर्ष पहिले बुद्ध ने मानव को अहिंसा का पाठ पढ़ाया था । बुद्ध ससार के दुःख को दूर करना चाहते थे । उनकी यही आकांक्षा थी कि ससार के सभी जीव सुख से तथा शान्ति-पूर्वक निवास करें । उनका हृदय करुण तथा दया का अगाध महोदधि था । क्षुद्र जीवों के प्रति भी उनके हृदय में अनन्त प्रेम था । अहिंसा के उपदेश का उन्होंने केवल प्रचार ही नहीं किया, बल्कि उसे व्यवहार में लाने पर भी जोर दिया । उन्होंने स्वयं अपने जीवन को खतरे में डालकर किस प्रकार काशिराज के हाथों से एक मृगशिशु की जीवन रक्षा की थी, यह ऐतिहासिकों से अविदित नहीं है । उनकी इस शिक्षा तथा व्यवहार का जनता में अत्यधिक प्रभाव पड़ा । सम्राट् अशोक तो उनके अहिंसा सिद्धान्त का इतना पक्षपाती था कि उसने राजकीय महानस में भोजन के लिये मयूर तथा मृगों को न मारने की निषेध आज्ञा निकलवा दी थी । इस प्रकार से अनन्त जीवों की रक्षा कर भगवान् बुद्ध ने प्राणिमात्र का बड़ा उपकार किया । राजा शिवि के शब्दों में उनके जीवन एक ही उद्देश्य था और वह था—प्राणियों के कष्टों को दूर करना । न तो उन्हें राज्य की कामना थी और न धन की । न तो स्वर्ग की स्पृहा उनके हृदय में थी और न अपवर्ग की लालसा । कपिलवस्तु का यह राजकुमार केवल अन्य प्राणियों के दुःखों को दूर करने के लिये ही स्वयं अनेक कष्टों को झेलता रहा । सचमुच ही उनका सिद्धान्त था —

न त्वहं क्षमये राज्यं, न स्वर्गं नापुनर्ममम् ।

क्षमये दुःखसप्तानां प्राणिनामार्तिनाराणम् ॥

इसरी बात को बौद्धधर्म में विशेष महत्त्व रखती है वह आत्महत्या की शिक्षा है। महात्मा बुद्ध ने आत्महत्या—अपना आत्मा को बरा में करने—का उपदेश किया है। उनका यह सिद्धान्त था कि आत्मा का अपने बरा में किसी बिना कोई कर्म सम्पादित नहीं हो सकता। इसलिये उन्होंने मनुष्य के अन्दर रहने वाले काम श्रेष्ठ मरु, सोम आदि आदि के हत्या के ऊपर विशेष जोर दिया है। मनुष्य विकारों का समुदाय है। अतः जब तक वह अपने आन्तरिक विकारों को दूर कर इन्द्रियों को बरा में नहीं करता, तब तक वह विजेता नहीं कहला सकता। इसीलिये बुद्ध ने दूसरों पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा आत्म-विजय पर इतना जोर दिया है। वे स्वयं शान्त और शान्त थे। जब वे अपनी उपस्था में लगे हुए थे तब एक बार बार ने इनको समाधिस्थ करने के लिये कईक हुम्मी अप्परावे मैत्री परन्तु वे अपनी प्रतिष्ठा से इस से मर नहीं हुए—

‘इहासनें सुप्पवु मे शरीरं त्पगस्मिमांसं विलयं च यत्तु ।

अप्राप्य बोधिं मरुक्कल्पवुत्तमां, नद्धासनाद् गायसिद्दं चलिप्पति’ ॥

यह उनकी मौल्य प्रतिष्ठा की और अन्त में अपने इसी आत्म हत्या के द्वारा उन्होंने उस महान् बोधि को प्राप्त किया जिसका प्रकाश आज भी आत्महत्या में पड़े मानवों के लिये प्रकाश-स्वप्न का कार्य कर रहा है। इस आत्म-हत्या की महत्ता के कारण जनता के सदाचार की दृष्टि हुई और बौद्ध धर्म में वे गुरुत्वों नहीं आने पाई जो अन्य धर्मों में विद्यमान थीं।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि बौद्धधर्म में बुद्धिवाद, मनुष्यों के सामान्य अधिकार सदाचार की महत्ता अहिंसा का पालन तथा आत्महत्या आदि ऐसी धर्मिक बातें थीं जो साधारण मनुष्यों की भी अपील करती थीं। परन्तु इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात मनुष्यों की समानता थी। जिस ‘स्वतन्त्रता समानता तथा भाद्रता’ के अधिकार की प्राप्ति के लिये ग्रीक लोगों ने १८ वीं शताब्दी में प्रचलित विद्रोह किया था वही समानता और स्वतन्त्रता का अधिकार महात्मा बुद्ध ने आज से २५ वर्ष पूर्व सभी मानवों को दे दिया था। इनसे बढ़कर सदाचार क्या हो सकती है? यह बुद्ध बौद्धधर्म एक जनतन्त्र धर्म है। इसके बहुत प्रकार तथा विस्तृत प्रकार का यही सर्वप्रथम कारण है।

बौद्धदर्शन ससार के दार्शनिक इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यथार्थवाद तथा आदर्शवाद दोनों वादों का जितना समन्वय इस दर्शन में मिलता है वैसा अन्यत्र उपलब्ध **बौद्धदर्शन** नहीं है। बौद्ध दार्शनिकों ने इस ससार की क्षणिकता को समझा, इसकी परिवर्तनशीलता को परखा और यह सिद्धान्त निकाला कि ससार के सब पदार्थ क्षणिक हैं। बौद्धों के शून्यवाद की कल्पना भारतीय दर्शन के ब्रह्मवाद से मिलती जुलती है। शून्य कोई अभावात्मक पदार्थ नहीं है बल्कि यह ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का ही प्रतीक है। बौद्धों का मनोविज्ञान भी अद्वितीय है। चित्त या मन की जितनी अवस्थायें हो सकती हैं उनका ऐसा सुन्दर विश्लेषण अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। भारतीय न्याय के इतिहास में बौद्धन्याय का बड़ा महत्त्व है। सच तो यह है कि भारत का मध्यकालीन न्याय इन्हीं बौद्धों के द्वारा प्रारम्भ किया गया था।

बौद्धधर्म की महत्ता का अत्यन्त सक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है। सर्वप्रथम हमने इस धर्म के त्रिरत्न-बुद्ध, सघ और धर्म-का वर्णन किया जिसमें बुद्ध के महान् व्यक्तित्व, सघ का हृदयघटन तथा इस धर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में बौद्धदर्शन की विशेषताओं को दिखलाकर यह अध्याय तथा ग्रन्थ यहीं समाप्त किया जाता है। आशा है कि भगवान् तथागत का यह धर्म दुःख, जरा तथा व्याधि से व्यथित मानवों को सुख, शान्ति और आतृभाव का सन्देश सदा देता रहेगा। तथास्तु।

यावच्छम्भुर्वहति गिरिजासविभक्त शरीर
यावज्जैत्र कलयति धनु कौसुम पुष्पकेतु ।
यावद् राधारमणतरुणीकेलिसाक्षी कदम्ब-
स्तावज्जीयाज्जगति महित शाक्यसिंहस्य धर्म ॥



न त्यह कामये रास्य, न स्वर्ग मापुनमवम् ।

कामये बु-सत्तप्तानां प्राणिनामार्तिनारानम् ॥

बुद्धी बात को बीजवर्म में विशेष महत्त्व रखती है वह आत्मब्रमण की शिष्टा है। मगान्त्र बुद्ध में आत्मब्रमण—अपने आत्मा को परा में करने—का अपेक्षा किया है। उनका यह सिद्धान्त था कि आत्मा का अपने परा में होने बिना कोई कर्म सम्पादित नहीं हो सकता। इसलिये उन्होंने मनुष्य के अन्दर रहने वाले काम कोष मरु, सोम अहङ्कार आदि के ब्रमण के ऊपर विशेष जोर दिया है। मनुष्य विचारों का समुदाय है। अतः जब तक वह अपने आन्तरिक विचारों को बुर कर इन्द्रियों को परा में नहीं करता, तब तक वह विकसित नहीं कहता सकता। इसलिये बुद्ध ने बुद्धों पर विषय प्रसन्न करने की अपेक्षा आत्म-विषय पर हस्त जोर दिया है। वे स्वयं ब्रह्म और शान्त थे। जब वे अपनी तपस्या में लगे हुए थे तब एक बार मार ने उनको समाधिपुरुष करने के लिये अनेक छन्दरी अप्सरों में भी परन्तु वे अपनी प्रतिष्ठा से डर से मच नहीं हुये—

‘इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्विर्मांसं विषयश्च धातुः ।

अमाप्य बोधिं बहुकल्पबुद्धिर्मां, महासमाधौ नात्रमिव चक्षिष्यति’ ॥

वह उनकी मीमांसा प्रतिष्ठा की और अन्त में अपने इसी आत्म-ब्रमण के द्वारा उन्होंने उस महात्मा आदि को प्राप्त किया जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान भी आत्मकार में पड़े मानवों के लिये प्रकाश-स्तम्भ का कर्म कर रहा है। इस आत्म-ब्रमण की महत्ता के कारण ब्रह्मण के सदाचार की इच्छा हुई और बीज वर्म में वे गुरुओं की धार्मिक धर्मों को अन्य धर्मों में विद्यमान की।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि बीजवर्म में बुद्धिवाद, मनुष्यों के समाज अधिकार, सदाचार की महत्ता अहिंसा का पक्ष तथा आत्मब्रमण आदि ऐसी अनेक बातें थी जो साधारण मनुष्यों की थी, ‘अपीत करती थी। वरन्तु इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात मनुष्यों की समानता थी। जिस ‘स्वतन्त्रता समानता तथा प्राप्तता’ के अधिकार की प्राप्ति के लिये वेब लोगों के १८ की राजपदी में प्रथम मित्रोह किया था उसी समानता और स्वतन्त्रता का अधिकार मगान्त्र बुद्ध ने आज से २५ वर्ष पूर्व सभी मानवों को दे दिया था। इससे बढ़कर सदाचार का हो सकती है। सबसुख बीजवर्म एक अनतन्त्र वर्म है। इसके बहुत प्रकार तथा विस्तृत प्रकार का यही वर्णनमान कारण है।

बौद्धदर्शन ससार के दार्शनिक इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यथार्थवाद तथा आदर्शवाद दोनों वादों का जितना समन्वय इस दर्शन में मिलता है वैसा अन्यत्र उपलब्ध **बौद्धदर्शन** नहीं है। बौद्ध दार्शनिकों ने इस ससार की क्षणिकता को समझा, इसकी परिवर्तनशीलता को परखा और यह सिद्धान्त निकाला कि ससार के सब पदार्थ क्षणिक हैं। बौद्धों के शून्यवाद की कल्पना भारतीय दर्शन के ब्रह्मवाद से मिलती जुलती है। शून्य कोई अभावात्मक पदार्थ नहीं है बल्कि यह ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का ही प्रतीक है। बौद्धों का मनोविज्ञान भी अद्वितीय है। चित्त या मन की जितनी अवस्थायें हो सकती हैं उनका ऐसा सुन्दर विश्लेषण अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। भारतीय न्याय के इतिहास में बौद्धन्याय का बड़ा महत्त्व है। सच तो यह है कि भारत का मध्यकालीन न्याय इन्हीं बौद्धों के द्वारा प्रारम्भ किया गया था।

बौद्धधर्म की महत्ता का अत्यन्त सक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है। सर्व प्रथम हमने इस धर्म के त्रिरत्न-बुद्ध, सच और धर्म-का वर्णन किया जिसमें बुद्ध के महान् व्यक्तित्व, संघ का दृढ सघटन तथा इस धर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में बौद्धदर्शन की विशेषताओं को दिखलाकर यह अध्याय तथा ग्रन्थ यहीं समाप्त किया जाता है। आशा है कि भगवान् तथागत का यह धर्म दुःख, जरा तथा व्याधि से व्यथित मानवों को सुख, शान्ति और भ्रातृभाव का सन्देश सदा देता रहेगा। तथास्तु।

यावच्छम्भुर्वहति गिरिजासविभक्त शरीरं
यावज्जैत्र कलयति धनु कौसुमं पुष्पकेतुं ।
यावद् राधारमणतरुणीकेलिसाक्षी कदम्ब-
स्तावज्जीयाज्जगति माहित शाक्यसिंहस्य धर्म ॥



परिशिष्ट (क)

प्रमाण-ग्रन्थावली

सामान्य ग्रन्थ

S. Radhakrishnan

Indian Philosophy Vol I
Chapters VII, X, XI;
London '29

S. N Das Gupta

History of Indian Philo-
sophy Vol I, Ch V,
Cambridge

Hiriyanna

Outlines of Indian
Philosophy London. 1980

Chatterjee & Datta

An Introduction to
Indian Philosophy Chap IV,
Calcutta University '89

Jwala Prasad

Indian Epistemology,
Lahore 1939

Yamakami Sogen

Systems of Buddhistic
Thought, Calcutta University,
1912

A B. Keith

Buddhist Philosophy.,
Oxford.

Stcherbatsky

General Conception of
Buddhism, Royal Asiatic
Society, London.

Charles Eliot

Hinduism and Buddhism
Vol I-III London

Otto Rosenberg

Die Problem der Buddhis-
tischen Philosophie.
Heidelberg 1924.

B. C Law

Buddhist Studies,
Calcutta 1981

राहुक सांस्कृत्यायन
बुद्धदेव उपाध्याय
गुणाव रत्न

बुद्धम-विमर्शित प्रयाग १९४९
भारतीय-बुद्धम काशी १९४९
बौद्ध-धर्म, बुद्धकता १९४३

बौद्ध-साहित्य का इतिहास

Nariman

Literary History of Sanskrit
Buddhism, Bombay 1920

Wintenkita

History of Indian Literature
Vol. II, Calcutta University

Obermiller

Boston's History of
Buddhism, Heidelberg

R Mitra

Nepalese Buddhist Literature
Calcutta 1882.

मूल बौद्ध-धर्म

Mrs. Rhys Davids

Sakya or Buddhist Origins
London 1901.

"

Gautam the Man 1928.

"

A Manual of Buddhism '82.

" "

Outlines of Buddhism 1934

Buddhism (Home University
Library 1934).

"

What was the original
Gospel in Buddhism ? 1938

S Tachibana

The Ethics of Buddhism,
Oxford University Press 1920.

George Grunm

The Doctrine of the Buddha,
Leipzig, 1926

Bukumar Datt

Early Buddhist Monachism
London, 1924.

Edmund Holmes

The Creed of Buddha,
London.

What is Buddhism,
Buddhist Lodge London 1929

Hari Singh Gaur

The Spirit of Buddhism
Calcutta, 1929

J. B. Horner

The Early Buddhist Theory
of Man Perfected (A study of
the Arhan) London, 1916.

Kern

Indian Buddhism

अभिधर्म

Anagarika B.
Govinda

The Psychological Attitude
of Early Buddhist Philosophy
(Patna University Readership
Lectures 1936-37)

J. Kashyap

The Abhidhamma Philoso-
phy Vols 1-II; Mahabodhi
Society, Sarnath 1942

महायान-धर्म

R. Kimura

A Historical Study of the
terms Hinayana and Mahayana
and the origin of the Mahayana
Buddhism (Calcutta University,
1927)

N Datta

Aspects of Mahayana Budd-
hism and its relation to Hinayana
(Calcutta Oriental Series,
Calcutta.)

Macgovern

An Introduction to Mahayana
Buddhism (Kegan Paul,
London, 1922)

D T Suzuki

Outlines of Mahayana
Buddhism

Lala Har Dayal

Bodhisattva

बौद्ध-सम्प्रदाय

N Datta

Early History of the Spread
of Buddhism and Buddhist

Schools (Luzac & Co London 1925.)

W M. Macgovern

A Manual of Buddhist Philosophy (Kegan Paul & co., London 1928.)

Satkari Mookerjee

The Buddhist Philosophy - Universal Flux.

Scherbatsky

Conception of Buddhist Nirvana.

Forness

Way to Nirvan

बौद्ध-न्याय

Satischandra

A History of Indian Logic, Calcutta University 1921

Vidyabhusan

Scherbatsky

Buddhist Logic Vol. I Leningrad 1932 Vol. II 1933.

Mrs. Rhys Davids

The Birth of Indian Psychology and its development in Buddhism, Luzac & Co., London 1930

Jwala Prasad

Indian Epistemology Lahore 1932

Tucci

Doctrines of Maitreyanath, Calcutta University

बौद्ध-योग

P V Bapat

Vimuttimaggā and Visuddhimaggā—A Comparative Study, Poona, 1937

G C Lounsbury

Buddhist Meditation, Kegan Paul, London, 1935.

Concentration and Meditation, Buddhist Lodge London, 1935.

बौद्ध-तन्त्र

Binayatosh Bhatta-
charya

An Introduction to Buddhist
Esoterism (Oxford University
Press, 1932),

G. N Kaviraj

The Mystic significance of
'Evam' (Jha Research Institute
Journal Vol II, Part I, 1944)

” ” ”

बौद्ध तान्त्रिक धर्म (बङ्गला)
(उत्तरा-वर्ष ३, ४ में प्रकाशित, काशी)

B C Bagchi

Studies in Tantras (Calcutta)

राहुल सांकृत्यायन

वज्रयान और चौरासी सिद्ध (हिन्दी)
(पुरातत्त्व-निबन्धावली, इण्डियन प्रेस,
१९३७) ।

नर्मदाशंकर मेहता

शाक्त-सम्प्रदाय (गुजराती),
अहमदाबाद ।

बौद्ध-धर्म का प्रसार

Nihar Ranjan Boy

Sanskrit Buddhism in Burma;
Calcutta University, 1936.

Lewis Hodous

Buddhism and Buddhist in
China, Newyork, 1924.

Edkin

Chinese Buddhism

J B Pratt

The Pilgrimage of Buddhism
Macmillan, London 1928.

Waddell

Tibetan Buddhism, 1910

H. Hackmann

Buddhism - A Religion,
London, 1910

Sarat Chandra Das

Indian Pandits in the land
of snow

Sir Charles Eliot

Hinduism and Buddhism Vol III,

राहुल सांकृत्यायन

तिब्बत में बौद्ध-धर्म ।

Dwight Goddard
D T, Suzuki

A Buddhist Bible, Japan 19 2
Studies in Lankavatara Sutra
London 1930.

" " "

Essays in Zen Buddhism
Luzac & Co London Vol I,
1927 Vol II 1933, Vol III 1934

विशिष्ट-ग्रन्थ

Oldenberg

Die Lehre der Upanisheden
und die Anfänge des Buddhismus
(Göttingen 1925)

A. G. Edmunds

Buddhist & Christian Gospels
Vol. I II (Philadelphia 1908)

Miss Durga
Bhagavat

Early Buddhist Jurispru-
dence (Poona, 1940)



पारिभाषिक
शब्दकोष

[इस ग्रन्थमें दार्शनिक शब्दों का बहुलतासे प्रयोग किया गया है। उनकी विस्तृत व्याख्या भी यथास्थान की गई है। पाठकों के सुभीता के लिए यह कोप तैयार किया गया है जिसमें विशिष्ट शब्दों की संक्षिप्त व्याख्या दी गई है। विशेष जानकारी के लिए ग्रन्थके तत्तत् स्थल देखें]

पृ०

अ

अकुल

तत्रशास्त्र में शिव का प्रतीक

३५५

अकुशलमहाभूमिक धर्म

सदैव बुरा फल उत्पन्न करनेवाले धर्म।

१९५

अकृततावाद

प्रकृष्ट कात्यायन का मत। जगत् के पदार्थ पृथिव्यादि चार तत्त्व, सुख, दुःख तथा जीवन-इन सात तत्त्वों से बने हुए हैं। शस्त्र मारने से किसी की हिंसा नहीं होती, क्योंकि शस्त्र इन सप्त कार्यों में न पड़ कर उनके विवर में पड़ता है।

३०

अक्रियावाद

पूर्ण काश्यप का स्वतन्त्र मत। यह मत क्रियाफलों का सर्वथा निषेध करता है। इस मत में न भले कर्मों से पुण्य होता है और न बुरे कर्मों के करने से पाप।

२८

अचल

विज्ञानवादियों के असंस्कृत धर्मों में अन्यतम। अचल = उपेक्षा। इस दशा का तभी साक्षात्कार होता है जब सुख तथा दुःख उत्पन्न नहीं होते।

२४६

अचला

योग की अष्टम भूमि।

३३५

अदिष्ठकम्

१. नौ कर्मस्थान । शव की केवल ऊठी पर व्याप्त लगाना ।
 इस स्थान का फल है इस आपत्तता समझी शरीर के शुद्ध
 परिणाम को प्राप्त कर बित्त को इससे दूराना ।

१४१

अधिपति प्रत्यय

प्रत्यय शब्द का तृतीय प्रत्यय । अधिपति = इन्द्रिय । अर्थात्
 प्रत्यय शब्द का अरथसमूह इन्द्रिय जैसे शब्द के प्राथम्य प्रत्यय
 में प्रथम ।

१४७

अनागामी

आत्मक की तृतीय श्रुति । इस शब्द का अर्थ है फिर बन्ध
 न होने वाला ।

११८

अनिश्चिततावाद

संभव कैवल्यपुत्र का मत । वास्तु के समस्त पदार्थों के रूप
 का निश्चित विस्मय नहीं हो सकता । अनेकान्यथा
 का एक रूप ।

१५

अनुत्तर पूजा

‘बोधि वित्त’ के उत्पन्न करने के लिए एक प्रकार की
 विशिष्ट महात्मा पूजा ।

१२३

अनुत्पत्ति

= अनुत्पत्ति । जब स्थान का विषय वास्तु अथवा पदार्थ न होकर
 केवल वस्तु की प्रतीति या कल्पनामान होता है तब इसे
 ‘अनुत्पत्ति’ कहते हैं (विमुक्ति मग्न परिच्छेद ७)

१४१

अप्यथा समाधि

वास्तु के ऊपर चित्त को स्थिर कर देना ।

१२७

अप्रतिषेध्या मिरोष

विना महा के ही वास्तव जगत् का मिरोष । इस मिरोष का
 फल ‘अनुत्पत्ति’ शब्द है अर्थात् भविष्य में रागादि द्वेषों की
 कल्पना उत्पत्ति नहीं होती जिससे आधी ऐक्यमिच्छा निर्वाण
 प्राप्त होता है ।

१

अभिधम्म

= 'अभिधर्म' । बुद्धवचन का तृतीय पिटक जो एक ही धर्म के नाना प्रभेद दिखलाने के कारण (आभीक्ष्ण्यात्), दूसरे मतों के खण्डन करने के कारण (अभिभवात्), बौद्ध सिद्धान्तों की उचित आध्यात्मिक व्याख्या करने के कारण (अभिगति) इस नाम से पुकारा जाता है ।

१२-१३

अभिमुक्ति

योग की पष्ठभूमि ।

३३५

अमराविज्ञेयवाद

कार्य तथा अकार्य के विषय में निश्चित मत न रखने वाले दार्शनिकों का सिद्धान्त ।

२४

अरूपधातु

भूतों के द्वारा अनिर्मित लोक । इसमें केवल मनोधातु, धर्मधातु तथा मनोविज्ञानधातु की ही एकमात्र सत्ता रहती है ।

१८५

अर्चिष्मती

योग की चतुर्थ भूमि ।

३३५

अर्हत्

हीनयान का आदर्श व्यक्ति-जिसने अपने समस्त क्लेशों को दूर कर स्वयम् निर्वाण प्राप्त कर लिया हो ।

१२१

अवधूती

'अवहेलया अनाभोगेन क्लेशादि-पापान् धुनोति' = अनायास ही क्लेशादि पापों को दूर करनेवाली शक्ति । सुपुम्ना मार्ग से प्रवाहित होने वाली शक्ति का तान्त्रिक नाम । जब ललना तथा रसना विशुद्ध होकर एकाकार हो जाती हैं, तो उन्हें 'अवधूती' कहते हैं ।

३७३

अविज्ञप्ति

अप्रकट अनभिव्यक्त कर्म । जिन कर्मों का फल सद्यः अभिव्यक्त न होकर कालान्तर में अभिव्यक्त होता है, उन्हीं का नाम है 'अविज्ञप्ति' । इस प्रकार 'अविज्ञप्ति' वैशेषिकों के 'अदृष्ट' तथा मीमांसकों के 'अपूर्व' का बौद्ध प्रतिनिधि है ।

१९१

अष्टांगिक मार्ग

युक्त के द्वारा उपदिष्ट मार्ग जिसके (१) सम्बन्ध छवि (२) सम्बन्ध संकल्प (३) सम्बन्ध वाक्य आदि आठ अङ्ग होते हैं।

असंस्तुत

हेतु प्रत्यक्ष से बलवत् न होने वाले स्वामी पितृ पतिहीन तथा अनात्मन वर्म।

आ

आकाश

यह वह असंस्तुत वर्म है जो य तो दूसरों से आचरण करता है न अन्य वर्मों के द्वारा आहत होता है।

आकाशात्मिकापत्तन

आकाश + आत्मन्य + आपत्तन। कर्मस्वात् का ११ र्थे अकार। सप्तम अवस्थ आकाश के ऊपर स्थित सप्तमा। अक्षिप्त में केवल परिधिवाक्य आकाश पर ही व्याप्त आपत्तने का निषाल होता है। इत्यस्य परिधिवाक्यस्य अक्षिप्त'।

आकिञ्चिन्नापत्तन

कर्मस्वात् का १७ र्थे अकार। इसमें निश्चय के मायसे स्थित से दूर कर उसके अन्त्य पर स्थान सप्तमा चाहिए। अक्षिप्त + किञ्चन + आपत्तन'।

आगम

छवि, प्रत्यक्ष देवार्चन सर्वसाधन पुराचरण यद्वर्गसाधन (शक्ति वशीकरण सम्मन विदेवण सञ्चारण तथा मारण) और व्यास योग—इन सत्तनों से युक्त प्रत्यक्षिणीय + तन्त्र।

आचार

तन्त्रशास्त्र में साधक के बाहरी आचरण की संज्ञा।

आजीवक

अक्षिप्त ग्रेसान्त का अन्त का निवर्तिकात् का समर्थक है। माय के प्रमाण से ही प्रणीत युक्त युक्त के अन्तर में बना रहता है इससे अनुष्ठित कर्मों का समिक भी कम नहीं होता। कर्म की अर्चना का पौष्टिक सिद्धांत।

आदात कसिण

८ वाँ कर्मस्थान । आदात = अवदात (सफेद) उजले रंग के फूलों से ढके हुए पात्रविशेष पर ध्यान करना ।

३४०

आदि-बुद्ध,

कालचक्रयान में परमतत्त्व का सकेत । 'आदि' का अर्थ है उत्पाद-व्यय-रहित अर्थात् नित्य । वे प्रज्ञा तथा करुणा की सम्मिलित मूर्ति माने जाते हैं । इनके चार काय होते हैं । ३८४-३८५

आदिशान्त

स्वभाववरहित, विशिष्ट सत्ता से विहीन जगत् के मायिक पदार्थ

२९३

आनापानानुस्सति

कर्मस्थान का २९ वाँ प्रकार । एकान्त स्थान में बैठ कर श्वास-प्रश्वास के ऊपर, सोंस के आगमन तथा निर्गम के ऊपर ध्यान लगाना अर्थात् प्राणायाम करना ।

३४१

आपो कसिण

दूसरा कर्मस्थान । समुद्र, नदी, तालाव आदि जलसम्बन्धी ध्यान के विषय ।

३३९

आयतन

प्रवेश मार्ग । 'आय प्रवेश तनोतीति आयतनम्' । ज्ञान की उत्पत्ति के द्वार होने के कारण इन्द्रिय तथा तत्सम्बद्ध विषय 'आयतन' शब्द से वाच्य होते हैं । भीतरी होने से इन्द्रियाँ (छ) 'अध्यात्म आयतन' कहलाती हैं तथा विषय (छ) 'बाह्य आयतन' कहलाते हैं । सख्या में १२ ।

१८३

आरूप्य

वे कर्मस्थान जो रूपघातु से अरूपघातु में ले जाने में समर्थ होते हैं । इनकी सख्या चार है ।

३४२

आर्य सत्य

आर्यों—विद्वानों के द्वारा ज्ञेय सत्य जो सख्या में चार है । इन्हीं के ज्ञान के कारण ही गौतम को बोधि या बुद्धत्व प्राप्त हुआ ।

५४

आलय विज्ञान

बर्मों के बीजों का यह विज्ञान स्वप्न (आलय) है। ये बर्म बीज रूप से यहाँ इकट्ठे रहते हैं और निद्रारूप से बाहर निकल कर ब्रह्म के व्यवहार का निर्वाह करते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में 'अपचेतन मन' (सब-कनशा माइन्ड) का बौद्ध प्रतिनिधि।

आलम्ब्यमान प्रत्यय

प्रत्यय ज्ञान का विषय। जैसे पद-प्रत्यय में वह आलम्ब्यमान प्रत्यय कहलाता है। प्रत्यय ज्ञान में चार प्रत्ययों में प्रथम प्रत्यय।

आलोचक कालिदास

९ वीं कर्म स्थान। कालिदास के किसी हिस्से से होकर आलोचक की ब्रह्मा या धर्म की विचार कर पाल लपाना।

आहारे पटिहृत्सम्भवा

कर्मस्थान का १९ वीं प्रकरण। मोक्ष से उत्पन्न तथा सम्मत्त पुण्यों पर प्राप्त देने से मोक्ष से हुआ का माय उत्पन्न होता।

इडा

नाम या ब्रह्म नाडी का नाम।

इन्द्रि

आलोचक शक्ति का विधि। समाधि मार्ग के आन्तरिकों में आन्तरिक।

उप्याह निमित्त

इसका अर्थ यह होता है जब कोय-प्रक्रिया के जन्मास करने का मंत्र बन्द कर देने पर उस वस्तु की मूर्ति भीतर स्वतः प्रकट होने लगती है।

उच्छेद-वाय

अग्नि के शक्तिमान्तर यत्। कृष्ण के आन्तरिक आत्मा की सत्ता में अविद्यता। प्रविष्टादि चार तत्वों का ब्रह्म यह शरीर करने पर इसी तत्वों में लीन हो जाता है, कुछ रूप नहीं रहता।

पृ०

उद्धृमातकम्

११ वां कर्मस्थान-संसारकी अनित्यता को सद्य हृदयगम करने के लिए फूले हुए शव पर ध्यान लगाना ।

३४०

१ उन्मनीभाव

आनन्द की वह दशा जिसमें मनका लय हो जाता है तथा प्राण का सञ्चार तनिक भी नहीं रहता । सहजिया लोगों के मत में जीव का यही 'निज स्वभाव' अर्थात् अपना सच्चा रूप है ।

३६९

उपक्लेशभूमिक धर्म

परिमित रहने वाले क्लेशों के उत्पादक धर्म जो सत्या में दस हैं । १९५

उपचार भावना

ध्यानयोग से इसका सम्बन्ध है । जब वस्तु को उसके लक्षण जैसे रंग, आकृति आदि से पृथक् कर केवल वस्तुमात्र पर ध्यान लगाना होता है तब उसे 'उपचार भावना' कहते हैं ।

३४६

उपचार समाधि

किसी वस्तु के ऊपर चित्तको लगाने से ठीक पूर्वक्षण में विद्यमान मानसिक दशा

३३७

उपसमानुस्सत्ति

कर्म-स्थान का ३० वा प्रकार । उपशमरूप निर्वाण के ऊपर ध्यान लगाना ।

३४२

१ उपादान

आसक्ति । तीन प्रकार (१) कामोपादान = स्त्री में आसक्ति । (२) शीलोपादान = व्रतों में आसक्ति । (३) आत्मोपादान = आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति ।

७५

उपाय

प्राणियों पर अनुकम्पा या करुणा ।

३७९

उपायप्रत्यय

उपाय = प्रज्ञा या शुद्ध ज्ञान। वास्तव समाधि जिसमें ज्ञान का उदय होता है। जिसके उदय से उच्छ्वसों का क्रमशः नाश हो जाता है और मयुरासन की हदिक भी अर्थात् नहीं रहती। मयप्रत्यय से यह उच्छ्वसेदि का होता है, क्योंकि कि इसमें हृत्तिवों के विरीय के साथ ही साथ शुद्ध ज्ञान का भी उदय होता है। ११९

उपेक्षा भावना

कमस्वान का १४ वां प्रकार। पाप कर्म में निरत व्यक्तियों से तथा उनके कर्मों से उपेक्षा या अक्षेपणा की भावना रखना चाहिए। १४९

उन्मुखाट

० 'उन्मुखाट' = सीधा उत्तर। कम तथा दक्षिण की मष्टिका परिस्वाप कर मध्य मार्ग या सुप्रम्या मार्ग। शक्ति को सरल मार्ग से ले जाता। १०४

ए

एकामया

निकल के साथ चित के समकक्ष स्थापित करने का भाव एकमया है। १४०

एकार

बौद्ध धर्म में शक्ति का प्रतीक। अन्तर तथा प्रज्ञा का योगक उत्पत्ति। १०५
एकार ही शब्द (त्रिकोण) के रूप में शक्ति-बन्ध (मन्त्र-बोधि) का प्रतीक तथा दक्षिण यह माना गया है। १८१

एकाराध्याकरण्योय

प्रथम का प्रथम प्रकार। यह प्रथम चित्त का उत्तर सीधे तीर से दिखता है। ४९

एव

शिखरशक्ति के मिलन का प्रतीक बौद्ध संकेत। एवं सुमनस का कावक है। परमार्थ एक भी नहीं है और न वह दो ही है अपि तु दो होते हुए भी एककार है। अद्वैत तथा आनन्द उत्पत्ति का बौद्ध संकेतिक नाम। १८ १८१

क

कथाप्रमाद

मतलब की बातें न कहकर इधर-उधर की बातें कहना ।

निग्रह का द्वितीय प्रकार = न्यायसूत्र का 'विज्ञेय' (५।२।२०) ३२३

कर्मस्थान

= 'कर्मस्थान' । साधकों के ध्यान के निमित्त ४० विषयों का एक समुदाय । ध्यान के विषय तो अनन्त हो सकते हैं, परन्तु 'विशुद्धिमार्ग' के अनुसार केवल ४० विषयों पर ही ध्यान रखने से साधक को समाधि सिद्धि हो जाती है ।

३३८

करुणा भावना

कर्मस्थान का ३२ वां प्रकार । दुःखित व्यक्तियों के ऊपर करुणा या दया की भावना करनी चाहिये ।

३४२

कल्पना

नाम, जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य से किसी वस्तु को युक्त करना । गौ, शुक्ल, पाचक, दण्डी तथा डित्य—ये सब कल्पनार्थ हैं ।

३२५

कंसिण

= 'कृत्स्न' । वे विषय जो समग्र चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और जिनकी ओर लगने से चित्त का सम्पूर्ण अंश (कृत्स्न) विषयाकाराकारित हो जाता है ।

३३९

कामतृष्णा

तृष्णा का प्रथम प्रकार । नाना प्रकार के विषयों की कामना करने वाली तृष्णा ।

५८

कामधातु

कामना या वासना से युक्त लोक ।

१८५

कायगतानुस्सति

कर्मस्थान का २८ वां प्रकार । शरीर के नाना प्रकार के मल से मिश्रित अग-प्रत्यङ्गों पर चित्त का लगाना ।

३४१

काल

उपाय, करुणा तथा शिवतत्त्व का सांकेतिक अभिधान ।

३८६

काव्यशक्त

परम उत्कृष्ट काव्यशक्ति का अभिधान । अद्भुतभाव रूप सम्बद्ध
पुण्य मूर्ति का अद्भुतभावकारी काम ।

१८७

कुम्भ

कुम्भसिनी शक्ति ।

१५

कुलान

बीस का पर्यायवाची शब्द । कुल का शक्ति में बीस रहने
वाला सावक ।

१५६

कुशाग्रमहामूर्मिक धर्म

बरा रोमांच भेदिक संस्कार को मछे कर्कों के अनुष्ठान के
अतिव्यय में विद्यमान रहते हैं ।

११४

कील

को व्यक्ति कोषविद्या के सहारे कुम्भसिनी का उत्थान कर
सहस्रार में स्थित शिव के साथ संयोग करा देता है उसे
कील कहते हैं । पूर्ण काँटी सावक त्रिसे पंक धीर बन्धन
में शत्रु तथा मित्र में समतान सबो मय में योग्य तथा
दुष्ट में तनिक भी भेदबुद्धि नहीं रहती ।

१५५

कीलाधार

सब सामाजिक आचारों में श्रेष्ठ आधार जिसमें पूर्ण काँटी
मातृका का आधारन किया जाता है ।

१११

क्रियायोग

योगसिद्धि का आरम्भिक पावन जिसके अन्तर्गत तीन सावकों
का समावेश होता है—(क) तप (ख) स्वाध्याय = मोक्ष
शास्त्र का अनुशीलन आचार अनुवर्तन मन्त्रों का जप (ग)
ईश्वरप्रतिपाद्य = ईश्वर की शक्ति कायना समग्र कर्म फलों का
ईश्वर को समर्पण । इसका फल होता है—समाधि की सिद्धि
करना तथा अभिधादि नष्टों को क्षीय करना (योगसूत्र १।२)

११

विस्तृत मनोविज्ञान

योगाचार मत में षष्ठः 'मनोविज्ञान' मनन की प्रक्रिया का निर्वाहक होता है अर्थात् इन्द्रिय विज्ञानों के द्वारा जो विचार सामने उपस्थित किये जाते हैं उन पर 'मनन' करता है। यह सप्तम मनोविज्ञान 'परिच्छेद' अर्थात् 'विवेचन' का समग्र व्यापार करता है कि कौन प्रत्यय आत्मा से सम्बन्ध रखता है और कौन अनात्मा से। साख्या के 'अहकार' का प्रतिनिधि तत्त्व- २४१-४२

क्लेशमहाभूमिक धर्म

चुरे कार्यों के विज्ञान से सम्बद्ध छ धर्म। १९५

क्लेशावरण

अविद्या राग आदि क्लेशों का आवरण जो समस्त वस्तुओं को आवृत किये रहता है और जो मुक्ति को रोकता है। १५०

क्षान्तिपारमिता

अपराधी व्यक्तियों के दोषों को पूर्णरूप से सहना तथा क्षमा कर देना। १२८

ग

गंगा

तन्त्र शास्त्र में शरीर के वाम भाग में प्रवाहित होने वाली 'इडा' नाडी का सांकेतिक नाम। ३५६

गुरुवत्त्व

सहजिया लोगों में गुरु शून्यता तथा करुणा की युगल मूर्ति, उपाय तथा प्रज्ञा का समरस विग्रह, होता है। वह केवल परम ज्ञानी ही नहीं होता, प्रत्युत जीवों के उद्धार करने की महती दया भी उसमें विद्यमान रहती है। जब तक परम करुणा का उदय नहीं होता, तब तक ज्ञान से पूर्ण होने पर भी मानव गुरु बनने का अधिकारी नहीं होता। ३७०

च

चक्र

प्रज्ञा, शून्यता तथा शक्ति तत्त्व का बौद्ध प्रतीक। ३८६

चतुर्धातु कर्तव्यावस्स भावना

कर्म स्वप्न का अस्तित्व ४ वां प्रकार । शरीर के सावक वातुओं की अनित्यता की गणना जिससे शरीर कचेठव शून्य निश्चित तथा सत्ताहीन प्रतीत होने लगे ।

१४४,

चतुर्माससंवर

निगूठ वातवृत्त का पत निहर्मे बार प्रकार के संवत्स को मान्य ग्रहणा गया है ।

१४

चागानुस्सति

कर्मस्वान का २५ वां प्रकार । चाग = स्वाग । स्वाग के पुन तथा स्वस्व पर चित्त लक्ष्यता ।

१४१

चाण्डाली

अवभृती तक का उन्मिषक वाय ।

१४५

चित्तमहामूर्मिक कर्म

वे सत्कारण दाम्भसिक कर्म हैं जो मित्राव के प्रतिष्ठान में चित्त मान रहते हैं । वे संस्था में बैदा संता व्याधि १ हैं ।

१५१

चित्तचिप्रयुक्त कर्म

आदि, स्थिति, अरा आदिक अस्तित्व कर्म को धौतिक कर्मों में तथा चेतन्यों में अन्तर्मुक्त नहीं होते ।

१५१-१७

चित्तसंप्रयुक्त कर्म

चित्त से बहिष्कृत से सम्बन्ध रहने वाले कर्म ।

१५१

चेतकर्म

ऐसे 'चित्त संप्रयुक्त' शब्द ।

१५१

का

ज्ञानसंभार

= प्रज्ञा, जिसके बदन से बुद्धत्व की सत्ता उत्पत्ति होती है ।

१५५

ज्ञानावस्था

द्वितीय प्रकार का व्याकरण को धन होने पदार्थों के ऊपर ज्ञान की प्राप्ति को रोक्ता है और जिसके बुद्ध हो करने पर सब वस्तुओं में अप्रतिहत ज्ञान उत्पन्न होता है ।

१५

ठ

ठकार

तन्त्र में सूर्य या दक्षिण नाडी का सांकेतिक नाम ।

३६७

ड

डोम्बी

चाण्डाली शक्ति का विशुद्धरूप जिसमें अद्वैत भावना की पूर्णता रहती है ।

३७६

त

तथता

संस्कृत धर्मों का अन्तिम प्रकार अविकारी तत्त्व । परमार्थभूत पदार्थ ।

२४६-४७

‘तथा का भाव’ । जैसी वस्तु है वैसा ही उसके यथार्थ रूप का निरूपण । परमार्थ सत्यता का महायानी नाम ।

२९५

तथ्यसंवृति

किंचित् कारण से उत्पन्न तथा दोषरहित इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध वस्तु का रूप जैसे नील, पीत आदि । यह लोक से सत्य है, परन्तु वस्तुतः नहीं ।

२९२

तन्त्र

तन् विस्तारे + घ्नन् । वह शास्त्र जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है । विशेषतः वह शास्त्र जो तत्त्व तथा मन्त्र से युक्त अनेक अर्थ का विस्तार करते हैं (तनन) तथा ज्ञान के द्वारा साधकों का प्राण करते हैं (प्राण) ।

३५२

तेजो कसिण

तीसरा कर्मस्थान । दीपक की लौ, चूल्हे में जलती हुई आग या दावानल आदि अग्निसम्बन्धी ध्यान के विषय ।

३३९

द

दशवलि

दश प्रकार के वलों से समन्वित होने के कारण बुद्ध का एक प्रसिद्ध अभिधान ।

१०१

दानपारमिता

सब जीवों के लिए सब वस्तुओं का दान देना तथा दानफल का परिणाम करना ।

१२६

दिव्यमाण

जब साधक ईश्वरभाव को दूरकर उपस्थित देवता के साथ अपना अद्वैत भाव स्थिर करता है, देवता को सत्ता में अपनी सत्ता को कर अद्वैतात्म्य का आस्त्यादान करता है तब उसमें दिव्य भाव का उदय माना जाता है ।

१५५

दुःखम्

प्रथम आर्ग्यस्तव । दुःखारण जीवन्त दुःख से परिपूर्ण है ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो दुःखजन्य न हो ।

७

५४

दुःखनिरोध

तृतीय आर्ग्यस्तव । वह सब वस्तुस्तव है कि दुःख का नाश होता है । जब दुःख उत्पन्न करने के कारण विद्यमान हैं तब उनको हटा देने से वह दुःख नष्ट भी हो सकता है ।

५६

दुःखनिरोधमार्गिणी प्रतिपत्

चतुर्थ आर्ग्यस्तव । प्रतिपत् = मार्ग । वह मार्ग जो दुःख के नाश तक जाता जाता है अर्थात् जिस पर चलने से दुःख का नाश आवश्यकमेव हो जाता है । आध्यात्मिक मार्ग ।

६

दुःखस्तमुदयः

द्वितीय आर्ग्यस्तव । उदयस्तव = कारण । दुःख का कारण है और वह दुःख है ।

५५

दूर्गमा

योगिनी सप्तम भूमि

११५

देवतानुस्सत्ति

कर्मस्थान का २६ वाँ प्रकार । देवता का देवलोको में जन्म होने के उपाय पर चिन्ता लगाना ।

१४१

धम्मनुस्सत्ति

२१ वाँ कर्मस्थान । धर्म की भावना पर ध्यान लगाना ।

१४१

धर्म

पदार्थमात्र का बौद्ध सञ्ज्ञेत । धर्म क्षणिक होता है, एक क्षण में एक ही धर्म ठहर सकता है । धर्म आपस में मिल कर नवीन वस्तु को उत्पन्न करता है । धर्म का यह स्वभाव होता है कि वे कारण से उत्पन्न होते हैं (हेतुप्रभव) और अपने विनाश की ओर स्वतः अग्रसर होते हैं (निरोध) १८०-८१

धर्मकाय

बुद्ध का परमार्थभूत शरीर । यह काय अनन्त, अपरिमेय, सर्वत्र व्यापक तथा शब्दतः अनिर्वचनीय होता है । सब बुद्धों के लिए एक ही होता है तथा दुर्ज्ञेय होने से अत्यन्त सूक्ष्म होता है । सम्भोग काय का यही आधार होता है । वेदान्त के ब्रह्म का प्रतिनिधि । १३८-३९

धर्मधातु

वस्तुओं की समग्रता से मण्डित पदार्थ । परमार्थ सत्य का बौद्ध सञ्ज्ञेत । २९५

धर्म नैरात्म्य

जगत् के समस्त पदार्थ स्वभाव-शून्य होते हैं । इसी सिद्धान्त का प्रतिपादक यह शब्द है । १५०

धर्ममेध्या

योग की अन्तिम भूमि । ३३५

धातु

वे शक्तियों जिनके एकीकरण से घटनाओं का एक सन्तान या प्रवाह निष्पन्न होता है । ६ इन्द्रियों + ६ विषय + ६ विज्ञान = १८ धातु । १८४

ध्यान

- (१) प्रकार—जब चित्त में चित्तर्क, चिन्ता, मोहि, सुख तथा एकमत्ता नामक पाँचों वृत्तियों की प्रवृत्तियाँ रहती हैं।
 (२) प्रकार। इसमें चित्तर्क तथा चिन्ता का समाप्त भ्रमा की प्रवृत्ति तथा मोहि सुख और एकमत्ता की प्रवृत्ति रहती है।
 (३) प्रकार। इसमें सुख तथा एकमत्ता की प्रवृत्ति रहती है, सुख की आनन्द साधक के चित्त में विशेष उत्पन्न नहीं करती है। चित्त में विविध शान्ति तथा समाधान का उद्भव होता है।
 (४) प्रकार। इसमें शारीरिक सुख-दुःख का धर्षणा त्याग राम-रूप से विरहित होना, उपेक्षा की भावना प्रवृत्ति होती है इस सर्वोत्तम ज्ञान में चित्त एकदम निर्मल तथा विमुक्त बन जाता है।

१४८-१४९

ध्यानपारमिता

चित्त की पूर्ण एकमत्ता जिससे वशियों का रूप उत्पन्न होता है। ११

ज

जासक्य

द्वारा निदानों में सम्बन्ध। मूल की मालिक तथा शारीरिक अवस्था जब वह धर्म में अर सदाह चित्त सुखी है।

४४

नित्यशान्त

देखिए 'आदि शान्त' शब्द।

१९४

निदपक्षि शेष

शरीरपात होमे पर आर्त के बन्धन के रूप के लाभ-लाभ समस्त उपायों की हू हो जाती हैं। ऐसे आर्त का निर्माण। विवेक-मुक्ति की समाप्त करना।

१९८

निर्माण काय

बर्जोपदेश तथा सिद्धा के निमित्त बुद्ध के शरीर कारण किना बना शरीर। निर्माणकाय कर्मों से उत्पन्न नहीं होता तथा संख्या में सम्बन्ध होता है। तथापि इसी काय को उत्पन्न कर अपने समय आर्ष तथा शीघ्र समाधि आदि का उपदेश देते हैं। १९५-१९६

निर्वाण

अष्टांगिक मार्ग के सेवन करने से वस्तुओं की अनित्यता का अनुभव हो जाता है तब मिथु राग द्वेष आदि क्लेशों को नाश कर अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। निर्वाण वह मानसिक दशा है जिसमें मिथु जगत् के अनन्त प्राणियों के साथ अपना विभेद नहीं करता, प्रत्युत वह सबके साथ अपनी एकता स्थापित करता है। हीनयान में निर्वाण दुःखाभाव है तथा क्लेशावरण के नाश के ऊपर आश्रित है। महायान में निर्वाण सुखरूप है तथा ज्ञेयावरण के भी नाश के ऊपर अवलम्बित रहता है।

१५३, ५४

निप्यन्द बुद्ध

लकावतार सूत्र में समोदय काय के लिए प्रयुक्त नाम।

१३७

नीलकसिण

५ वा कर्मस्थान। नील रंग के फूलों से ढके हुए किसी पात्र-विशेष पर ध्यान लगाना।

३४०

नेव सञ्ज्ञा ना सञ्ज्ञायतन

(= नैव संज्ञा + न असंज्ञा + आयतन) कर्मस्थान का ३८ वां प्रकार।

प

पंचशील

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा मादक द्रव्यों का असेवन शोभन कर्म होने से पंचशील के नाम से पुकारे जाते हैं।

६६

पटिभाग निमित्त

इसका उदय तब होता है जब चित्त की एकाग्रता के कारण वस्तु चित्त में पूर्ण की अपेक्षा अत्यधिक स्पष्ट तथा उज्ज्वल रूप से दृष्टिगोचर होने लगती है।

३३९

पठवी कसिण

प्रथम कर्मस्थान। मिट्टी के घने पात्र के ऊपर चित्त को लगाना। पात्र रंगविरंगा न होना चाहिए, नहीं तो चित्त पृथ्वी से हट कर उसके लक्षण की ओर आकृष्ट हो जाता है।

३३९

परतम्य सत्ता

दूसरे के ऊपर अवलम्बित होने वाली सत्ता । वह सत्ता जो स्वयं उत्पन्न नहीं होती अपि तु हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होती है । जैसे बर का 'वृत्ति'—कुम्हार आदि के संयोग से उत्पन्न होता है ।

१४५

परिष्कृत माध्या

आत्मबोध की आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिसमें सावक जपनी आदि प्राप्ति के पुरुष किसी भी विमित्त या वस्तु को पसन्द करता है तथा अपने निष्ठ को छानने का प्रयत्न करता है ।

१४५

परिष्कृत सत्ता

वह सत्ता जिसमें किसी वस्तु का माय या चर्च या माय का प्रयोग संकल्प या करण के द्वारा किया गया ।

१४६

परिष्कृतप्राज्ञा कथिष्य

१ वां कर्मस्थान । परिष्कृत, सीमित व्याख्या — जैसे शीघ्रता या किसी शिक्की के बड़े क्षेत्र को ध्यान का विषय मानना ।

१४

परिनिष्पन्न वस्तु

परमाणु वस्तु । वह वस्तु जो कुछ-कुछ की कल्पना से तथा मन और अमान से चर्चका असीत होती है । परमार्थ अद्वैत परार्थ ।

१५

परिपोष

परिपोष का पर्याय । बोध के प्रतिपन्नक अन्तरात्मन का निम्न को दुर्गन्ध निवृत्तले व्यक्ति को प्रमाणा कर समाधि मार्ग से पूरा करता है । ये परमा में रहते हैं ।

११०

पशुमाय

अधिका के आचरण के कारण शिव जी में अद्वैत ज्ञान का हृदय सेतुमान भी नहीं होता और का संसार के प्रत्यक्ष से चर्चका अद्वैत अन्तर्गत मानस सत्ता । पाशवाच्य वस्तु ।

१५५

पृ०

पापदेशना

देशना = प्रकटीकरण । पश्चात्तापपूर्वक अपने पापों को प्रकट करना । इस प्रकार पश्चात्ताप के द्वारा प्राचीन पापों का शोधन हो जाता है । ईसाइयों में कन्फेशन की प्रथा इसी के अनुरूप है ।

१२४

पारमार्थिक सत्य

प्रज्ञाजनित सत्य । वस्तुतः सत्य पदार्थ ।

२९०

पारमिता

= पूर्णत्व । शोभन गुणों की पूर्णता जो बुद्धत्व की प्राप्ति में सहायक बनती हैं । ये सख्या में छ हैं ।

१२५

पारमी

पारमिता का पालीरूप । 'पारमिता' शब्द देखो ।

१२५

पिंगला-

दक्षिण या सूर्य नाडी का तान्त्रिक नाम ।

३६८

पीतकसिंघ

छठा कर्मस्थान । पीले रंग की चीजों या फूलों से ढके हुए पात्र विशेष को ध्यान का विषय बनाना ।

३४०

पुण्यसभार

वे पुण्योत्पादक शोभन गुण जिनके अनुष्ठान से अकलुषित प्रज्ञा का उदय होता है । दान, शील, क्षान्ति, वीर्य तथा ध्यान इन पाँचों पारमिताओं का अन्तर्भाव 'पुण्यसभार' के भीतर किया जाता है ।

१२५-१२६

पुद्गल

जीव ।

१४

पुद्गल नैरात्म्य

जीव या आत्मा स्वतः स्वभावरहित है । जीव के अस्तित्व का निषेध ।

८५

पुद्गलवाद

सम्मितीयों का एक विशिष्ट मत । पञ्च स्कन्धों के अतिरिक्त एक नवीन मानस व्यापार जो अहंभाव का आश्रय होता है तथा एक जन्म से दूसरे जन्म में कर्म के प्रवाह को अविच्छिन्न रूप से बनाये रहता है ।

१०३

पुण्यकर्म	१९ वीं कर्मस्थान । कौटो से अरे हुए रामको अपने भजन का निवन बनाना ।	१४१
प्रमादरी	बोध की तीसरी भूमि ।	१४१
प्रमुखा	बोध की प्रथम भूमि ।	१४२
प्रज्ञा	शून्यता का पूर्वज्ञान ।	१४५
प्रज्ञापारमिता	ज्ञान की पूर्णता । सब वस्तुओं की निःस्पृहता का ज्ञान । जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि—मर्त्यों की उत्पत्ति न होता होती है, न परलोक, न कर्मफल, न हैसियत—तब प्रज्ञापारमिता का जन्म होता है । इसी से मुक्त्य की प्राप्ति होती है ।	१४५
प्रतिपूज्या—व्याकरणीय	प्रथम का तीसरा प्रथम । वह प्रथम विद्यका उत्तर एक द्वारा प्रथम पूज्य कर दिया जाता है ।	४६
प्रतिष्ठापन	= समारोप । वस्तु में अनिष्टमल भाव की कल्पना ।	१४६
प्रतिष्ठापिका बुद्धि	असत्य में सत्य की प्रतिष्ठा करनेवाली बुद्धि को अथवा के प्रपञ्च को स्थापित करती है ।	१४६
प्रतिसंख्या—निरोध	प्रतिबंधना = रूढ़ा का ज्ञान । प्रज्ञा के द्वारा उत्पन्न सातवें वस्तुओं का धृषण-धृषण निरोध । अर्थात् प्रज्ञा के उदय होने पर कामदण्डन में राग का समता का सर्वथा वरित्वाव । इसमें मर्त्य के जीव होने का ही ज्ञान उत्पन्न होता है, भविष्य में उनकी उत्पत्ति की सम्भावना बनी रहती है ।	१५६

पृ०

प्रविचय बुद्धि

पदार्थों के यथार्थरूप को ग्रहण करनेवाली बुद्धि ।

२४८

प्रतीत्य समुत्पाद

सापेक्षकारणतावाद । प्रतीत्य = (प्रति + इण्-गतौ + ल्यप्)
किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर, समुत्पाद = अन्य वस्तु की
उत्पत्ति । किसी वस्तु के उत्पन्न होने पर दूसरी वस्तु
की उत्पत्ति ।

७०-

प्रत्यक्ष

नाम, जाति आदि से असंयुक्त कल्पना-विहीन ज्ञान । 'प्रत्यक्ष
कल्पनाषोढ नामजात्याद्यसंयुतम्' (प्रमाणसमुच्चय)

३२५

प्रत्यय

मुख्यकारण के अनुकूल-कारण सामग्री । गौण कारण । हेतु-
मन्यं प्रयि अयते गच्छतीति इतरसहकारिभिर्मिलितो हेतु-
प्रत्यय (कल्पतरु २।२२।१९) ।

७२

प्रत्येक बुद्धि

वह व्यक्ति जिसे सब तत्त्व स्वतः परिष्कुरित होते हैं और जिसे
तत्त्व-शिक्षा के लिए परतन्त्र नहीं होना पड़ता ।

११९

प्रत्येक बुद्धियान

'प्रत्येक बुद्धि' के आदर्श का प्रतिपादक बौद्धवाद ।

११८

प्रमाण

वह ज्ञान जो अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करता है और जो
वस्तुस्थिति के विरुद्ध कभी नहीं जाता (अविशवादी) । जो
ज्ञान कल्पना के ऊपर अवलम्बित रहता है वह होता है
विशवादी और जो अर्थ-क्रिया के ऊपर आश्रित रहता है वह
अविशवादी होता है । ऐसा ही अविशवादी ज्ञान ।

११

३२४

प्रीति

ध्यानयोग में चित्त के समाधान होने पर जो मानसिक आह्लाद
होता है उसीका नाम प्रीति है ।

३४७-

पुष्टुवक्त्रम्

१९ बौ कर्मस्थान । यहाँ से भरे हुए शब्दों को अपने स्थान का निम्न बताया ।

प्रमाकरी

शेष की तीसरी भूमि ।

प्रमुद्रिता

शेष की प्रथम भूमि ।

प्रज्ञा

शून्यता का पूर्णज्ञान ।

प्रज्ञापारमिता

ज्ञान की पूर्णता । सब जगत् की विन्यास का ज्ञान । जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि-मार्ग की उत्पत्ति व स्वरा होती है, व परतः, व उत्पत्ति, व हेतुतः, तब प्रज्ञापारमिता का जन्म होता है । इसी से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है ।

प्रतिपुष्पा-स्पाकरणीय

प्रथम का तीसरा प्रकार । वह प्रथम विषय के तत्पर एक वृत्त प्रथम पक्ष कर दिया जाता है ।

प्रतिष्ठापन

२० समारोप । वस्तु में अवस्थित मान की कल्पना ।

प्रतिष्ठापिका बुद्धि

अवस्था में वस्तु की प्रतीति करनेवाली बुद्धि को जगत् के प्रपञ्च की स्थापित करती है ।

प्रतिस्तम्भ-विशेष

प्रतिस्तम्भ २० स्था का स्तम्भ । स्था के द्वारा उत्पन्न सामान्य जगत् का धृक्-धृक् विशेष । क्योंकि स्था के कारण होने पर सामान्यत्व में वस्तु का प्रपञ्च का स्तम्भ परित्याप । इसमें वस्तु के होने होने का ही ज्ञान उत्पन्न होता है; यथार्थ में वस्तु की उत्पत्ति की सम्प्रत्यक्षा नहीं रहती है ।

५०

१५५

१२१

१२२

१२३

१२४

४५

१२५

२४५

१९५

बोधिसत्त्व

बोधि (ज्ञान) प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति । बुद्ध जिसमें

‘ब्रह्मा के साथ महाकरुणा का भाव विद्यमान रहता है ।’ ११९-२०

बोधिसत्त्वयान

‘बोधिसत्त्व’ के आदर्श का प्रतिपादक बौद्ध मार्ग ।

११९

ब्रह्मनाडी

सुषुम्ना नाडी ही ब्रह्म की प्राप्ति में सहायक होने से इस नाम से पुकारी जाती है ।

३६८

ब्रह्मविहार

मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा का सामूहिक नाम । इन भावनाओं का फल ब्रह्मलोक में जन्म लेना और वहा की आनन्दमयी वस्तुओं का उपभोग करना है । अतः ब्रह्म-विहार = ब्रह्मलोक में विहार के साधनभूत उपाय ।

३४२

भ

भव

भविष्य जन्म को उत्पन्न करने वाला कर्म । भवत्यस्मात् जन्मेति भवो धर्माधर्मौ (भामती २।२।१९) । जन्म के कारण-भूत धर्म और अधर्म ।

७५

भवतृष्णा

तृष्णा का द्वितीय प्रकार । भव = ससार या जन्म । इस ससार की सत्ता बनाये रखनेवाली तृष्णा ।

५८

भवप्रत्यय

एक प्रकार की जड़ समाधि जिसमें शक्तियों का निरोध तो हो जाता है, परन्तु ज्ञान का उन्मेष नहीं होता । यह योग विदेह तथा प्रकृतिलय योगियों को प्राप्त होता है (यो० सू० १।१९) । भव=जन्म । यह ऐसी समाधि है जिसके सिद्ध होने में पुनः मनुष्य जन्म प्राप्त होना ही कारण होता है ।

३३६

धंगाही

रेखो बोम्बो शब्द ।

२०१

दुन्दाम्येयणा

हुद बनने की प्रार्थना ।

दुन्दानुस्वसि

२१ वां कर्मस्थान । हुद की प्रकृति पर वा दुन्दान की कल्पना पर व्यास बताया ।

२४१

योधित्वया

हुद पद की प्रकृति के लिए एक विशिष्ट महानामी साधक ।

१२९

योधि चित्त

योधि = ज्ञान । समस्त योधियों के उद्धार के लिये सम्पूर्ण ज्ञान में चित्त का प्रतिष्ठित होना योधिचित्त का प्रवृत्त प्रवृत्त है ।

१२२

योधिचित्तमिषेक

ब्रह्मचर्य के द्वारा साधक को उत्तमार्थ में पूर्ण होना है या जिससे वह अपने चरित्र में सदा सिद्धि प्राप्त कर ले ।

२०१

योधिपरिणामता

साधक की यह प्रार्थना कि अन्तर्यामी के कलत्र की शक्त से प्राप्त हुए हैं उनके द्वारा मैं समस्त प्राणियों के दुःखों के प्रथम में कारण बनूँ ।

१२२

योधिप्रविधि चित्त

यद्यपि साधक के चित्त में अन्तः के परिणाम के लिए हुद बनने की भावना प्रार्थना रूप में वर्धित होती है तब इस चित्त का अन्त होता है ।

१२२

योधिप्रस्थान चित्त

यद्यपि साधक अन्तः प्रवृत्त कर हुद बनने के मार्ग पर आसक्त होता है तथा शुभ कर्मों में व्यस्त होता है तब इस चित्त का अन्त होता है ।

१२२

मध्यममार्ग

सुषुम्ना नाडी का अपर नाम ।

३६८

मरणानुस्सति

कर्मस्थान का २७ वा प्रकार । शव को देखकर मरण की भावना पर चित्त को लगाना ।

३४१

मस्करी

बौद्धयुग का एक प्रसिद्ध दैववादी दार्शनिक मत ।

३१

महासंधिक

बौद्ध धर्म का एक विशिष्ट सम्प्रदाय ।

१००

महासुख

सदा एक रस रहने वाला, बिना किसी कारण के ही स्वत उत्पन्न, सदैव वर्तमान आनन्द । निर्वाण का ही वज्रयानी संकेत ।

३६८

यह उस अवस्था का आनन्द होता है जिसमें न तो संसार रहता है, न निर्वाण, न अपनापन रहता है और न पराभापन । चित्त का निरपेक्ष स्वत कारणहीन आनन्द ।

३६९

माध्यमिक

वाक्यार्थ तथा विज्ञान की असत्ता तथा शून्य की केवल सत्ता मानने वाला बौद्ध मत । शून्यवादी बौद्ध सम्प्रदाय ।

१६१

मांसाहारी

पाप-पुण्यरूपी पशुओं को ज्ञानरूपी खड्ग से मारने वाला और अपने चित्त को ब्रह्म में लीन करने वाला साधक मांसाहारी कहलाता है ।

३५६

मिथ्यासंवृति

किञ्चित् प्रत्यय से जन्य, परन्तु दोषसहित इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध मिथ्याज्ञान जैसे मृगमरीचिका, प्रतिबिम्ब आदि । यह लोक दृष्टि से भी असत्य होता है ।

२९२

अज्ञान

आत्मबोध का साधक अपनी ध्यान के बल पर स्मृत जगत् से सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करता है। ऐसी गति से वह ऐसे एक बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ जगत् की समाप्ति हो जाती है। यही बिन्दु मर्याद कहलाता है (अभि कोष भा १)

११४

आत्म

तन्त्रशास्त्र का पारिभाषिक शब्द। साधक की आत्मिक दृष्टि।

१५४

भूतकोटि

सर्व आकाश का परमार्थ। परमार्थ सत्य।

११५

भौतिकवाद

इसको 'वर्णवैराग्य' शब्द।

२४

घ

गद्य

महामात्र में स्थित सहस्रसह जगत् से जूने का टपकने वाला अणु।

१५१

गद्य

कल्प साधना के बल पर कुम्भकाली तथा मित्र के संयोग होने पर सहस्रार से जूने वाले अणु का पात्र करने वाला व्यक्ति।

१५६

गद्य

गंगा की रेत पशुना के अणु में बहने वाले प्राण तथा अणु का सांकेतिक साम्प्रतिक अभिभव।

१५१

गद्यमहाक

आकाश के द्वारा आकाश की कुम्भक की गति से सुकुम्भा मार्ग में प्रवेश करने वाला बोधी।

१२६

गद्यमहाक

सुकुम्भा वाली का सांकेतिक नाम।

१६८

मध्यममार्ग

सुषुम्ना नाडी का अपर नाम ।

३६८

मरणानुस्सति

कर्मस्थान का २७ वा प्रकार । शव को देखकर मरण की भावना पर चित्त को लगाना ।

३४१

मस्करी

बौद्धयुग का एक प्रसिद्ध दैववादी दार्शनिक मत ।

३१

महासंघिक

बौद्ध धर्म का एक विशिष्ट सम्प्रदाय ।

१००

महासुख

सदा एक रस रहने वाला, बिना किसी कारण के ही स्वतः उदित, सदैव वर्तमान आनन्द । निर्वाण का ही वज्रयानी संकेत ।

३६८

यह उस अवस्था का आनन्द होता है जिसमें न तो संसार रहता है, न निर्वाण, न अपनापन रहता है और न परागपन । चित्त का निरपेक्ष स्वतः कारणहीन आनन्द ।

३६९

माध्यमिक

वाक्यार्थ तथा विज्ञान की असत्ता तथा शून्य की केवल सत्ता मानने वाला बौद्ध मत । शून्यवादी बौद्ध सम्प्रदाय ।

१६१

मांसाहारी

पाप-पुण्यरूपी पशुओं को ज्ञानरूपी खड्ग से मारने वाला और अपने चित्त को ब्रह्म में लीन करने वाला साधक मांसाहारी कहलाता है ।

३५६

मिथ्यासंवृति

किञ्चित् प्रत्यय से जन्य, परन्तु दोषसहित इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध मिथ्याज्ञान जैसे मृगमरीचिका, प्रतिबिम्ब आदि । यह लोक दृष्टि से भी असत्य होता है ।

२९२

मुद्रिता भावना

१ १६^१

कर्मस्थान का १३ वां प्रकार । पुष्प कर्म करने वाले व्यक्तियों के साथ मुद्रिता या प्रसन्नता की भावना करनी चाहिये । १५

मुद्रा

१ १७ १८ २१ २३

असुर संघर्ष का मुख या सर्वदा परित्याग मुद्रा कहलाता है । १५०

मुद्रा-साधन

तांत्रिक साधना के लिए लक्ष्मीन-सम्पन्ना भुवति को अपनी संघिनी का शक्ति बनाना पड़ता है । इसी का तांत्रिक संकेत है मुद्रा साधन । १७१

मेधा भावना

कर्मस्थान का ११ वां प्रकार । मेधी की भावना । प्रथमतः अपने कल्याण की चिन्ता अन्तर शुद्ध धारि सम्मानियों के कल्याण की भावना और अन्तर अपने शत्रु के कर्मर भी मेधी की भावना करनी चाहिये । १४२

मैथुन

शुद्धता तथा प्रान के समागम का तांत्रिक संकेत । श्री-सह-बाध से उत्पन्न आशङ्क से करोड़ों गुना अधिक आत्मन उत्पन्न होते हैं इसको मैथुन कहते हैं । १५७

यमुना

ऊर्ध्व शक्ति में शरीर के इक्षिण भाग में प्रकाशित होने वाली बाही का धार्मिक नाम । १२६

यामक

शिव-शक्ति के परस्पर सम्मिश्रण का तांत्रिक संकेत । ऐक्षिणे 'ए' शब्द । १६०

युगलक

शिव शक्ति का परस्पर आतिशय का मिलन । ११८

युगनद्ध

शिवशक्ति के परस्पर सम्बद्धरूप का बौद्ध संकेत । देखिये 'एवँ' शब्द ।

३८०

युगल मूर्ति

या युगल सरकार । लक्ष्मी तथा नारायण के परस्पर गाढ़ा-लिंगनासक्त तत्त्व का वैष्णव संकेत । देखिए 'एवँ' शब्द ।

३८०

योगाचार

भौतिक जगत् को नितान्त असत्य तथा चित्त या विज्ञान की एकमात्र सत्ता मानने वाला विज्ञानवादी बौद्ध सम्प्रदाय ।

१६१

योगि प्रत्यक्ष

समाधि से, चित्त की एकाग्रता से, उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान ।

३२८

२

रसना

सहजिया मत में दक्षिण शक्ति का सांकेतिक नाम ।

३७३

रागमार्ग

जब चित्त सकल्प तथा कामना से विरहित होता है, रागादि मलों से निर्लिप्त होकर प्राद्य-प्रादक भाव की दशा को अतीत कर जाता है तब वह निर्वाण का मुख्य साधन बनता है । इसी का नाम है रागमार्ग ।

३७५

रूप

भूत का सामान्य नाम ।

१८८

रूपधातु

कामना से हीन, विशुद्ध भूतों से निर्मित जगत् । इस लोक में जीव केवल १४ धातुओं से युक्त रहता है ।

१८५

रूपस्कन्ध

विषयों के साथ सम्बद्ध इन्द्रिय तथा शरीर । रूप्यन्ते एभिर्विषया इति रूपाणि इन्द्रियाणि । रूप्यन्ते इति रूपाणि विषया ।

८४

सालसा

सहजिया मत में काम शक्ति का सांकेतिक नाम ।

१०१

सोदित कसिण

७ बौ कर्म स्थान । ललारंग के पूछों से उठे हुए पात्र विशेष का पान करना ।

१४

सोदितकम्

१८ बौ कर्मस्थान । सन से हजर-कपर उठे हुए शय पर ध्यान लगाना ।

१४

घ

घ

बौद्धतन्त्र में सूर्य उषस तथा शिव का चैतक तांत्रिक संकेत

१८

घसमदोष

बिना समस्त बूझ बेवचन में कथन बोलना । बार विग्रह का तुनीय तथा अन्तिम प्रकार ।

१११

घसन सम्यास

मैत्रेय के द्वारा उल्लिखित सिद्धा का प्रथम प्रकार = श्यामसूत्र का प्रतिज्ञा संम्भाव (१।१।५) । पक्ष के प्रतिषेध करने पर अपने प्रतिज्ञात कार्य को त्याग देना ।

१२१

ग

शुम्भता का प्रतीक । एक सारबल अक्षेप अभेय तथा अविनाशी होने से वज्र शुम्भता का संकेत माना जाता है ।

३१

गजघर

सब माय का उपरोक्त तांत्रिक शब्द ।

१००

गजपयल

वज्रवाल के हृदय स्वात हान से भीषण 'वज्रपर्वत' के माय से अभिहित किया जाता है ।

१११

गजपान

औदधर्म व । तांत्रिक रूप जिसमें शुम्भता के साथ पाव महा-तुल्य की वापना सम्मिलित की गई है ।

११

वज्राचार्य

पृ०

वज्रमार्ग या तन्त्रमार्ग का उपदेशक गुरु ।

३७१

वात्सोपुत्रीय

बौद्धों का एक विशिष्ट सम्प्रदाय जो 'पुद्गलवाद' का समर्थक था । १०३

वाद

किसी सन्दिग्ध वस्तु के स्वरूप का तर्कों द्वारा निर्णय ३२१

वादनिग्रह

शास्त्रार्थ में पकड़ा जाना अर्थात् उन बातों को जानना जिनसे प्रतिपक्षी शास्त्रार्थ में पराजित किया जाता है ।

३२२

वादविधि

परमत का खण्डन कर स्वमत की स्थापना करने के लिए तर्कों का प्रयोग ।

३२०

वादशास्त्र

देखो 'वादविधि' शब्द ।

३२०

वादाधिकरण

राजा या किसी बड़े अधिकारी की परिषद् तथा धर्मनिपुण ब्राह्मण या भिक्षु की सभा जहाँ किसी विषय का तर्क-वितर्क के द्वारा निर्णय किया जाय ।

३२१

वादालंकार

वाद के लिए आवश्यक वैशारद्य, धीरता, दाक्षिण्य आदि २१ प्रकार के प्रशसा-गुणों का समुदाय ।

३२१-२२

वादेवबुकर

वाद के लिए उपयोगी बातें ।

३२३

वायु कलिण

१४वाँ कर्मस्थान । वाँस के सिरे, उख के सिरे या बाल के सिरे को हिलाने वाले वायु को अपने ध्यान का विषय बनाना ।

३३९

विक्खायितकम्

१५वाँ कर्मस्थान । कुत्ते या सियार से छिन्न-भिन्न किये गए शव पर ध्यान लगाना ।

३४०

विचित्रकर्म

१६ शौ कर्म-स्नान । बिचरे हुए अंग वाले शव पर स्नान करना । १४०

विचार

विषय में चित्त के प्रवेश होने के अनन्तर धीरे-धीरे अभ्यास से चित्त वृत्ति विषय में निमग्न हो जाता है । इसी का नाम 'विचार' है । १४०

विच्छिन्नकर्म

१४ शौ कर्म-स्नान । अंग अंग होने वाले शव (जैसे घोर का घटक शरीर) पर स्नान करना । १४

विद्यानस्कन्ध

वाक्य वस्तुओं का ज्ञान तथा 'मैं हूँ' ऐसा आत्मनस्वर ज्ञान । ८४

विष्णुपाठश्रवण

'विज्ञान + श्रवण + श्रवण' । कर्म-स्नान का १६ शौ प्रचार । परिशिष्ट का अध्याय (सं १२ शौ कर्म-स्नान) की भाषणा के साथ साथ वैशेषिक सम्बन्ध बना रहता है । इस कर्म-स्नान में साधक को आश्रित के विज्ञान के ऊपर चित्त समाहित करना होता है । १४४

पित्तक

आत्म-बोग में चित्त की किसी विषय में समाहित करने के समय उस विषय में चित्त का जो प्रथम प्रवेश होता है उसकी संज्ञा है पित्तक । १४०

विनीतकर्म

१२ शौ कर्म-स्नान । जीता रंग पत्र बाने वाले शव पर स्नान करना । १४

विषययत्ना

ज्ञान विषय बढ़व समय की प्राप्ति के अन्तरूप में होता है । ११

विपुलकर्म

१२ शौ कर्म-स्नान । जीव से जोड़े हुए शव का स्नान । १४०

विभज्य व्याकरणीय

प्रश्न का द्वितीय प्रकार । वह प्रश्न जिसका उत्तर विभक्त करके दिया जाता है ।

४९

विमचटुष्णा

तृष्णा का तृतीय प्रकार । 'विमव' = संसार का नाश । संसार के नाश की इच्छा से उसी प्रकार दुःख उत्पन्न होता है जिस प्रकार उसके शाश्वत होने की अभिलाषा से ।

५८

विमला

योग की दूसरी भूमि

३३५

विरमानन्द

रागाग्नि के शान्त हो जाने पर पूर्ण आनन्द का प्रकाश ।

३७७

वीरभाव

अमृत कणिका आस्वादन कर जो साधक अपने बल पर अधिद्या के बन्धनको अशत काटने में समर्थ होता है उसकी मानसिक दशा

३५५

वीर्यपारमिता

पद् पारमिताओं का चतुर्थ प्रकार । कुशल कर्मों के सम्पादन में उत्साह की पूर्णता ।

१२९

वेतुलवादी

बौद्ध सम्प्रदाय जो लोकोत्तर बुद्ध को मानता है । इसके मुख्य सिद्धान्त हैं ऐतिहासिक बुद्ध की अस्वीकृति और विशेषावरुद्धा में मैथुन की स्वीकृति । इसी सिद्धान्त में वज्रयान के बीज निहित थे ।

३५९

वेदनास्कन्ध

बाह्यवस्तु के ज्ञान होने पर उसके ससर्ग का चित्त पर प्रभाव 'वेदना' कहलाता है । वेदना के तीन प्रकार हैं—सुख, दुःख, न सुख न दुःख ।

८४

वैभाषिक

'विभाषा' का अनुयायी बौद्ध मत जो बाह्य अर्थ को प्रत्यक्ष-रूपेण सत्य मानता है । बाह्यार्थ-प्रत्यक्षवादी बौद्ध सम्प्रदाय ।

१६०

शामय :

या

चित्त की एकप्रकार की समाधि

पारमथ्याय

आत्मा तथा परलोक को चित्त मानने का सिद्धान्त । हीन
निश्चय में उल्लिखित १२ मतप्रदों में अन्यतम । १४

शीघ्रपारमिता

हिंस्र आदि समस्त बर्हित कर्मों से चित्त-विरति की पूर्णता । १११

शोकमय परमार्थ

एक प्रकार का बन्धन । मय तथा उपवास आदि में आसक्ति । ११४

शीघ्रानुस्रवति

२४ वीं कर्मस्तर । शीघ्र के गुण तथा स्वभाव पर ध्यान
लगाया । १४१

शून्य

अस्ति नास्ति लक्ष्मण तथा बोध-इव चार ओरियों से
निर्गुण परमतत्त्व । शास्त्रमियों के मतानुसार कस्तु न तो ऐक-
ान्तिक अस्त है और न ऐकान्तिक अस्त प्रत्युत अस्त स्वस्व
इव दोनों अस्त-अस्त के मध्य बिन्दु पर ही विद्यमान हो
सकता है और वही शून्य है । यह परमार्थ का सूचक होने से
स्वयं विरपेक्ष है । शून्य अस्ति नहीं है क्योंकि कि भाग को
अस्ति का अपेक्ष है । अस्त शून्य विरपेक्ष कस्तु तत्त्व है । १

(१) शून्य अस्त-अस्त है अर्थात् बुद्धि के द्वारा अपेक्ष
तत्त्व नहीं है, प्रत्युत अपेक्षतन्त्र है ।

(२) शून्य शून्य स्वस्व रक्षित, है ।

(३) शून्य अस्त-अस्त (शून्य नहीं) है ।

(४) शून्य विरपेक्ष है अर्थात् चित्त के प्रकार से विरहित
तत्त्व है ।

(५) शून्य अस्त-अस्त है-नामा अर्थों से विरहित है ।

शून्यपट्टची,

सुषुम्ना नाडी

शून्यमार्ग

सुषुम्ना नाडी का चञ्जयानी नाम

श्रावकयान

बौद्धों का एक विशिष्ट मार्ग जिसके अनुसार 'अर्हत्' पद की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है ।

११६

प

पडायतन

निदानों में अन्यतम । आयतन = इन्द्रिय । यह उस अवस्था का सूचक है जब भ्रूण माता के उदर से बाहर आता है; अङ्ग-प्रत्यङ्ग विलकुल तैयार हो जाते हैं, परन्तु अभी उनका प्रयोग नहीं करता ।

७४

स

सकृदागामी

श्रावक की द्वितीय भूमि । इस शब्द का अर्थ है एक बार आने वाला । जब स्रोतापन्न मिथु, इन्द्रिय-लिप्सा तथा प्रतिघ (दूसरे के प्रति अनिष्ट करने की भावना) नामक दो बन्धनों को दुर्बलमात्र बना कर मुक्तिमार्ग में आगे बढ़ता है तब इस भूमि में पहुँच जाता है ।

११८

सत्काय दृष्टि

पालीका 'सक्काय दिट्ठि' । वर्तमान देह में या नश्वर देह में आत्मा तथा आत्मीय दृष्टि रखना । 'सत्काय' दो प्रकार से बनता है—(क) सत् + काय = वर्तमान शरीर (अस् धातु से) या नश्वर शरीर (सद् धातु से) । (ख) स्व + काय । स्वकाये दृष्टि आत्मात्मीयदृष्टि—चन्द्रकीर्ति ।

टि० ८१

संघानुस्सति

२३ वाँ कर्मस्थान । संघ की भावना या संघत्व की कल्पना पर ध्यान लगाना ।

३४१

संज्ञा बिहना भित्ति

विज्ञानवादिनों के अर्द्धसूत्र वर्ग का एक प्रकार। ज्ञा तथा
बिहना के मातृशब्दों को वृत्त में करने की स्थिति।

१४१

संज्ञा स्कन्ध

वस्तुओं के वचार्थ स्पष्ट करने पर उनके गुणों के आधार पर
को नामकरण किया जाता है यही है संज्ञा-स्कन्ध = नैयामिकों
का अधिकतमक प्रत्यय।

६४

संप्रज्ञम्ब

= प्रत्यवेक्षण। शीघ्रपारमिता का एक शास्त्र। अथ शीघ्र चित्त
की वृत्ता का विरम्वार प्रत्यवेक्षण करण।

११७

संयोगक्षय

विमोच काय की अपेक्षा क्षय काय। संयोगक्षय अव्यक्त
मास्वर शरीर होता है जिसके एक एक क्षिप्र से प्रकृत की
अवस्था तथा अर्द्धत्व कारणों निश्चय कर अपत को व्याख्यासित
करती हैं। इस कूट पर्यंत पर इसी काय के द्वारा महत्त्व
वर्ग का उपदेश माना जाता है।

१११ ११७

संयम

प्राण धारणा और प्रमादिका सम्मुखिक नाम।

१११

संयोजन

बन्धन—जिनके सब होने पर सावक को शून्य वृत्ता प्राप्त
होती है।

११७

संहृति = माया प्रपञ्च

(१) अविद्या को वस्तु के ऊपर आतुरण अत देखी है।

(२) हेतुप्रत्यय के द्वारा अत्यन्त वस्तु का रूप।

(३) वे किन्हीं पा शब्द को साधारणतया मनुष्यों के द्वारा
प्रत्यय किये जाते हैं तथा प्रत्यय के ऊपर अन्तर्निहित रहते हैं। १११-१२

संस्कार स्कन्ध

मानसिक प्रवृत्तियों का समुदाय, विशेषतः राग और द्वेष का । वस्तु की संज्ञा से परिचय होते ही उसके प्रति हमारा राग और द्वेष उत्पन्न होता है—रागादिक क्लेश, मद मानादिक उपक्लेश तथा धर्माधर्म का इस स्कन्ध में समावेश होता है ।

८५

संस्कृत

वे धर्म जो आपस में मिलकर एक दूसरे की सहायता से उत्पन्न होते हैं । स सम्भूय अन्योन्यमपेक्ष्य कृता जनिता इति संस्कृता । हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होने वाले अस्थायी, गतिशील सास्रव धर्म ।

५८६

समनन्तर आश्रय

विज्ञान की सन्तति का जो पीछे आश्रय घनता है । जैसे चक्षुर्विज्ञान में मन ।

२४०

समनन्तर प्रत्यय

प्रत्यक्ष ज्ञान का चतुर्थ प्रत्यय । प्रत्यक्ष का चौथा कारण ग्रहण करने तथा विचार करने की वह शक्ति है जिसके उपयोग से किसी वस्तु का साक्षात्कार होता है ।

३२७

समाधि

(१) 'सम्यग् आधीयते एकाग्रीक्रियते विज्ञेयान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधि' = विज्ञेयों को हटाकर चित्त का एकाग्र होना । यहाँ ध्यान ध्येय-वस्तु के आवेश से मानों अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है और ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है । (योगसूत्र ३।३)

३३५

(२) बुद्धघोष की व्युत्पत्ति—समाधानत्येन समाधि । एका-रम्भणे चित्तचेतसिकान समं सम्मा च आधार थपणं ति युत्त होति (विम्वुद्धि मग्ग पृ० ८४) एक ही आलम्बन के ऊपर मन को और मानसिक व्यापारों को समान रूप से तथा सम्यक् रूप से लगाना ही समाधि का तात्पर्य है ।

३३६

समिन्तीय	१	१
ऐसो 'वासीपुत्र' शब्द ।		११
सम्यक् आशीष		
आध्यात्मिक मार्ग का प्रथम अङ्ग । शोभन सभी श्रेयिणी ।		१०
सम्यक् कर्मास्त		
आध्यात्मिक मार्ग का चतुर्थ अङ्ग । शोभन कर्म का सम्प्रदाय ।		१६
सम्यक् इष्टि		
आध्यात्मिक मार्ग का प्रथम अङ्ग । कुशल-मङ्गल गले धरे को ठीक ठीक पहचानना या जानना । इष्टि = इष्ट ।		१४
सम्यक्-वजन		
आध्यात्मिक मार्ग का तृतीय अङ्ग । ठीक ठीक बोधना; सत्य भाषण ।		१५
सम्यक् व्यापाम		
आध्यात्मिक मार्ग का षष्ठ अङ्ग । उत्कर्मों के रखने के लिए शोभन उद्योग ।		१७
सम्यक् समाधि		
आध्यात्मिक मार्ग का अष्टम अङ्ग । शोभन समाधि ।		१८
सम्यक् सङ्कल्प		
आध्यात्मिक मार्ग का द्वितीय अङ्ग । आसङ्गित्य, अजोड तथा अहिंसा का ठीक-ठीक विचार करना । आश के अनुसार ही इच्छा विचार होता है ।		१२
सम्यक् स्मृति		
आध्यात्मिक मार्ग का सप्तम अङ्ग । काम, वैदवा, भित्त तथा धर्म के अस्तित्व स्वरूप को जानना तथा उनको स्मृति बनाये रखना ।		१०
सर्वबीजक आश्रय		
बह आश्रय जिसमें रूप, स्मृति, मय तथा चारे निरय का बीज विद्यमान रहता है वही आश्रयविशेष ।		१४
सर्वास्ति पाद		
एकही एका मयने पाया बीज सम्प्रदाय । वैश्वविद्या तथा श्रीमन्निरुद्ध का सामूहिक नाम ।		११०

सहकारी प्रत्यय

प्रत्यक्ष ज्ञान का द्वितीय प्रत्यक्ष । प्रत्यक्ष ज्ञान में सहायता देने वाला कारण जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष में प्रकाश, क्योंकि बिना प्रकाश के घट का चाक्षुष ज्ञान सम्पन्न नहीं हो सकता ।

३२७

सहजयान

वज्रयान का नामान्तर ।

३६८

सहजावस्था

प्राण, प्राहक तथा ग्रहण की त्रिपुटी का सर्वथा अभाव होने पर जिस दशा में योगी महासुख या निर्वाण की प्राप्ति करता है उसका नाम है 'सहज अवस्था' ।

३६८

सहभू आश्रय

जो विज्ञान के साथ-साथ अस्तित्व में आता है तथा साथ ही विलीन होता है वह सदा सबद्ध होने से इस नाम से पुकारा जाता है जैसे चक्षुर्विज्ञान में चक्षु ।

२४०

सांघृतिक सत्य

अविद्या-जनित व्यावहारिक सत्ता ।

२९०

साधन

बौद्ध तन्त्र में देवताओं के मन्त्र, यन्त्र, पूजा पटल का वर्णन ।

३५८

साधुमती

योग की नवमी भूमि ।

३३५

सामान्य लक्षण

अनेक वस्तुओं के साथ एही वस्तु का सामान्य रूप । इसमें कल्पना का प्रयोग होता है और इसी लिए यह अनुमान का विषय होता है, प्रत्यक्ष का नहीं ।

३२५

सुख

चित्त समाधान से शरीर की व्युत्थित दशा की वेचैनी जाती रहती है तथा पूरे शरीर में स्थिरता तथा शान्ति का उदय होता है । इसी वृत्ति का नाम है सुख ।

३४७

सुकराज	‘महामुख’ का अपर नाम ।	११८
सुसुर्जपा	बोध की प्रथम भूमि ।	११५
सुसुम्ना	मध्यरात्री । रात तथा दक्षिण नाडी की समानता होने पर अर्थात् कुम्भक होने पर वस्तु सुसुम्ना में प्रवेश करता है । इसी द्वार के सहारे ज्ञान की कर्मागति करवा योगियों का परम ध्येय है ।	११८
सोपविशेष	आलस्य (मर्ज) के योग हो जाने पर नीति रहने वाले अर्हत्तों के समीप भी अनेक विज्ञान योग रह जाते हैं । जन्हीं के विचित्र का यह नाम है । जीवमुक्ति का प्रतीक ।	११८
सौत्राश्रितक	सुत्रान्त वा सूत्र के ऊपर आधारित बौद्ध धम्मराज जो वाद्य अथवा सत्त्व अनुमान के आधार मानता है । वाय्वर्णानुमेय-वादी भीक्षुमत ।	१११
स्वप्न	समुदाय । पाँच प्रकार । आत्मा इन्हीं पाँचों स्वप्नों का समुदाय माना जाता है अथवा स्वतः प्रमाण अस्तित्व नहीं होता ।	८४
स्वमायकाय	धर्मकाय का ही अपर नाम ।	११८
स्वसत्त्व	वस्तु का अपना रूप जो शब्द आदि के बिना ही महान् किया जाय । यह तत्त्व सम्मत्त है जब वस्तु अलग अलग रूप से प्रत्यक्ष की जाय । यह प्रत्यक्ष का विषय होता है क्योंकि इसमें कल्पना का तथिक भी प्रयोग नहीं होता ।	११५
स्वसंविदन प्रत्यक्ष	निर्विकल्पाक प्रत्यक्ष ।	११७

स्थापनीय

प्रश्न का चतुर्थ प्रकार । वह प्रश्न जिसका उत्तर बिल्कुल छोड़ देने से ही दिया जाता है ।

४९

स्वाभाविक काय

धर्मकाय की ही अपर सज्ञा ।

१३८

स्रोतापन्न

आवक की प्रथम भूमि । जब साधक का वित्त प्रपंच से एक दम हटकर निर्वाण के मार्ग पर आरुढ़ हो जाता है जहाँ से गिरने की तनिक भी संभावना नहीं रहती तब उसे स्रोतापन्न कहते हैं ।

११७

ह

ह

तन्त्र में चन्द्र या वाम नाडी का साकेतिक नाम ।

३६७

हठयोग

चन्द्र तथा सूर्य का एकीकरण, इडा तथा पिंगला, प्राण और अपान का समीकरण सिद्ध करने वाला योग ।

३६७

हंतषिन्निवृत्तम्

१७ वाँ कर्मस्थान । कुछ नष्ट और कुछ छिन्न-भिन्न अंग वाले शव पर ध्यान लगाना ।

३४०

हेतु

मुख्य कारण । 'प्रत्यय' से हेतु की भिन्नता जानने के लिए देखिए 'प्रत्यय' शब्द ।

७२



सम्मतियाँ

जैन-दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान्, हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन
दशम के पूर्वार्ध अध्यापक पं० गुम्बराजी जी—

जिस देश में तयागत ने जन्म लिया वही जहाँ उन्होंने पाश्चात्य
से भ्रमण किया उसी देश की राजभाषा में बौद्ध-दशम के सभी धर्मों
पर व्यापक दृष्टि से लिखी गई किसी पुस्तक का अमार एक लाभदान
की वस्तु थी। इस लाभदान को मिलाने का सर्वप्रथम प्रयत्न पं० बलदेव
उपाध्याय ने किया है। अब उनका यह प्रयास सचमुच स्तुत्य है। इस
पुस्तक में बौद्ध-धर्म तथा दशम के सभी धर्मों का प्रामाणिक वर्णन
किया गया है परन्तु स्वानामा से इन विषयों का संक्षिप्त दर्शन होना
स्वामात्रिक है। यह पुस्तक इतनी रुचिकर हुई है कि इसे पढ़ने वालों
की मित्रासा इस विषय में जग उठेगी। बौद्धधर्म तथा दर्शन के
तथ्यों के रहस्यों का उद्घाटन तथा इसी ग्रन्थरत्न के अनुशीलन
से हो जाता है।

विद्वान् लेखक की भाषा तो प्रसन्न है ही, साध ही विषय भी रोचक
तथा रुचिकर ढंग से वर्णित है। पुस्तक पढ़पाठरहित दृष्टि से लिखी
गई है जो साम्प्रदायिकता के इस युग में अत्यन्त कठिन है। हमें विद्वान्
लेखक से अभी बहुत कुछ आशा है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन शास्त्र के अध्यक्ष

प्रोफेसर डा० भीमनलाल आश्रेय एम ए

दि लिख

बौद्धदर्शन भारतीय दर्शन का एक प्रधान अङ्ग है और भारतीय
विचारों के विकास के इतिहास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। तिसपर
भी जन-साधारण को ही नहीं भारत के परिचितों का भी बौद्धदर्शन-
सम्बन्धी ज्ञान नहीं के बराबर है। जो बोद्धा-बहुत ज्ञान है यह अछुत

है। इसका प्रधान कारण बौद्ध दर्शन पर हिन्दी तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं में प्रामाणिक तथा आधुनिक ढंग से लिखी हुई पुस्तकों का अभाव है। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के संस्कृत के अध्यापक पं० बलदेव उपाध्याय जी ने बौद्ध-दर्शन पर यह ग्रन्थ लिखकर वास्तव में एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। यह ग्रन्थ बड़े परिश्रम और अध्ययन का फल है। अभी तक इस प्रकार का बौद्ध-दर्शन पर कोई दूसरा ग्रन्थ हिन्दी भाषा में तो क्या, अन्य किसी भी भागीय भाषा में नहीं छपा है। ग्रन्थ सर्वाङ्गपूर्ण है और बौद्ध-धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान उत्पन्न कराने योग्य है। इसकी भाषा शुद्ध और छपाई उत्तम है। प्रत्येक दर्शन प्रेमी पाठक के पुस्तकालय में रहने योग्य ग्रन्थों में से यह एक है।

नालन्दा 'मगधपाली-विद्यालय' के वर्तमान अध्यक्ष

भिक्षु जगदीश काश्यप एम. ए.

श्री पं० बलदेव उपाध्याय की लिखी 'बौद्ध-दर्शन' नामक पुस्तक को आद्योपान्त पढ़कर बड़ा आनन्द आया। साम्प्रदायिक सकीर्णता के कारण बौद्ध-दर्शन को अयथार्थ रूप से रखने का जो प्रयास कुछ लेखकों ने किया है उनका परिमार्जन यह ग्रन्थ कर देता है। बौद्ध-दर्शन पर इतनी अच्छी, प्रामाणिक, विद्वत्तापूर्ण और सुबोध पुस्तक लिखकर पण्डितजी ने हिन्दी-साहित्य की अनुपम वृद्धि की है। पुस्तक नितान्त मौलिक है तथा मूल-ग्रन्थों का अध्ययन कर लिखी गई है। हिन्दी में तो क्या अग्रेजी भाषा में भी इतनी सर्वाङ्गपूर्ण पुस्तक नहीं है जिसमें बौद्ध-धर्म तथा दर्शन के इतिहास तथा सिद्धान्तों का इतना प्रामाणिक विवेचन दिया गया हो। यह पुस्तक बौद्ध-विद्वानों के लिये भी पठनीय है। अन्त में हम विद्वान् लेखक को इस गम्भीर ग्रन्थ के लिखने के लिये बधाई देते हैं।